# सम्मति

मुझे "बाल-रोग-चिकित्सा" देखकर बड़ा हर्ष हुआ। हिन्दी में इस प्रकार की पुस्तकों का बड़ा अभाव है। यद्यपि पुस्तक अधिकतर एलोपैथिक पद्धति से लिखी गई है, किन्तु लेखक ने इसमें स्थान-स्थान पर आयुर्वेदिक मत भी दिया है।

पुस्तक की शैली सरल है तथा इसके कई संस्करण इस बात के स्पष्ट द्योतक हैं कि पाठकों ने इसे पसन्द किया है। जो विद्यार्थी तथा चिकित्सक इस विषय में अन्य भाषा के ग्रन्थों का उपयोग नहीं कर सकते उन्हें इस पुस्तक से बाल-रोग समझने में अवश्य ही सुविधा मिलेगी।

द्विवेदी जी का यह प्रयास सराहनीय है। मेरी कामना है कि लेखक को भविष्य में अधिकाधिक सफलता मिले तथा अधिक से अधिक पाठक इस पुस्तक से लाभान्वित हों।

डॉ० एस० के० दीक्षित

बी० एस-सी०, एम० डी०, एम० आर० सी० पी०,

डी० सी० एच० ( ग्लास्गो ) बाल-रोग विशेषज्ञ।

एक्स-प्रोफेसर—इन्स्टीट्यूट आफ मेडिकल सायन्सेज,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

## षष्ठम् संस्करण पर दो शब्द

मंगलमय भगवान विश्वेश्वर की कृपा से बाल-रोग-चिकित्सा का यह षष्टम् संस्करण पाठकों के समक्ष लाते हुए अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस नवीन संस्करण में पूर्व की अशुद्धियों का परिमार्जन करके, यत्र-तत्र कुछ नवीन योगों को जोड़कर पुस्तक को अधिक उत्कृष्ट स्वरूप देने का इस बार प्रयास किया गया है।

अल्प काल में ही पुस्तक का षष्टम् संस्करण छपना इसकी उपादेयता तथा लोकप्रियता का संतोषप्रद उदाहरण है। आशा है, विज्ञ पाठकगण इसको अधिकाधिक अपना कर जनता जनार्दन की सेवा का अवसर देते रहेंगे। इस पुनीत कार्य के समादर के लिए लेखक पाठकों के प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन करते हुए आत्मसुख का अनुभव करता है।

—लेखक

# प्रस्तावना

असद्विषयमंघ्रिभावगम्यं प्रपन्नानमृतमवरवर्यान्नाशयन्सिंधुमथ्यम् ।
कपटयुवतिवेशो मोहयन् यः सुरारितमहमुपसृतानां कामपूरंनतोस्मि ।

( श्री मद्भागवत )

सुतंत्रारस्थाचिकित्सा वरेणया शिशूनां कृतेया प्रकृष्टा प्रदिष्टा
समासादिता ये क्रियाभ्यासयोगात्सुयोगामयाचानुभूतापुनर्ये
निदानैर्विधानैर्हितैर्गुम्फितं तत्समस्तं मधुच्छत्रकल्पं प्रक्लृप्तम्
इह भ्रामरीवृत्तिमाश्रित्य रम्यां समुच्चीयते ग्रन्थरत्नेति यत्नात् ।

प्रसूति विज्ञान तथा स्त्री रोग विज्ञान नामक रचनाओं के अनन्तर बालकों के रोग और उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में कुछ लेखबद्ध करने की अभिलाषा जाग्रत हुई । इस बलवती अभिलाषा का उद्देश्य अंग विशेष का पूरण मात्र ही रहा, क्योंकि ये तीनों विषय अगाध समुद्र के समान हैं, इनकी थाह लगाना और उस पर लेखनी चलाकर रचना कर देना कुछ विशेषज्ञों का ही व्यापार है, मुझ सदृश अल्प विषयमति व्यक्तियों के लिए मोहमात्र ही कहा जा सकता है :—

क्व सूर्यप्रभावोवंशः क्व चाल्पविषयामतिः
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् । ( रघुवंश )

'ततोऽपि क्रियते यत्नम्' के न्याय से प्रयत्न करता चला, भगवान् विश्वनाथ की कृपा से आज यह रचना प्रकाश में आयी और पाठकों के सम्मुख रखते हुए मुझे अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है ।

अष्टांग आयुर्वेद शास्त्र का एक अन्यतम प्रधान अंग कौमारभृत्य है ! इसी प्रधान अंग के उपांगभूत दो अन्य विषय स्त्री-रोग विज्ञान तथा प्रसूति तंत्र भी हैं। कौमारभृत्य नामक विषय के साथ इन विषयों का अंग और उपांगवत् आधारा धेय सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि कौमार-भृत्य नामक विषय के विशेष ज्ञान के लिए आधारभूत ( Basic Science ) विज्ञान के रूप में प्रसूति तंत्र और स्त्री-रोग तंत्रों का वर्णन पाया जाता है और उनका वर्णन स्वतंत्रतया शरीर स्थानों में (Anatomy and Physiology) प्राचीन ग्रन्थकारों ने कर रखा है जिस प्रकार चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा ( Medicine and Surgery ) दो प्रधान अंग चिकित्सा-शास्त्र के होते हैं इनमें शरीर के अंगोपांगों की रचना या उनकी क्रिया का वर्णन शरीर स्थान के नाम से उनके उपांगो के रूप में क्रिया मिलती है। क्योंकि शरीर शास्त्र नाम से वैद्यक का कोई स्वतंत्र अंग नहीं है। वह तो इन अंगों के परिज्ञान के लिये एक आधार भूत प्रारम्भिक ज्ञान है जिसके आधार पर पूरे अंग का अव-धारण सम्भव रहता है। प्रसूति तंत्र और स्त्री-रोग विज्ञान की भी दशा बहुत कुछ ऐसी ही है। वास्तविकता जो भी हो प्राचीन ग्रन्थों के विचार से वस्तुस्थिति ऐसी ही है कि कौमारभृत्य आयुर्वेद का एक प्रधान अंग है और उसके उपांग-भूत रूप में प्रसूति तंत्र तथा स्त्री-रोग तन्त्रों का समावेश हो जाता है। इसी मत का समर्थन करते हुए हारीत सहिता का वचन मिलता है।

गर्भोपक्रम विज्ञानं सूतिकोपक्रमं तथा
बालानां रोग शमनं क्रिया बाल चिकित्सितम्।

"भेत्ताहि भेद्यमन्यथा भिनत्ति" इस चरकसंहिता के सार्वभौम सिद्धान्त के आधार पर वर्गीकरण करने वाले व्यक्ति का पूर्ण अधिकार होता है कि वह अपनी विषय सामग्री का स्वेच्छया जैसा चाहे विभाजन ( Classify ) करे। आधुनिक युग के वैज्ञानिक इन विषयों को तीन वर्गों में विभाजित करके स्वतन्त्रया वर्णन करते हैं और अपने नित्य के शोधों से इस विषय को तीन बड़े अंगों के रूप उपस्थापित कर चुके हैं—नामतः प्रसूति-तंत्र

( Midwifery ) स्त्री रोग विज्ञान ( Gynaecology ) तथा कौमारभृत्य या बाल रोग ( Paediatrics or Children Diseases )

इन विषयों के ऊपर बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण पाश्चात्य भाषाओं में हो चुका है। बड़े-बड़े चिकित्सालय और उनसे सम्बद्ध महान्-महान् तंत्रवेत्ता भी आज के युग में उपलब्ध हैं। फलतः एतद्विषयक ग्रन्थों का प्रणयन तद्विद्य तंत्रकारों का ही आधिकारिक विषय है। फिर भी विषय के सामान्य ज्ञान का होना सर्वसाधारण चिकित्सक के लिये नितान्त अपेक्षित है। इस सामान्य ज्ञान के लिए सामान्य रचनाओं एवं तत्सदृश रचनाकारों की भी अपेक्षा लोक में रहती है। मेरा प्रयास भी बहुत कुछ एतद् सदृश ही है।

बालकों के रोग और उनकी चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में मिलती हैं। इन पुस्तकों का आश्रय लेकर विषय सामग्री का चयन करते हुए हिन्दी भाषा में इस रचना का प्रयास किया गया है। इसमें बालकों में पाई जाने वाली बीमारियों, उनके कारण सम्प्राप्ति विनिश्चय तथा चिकित्सा का विवरण दिया गया है। साथ ही पुस्तक को अधिक व्यावहारिक बनाने के लिए अपने अनुभूत वैद्यक योगों का भी समन्वय कर दिया गया है जिससे चिकित्सकों की दृष्टि में इस पुस्तक की उपादेयता अधिक हो सके। वैद्यक योगों के नाम जो इस ग्रन्थ में आये हैं वे अधिकतर आयुर्वेद के, संस्कृत ग्रन्थों जैसे भैषज्य-रत्नावली, चक्रदत्त या शार्ङ्गधर और वैद्य जीवन प्रभृति में पठित हैं। इसलिये उनके पूरे नुस्खे के साथ अर्थात् मय संघटक के उनके लिखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। इस रचना में वर्णित योग आयुर्वेदिक औषध के निर्माताओं से सुविधापूर्वक प्राप्त किये जा सकते हैं।

कौमारभृत्य नामक विषय का विशद वर्णन आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। वृद्ध जीवकीय काश्यप तंत्र नाम का तो पूरा ग्रन्थ ही बाल रोग का पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत संहिता, हारीत संहिता और वाग्भट संहिता तथा अन्य परकालीन संग्रह ग्रन्थों में भी कुछ अध्याय बालकों के भरण-पोषण, धात्री नियोजन, माता या धात्री के क्षीर से होने

वाली व्याधियाँ तथा उनके क्षीर का संशोधन, बालग्रह एवं उनसे होने वाले लक्षण तथा चिकित्सा का उल्लेख पाया जाता है। आचार्य सुश्रुत ने सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में जहाँ पर आयुर्वेद के आठों अंगों की परिभाषा लिखी है, कौमारभृत्य नामक अंग की व्याख्या इस प्रकार की है :—

"कौमार भृत्यं नाम कुमारभरणधात्री क्षीर दोष संशोधनार्थं दुष्ट स्तन्य ग्रह समुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्।"

यह व्याख्या विशेषार्थ में की गई है जिसका भावार्थ विशुद्ध रूप से 'पेड्रियेटिक्स' नामक विषय का ही बोधक होता है और सामान्य अर्थ में पूर्वोक्त हारीत संहिता की व्याख्या को समझना चाहिये जिसमें पेड्रियाटिक्स के अतिरिक्त 'मिडवाइफरी एवं गायनेकालोजी' का समावेश इसी अंगविशेष के अन्दर हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक में कौमारभृत्य शब्द का अर्थ—ग्रहण सुश्रुत की परिभाषा के अनुसार ही किया गया है। अस्तु, पुस्तक का नाम बालरोग चिकित्सा अर्थात् "बालकों के रोग और उनकी चिकित्सा" दिया गया है।

शास्त्र की रीति से पन्द्रह वर्ष की आयु तक बालक की ही अवस्था मानी जाती है। उस आयु के भीतर उनकी कई अवस्थायें बीत जाती हैं, जैसे शिशु, बाल, पौगण्ड तथा किशोर प्रभृति। दूसरे दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो बालकों में दो अवस्थायें बीतती हैं-एक परतंत्र जब वे मातृ स्तन्य पर आश्रित रहते हैं, दूसरी स्वतंत्र जब वे मातृ-स्तन्य के अतिरिक्त दूध पर या अन्न पर पोषण ग्रहण करते हैं। इनमें एक वर्ष तक बालक क्षीरप, दूसरे वर्ष तक क्षीरान्नाद ( दूध और अन्न दोनों पर पलने वाला ) और उससे आगे चलकर पूर्णतया स्वतंत्र वृत्ति पर रहकर अन्नाद ( अन्न सेवी ) हो जाता है। चिकित्सा करते हुए इन बातों के विचार की अपेक्षा रहती है।

तत्रोनषोडशवर्षा बालस्तेऽपि क्षीरपाः क्षीरान्नादा अन्नादा इति। तेषु संवत्सर पराः क्षीरपाः द्विवत्सरपरा क्षीरान्नादाः। परतोन्नादा इति।

( सु० उ० ३५ )

इनमें सद्योजात शिशुओं के सम्बन्ध में ज्ञातव्य प्रारम्भिक विषय जैसे श्वासोच्छ्वास क्रिया का प्रारम्भ, गर्भ नाड़ी छेदन, शिशु का स्नान, रक्षा कर्म, स्तन पान, लेह प्रयोग, शिशु-पालन प्रभृति कर्मों का सम्बन्ध अधिकतर प्रसूति तन्त्र से ही है। तदनन्तर उनके पालन-पोषण, संरक्षण, स्वास्थ्य, रोग-प्रशमन प्रभृति कर्मों की विवेचना, कौमारभृत्य के क्षेत्र का अपना विशिष्ट विषय है। इन विषयों का नाति संक्षेप में विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने में ही इस पुस्तक की सार्थकता है।

पुस्तक को अधिकाधिक व्यावहारिक बनाने के लिए यथाशक्य परिश्रम किया गया है। एतन्निमित्त विभिन्न रोगों के वर्णनों में आधुगिक पद्धति के अनुसार निदान और रोग-विनिश्चय लिखा गया है; परन्तु चिकित्सा में आधुनिक चिकित्सा के साथ ही साथ आयुर्वेदीय योगों का भी संकलन किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र में अनन्त योग हैं। उनमें जो इधर की वैद्य परम्पराओं से प्राप्त या अपने नित्य के व्यवहार में अधिक उपयोगी मिले उन्हीं का संग्रह किया है।

आयुर्वेदोपचार में प्राचीन कौमारभृत्य की कुछ निजी विशेषतायें हैं, जिनका उल्लेख करना आयुर्वेदप्रेमी लेखक का कर्त्तव्य हो जाता है। पुस्तक में यत्र-तत्र इन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है पुनः अवशिष्ट विचारों का संकलन परिशिष्ट नामक स्वतन्त्र अध्याय में जोड़ दिया गया है। इसमें अत्यन्त संक्षिप्त रूप से बहुबिध विषयों का व्यावहारिक संकलन प्रस्तुत करने का प्रयास करना पड़ा है।

पुस्तक को चिकित्सकों के लिये उपयोगी बनाने का मेरा आदि से अन्त तक प्रयास रहा है, फलतः सरल और सुबोध भाषा में लिखने का संकल्प रहा है। भाषा एवं भावाभिव्यक्ति का दारिद्र्य तथा भाव की गहनता एवं विषय की दूरूहता के कारण पूर्णांश में साफल्य की प्राप्ति असम्भव सी हो गई है, तथापि सफलता कितने अंश तक हुई इसका निर्णय विज्ञ पाठकों के हाथ में ही है। यदि इस रचना से चिकित्सक वर्ग तथा लोक का स्वल्प भी कल्याण हुआ तो मैं अपने श्रम को फलीभूत अनुभव करूँगा।

पुस्तक लिखने में मेरे कई स्नेह भाजनों ने सहायता पहुँचाई एतदर्थ वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। जिन ग्रन्थकारों की कृतियों के ऊपर आश्रित रहकर मैंने यह रचना की उन सभी कृतियों के प्रति अपनी प्रणति तथा विनम्र आभार स्वीकार करता हूँ। मेडिकल पुस्तक भवन के अध्यक्ष डा०सु०प्र० शर्मा के प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए भी संकोच हो रहा है, जिन्होंने सहर्ष इस पुस्तक के प्रकाशन का भार ले लिया और कल्पना को मूर्त्त रूप दिया। एतन्निमित्त वे मेरे श्रद्धेय और धन्यवादार्ह हैं।

अन्त में मैं अपने सभी इष्ट देवों, गुरुजनों, साधुजनों तथा बान्धवों के प्रति विनम्र प्रणति अर्पित करता हूँ जिनकी कृपा-कटाक्ष से विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ अपने संकल्प में सफल हो सका।

विद्वानों के अनुचर

**रमानाथ द्विवेदी।**

## विषय-सूची

# बा ल - रो ग - चि कि त्सा

(B A L - R O G - C H I K I T S A)

# अध्याय १

## बालकों के रोगों की परीक्षा-विधि

बालकानामवचसां विविधा देह वेदनाः
प्रादुर्भूता कथं वैद्यो जानीयाल्लक्षणार्थतः।
इतिपृष्टो महाभागः कश्यपो लोकवृद्धपः
प्रोवाच वेदनास्तस्मै कारणैर्वालदेहजा ॥"

( वेदनाध्याय काश्यप संहिता सूत्र २५।१ )

"वृद्ध जीवक ने दारुवाह द्वारा प्रेरित होकर ऋषियों के द्वारा उपासना किये जाते हुए कश्यप को बालकों के वेदना ज्ञान से सम्बन्धित उपदेश देने के लिए प्रार्थना की। भगवन्! मुख से न बोल सकने वाले बालकों की उत्पन्न हुई विविध प्रकार की वेदनाओं को वैद्य लक्षणों से किस प्रकार जाने (पहचाने) अर्थात् वे कौन से लक्षण हैं जिनसे वैद्य बालकों के भिन्न-भिन्न रोगों तथा वेदनाओं को पहचान सकता है क्योंकि इस अवस्था में बालक स्वयं अपने मुँह से किसी भी अपने कष्ट को बतलाने में असमर्थ होता है।"

बालक की परीक्षा करते हुए दो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। प्रथम तो वह स्वयं अपने तकलीफों को बतलाने में असमर्थ होता है और उसके संरक्षकों द्वारा बताये वृत्तों पर चिकित्सक को आश्रित रहना पड़ता है। संरक्षकों के द्वारा दिया गया वृत्त कई बार बड़ा मूल्यवान होता है और बहुधा भ्रामक भी होता है। दूसरी कठिनाई विधिपूर्वक परीक्षा करते हुए रोगी के सहयोग के अभाव की पाई जाती है। इसलिए चिकित्सक को रोगी के अनुसार चलना पड़ता है और उसको अपनी सामान्य पद्धति बदल देनी पड़ती है; उसको उस छोटे रोगी के इच्छानुसार कार्य करना पड़ता है जिससे बहुत सी आवश्यक

परीक्षाएँ प्रायः विस्मृत हो जाया करती हैं। जैसे, मूत्र की परीक्षा, कान, गला और गलतुण्डिका ( Tonsil ) की परीक्षा आदि। निदान में भ्रम पैदा करने वाले अन्य भी कारण बच्चों की परीक्षा करते हुए पाये जाते हैं। जैसे उनके रोग के कारण उत्पन्न होने वाले लक्षण या चिह्न अनिश्चित स्वरूप में पाये जाते हैं जिससे रोग के कारण की तरफ तनिक भी इशारा नहीं हो पाता। जैसे अति उच्चताप, असुख, बेचैनी या ऐंठन प्रभृति लक्षण, वृक्कशोथ, कर्ण शोथ या तुण्डिका शोथ में पैदा हो सकते हैं। इसलिए रोगी बालक के मूत्र, कान और गले की परीक्षा जरूर कर लेनी चाहिये। अन्य परीक्षायें जिनमें आसानी से हो सकें इसलिए गले की परीक्षा सबके अन्त में करनी चाहिए। सावधानी के साथ रोगी का इतिहास तथा पूर्ववृत्त उसके माता-पिता से ले लेना चाहिये। पुनः बालक से आहार सम्बन्धी प्रश्नों की पूरी जानकारी करनी चाहिए। इसके लिए भूख की कमी, चिड़चिड़ापन, थकावट, श्वासकष्ट की अवस्था या विकृत दस्त आदि के बारे में पूछना चाहिए। बच्चे की शारीरिक और मानसिक विकास सम्बन्धी बातों का भी प्रश्नों से पता लगाना चाहिए कि ठीक आयु में, ठीक समय में उनमें उन क्रियाओं का विकास हुआ है या नहीं। उदाहरणार्थ, तीन महीने की आयु में बच्चा अपने सिर को तकिये से ऊपर उठा लेता है, नवें महीने में बैठने लगता है। अठारहवे महीने से टहलने लगता है दूसरे वर्ष की आयु से दो-तीन शब्दों को जोड़कर बोलने लगता है। इस आयु तक बहुत से बच्चे अपने संकोचनी पेशियों का नियन्त्रण करना सीख जाते हैं।

रोगी एवं रोग के वृत्त ( History ) लेने में साधारणतया सर्वप्रथम प्रधान कष्ट या मुख्य व्यथा ( Main Complaints ) पूछने की तदनन्तर पूर्ववृत्त या पारिवारिक वृत्त जानने की परिपाटी है। बालकों के रोगवृत्त बनाने में पहले पारिवारिक वृत्त एवं पूर्ववृत्त तत्पश्चात् मुख्य व्यथा सम्बन्धी प्रश्न करना अधिक लाभप्रद होता है। अतः इसी क्रम का अनुसरण इस अध्याय में किया जा रहा है।

**पारिवारिक वृत्त**—इसका विशिष्ट महत्व बच्चों में पाया जाता है बहुतों में वंशानुगत अस्वाभाविकतायें उनकी बनावट में मिल सकती हैं। दूसरी बात

यह है कि उनमें उस वातावरण के रोगों के प्राप्त करने की सम्भावना अधिक रहती है। बच्चे के भाई और बहिनों का वृत्त लेना चाहिए साथ ही उसके जन्म के पूर्व यदि अपक्व प्रसव, मृत प्रसव या गर्भस्राव अथवा गर्भपात हुआ हो तो उसका भी वृत्त लेना चाहिये।

पूर्ववृत्त—बालक के पूर्व रोग का भी इतिहास लेना चाहिये। उदाहरण के लिए उपसर्गजन्य ज्वर दुबारा बहुत कम होते हैं। यदि बच्चे को गोमसूरिका ( Chicken-pox ), मसूरिका (Small-pox) या पाषाणगर्दभ (Mumps) पहले हो चुका हो तो वर्तमान निदान में सहायता मिलती है। यदि रोमान्तिका ( Measles ), कुकास ( Whooping Cough ) पूर्व में हुआ हो और उसके उपद्रव रूप में श्वसनी फुफ्फुस शोथ ( Bronchopenumonia ) भी रहा हो तो उसमें फुफ्फुस तन्तुमयता ( Pulmonary Fibrosis ) की सम्भावना रहती है। कई रोग बाल्यावस्था में होकर युवावस्था में दूसरे रूप में प्रकट होते हैं इनका पारस्परिक सम्बन्ध बड़े विचित्र रूप का होता है जैसे शिशु की उमर में ( Infancy ) हुआ रकसा ( Eczema ) अधिक आयुवाले बच्चों में श्वास का रूप ले लेता है। बार-बार होनेवाला बाल्यावस्था का पैत्तिक वमन अधिक उम्र में अर्धावभेदक का रूप ले सकता है। शिशु की उमर में पाया जानेवाला आमवातिक ज्वर ( Rheumatic fever ) आमवातिक हृदयरोग ( Rheumatic heart disease ) का रूप ले सकता है। इसलिए शिशु के भूतकालीन रोग का इतिहास जरूर ले लेना चाहिए।

**वर्तमानवृत्त**—अन्त में प्रश्नों के द्वारा पूछते हुए बच्चे के माता-पिता से ठीक समय, रोग के आक्रमण काल का ज्ञान तथा कौन सी तकलीफ पहले शुरू हुई और कौन सी बाद में और कितने दिनों से है, इसका पता लगाना चाहिए। जैसे यदि बच्चे के पेट में दर्द और वमन दोनों हुए हों तो यह जानना आवश्यक होता है कि कौन सा पहले हुआ। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह तकलीफ उण्डुक-पुच्छ-शोथ के कारण है या पित्तमयता के ( Appedicitis or Bilious attack )। यदि रोगी को श्वासकष्ट

हो तो इन विस्तृत वृत्तों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि वह विशुद्ध आकुञ्चन जन्य श्वास है ( Spasmodic asthma ) या खाँसी के उपद्रव स्वरूप में होनेवाला श्वास ( Asthmatic bronchitis ) है। दोनों की चिकित्सा में पर्याप्त भेद है। दूसरा लक्षण जो बच्चों में बहुधा मिलता है वह है बेहोशी ( मूर्च्छा या fits ) यदि सावधानी से इतिहास न लिया जाय तो उसको अपस्मार के दौरे ( Epileptic Convulstions ) के साथ धोखा हो सकता है। इसी प्रकार अन्य लक्षणों जैसे, मूर्च्छा, कम्प आदि के बारे में भी ध्यानपूर्वक विचार कर लेना चाहिए।

देशवृत्त—बालक ने यदि किसी दूसरे स्थान की यात्रा अपने अभिभावकों के साथ की हो तो उस वृत्त की जानकारी भी बहुत आवश्यक है। यात्रा वायुयान, रेलगाड़ी, समुद्री मार्ग या तत्सदृश अन्य किसी मार्ग से हुई इसकी जानकारी भी आवश्यक है। इसके आधार पर विषम ज्वर प्रभृति रोगों के निदान में सुविधा होती है।

**समाजवृत्त**—घर की परिस्थिति, पता, पारिवारिक आर्थिक स्थिति एवं पिता का व्यवसाय प्रभृति बातों की भी जानकारी इतिवृत्त में अपेक्षित है।

**परीक्षाविधि**—बच्चे की वास्तविक या शारीरिक परीक्षा करनी एक टेढ़ी खीर होती है उसमें चिकित्सक का अपना व्यक्तिगत सद्गुण और उसकी कला बच्चे की परीक्षा में सहायक होती है। यदि बच्चा सोया मिले तो उसके जगने के पूर्व ही सम्पूर्ण परीक्षायें जहाँ तक सम्भव हो सके कर लेनी चाहिए। श्वास और नाड़ी की गति गिन लेना चाहिए, श्रवणयन्त्र से हृदय की परीक्षा करके हाथ को गरम करके उदर का भी स्पर्शन कर लेना चाहिए। यदि बच्चा बहुत रोने वाला मिले तो उसको दूसरी बातों में भुलाकर स्पर्शन, ताड़न और श्रवण विधियों से उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए। उसको स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार रहने देना चाहिए। उसको कुछ खिलौने या आकर्षक वस्तु जो उसके मनोनुकूल पड़े देकर उसके मन को उस तरफ प्रेरित करके परीक्षा कर लेनी चाहिए।

परीक्षा में सर्वप्रथम बच्चे के हाथ को लेकर देखना चाहिए कि उसकी अँगुलियों में शोथ तो नहीं हैं; अँगुलियों की लम्बाई और आकार तो स्वाभाविक है। यदि रोगी शिशु है तो उसके रन्ध्रों ( Fontanelle ) की परीक्षा करनी चाहिए क्योंकि रन्ध्रों ( Fontanelle ) की परीक्षा का बालकों में वही महत्व है जो युवकों में नाड़ी परीक्षा का। रन्ध्रों के आयाम, आकार एवं परिमाण, समानता, उठा हुआ या अवनत तथा स्पंदन का विचार करना चाहिये। रन्ध्र नीचे को अवनत ( दबे हुए अतिसार में पाये जाते हैं ) या उभरे हुए हैं ( मस्तिष्कगत पोड़न में अन्तः का भार के बढ़े होने पर उभरे हुए मिलते हैं ) यह याद रहे कि बालकों में स्वस्थ अवस्था में रन्ध्रों का स्पन्दन हृदय के साथ-साथ होता है।

तदनन्तर दूसरी परीक्षा बच्चे की त्वचा की करनी पड़ती है। त्वचा की लचकीलापन जल नाश की अवस्था ( dehydration ) में नष्ट हो जाता है। साथ ही इसी बीच में बच्चे की मुखाकृति, वर्ण, स्थिति, आसन तथा पोषण की सामान्य दशा का भी ज्ञान कर लेना चाहिए। तदन्तर वक्ष और उदर की स्पर्शन द्वारा परीक्षा प्रारम्भ करनी चाहिए। यह परीक्षा प्रायः जिस प्रकार युवकों में की जाती है उसी प्रकार इनमें भी करनी चाहिए। यदि अँगुली ताड़न से कोई काम की चीज ज्ञात हो सके तो हलके हाथों से करे अन्यथा छोटे रोगी के आँखों में आँसू दिखलाई पड़ने लगते हैं। रोते हुए बच्चों में अँगुली ताड़न से कोई फल नहीं निकलता परन्तु ऐसे बच्चों में श्रवण में कोई बाधा नहीं पड़ती बल्कि रोने और चिल्लाने से उनके श्वसन और गहरे रोने लगते हैं जिससे वाचिक लहरियाँ स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं। साथ ही वाचिक ध्वनि भी स्पष्टतर मिलने लगती है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रवण के द्वारा अँगुली ताड़न की अपेक्षा अधिक जानकारी बच्चों में प्राप्त की जा सकती है। श्रवण यंत्र से परीक्षा करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह बालक के लिए एक अपरिचित यंत्र होता है जिससे उसे भय हो सकता है इसलिए उसको आश्वस्त करके उसके द्वारा परीक्षा करे और उसके वक्षीय भाग ( Chest-piece ) को उठा-उठा कर विभिन्न स्थलों पर न रखते हुए उसको चमड़े के ऊपर

खिसकाते हुए विभिन्न भागों को देख लेना चाहिए। अँगुली ताड़न करते समय भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए। उदर पर हाथ फेरते हुए बच्चे की मुखाकृति के ऊपर चिकित्सक का विशेष ध्यान होना चाहिए क्योंकि चिकित्सक का हाथ जब पीड़ा के स्थान पर जायेगा जैसे उण्डुकपुच्छ शोथ में या आन्त्रान्त्र प्रवेश ( Intussusception ) में या वृक्कशोथ में तो रोगी का चेहरा म्लान हो जायेगा।

नाड़ी संस्थान की पूर्ण परीक्षा रोगी के सहयोग के बिना करना भी बड़ा कठिन है अतएव युवकों की भाँति छोटे बच्चों में भी यह परीक्षा प्रायः कठिन होती है।

बच्चे के शारीरिक भार, लम्बाई, वृद्धि तथा विकास की चर्चा भी रोगी वृत्त में अपेक्षित होता है। यद्यपि इस सम्बन्ध में शिशु की देह प्रकृति, कुलज, प्रभाव, देश, काल, वातावरण तथा आर्थिक स्तर के अनुसार विविधता पाई जाती है। तथापि इसकी एक औसत या निम्न सीमा वैज्ञानिकों ने आयु-भेद से निर्धारित कर रखी है। उसी के आधार पर स्वस्थास्वस्थ शिशु का विवेक करना होता है। प्रसंगानुसार इसका उल्लेख आगे किया जावेगा।

तदनन्तर कान, दाँत, गला, नेत्र मल और मूत्र की परीक्षा करते हुए नैदानिक वृत्त को पूर्ण करना चाहिए।

काश्यप संहिता में बड़े विस्तार के साथ अनुमान के आश्रय से बालकों के विविध रोगों तथा अवयव गत विकारों के विनिश्चय के साधन बतलाये गये हैं। अनुमान के द्वारा लक्षणों के आधार पर रोग विनिश्चय का विशद वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—

**शिरःशूल**—शिरःशूल में बालक बहुत सिर हिलाता है, आँखें बन्द कर देता है, रात्रि में सोते-सोते चिल्लाता ( Night terrors ) है उसे आहार से ग्लानि हो जाती है तथा उसे नींद नहीं आती है।

**कर्ण-वेदना**—कानों की वेदना में बालक हाथों से दोनों कानों को स्पर्श करता है, सिर को बहुत हिलाता है ग्लानि तथा अरुचि हो जाती है और उसे नींद नहीं आती है।

**मुख रोग**—मुख रोग में बालक के मुख से अत्यन्त लालास्राव होता है, दूध से द्वेष ( अरुचि ) हो जाता है, उसे ग्लानि एवं व्यथा ( पीड़ा ) होती है, पीये हुए दूध को उगल देता है, तथा नासिका से श्वास लेता है।

**कण्ठ-वेदना**—गले की वेदना में बालक पिये हुए दूध को उगल देता है, श्लेष्मवर्धक पदार्थों के सेवन से उसे विष्टम्भ हो जाता है, हलका ज्वर, अरुचि तथा ग्लानि हो जाती है।

**अधिजिह्विका रोग**— समें लालास्राव, अरुचि, ग्लानि, कपोल पर शोथ तथा पीड़ा होती है और मुख खुला रहता है।

**ग्रहरोग**—इसमें बालक को ज्वर, अरुचि, मुख से लालास्राव, विस्तर एवं कमरे से दुर्गन्ध और श्वास लेने में कष्ट होता है।

**कण्ठशोथ**—कण्ठ ( गले ) में शोथ ज्वर, अरुचि तथा सिर में दर्द होता है।

**ज्वर ( Fever )**—इसमें बालक बार-बार अंग को सिकोड़ता है, जंभाई लेता है, बार-बार खाँसता है, सहसा धात्री से चिपक जाता है, स्तन या दूध की विशेष इच्छा नहीं करता, मुख से लालास्राव होता है, उसका शरीर उष्ण तथा विवर्ण ( सफेद या पीला ) रहता है, ललाट ( माथा ) गरम रहता है, अरुचि होती है तथा उसके पैर ठण्डे हो जाते हैं—ये सब लक्षण बालक को ज्वर होने से पूर्व होते हैं।

**अतिसार—( Diarrhoea )**—शरीर विवर्ण ( पीला या सफेद ) हो जाता है, अरुचि तथा मुख की आकृति म्लान हो जाती है, निद्रा नहीं आती, तथा वायु के कर्मों की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् वायु अपने अनुलोभन का कार्य नहीं करती है—ये सब अतिसार के पूर्व लक्षण हैं।

**उदरशूल ( Intestinal Colic )**—बालक स्तनपान करना छोड़ देता है, वह रोता है, उत्तान ( सीधा उपर को मुख करके ) लेटता है तथा उदर में स्तब्धता होती है, उसे सर्दी लगती है, तथा मुख पर पसीना आ जाता है।

**छर्दिरोग—( वमन, Vomiting )**—बालक को बिना किसी कारण के बार-बार डकार आते हों तथा निद्रा और जँभाई आ रही हो तो ऐसा जानना चाहिए कि बालक को वमन होगा।

**श्वासरोग**—श्वास रोग में बालक के छाती से अत्यन्त गरम साँस निकलती है।

**हिक्का**—कृश रोगी में एकदम वायु की डकार आवे तो हिक्का होने की सम्भावना होती है।

**तृष्णा**—अत्यधिक स्तन पान करने पर भी यदि तृप्त नहीं होता तथा रोता रहता हो, और ओष्ठ तथा तालु सूख गये हों, यदि जल का इच्छुक हो अर्थात् जल चाहता हो तो जानना चाहिए कि बालक को प्यास लगी है।

**आनाह**—जिसकी आँखें फैली हुई हों तथा स्तब्ध हों जिसके जोड़ों में दर्द हो, जिसे अरति तथा क्लम ( थकावट ) हो, जिसके मूत्र वायु तथा मल सभी रुक गये हों, उस बालक को आनाह ( अफ़ारा ) से पीड़ित समझना चाहिए।

**अपस्मार**—इसमें बालक सहसा जोर से अट्टहास करने लगता है।

**उन्माद**—इसमें प्रलाप ( Delirium ) अरति तथा वैचित्य। तथा

**चित्तभ्रम**—( Upset mind ) पाया जाता है।

**मूत्रकृच्छ** ( Dysurea )—इसमें बालक को रोमहर्ष ( बालों का खड़ा होना ), अंगहर्ष ( अंगों में कँपकँपी होना ) तथा मूत्रत्याग के समय वेदना होती है ( Pain during Micturation ) तथा ओष्ठदंशन ( ओष्ठ को दोतों दाँतों के नीचे दबाना ) करता है तथा हाथ से वस्ति प्रदेश का स्पर्श करता है।

**प्रमेह**—इसमें बालक का शरीर भारी होता है तथा बँधा हुआ सा और जड़ हो जाता है तथा अकस्मात् उसका मूत्र निकल जाता है, जिस पर मक्खियाँ बहुत बैठती हैं तथा मूत्र का रंग श्वेत एवं घन होता है ( अर्थात् उसका आपेक्षिक गुरुत्व ( Specific gravity ) जो स्वाभाविक १०१० से १०२० तक होता है, बढ़कर उसका गुरुत्व अधिक अर्थात् लगभग १०२० १०३० तक हो जाता है।

**अर्श रोग** ( बवासीर Piles )—इसमें मल बँधा हुआ तथा पक्व होता है, साथ में रक्त भी होगा तथा बालक कमजोर होगा। उसकी गुदा में वेदना, कण्डू तथा तोद होता है।

**अश्मरी** (Stone in bladder)—यदि मूत्र शर्करा या कणों (Gravel) से युक्त हो तथा मात्रा में अधिक होता हो, मूत्र त्याग के समय वेदना होती हो, बालक बहुत अधिक लगातार रोता हो तथा बहुत दुर्बल हो तो अश्मरी (पथरी) रोग समझना चाहिये।

**विसर्प रोग** ( Erysipelas )—इस रोग में बालक के शरीर पर रक्त-मण्डल ( लाल-लाल चकत्ते—Rashes) बन जाते हैं। उसे तृष्णा, दाह, अरति ज्वर होता है तथा उसे मधुर एवं शीत द्रव्यों के सेवन की इच्छा होती है।

**विशूचिका**—बालक के अंगों में दाह होता है, सूचीवेध सदृश पीड़ा होती है, उसे साँस लेने में कष्ट होता है तथा हृदय में शूल होता है। बालकों में विसूचिका के लक्षण विशेषतः कै एवं दस्त का ही मिलता है।

**अलसक** ( Cholera sicca )—बालक थोड़ी देर भी सिर को ठीक तरह से धारण नहीं कर सकता है, उसके शरीर में वेदना होती है, वह बार-बार जँभाई लेता है, अधिक स्तनपान नहीं करता है, ग्रथित ( गाठों से युक्त ) वमन कर देता है, तथा विषाद, अध्मान और अरुचि होती है—इन लक्षणों से बालक को अलसक रोग जाने। विसूचिका तथा अलकस रोग के लक्षण एवं औषध के भेद का ज्ञान कठिनता से होता है अर्थात् इन दोनों में भेद करना कठिन होता है।

**चक्षुरोग**—इसमें दृष्टि की व्याकुलता, चक्षुओं में तोद, शोथ, शूल, अश्रु का अधिक आना ( Lacrimation ) और लालिमा ( Congestion ) होती है। सोने पर दोनों आँखें ( पलक—Eye Lashes ) परस्पर ( discharge के कारण ) चिपक जाती हैं।

**शुष्क कण्डु** ( Pruritis ) ( सूखी खुजली )—इस रोग में बालक रात्रि को सोते समय अंगों का घर्षण करता है ( रगड़ता है ), वह रोता तथा शरीर का मर्दन करना चाहता है।

**आर्द्रकण्डु** ( गीली खुजली )—शुष्क के बाद आर्द्र कण्डु प्रारम्भ होती है। इसमें रोगी रगड़ने पर सुख ( आनन्द ) का अनुभव करता है। रगड़ने पर वह

बढ़ जाती है तथा बढ़ने के बाद उसमें स्राव ( Discharge ) आने लगता है। इस प्रकार बढ़ी हुई इस आर्द्र कण्डु में शूल एवं दाह होता है।

**आमदोष**—इस रोग में स्तिमितता ( शरीर का चिपचिपापन ) अरुचि, निद्रा शरीर का पांडुवर्ण (Anaemia)—होना और अरति पैदा होती है तथा बालक को खेल, भोजन, निद्रा तथा धात्री से भी निरन्तर द्वेष ( अरुचि या घृणा ) हो जाता है। यदि उसने स्नान नहीं किया है तो भी स्नान किये हुये के समान प्रतीत होता है। और यदि स्नान किये हुए है तो स्नान न किये हुए के समान प्रतीत होता है। यदि ये लक्षण हों तो उन्हें देखकर वैद्य कह सकता है कि इस बालक में आमदोष प्रबल है।

**पाण्डुरोग** ( Anaemia )—इसमें नाभि के चारों ओर शोथ होता है। आखें, नाखून, मुँह सफेद हो जाता है। उसमें अग्निमांद्य हो जाता है तथा उसकी आँखों के चारों ओर शोथ हो जाता है।

**कामला** (Jaundice) **रोग**—इसमें आँखें, नाखून, मुख, मल तथा मूत्र पीले हो जाते हैं ( Bile pigments के कारण )। पाण्डु एवं कामला इन दोनों रोगों में मनुष्य उत्साह शून्य होता है, उसकी जठराग्नि नष्ट हो जाती है तथा रुधिर के प्रति उसकी स्पृहा ( आकांक्षा अथवा आवश्यकता ) होती है।

**मदात्यय**—मूर्छा, जागरण ( अनिद्रा Insomnia ) वमन, धात्री से द्वेष ( अनिच्छा-अरुचि ), अरति, भ्रम, वित्रास ( डर ) उद्वेग ( वेगों की प्रबलता ) तथा तृष्णा इन लक्षणों से बालक में मदात्यय रोग का ज्ञान होता है।

**पीनस रोग ( प्रतिश्याय )**—जो बालक स्तनपान करता हुआ बार-बार मुख से श्वास लेता है, जिसकी नासिका से स्राव होता है, ललाट तप्त ( गरम ) रहता, स्रोतों का बार-बार स्पर्श करता है, छींकता है तथा खाँसता रहता है—उसे पीनस रोग से आक्रान्त जानना चाहिए। **उरोघात**—इसमें पूर्वोक्त लक्षणों के साथ-साथ बालक छाती से बड़े गरम-गरम साँस निकालता रहता है।

**जन्तुदंश** ( Insect Bite )—स्वस्थ ( नीरोग ) बालक यदि रात्रि में न सोये तथा उसके किसी अंग पर लाल-लाल बिन्दु में दिखाई दें तो यह समझना चाहिए कि उसे किसी जन्तु ने काटा है।

ग्रहरोग—जब लालन ( प्रेमपूर्वक पालन पोषण ) करने वाली, सुखी तथा वस्तुओं का भोग करने वाली धात्री लगातार बुरे स्वप्नों को देखे, उसके स्तनों से स्वयमेव दूध प्रवृत्त होने लगे, उसको बालक का स्मरण न रहे ( अथवा बालक को अपस्मार रोग हो जाय ); बालक सहसा गोद में गिर पड़े तथा दुष्ट पुरुषों के साथ संसर्ग एवं भोजन करती हो, जिनके पुत्रों की मृत्यु हो जाती हो, जो अवकीर्णी हों तथा जो दूसरों की वृद्धि ( बढ़ती-ऐश्वर्य ) को सहन न कर सकती हों ऐसी धात्रियाँ भयंकर अमंगलों ( अशुभ लक्षणों ) को देखती हैं तथा उसी के अनुसार आचरण करती है तो बालक की मृत्यु होने की सम्भावना रहती है। बालक के सोये रहने पर भयंकर आकृति वाले पक्षी वहाँ घोंसला बना लेते हैं, विडाल ( मार्जार ) उसे लाँघ जाता है, पर धूम को सूँघता है, वह दूसरे के सिर पर से उतार कर रखी हुई बलि को चाटता है तथा इसका लंघन करता है बालक के शरीर तथा मुख से दुर्गन्ध आता है, उसकी नासिका के अग्रभाग में मलोत्पत्ति हो जाती है तथा माता और पुत्र दोनों अशुभ एवं रक्तपूर्ण की मालाओं को धारण करते हैं। भस्म ( राख ) अंगारों तथा तुष के ढेर पर बैठता है, सहसा रोने लगता है, उसे डर लगता है, उसकी छाया तथा स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। कान्ति बदल जाती है। बालक कम खाता है—कभी मल एवं मूत्र अधिक आते हैं कभी कम आने लगते हैं। बालक अपने सिर को स्थिर नहीं रख सकता। अंगों को इधर-उधर फेंकता है, दुर्बल हो जाता है—श्वास कष्ट एवं आध्मान से पेट फूल जाता है ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे अब बचेगा नहीं। बालक से यदि विनोद किया जाय तो वह उसे पसन्द नहीं करता। वह प्यास तन्द्रा तथा निद्रा से पीड़ित होता है तथा कबूतर की तरह शब्द करता है। ये सब ग्रह रोगों के प्रारम्भ होने के लक्षणों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि बालक को सम्भवतः कोई रोग होने वाला है।

इस प्रकार महर्षि कश्यप ने प्रायः होने वाले रोगों में बालकों के शरीर में होने वाली वेदनाओं तथा लक्षणों का उपदेश किया है।

---

# अध्याय २

## नवजात शिशु

बालरोग विशेषज्ञों की दृष्टि में सर्वाधिक महत्व नवजात शिशु काल का है। यह काल प्रसव के प्रथम चार सप्ताहों का होता है। आधुनिक युग के विशेषज्ञों का ध्यान क्रमशः इसी दिशा में अधिकाधिक केन्द्रित होता जा रहा है। गत कई दशकों तक इस काल में बालमृत्यु की संख्या बहुत अधिक होती रही; परन्तु नवजात सुरक्षा विधि की प्रगति के साथ वह संख्या क्रमशः घटती जा रही है। नव प्रसूत बालक के जीवन काल में प्रथम दिन बालक के लिये बहुत ही खतरनाक होता है; क्योंकि इसी दिन प्रायः अधिक संख्यक बालमृत्यु होती है। बारह मास की आयु से लेकर पच्चीस की आयु तक के पूरे काल में इतनी अधिक मृत्यु संख्या नहीं रहती है।

नवजात काल अर्थात् शिशु के जीवन के प्रथम मास की अवधि में शिशु को कई बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ता है जो उसके कोमल शरीर के लिए घातक सिद्ध होती हैं। प्रसवकालीन अभिघात, उसके अंगों के जन्मजात कुनिर्माण ( Malfarmations ), अपक्व प्रसव, मृत प्रसव तथा रक्तनाशी रोग ( Haemolytic Diseases ) प्रभृति बाधायें शिशु के लिए प्रथम दिन या प्रथम सप्ताह में ही घातक बन जाती है। इसके अतिरिक्त शिशु माता की कुक्षिका परतंत्र जीवन छोड़ कर एकाएक अपना स्वतंत्र अस्तित्व प्रारम्भ करता है। फलतः उसके श्वसन एवं रक्त संवहन संस्थानों का अनुकूलन एवं तजन्य दुर्घटनाएँ भी सुलभ रहती हैं। उसके सभी धातु, क्रिया की अपक्वता से युक्त होते हैं जो इस काल में और कालों की अपेक्षा किसी क्षण शीघ्रता से विनष्ट हो सकते हैं। यद्यपि उसके शरीर में कुछ विशिष्ट रोगों के प्रति निष्क्रिय क्षमता माता से प्राप्त हुई रहती हैं, परन्तु इसमें शक्ति नहीं रहती

कि शिशु के शरीर में वह स्वतन्त्र तथा प्रतियोगी द्रव्यों ( Antibodies ) का निर्माण कर सके। इसके अतिरिक्त कई अन्य उपसर्गों का भी भय रहता है जिसकी सहज-क्षमता नामक सुरक्षा ( Congenital Protection ) की व्यवस्था शिशु के शरीर में नहीं रहती है। परिणामस्वरूप नवजात के शिशु के लिये जन्म का प्रथम दिन तथा आनेवाले चार सप्ताह या एक मास की अवधि जिसे "नवजात काल" कहा जाता है शिशु के लिये विपत्तियों से भरा रहता है। इस काल में शिशु की सुरक्षा तथा चिकित्सा को ध्यान में रखते हुए बहुत से शोध हो चुके हैं। इस विधियों का अनुसरण करते हुए इस काल की नवजात मृत्यु से बचाने में बहुत अंश तक सफलता भी मिल रही है।

**नवजात मृत्यु हेतु** अधिकतर शिशु मृत्युओं में कारण का ठीक पता नहीं चलता है। तथापि जिन मृत शिशुओं में मृत्यूत्तर परीक्षा हुई और उसके ऊपर जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उसके आधार पर कुछ कारण सामने आये हैं। उनमें अपक्व प्रसवता ( Pre-maturity ) के कारण ७०% शिशुओं की मृत्यु होती है। शेष ३०% जीवाणुओं के उपसर्ग एवं तज्जन्य रोगों से होने वाली मृत्यु का है, जो प्रायः एक सप्ताह के अनन्तर होती है। नवीन प्रतिजीवी ( Antibiotics ) के चिकित्सा में प्रवेश करने से अपेक्षाकृत क्रमश कम होता जा रहा है। करोटिगत रक्तस्राव (Intra Cranial haemorrhage), श्वासावरोध ( Asphaxia ) तथा वैकासिक विकार ( Developmental defects ) ( जो अधिकतर शिशु जीवन के प्रथम सप्ताह में घातक सिद्ध होते हैं ) प्रभृति का मृत्यु के कारणों में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया जा रहा है, क्योंकि इन कारणों से बचाने में अभी उतनी सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है, जितनी उपसर्गों से रक्षा करने में।

अति पक्व प्रसव ( Post maturity ) के कारण नवजात मृत्यु (Neonatal death ) कम होती है, बल्कि मृत-प्रसव ( Still birth ) अधिक होता है। अतिपक्व प्रसव के जीवित प्रसवों में करोटि में अधिक अस्थिभाव ( Advanced ossification of skull ), गर्भमल ( Vernix ) नख एवं नाभिनाल का पीतरंग का रंजन, त्वचा में झुर्रियाँ प्रभृति विशिष्ट चिह्न

उपस्थित रहते हैं। यदि चौवीस घण्टे के भीतर आक्सीजन के अभाव में एनो-क्सिया से इनकी मृत्यु नहीं हो गई; तो इनकी जीवन को आशा रहती है। प्रसव में कठिनाई होकर इन शिशुओं में पूर्ण मात्रा में ऊपर के द्वारा 'आक्सी-जन' नहीं पहुँचता है और इनकी मृत्यु हो जाती है फलतः मृत-प्रसव अधिक पाया जाता है।

अप्रगल्भ शिशु या अपक्व प्रसूत शिशु ( Pre-mature infant ) :— अन्तर्राष्ट्रीय परिभाषा के अनुसार ऐसा शिशु जिसका शरीर भार ५½ पौण्ड ( २५०० ग्राम ) या उससे कम हो अप्रगल्भ शिशु कहा जाता है। इस परि-भाषा में गर्भकाल की कोई सीमा नहीं निर्धारित की गई है तथापि ३७ सप्ताह से कम गर्भकाल वाले शिशु भी इसी वर्ग के होते हैं। अस्तु प्रत्येक शिशु के लिये स्वतन्त्र रूप से यह निरुक्ति लागू नहीं हो सकती है। यह एक औसत गणना है, इससे भिन्नता भी किन्हीं शिशुओं में मिल सकती है, जिसका विचार दूसरे माप दण्डों के सहारे किया जा सकता है।

**हैतुकी**— लगभग आधे अप्रगल्भ प्रसवों में अप्रगल्भता का हेतु अज्ञात ही रह जाता है। अवशिष्ट पचास प्रतिशत अप्रगल्भ प्रसवों में ( १ ) गर्भ विष-मयता ( Toxaemia ) तथा ( २ ) युग्म या वहु गर्भ ( Twin Preg-nacy ) ये दो महत्व के कारण पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त ( ३ ) आर्थिक एवं सामाजिक स्तर की भी कारणता मिलती है। क्योंकि अप्रगल्भ प्रसव उच्च स्तर की अपेक्षा निम्न स्तर के परिवारों में अधिक पाया जाता है। सम्भवतः इन माताओं में पोषण की कमी या गर्भिणी परिचर्या की कमी होना कारण होता है। कुछ शोधकों के विचार से माता की रक्ताल्पता भी इसमें हेतु बनती है। ( ४ ) अपरा से प्रसवपूर्व रक्तस्राव ( पूर्वापरा Placenta-praevia के कारण )। ( ५ ) अभिघातज रक्तस्राव (Accidental haemorhage) तथा ( ६ ) गर्भ वैरूप्य ( Foetal deformity ) के कारण भी गर्भपात होता है। ( ७ ) जरायु का समय से पूर्व विदीर्ण होना भी एक कारण है।

**निदान कर चिह्न**—शाखाओं की अपेक्षा इनके सिर और उदर बड़ा होता है। सिर का आकार तथा प्रमाण और सीवनों ( Suteres ) के पार्थक्य के

कारण कई बार निदान में जलशीर्ष ( Hydrocephalus ) का भ्रम हो जाता है। त्वचा के नीचे के मेद के अभाव से इन शिशुओं की त्वचा झुर्रीदार होकर वार्धक्य का स्वरूप ले लेती है। पैंतीस सप्ताह से अधिक के गर्भ धारण के पश्चात् के शिशुओं में यह चिह्न कम व्यक्त रहता है। अधिक अपक्व शिशुओं में उनका शरीर लोम ( Lanugo ) से आच्छादित रहता है और त्वचा का रंग हल्का लाल रहता है जो बत्तीसवें सप्ताह के बाद पाण्डु वर्ण का हो जाता है। इसकी रुलाई उच्च स्वर की किन्तु दूसरों की अपेक्षा कमजोर ( High pitched and relatively feeble ) होती है श्वसन आमतौर से अनियमित होता है एवं छिन्न श्वसन ( Cheyne stokes type ) पाया जाता है।

अप्रगल्भ शिशुओं को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है [ क ] जो चूस सकें और निगल सकें [ ख ] जो निगल सकें परन्तु चूस न सकें [ ग ] जो न चूस सकें और निगल ही सकें। बच्चों के पोषण में इसका विचार करना होता है। इसमें प्रथम वर्ग में बोतल से यथोचित प्रमाण की टोटी ( Teat ) लगा कर पोषण दिया जा सकता है। दूसरे वर्ग में पोषण को 'पिपेट' के द्वारा देना होता है और तीसरे वर्ग में केवल नलिका ( Tube ) के द्वारा ही पोषण देना सम्भव रहता है।

इनका ताप प्रायः प्राकृत से नीचे ही रहता है। आम तौर से गुदा का ताप क्रम ९७° फे० रहता है। इसमें शीत या ताप दोनों के लगने का भय रहता है। नवजात कामला इनमें प्रगल्भ प्रसवों की अपेक्षा अधिक दिनों तक चलता है। इनमें हीमोग्लोबिन की मात्रा कम होकर प्रायः रक्ताल्पता पाई जाती है। ऐसे शिशुओं की चंचलता भी कम होती और पूर्ण शिशुओं की अपेक्षा निद्रालु होते हैं। अधिक हिलाने-डुलाने से या केवल पोषण मात्र लेने से ही थक जाते हैं। मंद क्रन्दन एवं उथले श्वसन के कारण उनके फुफ्फुसों का पूरा प्रसारण नहीं होता है--फुफ्फुस के पूरे भाग में वायु के प्रवेश होने में कई दिनों या सप्ताह लग जाते हैं।

उपद्रव--( १ ) श्वासारोध ( Asphyxia a Anoxia )—फुफ्फुसों की पूर्ण विस्तृति न होना, मस्तिष्क गतरक्त स्राव, सहज श्वसन संस्थान के

रोग या अवरोध तथा कमजोर श्वसनकर्म आदि के कारण यह उपद्रव अप्रगल्भ शिशुओं में बहुत पाया जाता है। इसी से उसकी मृत्यु भ। हो जाती है। इन बच्चों में यथाविधि 'आक्सीजन' का सुँघाना तथा फुफ्फुस के प्रसारण के लिए शिशु की स्थिति का नियमतः परिवर्तित करते रहने का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

( २ ) **भोजन या वमन का श्वसनमार्ग में जाना**--पूर्ण प्रसवों की अपेक्षा अपूर्ण प्रसव के शिशुओं में कसन प्रतिवर्त्त ( Cough reflex ) मंद विकसित या अपूर्ण विकसित होता है जिससे आमाशय शीघ्रता से भर जाता है—आमाशय का हृद द्वार संकोचन भी पूरा विकसित नहीं रहता है-फलतः इसमें भोजन या वमित भोजन का श्वसन मार्ग में जाना आसान रहता है। इस बाधा से रक्षा के लिए अप्रगल्भ शिशुओं को उठा लेने में या पोषण देने में प्रचुर सावधानी रखनी चाहिए। श्वसन मार्ग में प्रविष्ट द्रव के निष्कासन के लिए आचूषक ( Aspirator ) की व्यवस्था करनी चाहिए।

( ३ ) **रक्तस्राव**—रक्त संस्थान के अपक्वता एवं केशिकाओं ( Capillaries ) की स्रवण क्षमता ( Pemeabitity ) तथा करोटि के मृदु होने के कारण अप्रगल्भ शिशुओं में प्रसव काल में मस्तिष्क गत रक्तस्राव की विशेष सम्भावना रहती है, जो प्रायः घातक होती है। शीर्ष प्रसवों में कम परन्तु नितम्ब प्रसव, निम्न तथा उच्च सूतिका संदंश प्रयोग तथा गर्भाशय भेदन के द्वारा होने वाले प्रसवों में क्रमशः अधिकाधिक संख्यक मृत्यु पाई जाती है। पूर्ण प्रसवों की अपेक्षा अपूर्ण प्रसव में रक्तस्रावी--रोगों के होने की अधिक सम्भावना रहती है। अस्तु प्रसव के पूर्व माता को जीवतिक्ति 'के' और प्रसव के अनन्तर इस प्रकार के शिशुओं में दो मि० ग्रा० की मात्रा इस जीवतिक्ति 'के' सेवन कराने की विधि भी प्रचलित है।

( ४ ) **शोफ**--शिशु की शाखाओं में या शरीर पर सूजन मिल सकती है। इसके कारण निम्न हो सकते हैं--जैसे वृक्क की क्रिया में विगुणता, रक्तवाहिनियों की स्रवण क्षमता की वृद्धि, प्रोटीन की कमी से उत्पन्न रक्ताल्पता तथा शरीर में द्रवांश का अधिक होना। यह कोई अनिष्ट सूचक उपद्रव नहीं तथापि रक्ताल्पता तथा प्रोटीन की कमी को दूर करने का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

( ५ ) **जलनाश**—अत्यधिक मात्रा में वमन या अतिसार होने के कारण शरीर में द्रव की कमी हो जाती है। उपचार प्रगल्भ शिशुओं की भाँति ही करना चाहिये।

( ६ ) **अम्लरक्तता** ( Acidosis )—अपूर्ण प्रसवों के बच्चों में शीघ्रता से होकर अतिसार का रूप ले लेता है ( Neo-natal diarrhoea ), श्वसन विलम्बित ( Gasping ) हो जाता है। अम्लरक्तता को ( Sodium lactate one sixth molar ) 'सोडियम लैक्टेट' देकर सुधारा जा सकता है।

( ७ ) **हीनता जन्य राग**—सम्भवतः गर्भकाल की अवधि छोटी होने के कारण गर्भ के द्वारा जीवतिक्तियों ( Vitamins ) का संचय पूरा नहीं हो पाता, साथ ही प्रसव के अनन्तर शिशु की वृद्धि होनी भी वेग से शुरू हो जाती है; फलतः अप्रगल्भ शिशुओं में फक्क ( Ricketes ) रोग का प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए इन बच्चों में प्रारम्भ से ही जीवतिक्ति 'ए', 'सी' और 'बी' कम्प्लेक्स का प्रयोग लाभप्रद होता है।

( ८ ) **अंधता**—दृष्टिगत परिवर्तन उन अप्रगल्भ शिशुओं में पाया जाता है, जिनमें लम्बी अवधि तक आक्सीजन का प्रयोग हुआ हो। दृष्टिपटल ( Retina ) की रक्तवाहिनियों में परिवर्तन होता है। आगे चलकर लेन्स के पीछे एक पतली सी झिल्ली बन जाती है, जिससे पूर्व कोष्ठ ( Anterior Chamber ) छोटा हो जाता है। यदि यह स्वयमेव विलीन नहीं हुई तो दृष्टि पूर्णतया नष्ट हो जाती है और शिशु अन्धा हो जाता है। कोई प्रभावशाली चिकित्सा इस रोग की अभी तक ज्ञात नहीं है।

( ९ ) **सहज अंग प्रत्यग विकार** (Congential Malformations)–प्रगल्भों की अपेक्षा अप्रगल्भ शिशुओं में यह अधिक मिलता है। सम्भव है इन्हीं विकारों के कारण ही वे गर्भाशय में अपना काल पूरा नहीं कर पाते हों। अस्तु, इन जातकों में ध्यानपूर्वक कुनिर्माणों का निरीक्षण करना आवश्यक होता है।

( १० ) **उपसर्ग** ( Infection )—पूर्ण प्रसवों के जातकों की भाँति इन जातकों में भी सभी प्रकार के उपसर्ग का भय रहता है। फुफ्फुस शोथ ( Pne-

umonia ) तथा नवजातातिसार ( Neonatal Diarrhoea ) इनके लिए घातक सिद्ध होते हैं। मुखपाक भी तीव्र स्वरूप का होता है।

**अप्रगल्भ शिशु की परिचर्या**—अप्रगल्भ शिशुओं की परिचर्या में सर्वप्रथम यह विचार करना होता है कि इन्हें अच्छे बाल-चिकित्सालय में भेजा जाय। इन शिशुओं का जीवित रहना दक्ष परिचर्या से ही सम्भव रहता है। इस प्रकार की व्यवस्था किसी ऐसे स्थान पर ही हो सकती है जहाँ इस प्रकार की परिचर्या में दीक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति हो। किसी अच्छे चिकित्सा केन्द्र में भेजने का निर्णय भी कई बातों के ऊपर निर्भर करता है। जैसे—शिशु की अवस्था, घर के रहन-सहन का मापदण्ड, माता की बुद्धिमानी एवं दक्ष परिचर्यायुक्त स्थान की सुलभता इत्यादि। तथापि यदि शिशु का शरीर-भार चार पौण्ड ( १८०० ग्राम ) या उससे कम हो तो उसको किसी अच्छे बाल-चिकित्सालय में ही भेजना उचित रहता है।

यदि शिशु को घर पर ही रखकर पालन करना हो तो माता के समीप में ही उसकी खाट लगा दी जावे ताकि माता अच्छी तरह शिशु की देख-रेख कर सके। उसको सिखला देना चाहिये कि यदि बच्चे में श्यावता आने लगे तो शीघ्र उसे किसी चिकित्सालय में पहुँचावे। कमरे में कम से कम संख्या में लकड़ी के समान रखने चाहिये, गर्द गुबार से बचाने के लिये गीले कपड़े से कमरे की सफाई करनी चाहिये। मिलने वालों के आने पर बच्चे को किसी दूसरे गर्म कमरे में रहने की व्यवस्था करनी चाहिये।

बहुत सी मातायें यह सोचती हैं कि खिड़कियाँ कभी न खोली जावें, परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये। ताजा हवा का प्रवेश कमरे में होता रहना चाहिये। बच्चे को प्रसव होने के साथ ही गर्म कम्बल से आवृत कर गर्म बिस्तर पर और गर्म कमरे में रखना चाहिये। कमरे को दिन-रात गर्म रखना चाहिये। खाट के ऊपर एक दीवाल का तापमापक रखना चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिये कि कमरे का तापक्रम ६५° फ० (१८·५ से०ग्रे०)से कम न होने पावे। कम्बल के नीचे गर्म पानी की बोतलें रखकर भी कम्बल एव बिस्तर को गर्म रखा जा सकता है।

★

# अध्याय ३

## नवजातामय

## ( Neonatal Disorder )

### जातकाभिघात—( Birth Injuries )

#### मस्तिष्कगत रक्तस्राव या शिरोभिघात ( Intra Cranial Injury )

शिशु के जन्मकालीन आघातों में सबसे सांघातिक यह अभिघात होता है, क्योंकि प्रायः यह अभिघात घातक सिद्ध होता है। यदि घातक नहीं हुआ, तो शिशु को सदैव के लिए मस्तिष्क दौर्बल्य, बुद्धि के विकास का अभाव, प्रमस्तिष्क का घात ( Cerebral Paralysis ) अथवा अपस्मार आदि से युक्त कर देता है। मस्तिष्क की यह हानि प्रत्यक्ष अभिघात से अथवा आक्सीजन के अभाव में श्वासावरोध ( Anoxia ) के कारण हो सकती है। इन दोनों कारणों का पार्थक्य बड़ा ही कठिन होता है। मस्तिष्क के किसी महत्व के केन्द्र का अभिघात श्वासावरोध पैदा कर देता है, उसी प्रकार श्वासावरोध भी शिरोगत पीडन को बढ़ाकर मस्तिष्कगत रक्तस्राव पैदा कर देता है। शिर पर प्रत्यक्ष आघात शिशु के सहसा प्रसव (Precipitate) शीर्ष से होना, नितम्ब प्रसव या संदंश प्रसवों में होता है।

श्वासावरोध ( Anoxia or Asphyxia ) का सबसे अधिक महत्व का हेतु श्वास मार्ग का श्लेष्मा (Mucus), रक्त तथा गर्भोदक या उसके झिल्लियों के टुकड़ों से रुद्ध होना है। संशामक तथा संज्ञाहर द्रव्यों ( सार्वदैहिक ) का प्रयोग शिशु के श्वसन केन्द्रों पर सीधा प्रभाव दिखलाता है एवं श्वासावरोध का हेतु बनता है। अपरा का समय से पहले विमुक्त होने से अपरागत कार्य में बाधा पहुँचकर श्वासावरोध उत्पन्न हो सकता है। अपरा के ऊपर अधिक

दबाव पड़ना, यह दबाव शिशु के विकृतोदय में ( Malpresentation ) अथवा गर्भाशय के तीव्र आकुञ्चन से सम्भव रहता है। नाभिनाल भ्रंश ( Prolapse of Cord ) से भी श्वासावरोध जातक में पाया जाता है। फुफ्फुस के विस्तार के लिए पूरा अवकाश न मिलने की वजह से जैसा कि मध्य प्राचीरा की वृद्धि में ( Diaphragmatic Hernia ) होता है; सद्योजात शिशु में श्वासावरोध पैदा होता है।

**जन्मकालीन शिरोभिघात का स्वरूप**—तीव्र स्वरूप के अभिघात में शिशु का मृत प्रसव होता है। उससे कम तीव्रता में श्वेत श्वासावरोध (White asphyxia ) एवं स्तब्धता ( Shock ) का चिह्न उपस्थित रहता है। इससे कम घातक नील श्वासावरोध ( Blue Asphyxia ) होता है।

श्वेत श्वासावरोध में शिशु पूर्णतया शान्त रहता है, किसी भी उत्तेजना का उसमें कोई असर नहीं होता है। शिशु का शरीर ठण्डा रहता है, नाड़ी की गति मन्द रहती है, सूत्रवत् ( Thready ) एवं अनियमित प्रतीत होती है। हृच्छब्द से गर्भ में ही प्रसव के पूर्व भी इसका ज्ञान कर लेना सम्भव रहता है। प्रसव के पूर्व श्वासावरोध का ज्ञान गर्भ-मल के निकलने से किया जा सकता है। श्वासावरोध के कारण गर्भस्थ शिशु में आन्त्र गति बढ़ जाती है और गुद संकोचनी पेशी ( Sphinctre ) विस्तृत हो जाती है और गर्भ-मल ( Meconium ) निकलता है। ऐसी स्थिति में गर्भनाल ( Umbelical cord ) तथा त्वचा गर्भ-मल से रंजित पाई जाती है। गर्भकालीन श्वासावरोध ( Intra Uterine anoxia ) में थोड़ी देर के लिये गर्भ में गति बढ़ जाती है।

श्वसन उथला, मन्द एवं अनियमित हो जाता है—पुनर्प्राणन के (Resuscitation ) सभी प्रयत्नों के बावजूद भी शिशु धीरे-धीरे काल कवलित हो जाता है। यदि दशा में सुधार हुआ तो शिशु मस्तिष्क क्षोभ ( Cerebral irritation ) की स्थिति में आ जाता है कुछ अगों में स्फुरण जैसी गतियाँ ( Twitching ) होने लगती है। अवस्था के गम्भीर होने पर तीव्र आक्षेप ( Convulsion ) भी होने लगते हैं। श्वसन अनियमित हो जाता है, कभी साँस की गति तेज हो जाती है और कभी थोड़ी देर के लिए बन्द हो जाती है

जिससे शिशु बीच-बीच में श्यावता युक्त हो जाता है। मुखाकृति बदल जाती है, आँखें खुली और चौड़ी दिखाई पड़ती है, स्तब्धता ( Shock ) के चिह्न भी उपस्थित रहते हैं, जिससे उसकी आतुरता व्यक्त होती है। दौरे के समय में हाथ की मुट्ठी बँध जाती है एवं खिंचकर चेहरे तक आ जाती है। क्रन्दन ऊँचे स्वर का ( High pitched, cerebral cry ) का होता है, मस्तिष्कगत भीतरी दबाव के बढ़ने की वजह से ब्रह्मरंध्र ( Fontanelle ) उभरा हुआ दिखाई पड़ता है। शिशु पोषण कठिनाई से लेता है और अधिकतर वमन कर देता है।

नील श्वासावरोध में पूर्वोक्त की अपेक्षा नाड़ी ठीक रहती है भरी हुई और नियमित प्रतीत होती है। श्वसन का प्रारम्भ देर से होता है। फिर भी इन शिशुओं में सुधार होने की आशा पूरी रहती है। इनमें मस्तिष्क-क्षोभ की स्थिति बहुत कम मिलती है।

अधिकांश शिशुओं में मस्तिष्काभिघात के चिह्न जन्म के साथ ही पाये जाते हैं, क्वचित् विलम्ब से दो या तीन दिनों के बाद दिखाई पड़ते हैं और वे प्रायः रोग की गम्भीरता के सूचक होते हैं।

**मस्तिष्काभिघात में उपचार**—( १ ) सर्वप्रथम इसमें श्वासावरोध का उपचार अपेक्षित रहता है, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। तत्पश्चात् ( २ ) आक्षेपों से बचाने का प्रयत्न आवश्यक होता है, क्योंकि आक्षेपों के चलते रहने से मस्तिष्क धातु की हानि होती है। इसमें पर्याप्त संशमन की जरूरत पड़ती है। 'फेनाबार्बिटोन' का संभवतः प्रयोग सर्वोत्तम है। इसकी बड़ी मात्रा में ३०-६० मि० ग्रा० ( $\frac{1}{2}$–१ ग्रेन ) तक दिया जा सकता है। इसके स्थान पर सूचीवेध से पेशी द्वारा 'पैरैल्डीहायड' ( $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ ml. ) दिया जा सकता है। एक बार में बड़ी मात्रा में संशमन देकर पश्चात् 'क्लोरल' ( ६०–१२० मि० ग्रा० = १ – २ ग्रेन) हर चार या छः घण्टे के अन्तर से देते रहना चाहिए। इस प्रकार दो तीन दिनों तक चलाना चाहिए। रक्तस्राव के निरोध के लिए जीवतिक्ति (Vitamin K) 'के' का उपयोग भी लाभप्रद रहता है।

बढ़े हुए मस्तिष्कगत निपीड को कम करने के लिए शिशु के सिर को उठा कर बिस्तर पर रखना चाहिए। पोषण बड़ी सावधानी से और देर-देर से देना

चाहिये अन्यथा वमन होने की सम्भावना रहती है और वमित द्रव्य श्वसन मार्ग में जाने का भय रहता है। जिन शिशुओं में चूसने और निगलने की क्षमता न हो उसका पोषण नलिका के द्वारा देना चाहिए।

मस्तिष्कगत पीडन को कम करने के लिए कटिवेध ( Lumbar Puncture ) एक उपाय है। परन्तु इसका उपयोग तभी करना चाहिए जब शिशु का बड़ी मात्रा में संशमन हो चुका हो। इसमें मस्तिष्क सुषुम्ना जल में रक्त के भाग का निर्हरण किया जाता है।

**मस्तिष्काभिघात का शुभाशुभ** मस्तिष्काभिघात के परिणामस्वरूप होने वाले ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय व्यापारों का व्याघात का भविष्य कथन बड़ा ही कठिन है, तथापि आक्षेपों के दौरों के अनन्तर कुछ-न-कुछ व्यापार में विकृति हो ही जाता है। ऐसे शिशुओं के अच्छे होने के एक साल बाद तक निगरानी रखनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि उनमें बधिरता या बृहन्मस्तिष्क सम्बन्धी कोई विकार तो नहीं पैदा हुआ।

**श्वासावरोध का उपचार**—श्वासावरोध के साधनों को पाँच भागों में बाँटा जाता है ( १ ) प्रसवकालीन कुशलता—प्रसवकालीन सावधानी से शिशु को श्वासावरोध से बचाया जा सकता है। ( २ ) श्वसन मार्ग की सफाई, ( ३ ) कृत्रिम श्वसन ( ४ ) आक्सीजन तथा ( ५ ) ओषधियाँ।

आचूषण ( Suction )—शिशु को जन्म के साथ ही उसे उलटा कर रखना चाहिए या इस स्थिति में रखना चाहिए कि गुरुत्वाकर्षण के द्वारा फुफ्फुसों में गया हुआ द्रव्य निकल जावे। गलनलिका ( Pharynx ) से भी आचूषण ( Suction ) का सविध प्रयोग करके द्रव को निकालना चाहिए। आमाशयिक आचूषण ( Gastric arpiration ) द्वारा भी आवश्यकतानुसार श्वासमार्ग में गये द्रव का निर्हरण करना चाहिए। गर्भाशय भेदन के द्वारा प्रसूत शिशुओं में इस क्रिया की विशेष आवश्यकता होती है।

**कृत्रिम श्वसन**— यदि जातक साँस ले रहा हो तो तनिक भी विलम्ब न करके कृत्रिम श्वसन की विधि चालू कर देनी चाहिए, अन्यथा बृहन्मस्तिष्क के स्थायी नाश की सम्भावना रहती है इसके लिये निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं—

( १ ) ट्रेकिया नलिका के द्वारा आक्सीजन देना—यह किसी चिकित्सालय में ही सम्भव रहता है ।

( २ ) घर पर मुँह में मुँह लगाकर फूँक के द्वारा श्वसन को चालू किया जा सकता है । अथवा शिशु के गले के भीतर प्लास्टिक ओरोफैरीञ्जियल नलिका ( Plastic Oropharyngial tube ) डालकर' जो सबसे उत्तम है, श्वसन को चालू करना चाहिए। यद्यपि इस विधि में उपसर्ग होने का भय रहता है । फिर भी घर में की जानेवाली विधियों में यह शीघ्रता से श्वसन चालू करने वाला अच्छा साधन है । इसमें शिशु के फुफ्फुसों का अतिविस्तार न हो, इसका भी ध्यान रखना होता है । इसलिये फूँक मृदु और गाल से ही निकलने वाली होनी चाहिए । यह फूँक बीच-बीच में रोक कर करना चाहिये ताकि शिशु को उस हवा के निगलने का मौका मिले ।

( ३ ) शीतल जल का चेहरे पर छींटा देना तथा पैर के तलवे सहलाना भी निरापद विधि है ।

ऑक्सीजन—जब शिशु प्राकृतिक या कृत्रिम उपायों से साँस लेने लगे तो आक्सीजन देना शुरू करना चाहिए। 'आक्सीजन' आच्छादक ( Mask ) टेण्ट ( Tent ) या 'इन्क्यूबेटर' ( Encubator ) से या नासा मार्ग से कैथेटर के जरिये अथवा आमाशय के मार्ग से दिया जा सकता है ।

ओषधि—श्वसन मार्ग के साफ होकर खुल जाने पर श्वसनोत्तेजक ओषधियाँ ( Respiratory stimulants ) देना चाहिए। इसके लिये 'निकेथेमायड' ( कोरामीन ) एक अच्छी दवा है। मात्रा ½ बूँद—जीभ पर रख कर देना चाहिए ।

## कोमल धातुओं को क्षति

## ( Soft Tissue Injury )

**क्षत** ( Bruises )—संदंश प्रयोग--कठोरता से शिशु को ग्रहण करने से या बिना कटे नख से त्वचा में क्षत हो जाते हैं ।

**शिरोरक्त ग्रन्थि** ( Cephal Heamatoma )—यह एक रक्त का

संचय है जो सिर की किसी अस्थि के क्षेत्र में पाया जाता है। स्वयमेव कुछ सप्ताहों में लुप्त हो जाता है।

**अभिघातज श्यावता** ( Traumatic Cyanosis )--ग्रीवा की शिराओं के दबाव के कारण, जो नाभिनाल के गले से कस कर लटकाने से होता है इसमें दबाव विन्दु के ऊपर शिशु श्यावता युक्त और नीचे के भाग में प्राकृत वर्ण का रहता है। नेत्र के श्वेत मण्डल ( Sclera ) में पुतली के एक या दोनों ओर रक्तस्राव के धब्बे भी हो जाते हैं जो माता के लिए चिन्ता का विषय बन जाता है। चिकित्सा में कारण को दूर करना चाहिए; विकार स्वयमेव कुछ दिनों में शान्त हो जाता है।

**ग्रीवार्बुद** ( Sternocleido mastoid tumour )—इस पेशी के कुछ सूत्रों के विदार ( Tear ) या प्रसवकाल में रक्त संचार में बाधा पहुँचने से यह अर्बुद ( उभार ) पैदा होता है। नितम्ब प्रसवों में अधिकतर यह पाया जाता है, जिनमें इस पेशी के ऊपर अधिक खिचाव पड़ता है। जब शिशु दो सप्ताह का हो जाता है तो यह उभार दिखाई देता है। इसके परिणामस्वरूप पेशी में छोटापन न आ जावे अतः इसके लिए हल्के प्रसारण का व्यायाम लाभप्रद रहता है।

**अधस्त्वक्परिगलन** ( Sub-cutaneous fat necrosis )--गाल एवं स्कंध प्रदेश पर होनेवाला एक पिण्ड ( Mass ) बनता है जिस पर चमड़ा चिपका रहता है। प्रसव कालीन दवाओं से पैदा होता है। इसकी कोई चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती, स्वयमेव कुछ सप्ताहों में ठीक हो जाता है।

### तंत्रिकाओं को क्षति ( Nerve Injuries )

**मौखिकी तंत्रिका** ( Facial Nerve )--प्रसव काल में इस तंत्रिका की क्षति बहुत होती है। संदंश प्रसवों में या प्राकृत प्रसवों में त्रिकास्थि के उभार से तंत्रिका पर दबाव पड़ने से ऐसी क्षति होती है। फलस्वरूप जिस दिशा की तंत्रिका पर दबाव पड़ता है उस ओर मुख की गति बन्द हो जाती है। आराम के समय में विकृति की ओर का भाग मुलायम और नेत्र विस्तृत रूप से खुला पाया जाता है। जब शिशु रोता है तो मुख, स्वस्थ भाग की ओर खिंच

जाता है; जिससे विकृति और स्पष्ट हो जाती है। विकृति दिशा की आँख बन्द नहीं होती है। अस्तु उस आँख में एरण्ड तेल की या 'लिक्विड पैराफिन' की बूँदें टपका कर, स्निग्ध करके उसकी हिफाजत करना होता है। विकार में सुधार शीघ्रता से हो सकता है, शिशु के चूसने में कोई बाधा नहीं पहुँचती है। यदि सुधार न हो तो कोई सहज विकार समझना चाहिये और कारण अभिघात नहीं प्रत्युत तन्त्रिका केन्द्र ( Nerve Nucleus ) का कोई विकार समझना चाहिये।

**अर्ब का घात** ( Erb's Paralysis )—यह विकार पंचम एवं छठवीं ग्रैवेयक ( Cervical ) तन्त्रिका या उसके मूल के प्रभावित होने से होता है। यह अधिकतर नितम्ब प्रसवों में ग्रीवा के अधिक फैलाव ( कर्षण-Streching ) के कारण उत्पन्न होता है। इसमें बाहु लटक जाता है, केहुनी फैली रहती है, अग्रबाहु पीछे की ओर मुड़ जाता है, अँगुलियों में गति होती है; परन्तु अग्रबाहु में नहीं होती। यह विकार एक ही पार्श्व में पाया जाता है। इसकी चिकित्सा में घातित पेशियों के विपरीत खिंचाव से बचाते हुए घातित या प्रभावित पेशियों को शिथिल रखना यही क्रिया की जाती है। इसके लिए बाहु को सिर के ऊपर ले आकर रखते हैं। इसके लिए उसके मणिबंध ( Wrist ) पर पट्टी बाँधकर शिशु के सिर के समीप ले आकर उसके बिस्तरे से एक पिन के द्वारा जोड़ दिया जाता है। बाद में ठीक स्थिति में कुशा ( Splint ) लगाकर स्थिर कर दिया जाता है। सुधार कई मासों में संभव रहता है, परन्तु पूर्ण सुधार नहीं होता है।

**क्लम्पकेज घात** ( Klumpke's Paralysis )—इसमें सातवीं और आठवीं ग्रैवेयक ( Cervical Nerve ) प्रभावित होती हैं। इसमें भी किसी बाहु का घात होता है। चिकित्सा में पूर्व की भाँति ही प्रसारण एवं स्थिरीकरण का विचार किया जाता है।

## अस्थियों के क्षत
## ( Bone injuries )

करोटि ( Skull ), अक्षक ( Clavicle ) तथा लम्बी अस्थियों के अभिघात भी प्रसवकाल में शिशुओं में अधिक पाये जाते हैं। विशेष उपचार

की आवश्यकता नहीं रहती है प्रायः स्वयमेव कुछ दिनों या सप्ताहों में सुधर जाते हैं। यदि मस्तिष्क धातु की हानि न हुई हो, करोटि की अस्थियों के भग्न में भी कोई चिन्ता का विषय नहीं रहता है।

## आभ्यंतरिक अवयवों के क्षत
## ( Injuries to internal Organs )

सौभाग्य से इस प्रकार के क्षत जातकों में बहुत कम होते हैं। नितम्ब प्रसवों ( Breech delivery ) में अभ्यन्तर-जननांगों के क्षत की सम्भावना रहती है। कई बार फुफ्फुस में, 'आक्सीजन' के अधिक पीड़न से या कृत्रिम श्वसन में वायु के भार से अथवा हाथों के सहारे श्वसन कर्म चालू करते हुए, आभ्यंतरांग विदीर्ण हो जाते हैं। कई बार प्रसव कालीन उपचारों में कार्यकर्त्ता की लापरवाही या शिशु के अमृदु ग्रहण से, यकृत या प्लीहा आन्त्र एवं वस्ति का विदार भी पाया जाता है, जो प्रायः सद्यो घातक होता है। प्रसव काल में अधिवृक्क ( Adrenal glands ) से भी अत्यधिक रक्तनाश होता है। इस अवस्था में 'कार्टिसोन' का चिकित्सा में व्यवहार करना चाहिए।

## नवजात-उपसर्ग या संक्रमण
## ( Neonatal Sepsis )

नवजात शिशुओं रोग निवारक क्षमता अपूर्ण होती है अस्तु जीवाणुओं के उपसर्ग एवं तज्जन्य होने वाली व्याधियों के होने की सम्भावना अधिक होती है। साथ ही ये उपसर्ग बड़े भयंकर स्वरूप के और कुछ ही घण्टों में मारक भी हो जाते हैं। निम्नलिखित जीवाणुओं के उपसर्ग का अधिक भय रहता है—'स्टेफिलो कोकस', 'ई कोलाई', 'हीमोफाइलस इन्फ्लूएन्जा', 'न्यूमोकोकाई' एवं गोनोकोकाई।

लक्षण—दो स्वरूप के होते हैं १. सार्वदैहिक २. स्थानिक।

**सार्वदैहिक चिन्ह**—क्षुधानाश शिशु दूध पी रहा हो और अचानक पीना छोड़ दे तो उसका कारण उपसर्ग ही होता है, दूध से अरुचि नहीं। यदि बलपूर्वक उसे पोषण दिया जाय तो वह वमन करने लगता है। बाद में अतिसार से युक्त हो जाता है। फलतः शिशु जलाल्पता से पीड़ित हो जाता है। उनके रन्ध्रों ( Fontanelle ) के दबने तथा आँखों

के भीतर धँसने एवं त्वचा के लचकीलेपन की कमी से जलनाश की सूचना मिलती है। जलाल्पता के प्रारम्भ में शिशु जल के लिये बेचैन रहता है, पश्चात् सुस्त पड़ जाता है और अन्त में मर जाता है।

शिशुओं के संक्रमणों में ज्वर का होना कोई प्रमुख लक्षण नहीं है, बल्कि ताप का कम होना एक घातक चिह्न है। फलतः नवजात उपसर्गों में निदान के लिये ज्वर या तापक्रम की वृद्धि आवश्यक नहीं होती है। कई बार जल नाश के कारण शिशुओं से ताप की वृद्धि ( Dehydration Fever ) पाई जाती है। तीन अन्य प्रमुख लक्षण शिशुओं के संक्रमणों में महत्व के हैं इनमें एक या अधिक का होना संक्रमण का विनिश्चय कराता है। जैसे, शोथ, रक्तस्राव तथा कामला।

**चिकित्सा**—स्वच्छता पर ध्यान रखकर शिशु की परिचर्या करनी चाहिये। शिशु यदि बाल-चिकित्सालय में हो तो उसका अन्य शिशुओं से पृथक् करके परिचर्या करनी चाहिये। साथ में प्रतिजीवी द्रव्यों ( Antibiotic ) का प्रयोग करना चाहिये। मात्रानुसार 'पेनिसिलीन', 'स्ट्रेप्टोमायसीन' या 'टेट्रासायक्लीन' का देना लाभप्रद रहता है। यदि वमन के कारण मुख से पोषण सम्भव न हो तो द्रव-भरण ( Parenteral fluid ) का व्यवस्था करनी चाहिये।

**स्थानक चिन्ह**—संक्रमणों से स्थानिक चिह्नों में कुछ भी विशिष्ट नहीं मिलता, सार्वदैहिक चिह्न ही शिशु संक्रमणों में पाये जाते हैं। कतिपय चिह्नों की चर्चा प्रसङ्गवश विविध संक्रमण एवं विविध संक्रमण जन्य रोगों के प्रकरणों की जायगी।

**मस्तिष्कावृति शोथ** ( Meningitis )—सिर का खिंचाव एवं गर्दन की जकड़ाहट जो अधिक वय के रोगियों में मिलता है, नवजातों में नहीं पाया जाता है, यदि मिलता भी है तो अन्त में। इस उपसर्ग में शिशु सुस्त एवं चिड़चिड़ा हो जाता है। पूर्व रंध्र अधिक उभर जाता है। इस आयु में 'ई' 'कोलाई' का उपसर्ग अधिकतर रोग का उत्पादक होता है। यह एक घातक अवस्था है। यदि शिशु बच भी गया तो मस्तिष्क की कमी आजीवन बने रहने की सम्भावना रहती है।

**नवजातभिष्यंद** ( Ophthalmia-Neonatorum )--नेत्र के वर्त्मों में सूजन, पलकों का चिपकना एवं नेत्रों में से गाढ़ा ( कीचड़ जैसे ) स्राव प्रभृति लक्षण मिलते हैं। चिकित्सा में नेत्रों का लवण-विलयन ( Saline wash ) प्रक्षालय तथा प्रतिजीवी औषधि ( Antibiotic ) का बूँद या मलहम के रूप में स्थानिक प्रयोग लाभप्रद होता है।

**नासा का संक्रमण**--नासा का संक्रमण शिशुओं में तेज प्रतिश्याय का रूप लेता है। जिसमें नासा स्रोत का अवरोध होकर मुख से श्वसन चलने लगता है। इस अवस्था में ½ प्रतिशत की मात्रा में लवण-विलयन में बना घोल १-२ बूँद की मात्रा में नाक से छोड़ना लाभप्रद रहता है।

**कर्ण का संक्रमण**--मध्य कर्ण शोथ शिशुओं में प्रायः नहीं होता; फिर भी संक्रमण की जानकारी के लिये कान की परीक्षा कर लेनी चाहिये।

**मुख का संक्रमण**--सर्वाधिक मिलने वाला संक्रमण मुखपाक है, जिसका आगे के अध्यायें में वर्णन किया जायेगा। तुण्डिका एवं गलनलिका शोथ ( Tonsillitis Pharyngitis ) भी पाया जाता है।

**फुफ्फुस का संक्रमण**--( क ) फुफ्फुस शोथ ( Pneumonia ) गर्भ-काल के संक्रमण से सहज भी यह विकार हो सकता है। और जन्म के बाद भी होता है। जन्म के बाद प्रारम्भिक दो या तीन दिनों में होने वाले फुफ्फुस शोथ के प्रमुख चिह्न मस्तिष्क क्षोभ ( Cerebral Irritation ) के मिलते हैं, जो 'आक्सीजन' के अभाव ( Anoxia ) से पैदा होता है। श्वसन-संस्थान के चिह्न अनुपस्थित भी रह सकते हैं। श्वासावरोध के उपचारों से शिशुओं को फुफ्फुस शोथ से बचाया जा सकता है। यदि श्वासावरोध तीव्र हो तो 'प्रति-जीवी द्रव्यों' ( Antibiotics ) का उपयोग करना चाहिये।

**( ख ) फुफ्फुस का अनुन्मीलन** (Atelactasis )--जन्म के अनन्तर जातक में प्रथम उच्छ्वास के साथ पूरे फुफ्फुस में वायु नहीं जा पाती; बल्कि इसमें कई घण्टे या दिन लग जाते हैं। फलतः पूरे फुफ्फुस के फैलने की क्रिया नहीं होती है। इसका नतीजा यह होता है कि जितना भाग अविस्तृत रह जाता है उसमें उपसर्ग होने का भय रहता है। यदि श्वसन मार्ग का उपसर्ग हो गया तो फुफ्फुस के पूर्णतया विस्तृत होने की आशा कम रहती है।

त्वचा का संक्रमण--'स्टेफिलोकोकस' का उपसर्ग शिशुओं में बहुत होता है। इसकी वजह से नाभिपाक तथा नेत्राभिष्यन्द तथा माताओं में स्तनपाक भी हो जाता है। त्वचा पर पिडिकाओं ( Pustules ) एवं नखपाक ( Paronychia ) होना भी इसी उपसर्ग के परिणामस्वरूप होता है। इसके लिये सबसे उत्तम स्थानिक उपचार 'जेन्शियन वालवेट' का १% का घोल लगाना है।

**रिटर का रोग** ( Ritter's Disease )—'स्टेफिलोकोकस' के उपसर्ग से होने वाला यह एक सार्वदैहिक त्वक् पाक ( Generalised Exfoliative Dermititis ) है। इसमें त्वचा की बाहरी पर्त्त जरा-सा दबाव पाकर ही उखड़ जाती है और उसके नीचे बड़ा लाल भाग दिखाई पड़ने लगता है। प्रतिजीवी द्रव्यों के खोज के पूर्व यह रोग प्रायः घातक होता था। आज बहुत कुछ साध्य है।

**नाभिपाक**—इसमें ७०% मेथिलेटेड स्प्रिट बार-बार लगाना एक उत्तम स्थानिक उपचार है। 'सल्फा' या 'पेनीसिलीन' पाउडर का उपयोग भी होता है।

**मूत्र मार्ग का उपसर्ग**--इसमें कोई भी स्थानिक चिह्न नहीं मिलता है। मूत्र की परीक्षा से ही विनिश्चय होता है।

**आम शयान्त्र शोथ** ( Gastroenteritis )--शिशुओं में अतिसार एक आम चिह्न है जो उपसर्गों में पाया जाता है। यह उपसर्ग "ई कोलाई" या "स्टेफिलोकोकस" जीवाणुओं के संक्रमण से होता है। चिकित्सा में 'सल्फोनेमायड' 'क्लोरम्फेनिकाल' अथवा 'नियोमायसीन का निर्देश है। जलनाश की उपस्थिति हो तो द्रव का अन्तःभरण भी आवश्यक होता है।

**मुखपाक** ( Turush or Monialis )--यह एक प्रकार के 'फंगस मोनिलिया एल्बकैन्स' से होनेवाला रोग है। इसमें सफेद रंग के छेने जैसे चकत्ते पड़ते हैं जो मुख्य रूप से मुख की गुहा, जीभ एवं तालु पर पाये जाते हैं। इसकी वजह से शिशु को दूध पीने में कठिनाई होती है, पीने से वमन भी हो जाता है। इनका प्रसार अन्ननलिका ( Oesophagus ) तक में हो जाता है। वहाँ से चलकर ये छाले पाखाने से निकलते रहते हैं, जिससे गुदा का समीपवर्ती भाग भी संक्रमित हो जाता है और वैसे ही छाले वहाँ पर भी निकल जाते हैं।

**चिकित्सा**—१% 'जेन्शियनवायलेट' का पानी में बने घोल से, पोषण देने के पूर्व दिन में तीन बार लेप करना चाहिये। नितम्ब पर के छालों में भी इसी घोल को लगाना चाहिये।

**अपतानक** ( Tetanus ) नाभिनाल छेदन में विशोधित शस्त्र का उपयोग न होने से या गंदे व्रणोचार से नाभि से धनुर्वात के जीवाणु उपसृष्ट होकर रोग को पैदा करते हैं। रोग के चिह्न द्वितीय सप्ताह में व्यक्त होते हैं। शिशु का शरीर कड़ा पड़ जाता है, गलावरोध ( Trismus ) के कारण दूध के पिलाने में कठिनाई होती है। आक्षेप एवं आकुञ्चन के बार-बार दौरे होते हैं, नवजातक का स्वरूप विकृत हो जाता है। चिकित्सा में मृदु स्वरूप के रोग में एवं शामक योगों का प्रयोग उत्तम रहता है। जैसे, 'क्लोर प्रोमैजीन' 'फेनाबार्बिटोन' तथा 'पैरेल्डीहायड'। तीव्र स्वरूप के रोगों में आदर्श चिकित्सा 'पेन्सिलीन' तथा 'टीटेनस एण्टी टौक्सिन सीरम' ( A. T. S. ) का ही प्रयोग सर्वोत्तम है। पूर्ण लाभ पहुँचाने वाली कुल मात्रा का निर्धारण अभी तक नहीं हो सका है फिर भी दो लाख इकाई तक की मात्रा दी जा सकती है।

**नवजात कामला** ( Neonatal Jaundice )

छः प्रकार का होता है—१. अवैकारिक ( Physiological )

२. नवजात के रक्त नाशज ( Haemolytic Diseases of new born )

३. संक्रमण ( Sepsis )

४. पित्तनलिका का सहज निरोध ( Congenital Obliteration of the bile duct )

५. नवजात यकृच्छोथज ( Neonatal Hepatitis )

६. विरल कारणों से ( Rare causes )

**अवैकारिक कामला**—लगभग ५० प्रतिशत स्वस्थ जातकों में जीवन के प्रथम सप्ताहों में यह पाया जाता है। यह कुछ दिनों या कुछ सप्ताहों में

अपने आप जाता रहता है। अपूर्ण प्रसवों में प्रायः अधिक मिलता है। इसकी उत्पत्ति में दो कारण प्रमुखतया भाग लेते हैं—( १ ) नवजात शिशु में हीमैटोग्लोबिन का भंजन ( breaking ) ( २ ) यकृत की अपक्वता ( Immaturity of the liver ) जिसमें हीमोग्लोबिन के भंजन से अधिक मात्रा में उत्पन्न हुए "बिलीरुबिन" ( Bilirubin ) के भार को सँभालने में यकृत अक्षम रहता है।

शिशु में कामला में सम्बद्ध अन्य लक्षण या चिह्न नहीं पाये जाते हैं, वह सुस्त हो जाता है और पोषण ग्रहण में अरुचि दिखलाता है। गर्भमल तथा उसका पुरीष पीला नहीं होता है।

**२. रक्तनाशज कामला** ( Icterus gravis Neonavis or jaundice associated with haemolytic diseases )—रक्तनाशी रोग Haemolytic Disease ) के फलस्वरूप रक्त के लाल कणों का अत्यधिक नाश होने से इस प्रकार की कामला होती है। इसका प्रभाव हृदय और यकृत पर पड़ता है। रक्ताल्पता होकर हृदयावसाद ( Heart failure ) होकर मृत्यु हो जाती है। लाल कणों के नाश से उत्पन्न हुए पित्त के रंजन से कामला उत्पन्न हो जाती है। हृदय की कमजोरी ( In efficiency ) से शोफ ( Hydrops ) हो जाता है। यदि हृदय तथा यकृत् बलवान् हुए और कार्यभार को सहन न कर सके तो उस शिशु में पाण्डुरोग हो जाता है जिसे सहज रक्तनाशी पाण्डु ( Congential haemolytic Jaundice ) कहा जाता है। इस अवस्था में यकृत एवं प्लीहा बढ़ी हुई मिलती है एवं साथ में रक्ताल्पता एवं शोफ शिशु में पाया जाता है। पारिवारिक वृत्त में माता तथा पिता के रक्तगत RH तथा रक्तवर्ग की विषमता के मिलने की सम्भावना रहती है।

**३. संक्रमणज कामला**—इस वर्ग की कामला कुछ अंशों में उपसर्गज और कुछ अंशों में विषज (Toxic) होती है। नाभिगत उपसर्गों में जब यकृत भी प्रभावित हो जाता है तो इस प्रकार की कामला उत्पन्न होती है।

**४. पित्त नलिका के सहज निरोधजन्य कामला**—इस प्रकार की कामला

जन्म के दूसरे या तीसरे सप्ताहों में उत्पन्न होती है अस्तु इसका विनिश्चय में अन्य प्रकारों के कामला से पृथक्करण में असुविधा नहीं होती है।

**५. नवजात यकृच्छोथज कामला**—नवजातों में कई बार यकृच्छोथ के साथ कामला पाई जाती है। अवैकारिक प्रकार से यह भिन्न प्रकार की कामला है। इसमें बच्चा स्पष्टतया अस्वस्थ रहता है, साथ में कामला से युक्त रहता है और यकृत में सूजन पाई जाती है। इस रोग का प्रारम्भ गर्भावस्था से ही हो जाता है और जन्म के बाद रोग असाध्य हो जाता है। यह 'वायरस' ( Viruses ) के उपसर्ग से होता है। सहज फिरंग के उपसर्ग से भी यकृत का शोथ होता है, परन्तु बहुत कम मिलता है।

**विरल कारणों से उत्पन्न कामला**—कई अन्य कारणों से भी कामला नवजात शिशुओं में पाई जाती है, परन्तु ये कारण विरलता से मिलते हैं। जैसे शिरोर्बुद से रक्तस्राव ( Cephal heametoma ) में, वामनता ( Cretinism ) में तथा कुलक्रमागत रोग जैसे, ( hereditary spherocytosis and Glactosaemia ) में।

**विविध अन्य रोग**—

**नवजात के रक्तस्रावी रोग** ( Haemorrhagic Diseases of New born )—कई रोगों में शिशुओं के पचन-संस्थान में रक्तस्राव होना पाया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप रक्तवमन तथा पुरीष के साथ रक्त निकलना पाया जाता है, कई बार त्वचा से रक्तस्राव भी पाया जाता है ( Purpura ) और कई बार नाभि नाल से।

चिकित्सा ५ मिलीग्राम की मात्रा में जीवातिक्ति 'के' पेशीमार्ग से देना पर्याप्त होता है। तीव्र रोगों में रक्त-भरण ( Blood transfusion ) की आवश्यकता पड़ती है जो नाभि-नाल के मार्ग से सुविधापूर्वक किया जा सकता है।

**माता के रक्त में शिशु का रक्तस्राव**—कई बार अपरा के मार्ग से माता के रक्त में शिशु का रक्त चला जाता है। इस अवस्था में मातृ रक्त में शैशवीय रक्तकणों की उपस्थिति पाई जाती है। ऐसा प्रायः अपरा के अभिघात,

समय के पूर्व अपरा के पृथक् होने से या किसी दुष्ट कारण के होते देखा गया है। इसकी वजह से शिशु प्रथम सप्ताह में ही पाण्डु ( Anaemia ) से ग्रस्त हो जाता है।

**नवजात में शीत प्रभाव**—प्रसवकाल में शीत लग जाने से शिशु में पोषण ग्रहण से अरुचि, नेत्र के पलकों की सूजन, नाक का बहना, मुख-हाथ एवं पैर का लाल होना एवं गुदा का ताप ९०° फे० ( ३२.२ से० ) से कम होना प्रभृति चिन्ह मिलते हैं।

**चिकित्सा में बालक को गर्म रखना**—गर्म पानी के थैले से या 'इन्क्यूबेटर' में रख करके शीत से बचाव करना चाहिये। पोषण में ग्लूकोज की मात्रा अधिक देना अच्छा रहता है। प्रतिजीवी योगों में 'पेनीसीलीन' एवं 'स्ट्रेप्टोमायसीन' का उपयोग भी किया जा सकता है।

**अतिपक्व कालातीत जातक** ( Post maturity )—गर्भकाल के पूर्ण होने पर भी, प्रसव न होकर उसके बाद प्रसव होना कालातीत प्रसव कहलाता है। इसमें, शिशु अतिपक्व ( Postmature ) हो जाता है। उन प्रसवों में बाल-मृत्यु की संख्या अधिक मिलती है। यद्यपि इसका विनिश्चय कठिन है। कई बार माताओं के अन्तिम ऋतुस्राव की तिथि न ज्ञात होने से और कठिनाई होती है।

निदान में भार का कोई बड़ा महत्त्व नहीं है। लम्बाई का अधिक महत्व दिया जाता है। यदि शिशु की लम्बाई बाइस इञ्च या अधिक हो तो जातक के अतिपक्व होने की अधिक संभावना रहती है। इसमें नख बड़े होते हैं। अंगुल्यग्र से आगे को निकले या टूटे मिलते हैं, त्वचा, नाभिनाल एवं नख हरापन लिये पीले होते हैं। गर्भमल से रंजित होने के कारण ऐसा वर्ण हो जाता है। शिशु पतला, चमड़ा सूखा और फटा हुआ मिलता है। इसमें संक्रमण का भय अधिक रहता है। कई बार श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। प्रथम सप्ताह में इनके भार की कमी सामान्य से अधिक होती है।

**मधुमेही माता की सतान ( शिशु )**—ये शिशु साधारण से अधिक लम्बे होते हैं, माता की रक्तगत शर्करा की मात्रा की अधिकता बच्चे में भी शर्करा की अधिकता पैदा कर देती है। जिससे अग्न्याशय के "बीटा कोषाणु"

( Betacells ) उत्तेजित होकर 'इन्सुलीन' की मात्रा अधिक उद्रेचित करते हैं। फलतः पोषण में 'ग्लुकोज' की मात्रा अधिक देने से शिशु में स्थूलता आती चलती है। उसका चमड़ा खूब पके टमाटर सदृश चमकदार लाल हो जाता है। अधिकतर समय से पूर्व इनका प्रसव होता है और श्वसन सम्बन्धी बाधायें होती हैं। इनमें अपतानिका ( Tetany ) जैसे लक्षण मिलते हैं। खटिक ( चूना = Calcium ) की कमी से इनमें इस रोग के चिन्ह पाये जाते हैं।

इनका जीवित रहना सावधानीपूर्वक की गई सुश्रूषा के ऊपर निर्भर करता है। अपक्व जातकों जैसी इनकी भी सुश्रूषा करनी चाहिये। 'इक्यूबेटर' में रखकर पालना चाहिए। श्वास सम्बन्धी रोगों में बचने के लिए प्रथम तीन दिनों तक 'पेन्सीलीन' एवं 'स्ट्रेप्टोमायसीन' नियमित देना चाहिए। हृदयावसाद के चिन्ह मिलने पर 'डिजिटैलिस' का प्रयोग तथा चूने की कमी मिले तो उसका समुचित उपचार करना चाहिए।

**नवजात अपतानिका** ( Neonalal Tetany )—शिशु के जीवन के प्रथम कुछ सप्ताहों में अपतानिका के चिन्ह कभी-कभी मिलते हैं। इसमें जीवतिक्ति 'डी' की कमी नहीं होती है। गाय के दूध पर पलने वाले शिशुओं में गाय के दूध का 'फास्फोरस' प्रारम्भ में शीघ्रता से सात्म्य नहीं हो पाता जिससे चूने का स्तर शिशुओं में कम हो जाता है। फलतः अपतानिका के चिह्न उपस्थित हो जाते हैं।

**चिकित्सा**—शिरामार्ग से ५% 'कैल्शियम ग्लुकोने-' का ५-१० बूँद देना उत्तम रहता है। बहुत धीरे-धीरे उसका भरण करना चाहिए अन्यथा हृद् अवरोध ( Cardiac arrest ) का भय रहता है। प्रभोगकाल में एक सहायक को हृदय का शब्द सुनते रहना चाहिये क्वचित् अवरोध प्रतीत होता है तो 'मैगनेशियम सल्फेट' का १०% का घोल शिरा द्वारा या २५% का घोल का पेशी द्वारा १०० मि० ग्रा०। प्रति किलोग्राम भार। की मात्रा में देना चाहिए। बाद के दिनों में २ ग्राम 'कैल्शियम ग्लुकोनेट' प्रतिदिन २ प्रतिशत का विलयन बना कर ( २० मि० ग्रा० प्रति सी. सी. ) पोषण के साथ देना चाहिए।

—:०:—

# अध्याय ४

## सहज या जन्मजात कुनिर्मितियाँ या कुनिर्माण

## ( Congenital Malformations )

इस शीर्षक में बहुत तरह के गर्भकालीन वैकारिक दोषों का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रसव काल में होने वाली कुरूपताओं का इसमें समावेश नहीं है।

इन जन्मजात कुनिर्मितियों के कारण गर्भ की प्रमुख हानियों की सम्भावना रहती है, जैसे गर्भस्राव, गर्भपात, मृत प्रसव, अपूर्ण प्रसव तथा प्रसवकालीन मृत्यु इत्यादि। जो बच्चे नवजात काल में जीवित बच जाते हैं, उनकी भी आगे चलकर इन कुनिर्मितियाँ के प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभावों से मृत्यु हो जाती है, अथवा जीवन पर्यन्त कम या अधिक असमर्थताओं के शिकार बने रहते हैं।

इन शिशुओं के गर्भकाल में विकास सम्बन्धी बाधायें अनेक प्रकार की हो सकती हैं, इन कारणों में एक या बहुत से मिलकर गर्भकाल में वैकासिक दोष पैदा करते हैं जिनके परिणामस्वरूप विविध प्रकार की कुरुपतायें शिशु में आती हैं। इसका संक्षेपतः दिग्दर्शन नीचे कराया जा रहा है।

**उत्पादक हेतु—( क ) आनुवंशिक या जीनोदोष** ( Genotype )—बहुत-सी सहज कुनिर्मितियाँ कुल या वंश के बीज दोष से होनेवाली मानी जाती हैं। जैसे त्वचा की अस्वाभाविकता, अस्थि संस्थान के दोष एवं फटे तालु या कटे ओष्ठ का एक साथ मिलना आदि।

**( ख ) क्रोमोजोन्स के दोष।**

**( ग ) यान्त्रिक कारण** ( Mechanical factor ) गर्भाशय के भीतर का संश्लेष ( Intra Uterin adhesion ) के फलस्वरूप बहुत ही कुरूपतायें गर्भस्थ शिशु में बनती हैं। शिशु के चेहरे पर जरायु का चिपका रहना पैरों की कुरूपताओं में प्रायः पाया जाता है। यह एक यान्त्रिक पीडन ( गर्भाशयगत ) के कारण आने वाले दोषों का पक्का उदाहरण है।

**( घ ) संक्रमण** ( Infection ) गर्भ के प्रारम्भिक एक या दो मासों में होने वाला उपसर्ग ( Rubella ) बहुत प्रकार की कुनिर्मितियों का हेतु बनता

है। इसकी वजह से आँख, कान तथा हृदय का कुनिर्माण बहुत पाया जाता है। गर्भ के प्रारम्भिक काल में जब कि गर्भगत अंगों के बनने की क्रिया ( Period of organogensis ) में ही गर्भ में विकास सम्बन्धी दोषों के आने एवं तज्जन्य कुनिर्माणों के कारण उपसर्ग की सम्भावना रहती है। गर्भकाल के परवर्ती मासों के उपसर्ग से कुनिर्मितियों की सम्भावना नहीं रहती है। माता में होने वाला 'वायरल' उपसर्ग अंगों के निर्माण में दोष पैदा करता है। फिरंगोपर्ग का कुनिर्मितियों में कोई विशेष महत्व नहीं है।

( ङ ) **माता की आयु**—नई आयु की अपेक्षा बहुप्रसवी एवं अधिक आयु में गर्भाधान करने वाली माताओं में जन्मजात कुनिर्मितियों की अधिक सम्भावना रहती है।

( च ) **गर्भकालीन औषधियों का सेवन**—गर्भ के प्रथम तीन मास में गर्भ के पातन के निमित्त या उपचार के निमित्त व्यवहृत होने वाली औषधियाँ कुनिर्माण में सहायक होती हैं। जैसे कार्बन मोनोक्सायड, बार्बिचुरेट्स एवं थैलीडोमायड आदि।

( छ ) **अधिगर्भोदक** (Hydramnions)—जरायु में अधिक जलसंचय की अवस्थाओं में गर्भ के बनावट की अस्वाभाविकता मिलती है।

( ज ) **हार्मोंब या निःस्यंद जन्य** (Hormonal Factors)—मधुमेह से पीड़ित माता की सन्तानें अस्वाभाविक ढंग से बड़े आकार की पैदा होती हैं, उनमें नवजात के मृत्यु की भी सम्भावना अधिक होती है, साथ ही सहज कुनिर्माण भी उनकी सन्तानों में अधिक पाया जाता है।

मातृगत स्रोतोहीन ग्रन्थियों के निस्यंद ( Endocrine disorders ) के दोष भी शिशु के खराब बनावटों में भाग लेते हैं।

( झ ) **इरेडियेशन** ( Irradiation )—गर्भ के प्रारम्भिक विकास में क्ष-किरण ( X-ray ) का प्रभाव भी विरूपता का हेतु बनता है पशुओं के ऊपर प्रयोग करके क्ष-किरण का गर्भ के ऊपर कुप्रभाव का अध्ययन हो चुका है।

( ञ ) **हीन पोषण** ( Nutritional Factor )—गर्भ के प्रारम्भिक मासों में जब अंगों का बनने की क्रिया चलती रहती है, बढ़िया पोषक तत्त्व न

मिलें तो कुनिर्मितियों की सम्भावना रहती है। पशुओं के ऊपर बहुत से प्रायोगिक विधियों के अध्ययनों के आधार पर इस हेतु का महत्व दिया जा रहा है। जीवतिक्तियों (Vitamins) का प्रभाव आँख, कान एवं तालु सम्बन्धी विकारों को पैदा करता है।

( ट ) **अन्य कारण**--बहुत सी ऐसी कुनिर्मितियाँ हैं; जिनके उत्पादक हेतु का अभी तक ज्ञान नहीं हो पाया है। सामाजिक एवं आर्थिक स्तर का भी संभवतः कुछ महत्व है। कई प्रकार के रासायनिक विष भी जैसे शुक्रकीट नाशक ( Spermatocides ) का भी इस कार्य में योगदान सम्भव रहता है।

**संयुक्त यमल** ( Conjoined Twins )--दो जुड़वे गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं। प्रायः ये जीते नहीं मर जाते हैं।

**राक्षस गर्भ** ( Monstors )--यह एक बृहत् स्वरूप की विरूपता है। इसमें मस्तिष्क पूर्णतया अनुपस्थित ( Anencephaly ) रहता है। खोपड़ी भी उसी अनुपात में विरूप होती है साथ में फटे तालु प्रभृति अन्य दोष भी रहते हैं। ये जातक जीवन के योग्य नहीं रहते हैं।

### मुख तथा पचन संस्थान के कुनिर्माण--

**खण्डौष्ठ** ( Harelip of eleftilip )--यह सर्वाधिक मिलने वाली कुरूपता है; जो शिशुओं में पायी जाती है। ओठों का कटाव आमतौर से एक ही तरफ को मिलता है कभी-कभी दोनों तरफ के ऊपरी ओठ खण्डित हुए मिलते हैं कटान कभी मामूली और कभी बहुत लम्बे, नासाछिद्र तक पहुँचते हैं। कई बार यह स्वतन्त्रतया मिलता है और कई बार फटे तालु के साथ-साथ। चिकित्सा शाल्यिक ( Operative ) होती है। खण्डौष्ठों का सुधार दक्ष शल्य चिकित्सक के द्वारा उत्तम हो जाता है। जीवन काल के प्रारम्भिक दो-तीन मासों में ही सुधार कर लेना उत्तम रहता है।

**खण्ड तालु** ( Cleft Palate )--मुख की छत का मध्य बिन्दु में न मिलने से ( संयोजक के अभाव में ) यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें मुख और नासिका का सम्बन्ध हो जाता है। यह विकार स्वतन्त्रतया भी मिलता है। इसका शाल्यिक सुधार जन्म के अठारह मास के अनन्तर ही सम्भव रहता है।

ये शिशु इस अवधि तक प्रायः जीवित नहीं रहते हैं। यदि जीवित रहते हैं, तो इनकी सुश्रूषा में पोषण पहुँचाने की आवश्यकता पड़ती है। पोषण चम्मच 'पिपेट' या नलिका के सहारे देना होता है, पोषण के उलटने या श्वासारोध से इनकी रक्षा करने की सावधानी बरतनी पड़ती है।

**महराबी तालु** ( Arched Palate )--तालु का यह कुनिर्माण भी नवजातकों में प्रायः पाया जाता है। इस विकृति के कारण नासावरोध तथा नासा से स्राव का होना पाया जाता है। इसमें शल्य-चिकित्सा से कोई सुधार नहीं होता।

**लघु हन्वस्थियता** (Microgonathia of Hypo mandibulosis)--इसमें हन्वस्थि का पूरा विकास नहीं होता जिससे ठुड्ढी छोटी हो जाती है। इस विकृति से जीवन के लिए खतरा कम रहता है।

**वृहन्मुखता** ( Macrostoma )--इसमें ऊपरी तथा नीचे वाले जबड़े हड्डियों के विवर्धनों ( Process of Maxilla and Mandibul ) का मिलान ( fusion ) नहीं होता है जिससे मुँह बड़ा दीखता है। शल्यकर्मीय उपचार से सुधार सम्भव रहता है।

**अधिजिह्विका** ( Renula )—जिह्वा के किनारे पर नीचे की ओर अधो जिह्वीय नलिका ( Sublingual duct ) के अवरोध के कारण एक ग्रन्थि ( Cystic swelling ) बन जाती है। यह विकार सहज कुनिर्मितियों के रूप में मिलता है दूध पीने में शिशुओं को कठिनाई होती है। शल्यकर्मीय छेदन के द्वारा सुधार सम्भव है।

**रसना संग** ( Tongue-tie )—इस कुनिर्माण के कारण प्रारम्भ में दूध पीने में कठिनाई और बाद में बोलने में भी कठिनाई पैदा होती है। उपचार शल्यकर्मीय।

**अन्न प्रणाली की कुनिर्मिति** ( Oesophagus )—कम पाई जाती है। सन्निरोध, छिद्र संकीर्णता एवं व्रगित होना प्रभृति खराब बनावटें सम्भव रहती हैं। रोग विनिश्चय क्ष-किरण या अन्न-नलिका 'कैथेटर' से सम्भव है। यह भी शल्यकर्म से साध्य विकार है।

**सहज ग्रहणीद्वार सन्निरोध** ( Congenital Pyloric Stenosis )--यह दोष बहुत मिलता है। इसमें ग्रहणी द्वार के वृत्ताकार पेशियों की अतिवृद्धि होकर बादाम के परिमाण की एक गाँठ बन जाती है जो स्पर्श में कड़ी होती और उससे द्वार का अवरोध होकर आमाशय का अन्न ग्रहणी की ओर नहीं जा पाता है। यदि स्थिति का विनिश्चय एवं चिकित्सा प्रारम्भ में ही नहीं हुई, तो आमाशय की अतिवृद्धि ( Hypertrophy ) होकर आमाशय शोथ ( Gastritis ) की सम्भावना रहती है। शिशु में वमन होना पाया जाता है, दिये हुए पोषण की कुछ मात्रा उलट देता है। इसका विनिश्चय दसवें दिन या कई बार तीसरे सप्ताह में होता है। जन्म के साथ ही ये लक्षण नहीं पैदा होते क्योंकि अवरोध की वृद्धि क्रमिक होती है। शिशु क्षुधित होकर दूध पीता है, जब तक कि उसका आमाशय पूरा नहीं भर जाता, फिर जोर से उल्टी के द्वारा सारा पोषण निकल जाता है। उल्टी करके पुनः पीने की इच्छा करता है।

शिशु का भार कम होने लगता है। उसमें जलाल्पता ( Dehydration) आ जाती है। बाद में बेचैन हो जाता है। उसके चर्म पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। पुरीष कम और काले रंग का होता है। आगे चलकर उसमें क्षारमयता ( Alkalosis ) की स्थिति आ जाती है; अपतानिका ( Tetany ), हाथ-पैर के तलवों के संकोच, पेशियों क्षुब्धता ( Muscular Irritability ), स्फुरण ( Twitching ) अथवा आक्षेप ( Convulsions ) भी होने लगते हैं। उदर के ऊपर गुल्मसदृश रूपों की उपस्थिति ( Palpable Tumour ) जो दिखाई पड़ने वाली आंत्र की गतियों के कारण होती है; इस विकार का विनिश्चय कराती हैं।

रोग का निश्चय करने के लिए उदर का सावधानी में स्पर्शन ( Palpation) करना चाहिए, इससे ग्रहणी द्वार पर पायी जानेवाली ग्रंथि (Tumour) ला पता लग सकता है। क्ष-किरण की सहायता से भी रोग का विनिश्चय सम्भव रहता है। आमाशय के प्रक्षालन से आमाशय में पड़े अवशिष्ट के ज्ञान से भी निदान में सहायता मिलती है।

चिकित्सा में कायिक ( Medical )--अथवा शाल्यिक ( Surgical ) दोनों में से किसी एक का आश्रय लेकर उपचार सम्भव है। अधुना शल्य विधि से उपचार ही अधिक उत्तम माना जाता है।

कायिक उपचारों में ( Medical treatment )--पोषण की थोड़ी-थोड़ी मात्रा में कई बार में एवं गाढ़ा करके देना चाहिये। क्योंकि बहुत तरल पदार्थ आमाशय से शीघ्रता से बाहर आ जाते हैं, गाढ़ा होने पर वे आसानी से नहीं निकलते हैं। पोषण देने के बीस मिनट पहले 'यूमीड्रीन' ( Eumydrin atropine methyl Nitrate 0·6 percent alcoholic solution ) की १-२ बूँद शिशु की जीभ पर रखना चाहिये। जलनाश की अवस्था में द्रव का अन्तःभरण ( Parenteral fluid ) करना चाहिए, रक्ताल्पता में रक्त का भरण ( Blood Transfusion ) न करके बल्कि उसे पीने को देना चाहिए।

पक्वाशय एवं मध्यमान्त्र की संकीर्णता या संकोच ( Atresia or Stenosis of the Doudenum and midgut )--यह सहज कुनिर्मिति ग्रहणी द्वार सन्निरोध की अपेक्षा कम पाई जाती है। अधिकतर शल्य चिकित्सा के अभाव में प्रथम सप्ताह में ही घातक होता है। सन्निरोध कुछ अधिक दिनों तक बना रहता है। शल्य उपचारों से सुधार की आशा, समय से उपचरित शिशुओं में रहती है। चिह्न आंत्रावरोध के मिलते हैं।

अंत्रान्त्र प्रवेश ( Volvulus )--आंत्र के किसी एक भाग का अपने ऊपर ऐंठना। कई बार जन्मजात होता है; परन्तु बहुधा बाद में यह विकार होता है। इसमें लक्षण अवरोध के मिलते हैं। वमन, आध्मान, विबंध तथा अवरोध के ऊपर के भाग में आंत्रगतियाँ। उपबार-शल्यकर्मीय होता है--यद्यपि आंत्र सम्मूर्छन स्वयमेव भी ठीक हो जाता है; परन्तु उसके पुनरावर्तनों की संभावना बनी रहती है।

बिपुटी ( Diverticula )--सर्वाधिक मिलनेवाला 'मेकल' का 'डायवर्टिकुला' है। स्त्री की अपेक्षा पुरुष लिंगों में अधिक पाया जाता है। अधरांत्र के अधोभाग ( Lower portion of Ileum ) से निकलने वाला एक

छोटा से बन्द ( अन्ध ) कोश ( Blind pouch ) है। जिसमें कोई भी तकलीफ नहीं रहती; परन्तु उसके व्रणित हो जाने ( When ulcerated ) पर नाभि में पीड़ा, पुरीष में रक्त का आना और आगे बढ़कर नाभि-भगन्दर ( Umbelicalfistula ) भी पैदा कर सकता है। आन्त्रावरोध का भी हेतु बन सकता है। शल्य-चिकित्सा में सुधार किया जा सकता है।

**हर्शप्रंग का रोग** ( Hirschsprug's Disease )—इस विकार में बृहदन्त्र ( Large bowel ) के किसी एक भाग का या सम्पूर्ण की अतिवृद्धि ( Hypertrophy ) तथा विस्तार ( Dilatation ) पाया जाता है साथ ही अन्त के भाग का संकरापन पाया जाता है, जिससे उदर फूला हुआ एवं आध्मानयुक्त ( Distended ) रहता है। साथ ही कोष्ठबद्धता भी मिलती है। शिशु की वृद्धि तथा विकास में बाधा होती है। रोग का विनिश्चय सावधानी पूर्वक 'बेरियम' की वस्ति ( Enema ) देकर की जाती है। द्रव्य के भीतर प्रविष्ट होने से चोंगे जैसी फूली आकृति सँकरे भाग की हो जाती है। उपचार शाल्यिक ( Surgical ) होता है जिससे सँकरे भाग तथा विस्फार वाले भाग के अन्तिम कुछ भाग का छेदन ( Resection ) किया जाता है।

**दोषज बृहदन्त्र विस्फार** ( Idiopathic Megacolon )—इसमें बृहदन्त्र के नीचे वाले भाग का एक साधारण विस्फार पाया जाता है जिसमें वह प्राकृत से अधिक लम्बा हो जाता है।

**लक्षण**—तीव्र स्वरूप का विवंध जिससे सप्ताहों तक रोगी बिना मलत्याग के रह जाता है। मल के गोटे मलाशय में बनते हैं जो आगे पतले होकर भी निकलने लगते हैं। उदर में पीड़ा तथा आध्मान कम रहता है। तीव्र आन्त्रावरोध तथा आन्त्र के छिद्रण (Perforatofian) की भी सम्भावना रहती है।

**चिकित्सा**—स्निग्धवस्ति ( Oil retention enemata ) का प्रयोग आन्त्रों की सफाई के लिये करना चाहिये। मल के गोटों के निकल जाने पर नियमतः मलत्याग की आदत डालनी चाहिये। बड़े बच्चों में औदरिक व्यायामों की शिक्षा देनी चाहिये। मृदु रेचक ( Laxatives ) तथा 'लिक्विड पैराफीन'

का कुछ दिनों का अन्तर देकर प्रयोग करना चाहिये। किसी अन्य रोग के उपद्रवस्वरूप हुए इस रोग में शाल्यिक उपचार या गुदा का विस्तारण ( Dilatation of Anus ) भी किया जाता है।

**अछिद्रित गुदा तथा गुदा संकीर्णता** ( Imperforate Anus and Rectal Atresia )—विकास सम्बन्धी दोषों के कारण ( Faillure of invagination of Proctoderm ) गुदा का पूर्णतया अभाव रहता है; अथवा मलाशय के साथ इसका ( गुद नलिका का ) सम्बन्ध ही नहीं होता है। ऐसा मलाशय के विकास के अभावों में या स्थानान्तरित होने से होता है।

नवजात शिशु मलत्याग नहीं करता, जिससे माता का ध्यान आकृष्ट होता है। चिकित्सा में शाल्यिक उपचार लाभप्रद रहता है।

**सन्निरुद्ध गुद** ( Congenital Stenosis of anus )—उदर में आध्मान तथा थोड़े-थोड़े पाखाने का निकलना पाया जाता है। अँगुली परीक्षा ( Digital Examination ) से निश्चय होता है। चिकित्सा में गुद नलिका का पुनः-पुनः विस्तारण करना होता है। यह क्रिया अँगुली के सहारे या क्रमशः बढ़ाते हुए विस्तारक ( Dilators ) के द्वारा सावधानीपूर्वक की जाती है।

**वहिर्गुद** ( Ectopic Anus )—इस दोष में गुदा स्थानान्तरित न होकर कई स्थानों में बनी मिलती है। भग के किनारे पर, योनि के भीतर स्त्रियों में या मूत्रमार्ग ( Urether ) के सम्बन्ध में पुरुषों में। इस दोष को सुधारने के लिये गुदा के पीछे वाले किनारे का भेदन कर छिद्र को फैला दिया जाता है।

**गुदभ्रंश** ( Prolapse Rectum )—गुदभ्रंश वस्तुतः जन्मजात विकार नहीं है, बल्कि जन्मजात विकार, वहाँ के धातुओं की शिथिलता ( Laxity ) है। यह विकार बालकों में उनकी पाँच वर्ष की आयु के भीतर उत्पन्न होता है। दुर्बल अथवा बलवान् दोनों प्रकार के बालकों में हो सकता है। विविध कारणों में ( Constipation ) या मलाशय के पालीपी ( Rectal polypi ) मुख्यतया उत्पादक रूप में मिलते हैं। साथ ही लम्बे समय तक चलने वाली प्रवाहिका, मूत्राश्मरी या कृमि रोग प्रभृति रोग जिनमें बालक को

शौचकाल में कुन्थन अधिक करना पड़ता है, भ्रंश के उत्पादक हो जाते हैं। अधिकतर रोगियों में शाल्यिक चिकित्सा से लाभ होता है।

**मलाशय के पालीप** ( Rectalpolypi )—छोटे-छोटे गाले आकार के, लाल रग के, श्लेष्मल कला से ढके हुए, आमतौर से एक तथा मलाशय की श्लेष्मल कला से एक वृन्त के द्वारा जुड़े हुए मल मार्ग में लटकते हैं। इनसे रक्तस्राव होता है, कई बार व्रणित हो जाते हैं। इनकी वजह से रोगी को प्रवाहण ( Straining ) मल-त्याग काल में करना होता है। फलतः गुदभ्रंश का उपद्रव हो जाता है। इनका विनिश्चय गुदर्शक यंत्र ( Proctoscope ) से किया जाता है। चिकित्सा शाल्यिक होती है, इसमें प्रभावित भाग का छेदन आवश्यक होता है।

## यकृत्—पित्ताशय पित्तनलिका तथा अग्न्याशय के सहज कुनिर्माण

## ( Malformations of liver, Gall bladder, Bile duct and Pancreas )

**सहज या पित्तनलिका सन्निरोध या संकीर्णता** ( Congenital Atresia or obliteration of Bile ducts )—यकृत् के विकारों में सर्वाधिक पायी जाने वाली यह कुनिर्मित जन्म के साथ शिशुओं से पाई जाती है। इसमें अधिकतर बालक के मरने की ही स्थिति रहती है; क्वचित् शाल्यिक क्रिया से सुधार की भी सम्भावना रहती है।

इसमें पित्तनलिका ( Bile duct ) पहले सूत की तरह दिखाई पड़ती है। पित्ताशय ( Gall bladder ) प्राकृत रहता है। यकृत् प्राकृत से अधिक बड़ा होता है आगे चलकर प्लीहा एवं यकृत् दोनों बढ़ जाते हैं। सबसे प्रमुख लक्षण के रूप में कामला पायी जाती है। जो क्रमशः अधिकाधिक गहरी होती जाती है। त्वचा का वर्ण हरापन लिए पित्तल के सदृश हो जाता है। जो स्थायी रूप से बना रहता है। पुरीष मिट्टी के रंग का हो जाता है। अधिकतर शिशु जीवन के प्रथम कुछ मासों में मर जाते हैं और कुछ अधिक दिनों तक यकृद्दाल्युदर ( Cirhosis ) से पीड़ित होकर जीते रहते हैं।

पित्तनलिका की कुछ अन्य भी सहज कुनिर्मितियों की चर्चा इस विषय की पुस्तकों में मिलती है—जैसे पित्तनलिका का विस्फार ( Cystic dilatation ), पित्ताशय का अभाव आदि ।

**अग्नाशय के सहज कुनिर्माण**—मधुमेह से पीड़ित माताओं की संतानों में 'लैंगर हैन्स' के द्वीपाणुओं की अतिवृद्धि ( Hypetropy of islets of langer hans ) पाई जाती है । इसके अतिरिक्त सहज अग्न्याशय सूत्रण ( Congenital Fibrosis Pancreas ) का विकार भी मिलता है, जिससे पीड़ित शिशुओं में नवजात काल में मृत्यु हो जाती है ।

**वृद्धि तथा अतिवृद्धि** ( Hernia and Evantration )—उदर गुहा के किसी छिद्र से ( जैसे विन्सलो के छिद्र से ) या उदर की दीवाल की किसी अस्वाभाविक छिद्र से उदरस्थ अवयवों के कुछ भाग का निकला होना ( Projection ) वृद्धि कहलाती है । उसी के बड़े स्वरूप को अतिवृद्धि ( Evantation ) कहते हैं ।

वृद्धि का सबसे बड़ा खतरा निकले हुए भाग का अवरोध ( Obstruction ) होना है, यद्यपि कई बार मध्य प्राचीरागत वृद्धि ( Diaphragmatic Hernia ) में श्वसन सम्बन्धी बाधा का भी भय रहता है ।

**नाभि-गत वृद्धि** ( Umbelical Hernia )—शिशुओं में पाई जाने वाली यह विकृति अत्यधिक मिलती है । वृद्धि के छोटे रहने पर यह स्वयमेव ठीक हो जाती है । सुधार न होने पर शाल्यिक क्रिया से सुधार करना चाहिये । शल्यकर्म के लिए उत्तम आयु जन्म के अठारहवें मास से दो वर्ष तक मानी जाती है ।

**उदर दण्डिका पेशियों का पार्थक्य**—उदर के मध्य में पेशियों के न मिलने की वजह से एक दरार बन जाती है । इससे उदरस्थ अवयवों के बहिर्गत होकर नाभि के ऊपरी भाग पर वृद्धि की सम्भावना रहती है । स्वयमेव धीरे-धीरे ठीक हो जाता है, चिकित्सा की आवश्यकता प्रायः नहीं होती है ।

**नाभि का अति-वृद्धि** ( Omphalocele or Evantration of Umbelicus )—कभी-कभी शिशु के जन्म के साथ नाभि के ऊपर एक बड़ा पिंड पाया जाता है, जो उदरावरण ( Peritoneum ) से आच्छादित रहता

है इसमें आन्त्र तथा उदरस्थ अवयवों का बड़ा भाग निकला मिलता है। इसमें प्रसव के बाद शीघ्रता से शाल्यिक सुधार की व्यवस्था करनी चाहिये।

**वंक्षणीय वृद्धि** ( Inguinal Hernia )—वृषणों ( Testes ) का उदर गुहा से नीचे उतरकर फल कोश ( Secrotum ) में पहुँचना क्रमशः उदर के आभ्यन्तरीय मुद्रा द्वार ( Internalring ) तथा वाह्य मुद्राद्वार ( External Abdominal ring ) मार्ग से होता है। इसी के साथ औदरीय उरावृति ( Abdominal Peritoneum ) का भी कुछ भाग उस मार्ग से जाता है। यह क्रिया जन्म होने के पूर्व हो जाती है। फलतः उदरावृत्ति ( Peritoneum ) की नलिका भी पूर्णतया निरुद्ध हो जाती है। केवल उसका कुछ नीचे वाला भाग जिससे फलवृत्ति ( Tunica Vagnialis ) बनती है खुला रहता है और वंक्षणीय नलिका ( Inguinal canal ) की क्रिया पूर्णतया बन्द हो जाती है। जब वृषण नहीं नीचे उतरते अथवा उसके नीचे उतरने पर भी उदरावृत्ति नलिका ( Peritoneal tube ) खुली रह जाती है; तो यह कोश ( Sac ) उदरगत अंगों के नीचे उतरने के लिए मार्ग दे देता है और ये उदरस्थ अवयव वंक्षणीय नलिका से होकर फल कोश ( Scrotum ) तक पहुँचते हैं। उदरावृत्ति का यह भाग जितने परिमाण में खुला रहता है। उसी परिमाण में उदरस्थ अवयवों के नीचे उतरने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार एक सहज जन्मजात कुनिर्मिति के कारण ही वंक्षणीय वृद्धि पाई जाती है। वृद्धि की उत्पत्ति जन्म के बहुत वर्षों बाद भी हो सकती है। शैशव काल में यह वृद्धि लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में अधिक मिलती है। इसका प्रमुख चिह्न बार-बार फल कोश या वंक्षणीय नलिका में उभार का दिखाई पड़ना है। कुछ बच्चों में क्षुधा की कमी या पेट सम्बन्धी कुछ अन्य विकार भी उपस्थित मिलते हैं। जब बच्चा रोता या खाँसता है, तो उसके साथ-साथ उभार में वृद्धि पाई जाती है। उभार के स्थान पर दबाने से वह अन्दर को चला जाता है ( Reducible )। कुछ बच्चों में आयु की वृद्धि के साथ स्वयमेव ठीक हो जाता है। यदि न सुधरे तो अठारह मास की आयु में शाल्यिक उपचार से सुधार करना उचित है।

**और्वी वृद्धि** ( Femoral Hernia )—यह विकार सहज बहुत कम होता है; फिर भी सापेक्ष्य निदान के लिए इसका विचार भी अपेक्षित रहता है।

**मध्य प्राचीरागत वृद्धि या अति वृद्धि** ( Diaphragmatic Hernia or Fvantration )—उदरगत अवयवों की मध्य प्राचीरा से होकर उरोगुहा ( Thorax ) में जाना अधिकतर वामपार्श्व में पाया जाता है। जब ऊपर की ओर गया भाग छोटा होता है तो वृद्धि और अधिक मात्रा में हो तो अति वृद्धि कहते हैं।

**लक्षण तथा चिन्ह**—श्यावता ( Cyanosis ) तथा पोषण देते समय या वमन करते समय श्वास की कठिनाई। ये चिह्न जन्म के साथ ही उपस्थित हो जाते हैं एवं श्वासावरोध से शीघ्र ही शिशु की मृत्यु हो जाती है। शिशु की स्थिति परिवर्तन से श्यावता में अन्तर पाया जाता है।

**ताड़न** ( Purcussion )—से ध्वनि की मन्दता या निनादित होना मिल सकता है, आन्त्रकूजन ( गुड़गुड़ाहट Borborygmi ) मिल सकता है। श्वसन ध्वनि क्षीण या अनुपस्थिति मिलती है और हृदय स्थानान्तरित हो जाता है। क्ष-किरण से भी विनिश्चय सम्भव रहता है। विनिश्चय के बाद तुरन्त शल्य क्रिया करने से सुधार की आशा रहती है।

**आमाशयिक वृद्धि** ( Hiatus Hernia )—यह भी महाप्राचीरा वृद्धि का एक प्रकार है, जिसमें आमाशय ( Stomach ) कुछ भाग महाप्राचीरागत अन्न-नलिका द्वार ( Oesophageal Opening ) से ऊपर की ओर उरोगुहा में निकल जाता है। इसमें जन्म से अनवरत वमन होना शिशु में प्रारम्भ हो जाता है। आमाशय के व्रणित होने पर वमन कई बार रक्तरंजित पाया जाता है। निदान क्ष-किरण तथा अन्न नलिका दर्शन परीक्षा से सम्भव रहता है।

**चिकित्सा**—बच्चे का पोषण बैठा कर देना चाहिये। पोषणों को गाढ़ा करके देना चाहिये। सुधार न हो तो शाल्यिक उपचारों की शरण लेना आवश्यक है।

## हृदय तथा रक्त संवहन संस्थान के कुनिर्माण
## ( Malformations of the Cardio vascular system )

**फुफ्फुसद्वार संकीर्णता** ( Pulmonary Stenosis )—बिना किसी अन्य विकृति के कोश के स्थल पर या दोनों फुफ्फुस द्वार की संकीर्णता

**रोग विनिश्चय**—क्ष-किरण चित्रण से, हृदय के 'कैथेटराइजेशन' तथा 'इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम' से निदान सम्भव रहता है। रक्त में बहुरक्तकोशिकता ( Polycythaemia ) होती है। लाल कणों की संख्या एक करोड़ प्रति 'क्यूबिक मिली मीटर' तक और हीमोग्लोबिन की मात्रा २५ ग्रा० प्रति सौ० मि० ली० या अधिक हो जाता है। फुफ्फुस में रक्त संवहन के अभाव में तीव्र हृदन्तः शोथ ( Bacterial Endo Carditis ), मस्तिष्क शोथ प्रभृति उपद्रवों से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

**चिकित्सा**—विशिष्ट शाल्यिक उपक्रमों से फुफ्फुसगत रक्त-संवहन चालू किया जाता है।

उपर्युक्त हृदय के दोषों के अतिरिक्त कई प्रकार के सहज दोष रक्त-वाहिनियों से सम्बद्ध भी मिलते हैं। सहज शिराज ग्रन्थि ( Aneurysm ) तथा रक्तार्बुद ( Angiomata ) के रूप में शिशुओं के जन्म के साथ पाये जाते हैं। त्वचागत रक्तार्बुद ( Angiomata or Naevus ) सर्वाधिक मिलने वाले सहज विकार हैं। ये शरीर के विविध अवयवों से सम्बद्ध हो सकते हैं।

**चिकित्सा**—इनके छोटे और कम गहरे होने पर शाल्यिक क्रिया से छेदन कर्म से सफलता मिल जाती है। कई बार 'इलेक्ट्रोलायसिस' या ठोस 'कार्बन डाय आक्सायड' के प्रयोग से ठीक हो जाते हैं। विकार के विस्तृत होने पर 'रेडियोथिरैपी' करनी चाहिये।

लसीका वाहिनियों से सम्बद्ध बहुत-सी ग्रन्थियों का पाया जाना भी शिशुओं में जन्मजात होता है। कई बार ये स्वतन्त्रतया और क्वचित रक्तार्बुदों के साथ में मिलती हैं। जैसे—जलार्बुद ( Cystic Hygroma )—यह लसीका वाहिनियों से निकलने वाला एक सौम्य अर्बुद गले में बड़े उभार के रूप में पाया जाता है।

## श्वसन-संस्थान के कुनिर्माण
## ( Malformations of Respiratory System )

**( १ ) नासा पश्चात् भाग का अवरोध** ( Obstruction of Posterior nares )।

**( २ ) साँस लेने में जन्मजात घुरघुराहट** ( Congenital Iaryngeal Stridor )—स्वरयन्त्र का छोटा होना, थाइमस ग्रन्थि की वृद्धि अथवा

४

स्वरयन्त्र की ग्रन्थि आदि के कारण होता है। स्वरयन्त्र की परीक्षा तथा क्ष-किरण से वक्ष का चित्रण लेकर यदि कोई विशेष कारण न ज्ञात हो तो चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती है। विकार आयु की वृद्धि के साथ स्वयमेव ठीक हो जाता है।

**( ३ ) फुफ्फुस खण्ड** ( Lobes )—एवं विवरों (Fissure) का अस्वाभाविकतायें बहुत मिलती हैं। फुफ्फुस तथा श्वसनी ( Lungs and Bronchus) की पूर्व अनुपस्थिति (Agenesis), फुफ्फुस तन्तुओं की अनुपस्थिति, श्वसनी का अविकसित रहना ( Aplsia ) तथा फुफ्फुस अथवा उसके एक भाग का कुनिर्माण ( Hypoplacia ) आदि कम मिलने वाले दोष हैं।

( ४ ) फुफ्फुस सहज ग्रन्थि ( Cysts )--छोटी-बड़ी एक या अनेक हो सकती हैं।

( ५ ) सहज श्वसनिका विस्फार ( Bronchiolectasis )

**( ६ ) मध्यस्थानिका ( मोडियास्टाइनल सिस्ट ) पुटी**—कई प्रकार की हो सकती है।

### प्रजनन एवं मूत्र संस्थान के सहज कुनिर्माण
### ( Malformations of the Genito urinary system )

**१. वृक्क का अभाव** ( Agenesis ) वृक्क के अभाव में शिशु-जीवन के योग्य नहीं रहता। २. वृक्क का अल्प विकास ( हाइपोप्लैसिया )।

**३. एक वृक्क की अतिवृद्धि** ( Hypertrophy)—एक वृक्क के अभाव में ऐसा होता है।

**४. दोनों वृक्कों का एक हा में मिल जाना** (Fusion of Kidneys)-इस दशा में उपसर्ग की अधिक सम्भावना रहती है।

**५. वृक्क का स्थानान्तरण** ( Displacement )—यह जलवृक्क ( Hydronephrosis ) में परिणित हो जाता है।

**६. बहु पुटी वृक्क** ( Polycystic Kidney )—इस अवस्था में प्रायः दोनों वृक्क प्रभावित रहते हैं। वृक्क परिणाम में बहुत बढ़ जाते हैं। साथ में यकृत एवं प्लीहा भी बढ़ती हैं। वृक्क में असंख्य ग्रन्थियाँ हो जाती हैं, जिनमें पीला भूरे रंग का द्रव्य भरा रहता है। ऐसे गर्भ के

प्रसव में कठिनाई होती है। पीड़ा होती एवं मूत्र में रक्त आता है। शिशु के लिए जीना कठिन होता है। यदि जीवित भी रहे तो वृक्क निपात किसी समय हो सकता है।

**मूत्रवह स्रोत के दोष ( Ureters )**—

सहज संकीर्णता ( Congenital stenosis )

सहज महामूत्र वह ( Mega ureter )

सहज मूत्र-वह वृद्धि ( Ureterocele )

**वस्ति के दोष**—

**वहिर्वस्ति** ( Ectopic Vesicae )—इस दोष में उदर की दीवाल के अधो भाग और वस्ति की आगे वाली दीवाल अनुपस्थित रहती हैं। वस्ति के पीछेवाला किनारा जघन संधानिका के ऊपरी क्षेत्र (Supra Pubic region) पर रहता है। मूत्र मार्ग ऊपर में खुला रहता है। मूत्र का नियंत्रण नहीं रहता। मूत्रवह स्रोत ( Ureter ) से मूत्र टपकता रहता है।

चिकित्सा—शाल्यिक उपचार से सुधार अपेक्षित रहता है। सफलता प्रायः नहीं मिलती है।

**'परसिस्टेण्ट यूरैकस'** ( Persistent Uracus )—इस दोष में वस्ति और नाभि का सम्बन्ध एक नाड़ी ( Fistula ) के द्वारा पाया जाता है। मूत्र नाभि से टपकता रहता है। शाल्यिक सुधार से लाभ की आशा रहती है।

**वस्ति का विपुटी विकार** ( Divesticula of the Bladder )—यह सहज विकार के रूप में या पश्चाद् पीडन ( Back pressure ) के परिणाम स्वरूप होता है। मूत्र के आशय में एकत्रित होने से औपद्रविक उपसर्ग तथा अश्मरी ( Calculus ) बनने की सम्भावना रहती है। क्ष-किरण चित्रण या वस्ति दर्शन ( Cystoscopy ) से रोग का विनिश्चय संभव रहता है। विपुटी में शाल्यिक प्रक्रिया से सुधार सम्भव रहता है।

**'ट्रायगोनल बार'** ( Trigonal Bar )—वस्ति का बहिर्द्वार त्रिकोणाकार श्लेष्मल कला के ( Trigonal mucosa ) रुद्ध हो जाता है। चिकित्सा में शाल्यिक प्रक्रिया से विकार को दूर किया जाता है।

**मूत्रस्रोत** ( Urethra ) के दोष—मूत्र स्रोत ( Urethra ) के दोष कन्याओं की अपेक्षा पुरुष बच्चों में अधिक मिलते हैं।

**मूत्र-स्रोत के वाल्व्स ( Urethral Valves )**—मूत्र स्रोत के पीछे वाले भाग में ( Posterior part ) में कुछ वाल्व्स पाये जाते हैं। जब शिशु मूत्र त्याग करने लगता है, तो मूत्र से भर कर फूल जाते हैं और इस अवरोध को दूर करने के लिए बड़ा जोर लगाना पड़ता है और बहुत जोर लगाने पर भी एक दो बूँद ही मूत्र का आता है। कैथेटर डालने पर वह अन्दर में चला जाता है। इसके परिणाम स्वरूप उल्टा दबाव होने से वस्ति मूत्र से भरी रहती है, दोनों ओर मूत्रवह स्रोत की ( Ureters ) भी विस्फरित हो जाते हैं।

**चिकित्सा**—रोग का विनिश्चय क्ष-किरण चित्र या कैथेटर के जरिये करके वाल्वस को शाल्यिक क्रिया से काटना चाहिए। कई बार केवल मूत्रमार्ग के विस्तारण ( Dilatation ) से ही काम हो जाता है।

**मूत्र-द्वार संकीर्णता ( Meatal stenosis )**—दोनों लिंगों के शिशुओं में समान भाव से पाया जाता है लक्षण ऊपर वाले विकार के समान ही होते हैं छिद्र को चौड़ा करने से विकार दूर हो जाता है।

**अधो-मूत्र-मार्गता ( Hypospadias )**—यह एक आम तौर से पाई जाने वाली जन्मजात कुनिर्मिति है। अधिकतर विकार मामूली होते हैं और उनमें चिकित्सा की आवश्यकता नहीं रहती है। इस दोष में मूत्र मार्ग का छिद्र प्राकृत स्थिति में रहकर अर्थात् मणि ( Glans ) पर न होकर मूत्र मार्ग में नीचे की ओर किसी बिन्दु पर होता है। ज्यादातर मणि के आधार पर ( नीचे की ओर ) मूत्र मार्ग खुलता है। चिकित्सा में शाल्यिक सुधार किया जाता है।

## शिश्न चर्म के दोष—

**निरुद्ध-प्रकश ( Phimosis )**—इसमें शिश्न मणि पर चर्म चिपका रहता है। यह एक जन्म-जात विकार है और प्रायः देखने को मिलता है। इसमें मूत्र त्याग काल में शिश्न का चर्म फूल जाता है और मूत्र की धारा पतली निकलती है। चिकित्सा में चर्म का क्रमशः फैलाने का उपाय किया जाता है यदि सुधार न हो तो विशिष्ट शाल्यिक प्रक्रिया ( Circumcision ) से सुधार करना चाहिए।

परिर्वातका ( Para phimosis )—संकरे शिश्न चर्म को पीछे की ओर चढ़ाने से यह विकार होता है। इसमें परिवर्तित ( Retracted ) चमड़े में सूजन आ जाती है वह आसानी से नीचे नहीं आ पाता, शिश्न एवं शिश्न मणि में भी सूजन हो जाती है।

चिकित्सा—फूले हुए शिश्न चर्म की सूजन में प्रच्छान ( Puncture ) करके सूजन को कम करके धीरे-धीरे मणि के ऊपर लाकर ठीक करना चाहिए। यदि सुधार न हो, तो शाल्यिक प्रक्रिया ( Circumcision ) से ठीक करना चाहिये।

प्रजनन संस्थान की कुनिर्मितियाँ ( Malformation )

भगोष्ठ का संश्लेष ( Adhesion of labia )--जन्म से ही भगोष्ठ चिपके मिलते हैं। बिना धार की एषणी ( Blunt Probe ) से क्रमशः पृथक् करना उपचार है।

योनि छिद्र का अँतर्निरोध ( Occlusion of the Vaginal Orifice ) योनि का छिद्र का अभाव योनिच्छदा के छिद्रित न होने से ( Imperforate Hymen ) अथवा योनि का आंशिक या पूर्ण विकास न होने के कारण पाया जाता है। चिकित्सा में योनिच्छदाछेदन ( Hymenectomy ) या अपूर्ण विकसित योनि के पुनर्निर्माण रूपी शाल्यिक प्रक्रिया से सुधार आपेक्षित है।

द्विश्रृङ्गी गर्भाशय ( Bicornute uterus )—या द्वियोनि ( Double Vaginia ) शैशव में इनसे कोई कष्ट नहीं होता है।

जन्मजात मूत्र वृद्धि ( Congenital Hydrocele )--पुरुष बच्चों में आमतौर से पाया जाता है। प्रायः ये स्वतः अच्छे हो जाते हैं। न सुधार हो तो शाल्यक्रिया से ठीक करना चाहिये।

उदरस्थ वृषणता ( Cryptorchidism )--तथा वृषण का विकृतावरण ( Mal desent of testes )—प्रथम दशा में दोनों तरफ का वृषण उदर गुहा में रह जाता है और नीचे को नहीं उतरा रहता है। दूसरी दशा वृषण की ओर उतरता है; परन्तु वाह्यमुद्रिका द्वार ( External ring ) से उतरकर

पीछे की ओर फिसल जाता है और वंक्षणीय नलिका ( Inguinal Cannal ) या गुदा क्षेत्र ( Perineum ) में चला जाता है।

इनमें स्वतः सुधार के लिए युवावस्था तक परीक्षा करनी चाहिये। पश्चात् निःस्यंद चिकित्सा ( Hormonal therapy ) अथवा यथोचित शाल्यिक सुधार करना चाहिए।

**उभयलिङ्गिता** ( Hermaphroditism )--वास्तविक एवं मिथ्या। ( Pseudo hermaphroditism and true hermaphroditism )

वास्तविक ( न पुमान्न च स्त्री ) वह है; जिसमें एक ही व्यक्ति में पुरुष तथा स्त्री के क्रियाशील वृषण ( Testes ) तथा बीजाशय ( Ovary ) दोनों ही पाये जावें। ऐसी दशा कभी नहीं मिलती है। कई बार जन्म काल में शिशु के लिंग का विनिश्चय जननांगों के कुनिर्मितियों के कारण कठिन हो जाता है। पुरुष बालक में दोनों तरफ के वृषण उदरस्थ हों, फलकोष दो भागों में विभाजित ( Bifid Scrotum ) तथा गुद-प्रदेश ( Perineum ) में शिश्न की अधो छिद्रता ( Hypospadias ) हो तो स्त्री बालक की भ्रांति हो जाती है। इसी तरह की कठिनाई स्त्री बालक में जिसमें भगोष्ठ मिले हों तथा भग शिश्निका ( Clitoris ) की अतिवृद्धि हो तो लिंग-निर्णय करने में होती है।

**लिंग निर्णायक परीक्षा** ( Nuclear Chromatin Test )--यह स्त्री बच्चों में अस्त्यात्मक और पुरुष बच्चों में नास्त्यात्मक पाई जाती है। लिंग-निर्णय के अनन्तर यदि शल्य क्रिया से कुछ सुधार उचित हो तो करना चाहिये।

## केन्द्रीय मस्तिष्क संस्थान की सहज कुनिर्माण

## (Congenital Malfomations of the Central Nervous System)

**मानसिक या बुद्धि की कमजोरी** ( Mental Deficiency )--

**(१) जड़ बुद्धि** ( Idiots )--मन्द प्रज्ञ जन्म से ही ये संताने होती हैं। प्रज्ञा की मात्रा ( Intelligence quotient ) २५ से कम होती है।

**(२) बालिश** ( Imbeciles )--इनमें बुद्धि २५ से ४६ तक होती है।

**(३) अल्पबुद्धि** ( Feeble minded )--ये बच्चे पढ़ाये या सिखाये जाने पर कुछ पढ़ या सीख लेते हैं, इनमें बुद्धि ५० से ७५ तक रहती है।

**( ४ ) लघु शिरस्कता** ( Mirco-cephaly )—खोपड़ी बहुत छोटी ( १२ इञ्च परिधि ) होती है। देखने मात्र से ही विनिश्चय होता है। शैशव में ही अधिकतर मर जाते हैं और कुछ युवावस्था तक पहुँचते हैं। बुद्धि कमजोर होती है।

**( ५ ) वृहत् शिरस्कता** ( Macrocephaly )--इसमें खोपड़ी बड़ी होती है। प्रज्ञा सम्बन्धी दोष उनमें आ सकता है। परन्तु आगे चलकर दक्षता आ जाती है।

**( ६ ) जलशीर्षता** ( Hydrocephaly ) मस्तिष्क के कोष्ठों में अति मात्रा में जल संचय होता है। खोपड़ी का परिमाण बहुत बड़ा हो जाता है। बहुत से जल-शीर्ष युक्त बच्चे शैशव में ही काल कवलित हो जाते हैं। बहुतों में स्वतः सुधार हो जाता है, परन्तु अधिकों में जल संचय बढ़ता ही जाता है। उपचार सन्तोषजनक नहीं है। शाल्यिक उपचार कुछ अवस्थाओं में अनुकूल पड़ता है।

(७) मंगोलाभता ( Mongolism )—शिशु का ऊपरी आकार मंगोल जाति ( चीनी एवं जापानी ) के सदस्यों जैसा हो जाता है। इसीलिये मंगोलपन कहा जाता है। यद्यपि इस विकार का मंगोल जाति से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

हेतु—१. माता की पैंतीस वर्ष के बाद की आयु में होने वाली संतानों में अधिक देखा जाता है। २. माता की आखिरी सन्तान में यह दोष आता है। ३. जिनमें गर्भस्राव, गर्भपात आदि पूर्ववर्त्ती गर्भों में हुआ हो, उन माताओं में इस विकार की अधिक संभावना रहती है। ४. वंश का भी प्रभाव पड़ता है। ५. पिता का स्वास्थ्य क्षय या फिरंगादि रोगों में ग्रस्त होने पर भी सन्तान में इस विकार की सम्भावना रहती है। ६. 'थायोरायड' 'पिट्यूटरी' बीजाशय तथा 'कार्पस ल्यूटिनम्' के निःस्यंदों के दोष भी इसके उत्पादन में भाग लेते हैं।

**इन बच्चों (बाउक बच्चों)**--में खोपड़ी छोटी, सिर के पीछे का भाग सपाट, चौड़ाई अधिक एवं लम्बाई कम होती है। गाल की हड्डियाँ ऊँची नहीं रहतीं, मुख और नाक पिचके रहते हैं। नाक व्यक्त रहता है! मुख

छोटा और खुला रहता है ! जीभ निकली मिलती है। दाँत देर से निकलते हैं। हाथ आमतौर से छोटे होते हैं, कनिष्ठिका अँगुली आखिरी पोरवे पर अन्दर को मुड़ी रहती है। पैर छोटे और चौड़े होते हैं। शारीरिक विकास इन बच्चों में मन्द होता है। उनके बैठने और खड़ा होकर चलने में भी विलम्ब होता है। बोलना विलम्ब से और दोष पूर्ण रहता है। ४०-५० प्रतिशत तक इन बच्चों में कुछ हृदय का विकार पाया जाता है। आगे चल कर इनमें युवावस्था के परिवर्तन जन्य चिह्न मिलते हैं।

**बुद्धि**—अधिकतर ये मूढ़ या बालिश वर्ग के होते हैं। सरल वाक्यों में बोलना सीख लेते हैं। संगीत का आनन्द भी ले सकते हैं। प्रायः प्रसन्न रहते हैं। इनका सिर प्राकृतिक से छोटा होता है। बुद्धि तथा मस्तिष्क में परिपक्वता नहीं आती है। अन्य व्यापार सामान्य रहता है।

**शुभाशुभ**—ये सन्तानें अल्पायु होती हैं। शैशव में ही उपसर्ग या हृद्रोग से मृत्यु हो जाती है। जो बच जाते हैं उनका मध्य आयु तक जीवित रहना भी कठिन होता है।

**चिकित्सा**—'थायोरायड' और 'पिट्यूटरी निःस्यंदों से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। उमर के बढ़ने से या सिखाने से कुछ सुधार सम्भव रहता है। औषध चिकित्सा से किसी सुधार की आशा नहीं रहती है।

**मस्तिष्कावृति वृद्धि** ( Meningocele )—मस्तिष्कवृति के प्रवर्धन के रूप में यह विकार होता है। यदि इस कोश ( Sac ) में तन्त्रिका उतक ( Neural tissues ) न हो तो शाल्यिक उपचार से छेदन ( Excision ) लाभप्रद होता है।

**मस्तिष्क वृद्धि** ( Encephalocele )—मस्तिष्क का कुछ भाग कोश में होकर बाहर निकलता है। शाल्यिक उपचार भी लाभप्रद नहीं होता है।

**सुषुम्ना वृद्धि** ( Myclocoele or Meningomyelocele)—यह एक आमतौर से पायी जाने वाली कुनिर्मिति है, विकासदोष से गर्भकाल में सुषुम्ना नलिका खुली रह जाती है—शिशुओं में उनकी पीठ पर कटि प्रदेश में पाया जाता है, उनके जन्म के साथ रहता है। यह विकार शिशु के लिए घातक होता है। शल्य कर्म से क्वचित् सफलता भी मिलती है।

**गुप्त अयुक्त मेरुदण्ड** ( Spina bifida occulta )—सुषुम्ना नलिका के पीछे वाली दीवाल का दोष है। अधोकटि कशेरुकों को (Lumbosacral) को प्रभावित करता है। यह एक बहुतायत से मिलने वाला विकार है जब तक तंत्रिका धातु न प्रभावित हो इसका कोई भी महत्व नहीं है। विकार के साथ वहाँ पर मेद की एक गद्दी ( Pad of fat ), त्वचा का रंजन तथा गहरे रंग के केशों की उपस्थिति उस स्थान पर पाई जाती है।

**तंत्रिका के अन्य सहज विकार** ( Other Congenital Nervous Disorders )—

सहज वर्त्म पात ( Ptosis ), अक्षिदोलन ( Nystagmus ), पुतली का असमान या स्थिर होना, अर्दित ( Fascial Paralysis ), तथा बाधिर्य ( Deafness ) आदि जन्म के साथ हो सकते हैं। पेशी अतानता (Amyotonia Coangenita )—मांसपेशियाँ शिथिल होती हैं, बालक की गर्दन गोद में लेने से लटक जाता है। अधिकांश शिशु शैशव में ही मर जाते हैं। यदि जीवित रहें तो धीरे-धीरे सुधार हो जाता है।

नेत्र के जन्मजात विकार—

सहज तिर्यक दृष्टि ( Strabismus ),

सहज काँच या लिङ्ग नाश ( Congenital Cataract )—विनिश्चय होने के बाद यथाशीघ्र लिंग नाशवेधन ( Needling ) के द्वारा ठीक करना चाहिए।

सहज अधिमंथ ( Congenital Glaucoma )—अज्ञात कारणों से यह विकार शिशुओं में हो जाता है। शल्य कर्मीय उपचारों दृष्टि के मिलने की सम्भावना रहती है।

अपवर्तन के दोष ( Errors of refraction )

नासा एवं अश्रु-आशय नलिका का अवरोध ( Obstruction of Naso Lacrimal duct )—इसमें नलिका स्रोत का विकास नहीं हुआ रहता है।

**त्वचा की सहज कुनिर्माण** ( Malformation of the Skin )

**वहिस्त्वक् दुर्विकसन** ( Ectodermal Dysplacia )—केशों का अभाव, नख एवं दाँतों का दोषयुक्त विकास, जीर्ण नासा शोथ तथा त्वचा में स्वेद ग्रन्थियों का अभाव पाया जाता है। स्वेद ग्रन्थियों के अभाव के कारण ताप से इन रोगियों को महान् कष्ट होता है।

**त्वक् शैथिल्य** ( Cutis Laxa )—त्वचा अत्यधिक लचकीली होती है। किसी भी अंग से तीन या चार इञ्चों तक खींची जा सकती है। भंगुर भी होती है। जिससे उसका व्रणित होना और रक्तस्राव भी पाया जाता है।

**भुजा विपुटी** ( Brachial Cyst )—अवटुका जिह्वीय पुटी ( Thyroglossal Cyst ) अवटुका ग्रन्थि के समीप की त्वग् पुटी (Dermoid Cyst) नेत्रक गोल के बाहरी किनारे पर पैदा होती है। इनमें शाल्यिक दूरीकरण ( Surgical Removal ) प्रशस्त है।

**नख की अति वृद्धि** ( Hypertrophy of nails )—त्वचा के शृंगीय स्तर की अतिवृद्धि ( Hyper Keratosis )—अधि अँगुली एक अधिक अँगुली का होना ( Polydactyly ) प्रभृति जन्मजात विकृतियाँ शिशुओं में देखने को मिलती हैं।

**त्वचा के रंजन** ( Pigmentation )—की अस्वभाविकतायें मशक लांछन, न्यच्छ प्रभृति दोष ( Pigmented, hair and warty Naevi ) तथा श्वैत्य दोष ( Albinism ) जिसमें पूरे शरीर का वर्ण रंजन के अभाव में श्वेत हो जाता है। केश चर्म तथा आँखें भी अंशतः पूर्ण तथा श्वेत हो जाती हैं। यह केवल श्वेत जातियों में ही सीमित नहीं है।

**त्वक्शुष्कता** ( Icthecsis )—इससे त्वचा रूखी होती है, उससे खुरण्ड निकलते हैं, जन्मजात विकार भयंकर स्वरूप का होता है। शिशु को दूध पीने में भी कठिनाई होती है। जन्म के कुछ ही घंटों के बाद जातक मर जाता है या उसका मरा हुआ जन्म होता है।

**पेशियों के सहज दोष**—इस वर्ग के पेशियों में अविकास सम्बन्धी दोष संकोच ( Contractures ) तथा पेशियों के विकृत विकास समाविष्ट हैं। संकोचों में ग्रीवा संकोच ( Congenital Torticollis ) महत्व का है। इसमें

ग्रैवेयक कशेरुकों विकार से या उरः कर्ण मूलिका ( Sterno mastoid ) के संकोच से ग्रीवास्थायी रूप से झुक जाती है। कई बार पेशियों के सूत्रों ( Tendons ) के संकोच से अँगूठे और अँगुलियाँ स्थायी संकुचन ( Flexion deformity ) का रूप ले लेती हैं। शाल्यिक उपचार से आंशिक सुधार होता है।

**अस्थि या संधियों की सहज कुनिर्माण** ( Malformations of the Bone and joints )—

**विकास के अंशतः** या पूर्ण अभाव में एक या अधिक शाखाओं को आंशिक अनुपस्थिति या पूर्ण अनुपस्थिति मिलती है। करोटि की अस्थियों में वैकासिक दोष पाये जाते हैं। कई बार कशेरुकों के आधे भाग का विकास न होकर आधे का अभाव हो जाता है। जिससे पार्श्व-वक्रता ( Scoliosis ) पैदा हो जाती है, जिससे बिना किसी आधार के शिशु का शरीर सीधा नहीं रह पाता है। यदि दोनों तरफ से कशेरुकों में विकास नहीं हुआ तो आगे को झुकना-अग्रवक्रता ( Kyphosis ) बच्चे में आ जाती है।

**कटि संधि का सहज च्युति** (Congenital Dislocation of Hip)—यह एक पार्श्व में या दोनों पार्श्वों में हो सकता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में अधिक होता है इसमें वंक्षणोदूखल ( Acetabulum ) का ठीक विकास नहीं होता जिससे ऊर्वस्थि ( Femur ) का सिर उसमें ठीक तौर से नहीं बैठता है। रोग का विनिश्चय हो जाने पर उदूखल में ( Acetabulum ) में ऊर्वस्थि के सिर को बैठाकर उसी स्थिति में स्थिर करने का उपचार शिशुओं में लाभप्रद रहता है। स्थिरीकरण छः मास से एक वर्ष तक आवश्यक होता है।

**अस्थियों की अति वृद्धि** ( Hypertrophy )—कई अस्थियों की सहज अति वृद्धि भी पाई जाती है। अँगुलियों में प्रायः देखने को मिलती है, शिशु की एक दो अँगुलियाँ युवा के परिमाण की हो जाती हैं।

**अधि ग्रैवेयक पर्शुका** ( Cervical rib ) सातवें ग्रैवेयक कशेरुक ( Vertebra ) से लगी हुई एक अधिक पर्शुका बनती है यह एक बहुलता से मिलने वाला दोष है। इसमें कोई लक्षण नहीं मिलता; परन्तु भुजीय तन्त्रिका जाल ( Brachial Plexus ) पर दबाव पकड़कर हाथ की पेशियों

का शोष पैदा कर सकता है। चिकित्सा में शाल्यिक क्रिया से दूरीकरण ही एक उपाय है।

अधि-अँगुलि ( Polydactyly ) एक या दो अँगुलियों का बनना भी सहज विकारों में आता है।

**अस्थियों का सहज संलग्नता**—करोटि ( Skull bones ) की अस्थियों एक दो अस्थियों में पार्थक्य न होने की वजह से स्वाभाविक सीवनी (Sutures ) नहीं मिलती है और करोटि का आकार बदल जाता है। एक या दो कशेरुकों का ही सम्मिलन ( Fusion ) हो सकता है। ऐसा ज्यादातर कटि कशेरुकों में पाया जाता है। इससे किसी प्रकार का दोष नहीं आता है। कई बार एक या दो या अधिक अँगुलियाँ आपस में एक दूसरे से संलग्न पाई जाती हैं शाल्यिक उपचार से पृथक्करण की क्वचित् आवश्यकता पड़ती है; परिणाम बहुत सन्तोषजनक नहीं रहता है।

**पादाग्र वक्रता** ( Talipes )—दो प्रकार के मिलते हैं। अन्तरावर्त्तन ( Equinovarus ) गुल्फ पर पादाग्र का नीचे और भीतर की ओर मुड़ना। यह दोष अधिक पाया जाता है।

**बहिरावर्त्तन** ( Equino-Vulgus ) पादाग्र का बाहर की ओर मुड़ना। यह दोष कम मिलता है।

**चिकित्सा**—प्रारम्भ में ही चिकित्सा करा लेना उत्तम फल देता है, विलम्ब से की हुई चिकित्सा से सुधार उतना उत्तम नहीं होता। इस अवस्था में हाथों के कर्षण से ठीक स्थिति में अवयव को लाकर कुशा बन्धन ( Splintage ) किया जाता है।

**पार्ष्णि की वक्रता** ( Calcaneous Talipes )—इस दशा में पादाग्र ऊपर की ओर उठ जाता है। अन्य विकृतियों के साथ होने पर चिकित्सा कठिन होती है; परन्तु अकेले ही विकार रहने पर सुधार की आशा सन्तोषजनक रहती है पुनः पुनः कर्षण ( Repeated Manipulation ) से सुधार किया जाता है।

**पैर की अँगुली का दूसरी के ऊपर चढ़ा होना** ( Over riding of toes ) अधिकतर पाँचवीं चौथी पर चढ़ी मिलती है। इसके उपचार में दबी हुई अँगुली को ऊपर उठाकर चिपकने वाले 'प्लास्टर' ( Adhessive Plaster से स्थित करने से सुधार हो जाता है।

उपास्थि अविकसन ( Achondroplasia ) यह एक वंशज विकार है। इसमें उपस्थियों के विकास की अस्वाभाविकता (Abnormality of Cartilage Development ) पाई जाती है। शाखाओं की लम्बी अस्थियों का बहुत कम विकास होता है। वे यकृत से छोटी और चौड़ी हो जाती है। जिससे बच्चा वामन ( Dwarf ) हो जाता है उसका मध्य शरीर पूर्ण विकसित रहता है; उसके अनुपात में हाथ और पैर छोटे और मोटे होते हैं। करोटिका आधार ( Base of the Skull ) भी प्रभावित होता है और छोटा रह जाता है। शेष भाग करोटिका पूर्ण वृद्धि करता है। फलतः बड़ा सिर जलशीर्ष सदृश प्रतीत होता है। मन एवं बुद्धि का विकास होता है। इस प्रकार के बामन प्रायः 'सरकसों' में काम किया करते हैं।

मारक्वियों का रोग ( Marquio's Diseases )--यह भी एक वंशज विकार है। अस्थि के विकास दोष से होता है। इसमें रोगी बौना हो जाता है, कशेरुक ( Vertibrae ) भी प्रभावित होते हैं। वे चपटे हो जाते हैं, जिससे मेरुदण्ड में कुरूपता आ जाता है।

लूतांगुली ( Arachnodactyly )—इसको मकड़ी अँगुली ( Spider finger ) भी कहते हैं। इस दोष में हाथ-पैर की अँगुलियाँ बहुत लम्बी और मुलायम होती हैं। हृदय तथा नेत्र के सहज दोष भी इसके साथ उपस्थित रहते हैं।

सकरोटि विकार अक्षकाभाव Craniocleidodysostosis )—इस दोष में अक्षरास्थि का विकृत विकास या अभाव पाया जाता है, जिसमें दोनों कन्धों को अस्वाभाविक रूप में समीप में किया जा सकता है। साथ में करोटि की अस्थियों का भी विकृत विकास होता है, जिससे रन्ध्र चौड़े होकर खुले रहते हैं। सिर का स्वरूप जल-शीर्ष सदृश हो जाता है।

अस्थि भंगुरता ( Fragilitas Ossium )—इस विकार में अस्थि कंकाल की अत्यधिक भंगुरता पाई जाती है; जिसके अस्थियों के अपने आप भग्न (Spontaneous fracture) की विकृति पाई जाती है। यह दो प्रकार की होती है—१—अपूर्ण अस्थिजनन ( Osteogenesis imperfecta ) जिसमें शिशु गर्भकाल में आक्रान्त होता है और असंख्य अस्थिभग्नों के साथ ( शरीर की प्रत्येक अस्थि के भग्न के साथ ) जन्म लेता है। उसके जीने की

आशा नहीं रहती है। २—कम तीव्र प्रकारों में अस्थियाँ पतली होती हैं। प्रथम भग्न जन्म के बाद होता है जिसमें कम अस्थियाँ प्रभावित होती हैं। 'भग्न का रोहण' ( Healing ) भी शीघ्रता से हो जाता है; पर विकृतांग ( Deformities ) बनी रह जाती है। खोपड़ी चपटी होती है, दो पार्श्वों की ओर निकली रहती है। यह इस विकार का विशिष्ट चिह्न है। आगे चलकर रोगी में वाधिर्य भी आ जाता है।

**अस्थियों की अति पुष्टि** ( Osteopetrosis )—यह एक विरलता से मिलने वाला सहज दोष है। इसमें अस्थियों में अत्यधिक खटिकी भरण ( Calcification ) और अस्थिजनन (Ossification) होता है। शरीर की हड्डियाँ खड़िया मिट्टी के गठन ( Consistency Chalky ) की हो जाती है, इसीलिये इसे संगमर्मरी हड्डी ( Marble Bone ) की संज्ञा भी दी जाती है। इस बनावट के कारण अस्थियाँ बहुत भंगुर ( Abnormally abnormally fragile ) हो जाती हैं। और उसमें स्वयमेव भग्न ( Spantaneous fracture ) की सम्भावना भी बहुत रहती है। यह विकार आमतौर से वंशज या कुलज होता है। अस्वाभाविक भाव से खटिक का संचय इसके भीतर होता चलता है जिससे अस्थियों के भीतर पाई जाने वाले मज्जा परिखा ( Marrow Cannal ) का स्रोत बन्द हो जाता है। इस विकार के परिणामस्वरूप यकृत, प्लीहा तथा लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि होती है। दृष्टितन्त्रिका के प्रभावित होने पर दृष्टितन्त्रिका शोष ( Optic atrophy ) भी पाई जाती है।

क्ष-किरण चित्र विशिष्ट प्रकार का होता है। अस्थियों में अतिशय अपारदर्शकता ( Opacity ) मिलती है। रोग का कारण अज्ञात है। रक्त में कैल्शियम 'फास्फोरस' तथा फास्फेट्स का प्रमाण स्वाभाविक रहता है। 'पैरा थायरायड' ग्रन्थि की विक्रिया का भी सम्भावतः इस विकार के जनन में कुछ हाथ रहता है; परन्तु अभी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तीव्र स्वरूप के रोग में शैशव में ही शिशु की मृत्यु हो जाती है; परन्तु रोग के मन्द होने पर अधिक आयु तक जीते हैं और उनमें स्वयं भग्न देखने को मिलते हैं। चिकित्सा सन्तोषजनक अभी तक ज्ञात नहीं है। इसमें अधिकतर कपाल, श्रोणि और कशेरुकों की अस्थियाँ प्रभावित होती हैं।

★

# अध्याय ५

## वृद्धि तथा विकास

## ( Growth and Development )

**स्वाभाविक वृद्धि तथा विकास**– पूरे बाल्यकाल में वृद्धि एक समान नहीं होती है। आयु के प्रथम वर्ष में सर्वाधिक होती है जो दो-तीन वर्षों तक बनी रहती है, फिर बाद की उमर में वृद्धि कम होती है। पुनः यौवन प्राप्ति के पूर्व से होती है। वृद्धि का अग्नि पर भी प्रभाव पड़ता है; जिसके परिणाम-स्वरूप बालक को क्षुधा अधिक लगती है, जो बढ़ती हुई शरीर की माँग की पूर्ति के लिए स्वाभाविक है। इसी वजह से आयु के प्रथम वर्ष में और यौवन के पूर्व बालक को अधिक पोषण की आवश्यकता रहती है। ऋतुओं का प्रभाव भी वृद्धि के ऊपर पड़ता है ग्रीष्म की अपेक्षा शीत ऋतुओं की वृद्धि का क्रम अधिक रहता है।

शरीर की वृद्धि में तीन धातुओं की प्रमुखता रहती है, मांस (Muscles) मेद ( Fat ) तथा अस्थि ( Bones ) ये तीनों एक ही समय में एक ही स्तर पर नहीं बढ़ते हैं। मेद आयु के प्रथम नौ मासों में वेग से बढ़ता है। तदनन्तर उसकी वृद्धि का वेग मन्द पड़ जाता है, जब तक कि युवावस्था का प्रारम्भ नहीं हो जाता। मांस तथा अस्थि की वृद्धि का क्रम विशेष रूप से युवावस्था के समीप अधिक होता है फलतः इस आयु में इनमें अधिक वृद्धि पाई जाती है।

**दर्ध्य या ऊँचाई** ( Hight )—एक बालक की दीर्घता के मापन में कई बातों का ध्यान रखना चाहिए कि उसका शरीर पूरी तौर से फैला हुआ हो ( क्योंकि दिन में शिशु कुछ सिकुड़ा रहता है ) तथा कुछ समय का व्यवधान देकर नियमतः मापन करे और ऐसा मापन साल में दो बार करना चाहिये। उसका चार्ट बनाकर रखना चाहिये। पहले के अंकनों से परवर्ती अंकनों की

तुलना के द्वारा दीर्घता की वृद्धि का ज्ञान किया जा सकता है। वृद्धि का वेग ( Spurts of growth ) लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में पहले पाया जाता है। परिणामस्वरूप लड़कियाँ लड़कों से १½ वर्ष पूर्व पूर्णता को प्राप्त कर लेती हैं और अन्तिम ऊँचाई लड़कों से ६ इंच कम होती है। बालक की दीर्घता के ऊपर कई बातों का प्रभाव पड़ता है; फिर भी कुल वंश का प्रभाव सबसे अधिक होता है। पोषण या भोजन का प्रभाव कहाँ तक रहता है यह कहना कठिन है; फिर भी हीन पोषण यदि बहुत गम्भीर स्वरूप का हुआ तो वृद्धि कम हो जाती है। उपवास से भी वृद्धि में बाधा होती है। दीर्घता के ऊपर रोगों का भी प्रभाव पड़ता है। कई प्रकार के उपसर्गज व्याधियों में विशेषतः विषम ज्वर आदि में लम्बाई में कमी पड़ती है।

पोषणों का दीर्घता के ऊपर प्रभाव पड़ने के सम्बन्ध में एक और विचित्रता देखने को मिली है। विशुद्ध जापानी-दम्पति से पैदा हुए बालकों का जन्म और पालन अमेरिका में होने पर वे जापान में रहने वाले अपने सम-सामयिक बच्चों से अधिक लम्बे होते देखे गये हैं।

वृद्धि कर हार्मोन्स का निःस्यंद ( Growth Hormones )— में जो 'पिच्युटरी' के पूर्व खण्ड से स्रवित होता है। बालकों के बढ़ाव पर अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। यह निःस्यंद भोजन के 'प्रोटीन' 'कार्बोहाइड्रेट' एवं मेद के पाचन ( Metabolism ) पर अपना प्रभाव दिखलाते हुए शरीर की वृद्धि में सहायक होता है; साथ ही अन्य निःस्यंदों का सन्तुलन भी नहीं बिगाड़ता है। वृद्धि के लिये भी दिये जाने वाले निःस्यंद में इसका प्रभाव उत्तम रहता है। मानवीय निःस्यंद ही मनुष्य में लाभप्रद रहता है।

भार ( Weight )—जीवन के प्रथम सप्ताह में शिशु का ५-६ औंस वजन औसतन प्रति सप्ताह बढ़ता है। इस प्रकार भार की वृद्धि होने से चार मास की आयु में वह अपने जन्मकालीन भार का दुगुना हो जाता है। एक वर्ष की आयु में उसका भार २१ पाउण्ड, २ वर्ष की आयु में २८ पाउण्ड, ३ वर्ष की आयु में ३३ पाउण्ड हो जाता है। तीन से सात वर्ष की आयु में वह

प्रति वर्ष ४ पाउण्ड प्राप्त करता है। ८ से १२ वर्ष की आयु तक वह ६ पाउण्ड प्रति वर्ष के हिसाब से भार की प्राप्ति करता है। यह एक औसत परिमाण है, इससे थोड़ा कम होना किसी प्रकार के विकार का सूचक नहीं है। अस्तु अभिभावक को कुछ कम भारवृद्धि होने पर चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं रहती है।

**सिर की परिधि** ( Circumference of the head )—आयु के प्रथम वर्ष में सिर की परिधि की सबसे अधिक वृद्धि होती है। जन्म के समय जो घेरा १३ इञ्च का होता है। वह बढ़कर बारह मास में १८ इञ्च हो जाता है। बारह वर्ष की आयु में वह २१ इञ्च हो जाता है। फलतः ११ वर्षों में वह कुल ३ ही इञ्च बढ़ता है और प्रथम वर्ष में वह एक ही वर्ष की अवधि में ५ इञ्च बढ़ता है।

**पूर्णता** ( Maturity )—एक बालक की पूर्णता का मूल्यांकन तीन बातों पर आश्रित होता है। अस्थि पंजरों की स्थिति, मन एवं बुद्धि की स्थिति तथा दन्तों की पूर्णता की स्थिति।

**अस्थि पंजरों की पूर्णता**—अस्थि पंजर पूर्णता (Skeletal maturity) या अस्थि की आयु ( Bone age ) का मूल्यांकन अस्थियों के 'इपिफिसेज' के सम्मिलन ( Fusion of Epiphyses ) की स्थिति के आधार पर करना होता है। मणिबन्ध ( Wrist ), हाथ तथा केहुनी ( Elbow ) की तुलना के ज्ञात मापदण्ड ( Known standard ) के आधार पर करके अस्थियों की पक्वता का निर्धारण किया जाता है।

**लिग की पूर्णता** ( Sexual Maturity )—इसका निर्णय युवावस्था में होने वाले जननांगों के परवर्ती परिवर्तनों से किया जाता है। पुरुषों में मुख, कक्षा ( Axilla ), भगसन्धानिका ( Pubis ) पर केशों के आविर्भाव से स्वरयन्त्र गत परिवर्तन से जिससे स्वर या आवाज में परिवर्त्तन पाये जाते हैं, शिश्न तथा वृषणों के विकास से पूर्णता ( यौवन ) का ज्ञान किया जाता है। स्त्रियों में कक्षा तथा जघन सन्धानिका के केशों की उपस्थिति, स्तनों के

विकास, बाह्य प्रजनन अंगों के विकास तथा ऋतुस्राव से ऊपर उनकी पूर्णता ( युवावस्था ) का अनुमान किया जाता है।

अधिकांश लड़कियों में ऋतुस्राव के पूर्व ही उनकी वृद्धि का स्थगित हो जाना, चिन्तनीय नहीं रहता है।

**मानस पूर्णता** ( Mental Maturity )—शिशु की मानस क्रियाओं के विकास एवं पूर्णता का अध्ययस उसकी किसी उत्तेजना के अनुरूप होने वाले व्यवहार ( Behaviour ) एवं प्रतिक्रियाओं के आधार पर किया जाता है। वृद्धि की विशेष परीक्षा दो वर्ष की आयु के अनन्तर किया जा सकता है।

शिशु की चतुराई या उसकी मानसिक विकास की प्रक्रियाओं के समझने के लिए एक सरल विधि यह है कि उसके हाथ में लकड़ी का चिकना चम्मच पकड़ा दे। प्रारम्भ में शिशु को कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, वह उसका हाथ से छोड़ देगा और वह नीचे गिर जावेगा। तीसरे-चौथे मास से उसे चम्मच दिखाने पर उसके पास पहुँचना चाहेगा और उसके हाथ पर रख देने पर वह अपने मुँह में डाल लेगा। छठवें मास से दूसरा चम्मच दिखाते ही वह पहले वाले को गिरा देता है और दूसरे को स्वीकार करता है। सातवें-आठवें मास से वह पहले, चम्मच को दूसरे हाथ में रखकर दूसर को भी ले लेता है। नवें मास से वह दोनों चम्मचों को दोनों हाथों में लेकर ठकठकाना शुरू कर देता है। यह क्रिया उसकी चतुराई के विकास के साथ उसके श्रवणेन्द्रिय विकास की भी परिचायिका होती है।

शिशु की प्रथम छै मास की आयु में वृद्धि की प्रगति के मूल्याङ्कन की भी अन्य कई विधियाँ हैं १—शरले का 'चार्ट' ( Shirley's Chart of the normal milestones of development ) २—प्रत्यावर्त्तन क्रियाओं का अध्ययन।

२—चार्ट में मासानुमासिक क्रम से पन्द्रह मास तक की आयु के शैशवीय विकास का चित्रण पाया जाता है। एक मास की आयु में शिशु को शब्दों का ज्ञान हो जाता है, अपनी ठुड्डी को उठा लेता है, पेट के बल लेटाने पर कुछ गति करता है। दूसरे मास में पेट के बल लेटता है, सीने

को उठा लेता है, मुस्कराता है, हुँकार करता है, चलती हुई चीजों की तरफ उसकी आँखें घूमती हैं। तीसरे मास से अपने सिर को ऊपर उठा लेता है, चीजों के पकड़ने की भी कोशिश करता है; किन्तु पकड़ नहीं पाता। चौथे मास से कुछ सहारा पाकर बैठ जाता है। पाँचवें मास से किसी दी हुई चीज को पकड़ लेता है। छठवें मास हिलती हुई चीज को पकड़ लेता है, कुछ कुछ बोलना शुरू कर देता है। बारह मास की आयु में एक शब्द को बार-बार दुहराता है।

### स्वस्थ बालक के विकास के विभिन्न चरण

| बालक की आयु मासों में | घटनायें |
|---|---|
| तृतीय मास | शब्द की दिशा में सिर को घुमाता है। |
| चतर्थ मास | किसी द्रव्य को पहचानता और पकड़ता है। यदि धड़ को पकड़े रखें तो सिर को सीधा कर लेता है। |
| ७–८ मास | सीधा बैठ जाता है। |
| ९–१० मास | खड़ा होने का प्रथम प्रयास करता है। |
| १२–१३ मास | चलने की कोशिश करता है। |
| १४–१५ मास | स्वतन्त्रतापूर्वक चलता है। |
| २ वर्ष के अंत तक | छोटे वाक्यों को कहता है। |

**प्रतिवर्त्त** ( Reflexes )—चौंकने का प्रतिवर्त्त ( Startle reflex ) अचानक कोई जोर का शब्द या कम्पन हाथ और पैरों में एक ही साथ फैलना फिर सिकुड़ना पाया जाता है। यह प्रतिवर्त्त पाँचवें मास से बन्द हो जाता है।

**ग्रहण प्रतिवर्त्त** ( Grasp reflex )—शिशु के हाथ के तलवे पर कोई चीज रखी जाय तो उसको अपनी अँगुलियों से पकड़ लेता है। यह प्रतिवर्त्त क्रिया भी चौथे मास से बन्द हो जाती है।

**डगों का प्रतिवर्त्त** ( Stepping reflex )—जब शिशु को पीछे से दोनों हाथों से पकड़ कर सीधा लेटाकर आगे को चलाने का प्रयत्न किया जाता है तो उसमें एक के बाद दूसरे डग के रखने जैसी गति होने लगती है। यह क्रम दो मास तक चलता है। दो से छः मास की आयु में यह प्रतिवर्त्त जाता रहता है। शिशु को आगे की ओर बढ़ाने पर वह केवल पैरों को खींचता है। छः मास की आयु के बाद डगों का भरना फिर लौट आता है, और उसमें क्रमिक प्रगति होकर १५ मास की आयु में बच्चा खड़ा होकर स्वतन्त्र रूप से चलने लगता है।

**असमतनाव प्रतिवर्त्त** ( Asymmetrical Tonic Reflex )—जब शिशु का मुँह एक पार्श्व में किया जाता है तो उस पार्श्व में भुजा और पैर फैल जाते हैं और दूसरी तरफ की भुजा और पैर संकुचित हो जाते हैं। यह प्रतिवर्त्त अधिकांश अप्रगल्भ शिशुओं में पाया जाता है, कभी-कभी पूर्ण शिशुओं में भी मिलता है। प्रथम सप्ताह तक मिलता है; परन्तु कभी-कभी चार मास तक की आयु के साधारण शिशुओं में भी हल्के स्वरूप का

मिलता है। चार मास को आयु के अनन्तर भी इसका न मिलना मस्तिष्क घात ( Cerebral Palsy ) का द्योतक है।

**दाँतों की पूर्णता**--अस्थि पंजरों की विकासपद्धति की भाँति ही दाँतों का भी विकास होता है। पहला निकलने वाला दाँत नीचे का मध्य भेदक ( Central ) आमतौर से रहता है और प्रथम या दूध के दाँत २ वर्ष की आयु तक सामान्यतया पूरे हो जाते हैं। स्थायी दन्तों में प्रथम चहू (Molar) सर्व प्रथम निकलता है, जो छः वर्ष की आयु में निकलता है। बारह वर्ष की आयु तक पूरे दाँत निकल आते हैं, केवल तृतीय चर्वणक ( Molar ) को छोड़कर, जो १७–२२ वर्ष की आयु में निकलता है।

### दन्तोद्भेद की सारिणी

| दाँत | आयु |
|---|---|
| दूध के दाँत या प्रथम दन्त | |
| मध्य भेदक (इंसिजर्स) नीचे के | ६ से १० मास |
| मध्य भेदक ऊपर के | ७ से १२ मास |
| पार्श्वभेदक ऊपर के | ८ से १२ मास |
| पार्श्वभेदक नीचे के | १२ से १८ मास |
| प्रथम चहू ( मोलर ) | १२ से १८ मास |
| कपर्दिक ( के नाइन ) | १६ से २० मास |
| द्वितीय चहू | २० से ३० मास |

| दाँत स्थायी या द्वितीय | आयु |
|---|---|
| प्रथम चहू ( मोलर ) | ६ वर्ष |
| भेदक ( इंसिजर्स ) | ७ से ८ वर्ष |
| द्विकपर्दिक ( बाइकस्पिड ) | ८ से १० वर्ष |
| छेदक ( केनाइन्स ) | १२ से १४ वर्ष |
| द्वितीय चहू | १२ से १५ वर्ष |
| तृतीय चहू | १७ से २५ वर्ष |

**वृद्धि का रोध** ( Cessation of growth )—'एपी फिसेज' ( Fusion of Epiphyses ) के मिलने के साथ बढ़ने की ( लम्बाई की ) अन्तिम सीमा समाप्त हो जाती है। यह अवस्था लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में देर से आती है, क्योंकि ऊँचाई अधिक होती है। क्वचित् इसका अपवाद भी मिलता है। दोनों प्रकार के नपुंसकों ( हिजड़ों में जिनकी ऊँचाई औसत से कुछ अधिक होती है ) में 'एपीफिसेज' के सम्मिलन के पहले ही उनका बढ़ना बन्द हो जाता है। सम्भवतः वृद्धि-वर्द्धक निःस्यंदों की कमी से ( Lack of Growh Hormone ) बन्द हो जाती है।

**निद्रा**—प्रथम मास की आयु में शिशु आमतौर से दिन-रात सोया ही रहता है, केवल पोषण के समय पर जगता है। छः मास की आयु से वह अठारह घण्टे सोता है। बारह मास की आयु से वह प्रतिदिन पन्द्रह घण्टे सोता है। उसके बाद उसकी निद्रा में क्रमशः कमी होती चलती है। फलतः दस वर्ष की आयु से वह केवल दस घण्टे सोता है।

**अश्रु**—जन्म के साथ ही शिशुओं को क्रन्दन ( रुलाई ) के साथ आँसू नहीं आता है। अधिकांश शिशुओं में एक सप्ताह के भीतर आँसू रुलाई के साथ आने लगता है; कुछ बच्चों में दो तीन मास की आयु तक रुलाई के साथ अश्रुपात नहीं होता। नेत्रों के वर्ण में भी जन्म के अनन्तर परिवर्तन होता है।

## सारिणी क्रमांक—१

### भारतीय शिशुओं और कुमारों की औसत ऊँचाई

( सेण्टी मीटरों में )

| उम्र | बालक | बालिका |
|---|---|---|
| जन्म | ४७·१ | ४६·७ |
| ३ मास | ५६·१ | ५८·४ |
| ६ मास | ६४·७ | ६३·७ |
| ६ मास + | ६८·२ | ६७·० |
| १ वर्ष + | ७३·६ | ७२·५ |
| २ वर्ष + | ८१·६ | ८०·१ |
| ३ वर्ष + | ८८·८ | ८७ २ |
| ४ वर्ष + | ६६·० | ६४·५ |
| ५ वर्ष + | १०२·१ | १०१·४ |
| ६ वर्ष + | १०८·५ | १०७·४ |
| ७ वर्ष + | ११३.६ | ११२·८ |
| ८ वर्ष + | ११६·३ | ११८·२ |
| ६ वर्ष + | १२३·७ | १२२·६ |
| १० वर्ष | १२४·३ | १२८·४ |

उपरिलिखित सारिणी क्र० १ के अवलोकन मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम वर्ष में शिशुओं ऊँचाई काफी तीव्रगति से बढ़ती है और तत्पश्चात् यह गति धीमी हो जाती है; शिशु लगभग २० से० मी० प्रथम वर्ष में ऊँचा हो जाता है जब कि इतनी ही ऊँचाई वह प्रथम वर्ष के बाद ४ वर्षों में प्राप्त करता है ।

## सारिणी क्रमांक–२

### भारतोय शिशुओं का औसत भार

( किलोग्राम में )

| उम्र | बालक | बालिका |
|---|---|---|
| जन्म | २·६०९ | २·५६० |
| ३ मा | ५·२७६ | ४·९९६ |
| ६ मा ह | ६·७०५ | ६·१९५ |
| ९ मा | ७·३७३ | ६·९१७ |
| १ वर्ष + | ८·४ | ७·८ |
| २ वर्ष + | १०·१ | ९·६ |
| ३ वर्ष + | ११·८ | ११·२ |
| ४ वर्ष + | १३·५ | १२·९ |
| ५ वर्ष + | १४·८ | १४·५ |
| ६ वर्ष + | १६·३ | १६·० |
| ७ वर्ष + | १८·० | १७·६ |
| ८ वर्ष + | १९·७ | १९·४ |
| ९ वर्ष + | २१·५ | २१·३ |
| १० वर्ष + | २३·५ | २३·६ |

उपरिलिखित सारिणी क्रमांक २ के अवलोकन मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिशु लगभग ५ से ५·५ कि० ग्रा० भार की प्राप्ति केवल १ वर्ष के दौरान करता है। प्रथम वर्षोपरान्त शिशु का भार लगभग १·५ कि० ग्रा० प्रतिवर्ष के दर से बढ़ता है।

## सारिणी क्रमांक–३

### भारतीय शिशुओं एवं किशोरों की औसत सीने की परिधि

( से० मी० में )

| उम्र | बालक | बालिका |
|---|---|---|
| जन्म | ३०·६ | ३०·४ |
| ३ माह | ३८·४ | ३७·३ |
| ६ माह | ४१·० | ३९·७ |
| ९ माह | ४२·२ | ४१·१ |
| १ वर्ष + | ४३·३ | ४२·३ |
| २ वर्ष + | ४५·८ | ४५·२ |
| ३ वर्ष + | ४८·० | ४७·२ |

## सारिणी क्रमांक–४

### भारतीय शिशुओं और किशोरों की औसत सिर की परिधि

( से० मी० में )

| उम्र | बालक | बालिका |
|---|---|---|
| जन्म | ३३·३ | ३२·४ |
| ३ माह | ३९·४ | ३८·६ |
| ६ माह | ४२·२ | ४१·० |
| ९ माह | ४३·५ | ४२·८ |
| १ वर्ष + | ४४·४ | ४३·६ |
| २ वर्ष + | ४५·९ | ४५·२ |
| ३ वर्ष + | ४०·३ | ४६·२ |

सारिणी क्रमांक ३ और ४ की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिर की परिधि; सीने की परिधि से प्रथम वर्ष की अवस्था तक बड़ी रहती है, यह सीने की परिधि के बराबर द्वितीय वर्ष में हो जाती है; और तृतीय वर्षोंपरांत सीने की परिधि, सिर की परिधि से अधिक होने लगती है ।

## वृद्धि तथा विकास के दोष

( Disorders of growth and developments )

**तीन दोष प्रमुखतया मिलते हैं**–१. वामनता ( बौनापन Dwarfism ) २. महत्ता या महती वृद्धि ( Gigantism ) तथा ३. शिशुता ( Infantilism ) वामनता के साथ जननेन्द्रियों का भी अविकास ।

**वामनता**—वामन बच्चे लम्बाई में जन्म से छोटे पैदा होते हैं और जीवनपर्यन्त औसत से छोटे ही रह जाते हैं। अन्य दृष्टि से स्वाभाविक ही होते हैं, जननेन्द्रियों का विकास भी इनका ठीक आयु में ही होता है। यद्यपि जाति तथा कुलज प्रभाव का बहुत बड़ा महत्व इनकी वामनता में रहता है तथापि कई अन्य हेतु भी शोधकों ने उनकी लघुकायता के सम्बन्ध में बतलाये हैं। जैसे :—

**१. अस्थि कङ्काल या अस्थि पंजर के रोग**—कुछ सहज रोग जैसे, अपूर्ण अस्थिजनन, उपास्थियों का अविकसन ( Achondroplacia ) तथा जन्म के अनन्तर होने वाले रोग जैसे, पृष्ठ-वंश का क्षय तथा फक्क रोग।

**२. पोषण तथा समवर्त्त सम्बन्धी विकार** ( Nutritionalor Metabolic Diseases ) पोषण की कमी ( Lack of food ), तथा आंत्र, हृदय, यकृत, मस्तिष्क एवं फुफ्फुस के विकार तथा वृक्क के सहज विकार।

**३. उपसर्ग** ( Infection )—मलेरिया, सहज फिरंग, कालाजार, अंकुश कृमि या क्षय का जीर्ण उपसर्ग ।

**४. निःस्यंदी ग्रन्थियों के विकार** ( Endoerine Disorders )—अवटुका ( Thyroid ) तथा पीयूष ग्रन्थि ( Pituitary ) की हीन-क्रियता, तथा पुंस्त्वजनक तथा स्त्रीजनक निःस्यंदों की कमी।

**५. 'स्टेरायड' चिकित्सा**—अधिक दिनों तक लगातार 'स्टेरायड' चिकित्सा का प्रयोग भी बालकों की वृद्धि में बाधक होता है।

**६. तीव्र मस्तिष्क दोष ।**

**७. 'फोलिक एसिड' की कमी ।**

८. **भावुकता दोष** ( Emotional Disordtr )—कठोर तथा अमृदु व्यवहार भी बालकों की वृद्धि में बाधक हो सकता है।

**अज्ञात कारण**—प्राक्जरा ( Progeria )—जन्म के समय शिशु प्रकृत रहता है; परन्तु २ वर्ष की आयु में उसकी वृद्धि अचानक रुक जाती है। उसमें वार्धक्य के परिवर्तन होने लगते हैं। सिर के केश झड़ जाते हैं, उसके विचार भी वृद्ध सदृश होते हैं। यह अवस्था बहुत विरल है तथा उत्पादक कारण अज्ञात हैं।

**वामनता की चिकित्सा**

कई प्रकार के निःस्यंदों का प्रयोग जैसे, 'पिट्यूइटरी' 'थायरायड' तथा 'ए. सी. टी. एच.' का प्रयोग कुछ रोगियों में लाभप्रद रहता है। आदर्श चिकित्सा वर्धक निःस्यंद ( Growth Hormone ) का प्रयोग उत्तम है; परन्तु यह अभी पूर्णतया सुलभ नहीं है। इसके अभाव में 'एनाबोलिक स्टेरायड्स' का प्रयोग बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। 'एनाबोलिक स्टेरायड्स' में 'मेथाण्डीनोन' ( Methandinone ) का पेटेण्ट योग 'डायनेबालड्राप्स' आजकल चल रहा है। इसकी मात्रा ०·४ मि० ग्राम प्रति किलोग्राम भार पर है। २४ घंटे में है। मुख से दिया जाता है। इसका छः मास तक प्रयोग करके अस्थियों की क्ष-किरण से परीक्षा करके देख लेना चाहिये, यदि अस्थियों की परिपक्वता में कोई बाधा न प्रतीत हो तो पुनः करना चाहिये।

**महती वृद्धि ( Gigantism ) हेतु**

[ १ ] **कुलज प्रभाव**—वामनता के ठीक विपरीत की यह अवस्था है। इसकी उत्पत्ति में कुलज प्रभाव मिलता है और कभी नहीं भी मिलता।

[ २ ] **अस्थि संस्थान के रोग** ( Skeletal Diseases like Arachno dectyly )—

[ ३ ] **'पिट्यूइटरी' तथा 'थायरायड' ग्रन्थियों का क्रिया वैषम्य वृषण या डिम्ब ग्रन्थि के अर्बुद।**

[ ४ ] **जननेन्द्रियां की कालपूर्वपक्वता** ( Sexual Precosity )—

[ ५ ] **स्थौल्य** ( Obesity ) ।

[ ६ ] **एकदैशिक महतो वृद्धि** ( Local gigantism )—किसी अवयव का एक भाग या पूरा अधिक वृद्धियुक्त हो जाता है। यद्यपि यह विकार अधिकतर वैकारिक दोष से होता है; परन्तु कई बार रक्ताधात्वर्बुद ( Haemangioma ) के परिणामस्वरूप भी हो सकता है, जब कि उस स्थान का रक्ताभिसरण तेज हो।

**जननेन्द्रिय विकास को कालपूर्वपक्वता** ( Precosity )—सामान्य समय के पूर्व जननेन्द्रियों का विकास कई बालकों में पाया जाता है। इस दशा को जननेन्द्रिय विकास की कालपूर्वपक्वता ( Sexual Precosity ) कहा जाता है। बालक की परिपक्वता की यौवन प्राप्ति की आयु-मर्यादा में विविधता पायी जाती है, फलतः परिपक्वता की कोई एक आयु निर्धारित करना कठिन है फिर भी तद्विद्यों की यह मान्यता है कि सामान्यता दस वर्ष की आयु के पूर्व जननेन्द्रियों का पूर्ण विकास होना प्राक्कालिक विकास माना जाता है।

**यौवनकालपूर्वता** ( Precocious Puberty )—का ज्ञान लड़कों में शुक्रकीटोत्पत्ति का शुक्रोत्पत्ति ( Spermatogenesis ) तथा लड़कियों में डिम्बोत्पत्ति या रजःस्राव ( Ovulation ) के औसत आयु से पहले होने से होता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के यौवन की प्राक्कालिकता अधिक देखने को मिलती है। इस प्रकार की प्राक्कालिकता में कई प्रकार के तत्त्व सहायक होते हैं, जैसे—शारीरिक, मस्तिष्कान्तर्गत कारण ( Intra Cranial ), अधिवृक्कज ( Adrenal ) तथा 'गोनाड' सम्बन्धी ( Gonadal )।

**षण्ढता** ( Eunuehoidism )—हिंजड़ापन इस दशा की उत्पत्ति निम्नलिखित दो उपांगों की क्रिया के अभाव में होती है।

**वृषणगत** ( Testicular )—यदि वृषण ( Testes ) जन्म से ही अनुपस्थित हों या निकाल दिये गये हों अथवा किसी शल्य कर्म या अभिघात के कारण उनका शोथ ( Atrophy ) हो गया हो तो उस व्यक्ति में षण्ढता

आ जाती है। कई प्रकार के उपसर्गों में विशेषतः पाषाण गर्दभ की वजह से होने वाले वृषणशोथ ( Orchitis due to mumps ), 'इरेडियेशन' ( Irradiation ) या अर्बुद ( Neoplastic diseases ) प्रभृति रोगों से वृषण की हानि होकर षण्ढता आती है।

( २ ) **पीयूष ग्रन्थि** ( Pituitary )—की क्रिया ठीक न होने से 'गोनोडोट्रापिक' क्रिया का अभाव हो जाता है, जिससे षण्ढता उत्पन्न होती है। यदि पीयूष ग्रन्थि का अधिक विकार रहा हो तो वृद्धि ( Growth ) की रुकावट होकर वामनता आ जाती है।

पीयूष ग्रन्थि का क्रियाभाव अज्ञात कारणों से ही हो सकता है अथवा वहाँ के स्थानिक क्षतों के कारण औपद्रविक भी हो सकता है। जैसे—ग्रन्थि का ही अर्बुद ( Chormophobe Adenoma ) अथवा ग्रन्थि का समीपवर्ती क्षेत्र का कोई अर्बुद ( Craniopharyngioma )।

**षण्ढ व्यक्ति का स्वरूप**—इनमें भुजा और पैर बहुत लम्बे होते हैं, जिससे वे असामान्य ढंग से ऊँचे दिखाई पड़ते हैं, ऊँचाई से अधिक इनका फैलाव ( Span ) होता है। परवर्ती काल में पाये जाने वाले लिंग के चिह्नों का अभाव रहता है। मुख अपरिपक्व एवं पीलापन लिये रहता है और आवाज ऊँची होती है।

**विनिश्चय**—विलम्बित युवावस्था ( Delayed Puberty ) में भेद कर लेना चाहिये। वृषणों की परीक्षा सहायक होती है, यदि इनकी उपस्थिति हो तो षण्ढता के विनिश्चय में आसानी हो जाती है। यदि वृषण की उपस्थिति हो और मृदु एवं नमनशील हों तो शैशव वृषण ( Infantile Testicles ) का अनुमान कर विलम्बित यौवन की उपस्थिति समझनी चाहिए। अस्थि परिपक्वता ( Faillure of Skeletal Maturity ) के अध्ययन से भी विनिश्चय किया जा सकता है। यदि परिपक्वता स्वल्प हो तो विलम्बित यौवन का अनुमान और यदि अधिक हो अर्थात् चार साल या अधिक की कमी अस्थि पूर्णता में प्रतीत हो तो षण्ढता का विनिश्चय किया

जा सकता है। विनिश्चय का एक और भी उपाय है। यदि निःस्यंद चिकित्सा से कुछ विकास दिखाई पड़े तो विलम्बित यौवन का अनुमान और कुछ भी प्रभाव दिखाई न पड़े तो षण्ढता का विनिश्चय करना चाहिए।

**चिकित्सा**—इस दशा में कोई विकार यदि शल्य साध्य प्रतीत हो तो शाल्यिक उपचार करना चाहिये। जिन व्यक्तियों में वृषण दोष प्रतीत हो, तो वृषण सत्व ( Testosterone ) का उपयोग करना चाहिये। जिनके उद्भव में 'पिट्यूइटरी का दोष प्रतीत हो, 'कोरियानिक गोनोडो ट्रोपीन ( Chorionic Gonado tropin ) का प्रयोग करना चाहिये।

**यौन स्तनता** ( Gynaeco mastia )—लड़कों में युवावस्था के समीप स्वल्पकालीन स्तनों की वृद्धि मिल सकती है। इससे चिन्तित होकर लड़के चिकित्सकों से राय लेने आते हैं। वस्तुतः यह कोई रोग नहीं एक विकास की अवस्था विशेष है। संभवतः 'इस्ट्रोजेन' ( Oestrogen ) की अधिकता से, जो इस आयु में अधिवृक्क तथा वृषण से अधिक बनता है; ऐसा होता है। इसमें उपचार की कोई आवश्यकता नहीं होती है। काल से स्वयंमेव ठीक हो जाता है।

वास्तविक यौन स्तनता विरलता से देखने को मिलती है, जो वृषण के कुछ अर्बुदों में, स्त्रीकर अधिवृक्कार्बुद ( Feminizing Adrenal Tumour ) तथा यकृत के रोगों में पाया जाता है। 'इस्ट्रोजेन' के अधिक सेवन से भी यह आकस्मिक रूप में पैदा हो सकता है।

**स्थौल्य** ( Obesity )—स्थूलता प्रायः अति-भोजन करने से आती है। कुछ वैज्ञानिकों के विचार से स्यंदनशील ग्रन्थियों ( Endocrine glands ) के विकार से होती है; परन्तु यह मत अब अधिक मान्य नहीं रह गया है, क्योंकि यह कारण बहुत ही विरलता से मिलता है। अधिकतर भोजन या पोषण की बहुलता ही बालकों को मोटा करती है।

स्थूल बालकों के सम्बन्ध में एक यह भी भ्रम रहता है कि इनके प्रजनन अवयव कुछ अविकसित होते हैं। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि मोटे लड़के

और लड़कियों में औसत से एक वर्ष पूर्व ही युवावस्था ( Paberty ) आ जाती है।

स्थूलता की एक ही चिकित्सा है—भोजन की मात्रा को कम करना। इसके लिये प्रति एक हजार तापोत्पादक मूल्य का ( Calories ) का भोजन प्रतिदिन देना चाहिये। भोजन में लघु एवं रुक्ष आहार देना चाहिये। गुरु एवं स्निग्ध आहारों को निषिद्ध करना चाहिये। साथ ही खेल-कूद और दौड़ने का व्यायाम कराना चाहिये। स्थूल माता या पिता के बच्चे स्थूल होते हैं। इसमें वंशज प्रभाव नहीं काम करता; बल्कि उस परिवार के खान-पान या रहन-सहन का प्रभाव बालकों को मोटा करता है। ऐसे परिवार में पलने वाले स्थूल बच्चों का कृश करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इन बालकों को सीमित आहार पर रखकर प्रति सप्ताह भार लेने की सावधानी से मोटापन कम किया जा सकता है। विशेष वर्णन के लिये दसवाँ अध्याय देखें।

**दन्तोद्भेद**—शिशुओं के वृद्धि एवं विकास काल में यह एक सर्वसामान्य विकार है। ( विशेष वर्णन के लिए अध्याय ११ देखें )।

———

# अध्याय ६

## स्वस्थ बालक का आहार

शिशु के लिये सबसे उत्तम आहार मातृ-स्तन्य ( माता का दूध ) है। परन्तु दुर्भाग्यवश यदि सुलभ न हो तो उसके स्थान पर गो-क्षीर ( गाय का दूध ) व्यवहार से लाया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि मातृ-स्तन्य का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि गो-क्षीर है। गाय का दूध चाहे ताजा हो, गर्म किया हुआ हो, उबला हुआ हो, घनीकृत हो या सुखाये चूर्ण के रूप में हो शिशुओं के पोषण में व्यवहृत हो सकता है। दूध के अभाव में शिशु का जीवन धारण भी कठिन हो जाता है इसीलिये दूध प्राणियों का जीवन माना गया है।

यह भी याद रखना चाहिये कि यदि दूध यथोचित मात्रा में बालक को न मिले अर्थात् मात्रा से बहुत कम या बहुत अधिक मिले तो उसके स्वास्थ्य के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है और उसको कई प्रकार के कष्ट होने लगते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने यथोचित मात्रा में दूध को पिलाने के कुछ मापदण्ड निर्धारित किया है। सामान्यतया यह समझा जाता है कि आयु के ऊपर दूध का परिमाण निर्धारण होना चाहिये; परन्तु आयु से अधिक महत्व उसके शरीर के भार के ऊपर देना चाहिये। उदाहरणार्थ, जन्म के समय एक शिशु का वजन ६ से १० पौण्ड तक हो सकता है। अब ६ पौण्ड का वजन वाला बालक जितने दूध से तृप्त होगा उतने ही दूध से तृप्ति १० पौण्ड वजन वाले शिशु की नहीं हो सकती; निश्चित रूप से उसको कुछ अधिक मात्रा में दूध पिलाना पड़ेगा। एतदर्थ एक सामान्य सिद्धान्त माना जाता है कि चौबीस घण्टे में शिशु को प्रति पौण्ड के ऊपर ढाई औंस कुल द्रव मिलना चाहिये। यह द्रव चाहे माता के दूध के रूप में मिले या किसी अन्य प्रतिनिधि द्रव के रूप में। यदि बालक १० पौण्ड के वजन का हो तो उसके २४ घण्टे में

मिलने वाली दूध की मात्रा १० × २½ = २५ औंस (लगभग तीन पाव लिटर) होनी चाहिये और यदि ६ पौण्ड के वजन का हो तो कुल मात्रा कम अर्थात् ६ × २½ = १५ औंस ( लगभग आधा लिटर ) की होनी चाहिये। पुनः इस कुल मात्रा को कई पोषण कालों ( Feeds ) में बाँट कर देना होता है। पोषण काल तीन या चार घण्टे के अन्तर से रखना चाहिए। अतः चार-चार घण्टे पर प्रगल्भ शिशु तथा तीन-तीन घण्टे पर अप्रगल्भ शिशुओं ( Premature babies ) में पोषण क्रम को चलाना चाहिये। जैसे तीन-तीन घण्टे पर प्रातः ६ बजे से शुरू करके ९ बजे, १२ बजे, ३ बजे, ६ बजे और ९ बजे। चार-चार घण्टे के अन्तर से पिलाने पर ६, १०, २, ६, १० बजे का होगा। इस प्रकार पाँच पोषण कालों में कुल मात्रा को बाँटकर प्रति बार उसी मात्रा में देना आवश्यक होता है।

शिशुओं में पिलाने वाले दूध के परिमाण निर्धारण की कई और भी विधियाँ हैं, परन्तु वे सरल न होकर कठिन हैं, अतः उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि शिशुओं में दूध के पीने की इच्छा बिलकुल प्राकृतिक या स्वाभाविक होती है, एतदर्थ जब उनको भूख लगे वह पी लिया करे। उसके लिए पोषण काल का बन्धन लगाना अनुचित है। यह ठीक है; परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह देखा जाता है कि मातायें जब भी बालक रोता है उसको शान्त करने के लिए एक मात्र दूध पिलाना ही अपना कर्तव्य समझती हैं चाहे शिशु भूख के कारण रो रहा हो या किसी अन्य कारण से। ऐसी दशा में अति-पोषण से शिशु को अजीर्ण आदि की सम्भावना रहती है। एतदर्थ नियत समय पर दूध का पिलाना सबसे उत्तम मार्ग है जो अनुभव से माताओं को उसका ज्ञान स्वयमेव हो जाता है। पोषण काल ( Feeds ) का निश्चित समय से विधि पूर्वक पालन करने से बालक को अधिक स्वस्थ रखा जा सकता है।

जन्म होने के बाद प्रथम दिन हर ६ घण्टे पर शिशु को स्तन पकड़ना चाहिये और प्रति बार लगभग दस मिनट तक पिलाते रहना चाहिये।

दूसरे दिन शिशु को चार-चार घण्टे के अन्तर से स्तन को पकड़ाना चाहिये। इसके पश्चात् तीन-तीन घण्टे के अन्तर से उसको स्तन पान कराना चाहिये। स्वस्थ बालक को रात में १० बजे के पश्चात् दूध पिलाना अनावश्यक है। उसको रात १० बजे से लेकर ६ बजे प्रातःकाल तक दूध न पिलाना ही अच्छा रहता है।

नवजात बालकों में प्रथम चार या पाँच दिनों तक गर्भमल ( Meconium ) पाखाने से निकलता रहता है। इसके पश्चात् दूध के पीने से होने वाला पाखाना होने लगता है। यह पाखाना मृदु, पीला, अम्ल प्रतिक्रिया का और संख्या में दो या तीन बार होता है।

## मातृ-स्तन या धात्री क्षीर

### स्तन-पान ( Breast Feeding )

यह स्वाभाविक दूध है जो शिशु के पाचन के योग्य रहता है। इसमें पर्याप्त मात्रा में जीवतिक्तियाँ तथा जीवाणुनाशक तत्व रहते हैं तथा इसकी गर्मी ( उष्णता ) एक स्तर की होती है जिससे बढ़ने वाले शिशुओं के लिये अथवा अपक्व बच्चों में या दुर्बल शिशुओं के लिये माता का दूध एकमात्र पोषण सिद्ध होता है।

माता के दूध में जन्म के बाद कुछ दिनों तक तो पीयूष Cholostrum) निकलता है--जो पतला, पीला, क्षारीय, प्रोटीन की अधिकता से युक्त होता है। इसमें सामान्य माता के दूध से स्नेह और चीनी की मात्रा भी कम ही रहती है।

दूध का प्रोटीन दो प्रकार का होता है 'लैक्टाल्ब्युमिन' एवं 'कैसिनोजेन'। इसमें प्रथम मातृस्तन्य में दूसरे की अपेक्षा दुगुना होता है। इसके विपरीत गाय के दूध में 'कैसिनोजेन' अधिक अर्थात् तीन से पाँच गुना रहता है। मातृस्तन्य का दही में परिवर्तन होने पर हल्का दही बनता है; परन्तु गाय का भारी। माता के दूध का स्नेह ( चर्बी ) का भाग एक हल्का घोल के रूप में पाया जाता है और 'कार्बोहाइड्रेट' 'लैक्टोज' के रूप में

मिलता है और चीनी की मात्रा एक समान रहती है। माता के दूध में लौह की मात्रा गाय के दूध से अधिक रहती है, साथ ही स्वाभाविक रूप में ही बालक उसको ग्रहण करता है। गाय के दूध को उबालकर देने से कई जीवतिक्तियों ( Vitamins ) के नष्ट होने का भय रहता है। माता के दूध में इसका भय भी नहीं रहता है। माता के दूध में जीवतिक्ति 'सी' की मात्रा भी गाय के दूध से चार गुना रहता है। मातृस्तन्य से अधिक मात्रा में तापोत्पादन शिशु में होती है क्योंकि गाय के दूध को वे पूरी तौर से पचा नहीं सकते हैं। फलतः माता का दूध गाय के दूध की अपेक्षा बालक के लिये अधिक उत्तम है। दूध से मिलने वाली लौह की मात्रा बालक के वृद्धि के काल में अपर्याप्त रहती है; परन्तु यकृत में संचित लौह और ताम्र के भण्डार से जो गर्भकाल में संचित होकर पड़ा रहता है—बालक छः मास की आयु तक निर्बाध गति से माता के दूध पर विकसित होता चलता है; परन्तु इसके बाद की उमर में यदि लौह की पूर्ति किसी पूरक आहार से जैसे मांस रस आदि से न की जाय तो बालक में रक्ताल्पता आ जाती है और रोग पोषणाभाव जन्य पाण्डु ( Nutritional anaemia ) का स्वरूप धारण कर लेता है। सम्भवतः यही कारण है कि बालक का अन्न प्राशन कराके कुछ अतिरिक्त पोषण अन्न, शाक, भाजी के रूप में देने का प्राचीन विधान इस उमर में पाया जाता है।

माता से जो दूध शिशु को प्राप्त होता है। उसके परिमाण में भिन्नता पाई जाती है। कुछ माताओं में दूध अधिक होता है और कुछ में कम। माता की मानसिक स्थिति के ऊपर भी दूध के परिमाण में अन्तर आता है। माता के अधिक चिन्तातुर होने से दूध क्रमशः कम हो जाता है। पोषण माता का ठीक न रहे तब भी दूध कम हो जाता है। दूध को बढ़ाने का यत्न करना चाहिये या इसके लिये 'लैक्टागोल' १ चम्मच की मात्रा में दिन में तीन बार देना चाहिये या 'लेप्टाडीन' ( एलार्सिन ) की बनी गोलियों का दो-दो गोली दिन में तीन बार सेवन करना भी उत्तम है।

कुछ माताओं का दूध अत्यधिक मात्रा में निकलता है, स्तन में सूजन हो जाती है इनमें दूध को कम करने के लिए 'स्टिल्बेस्टेराल' ५ से २० मि०ग्रा० की मात्रा में दिन में तीन बार दो दिनों तक देने से दूध का स्राव कम होता जाता है और शिशु का मात्रा के अनुसार पोषण करना सम्भव रहता है।

माता के स्वास्थ्य आहार, विहार, प्रकृति एवं औषध सेवन के अनुसार दूध और उसके घटकों की मात्रा में भी अन्तर आ सकता है।

गाय की दूध की अपेक्षा मातृस्तन्य की अधिक उपयोगिता संक्षेपतः निम्नलिखित विचारों के आधार पर सिद्ध होती है :—

१. यह सस्ता पड़ता है और सदा उपलब्ध होता है।

२. शिशु की क्षुधा के अनुरूप उचित मात्रा में उपलब्ध होता है।

३. मातृस्तन्य स्वच्छ एवं जीवाणु रहित होता है।

४. मातृस्तन्य में सामान्य संक्रमणों के रोकने के लिये कई 'इम्युनबाडिज' उपलब्ध रहती हैं।

५. मातृस्तन्य में 'बाइफिडस तत्व' विद्यमान रहते हैं, जिससे आंत्र में 'लैक्टिएसिड' और 'फार्मिक एसिड' नामक दो अम्ल पैदा होते हैं। मातृस्तन्य का यह अम्ल माध्यम आंत्र में 'ईकोलाई' नामक जीवाणु की उत्पत्ति को रोक देता है। 'ईकोलाई' आंत्र में सर्वाधिक रोग पैदा करनेवाला शिशुओं में पाया जाता है जिससे शिशुओं में अतिसार होता है। इसके निरोध की क्षमता शिक्षुओं में रहती है। फलतः मातृस्तन्य के सेवन से यह विशेष लाभ सुलभ रहता है।

६. मातृस्तन्य में शिशु के उपयोगी प्रोटीन विशेषतः 'कैसीन' भाग गाय के दूध की अपेक्षा अधिक होता है। इसमें 'सिस्टीन' एवं 'मेथिओनीन' अधिक पाया जाता है। गाय के दूध में 'फास्फोरस' का भाग अधिक होता है जिससे शिशु को प्रारम्भिक कुछ सप्ताहों में पचाने में कठिनाई होती है। मातृस्तन्य के पचने में हल्का होता है और गाय का दूध का प्रोटीन भाग अपेक्षाकृत गुरु पड़ता है।

७. मातृस्तन्य का मेदांश गाय के दूध की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। मातृस्तन्य का ६०% मेद में 'इसेन्शियल अनसेचुरेटेड फैटी एसिड' का हिस्सा रहता है।

८. मातृस्तन्य में 'लैक्टाज' गाय की दूध की अपेक्षा अधिक होता है। इसके द्वारा चूर्णातुधातुका शोषण, नाइट्रोजेन का शरीर में संरक्षण तथा केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र का पोषण गोक्षीर की अपेक्षा अधिक होता है।

९. खनिज तत्व एवं क्षार ( ऐशेज )—शिशु के लिये उपयोगी मात्रा में मातृस्तन्य में उपलब्ध है।

१०. विटामीन्स—स्वस्थ मातृस्तन्य में सभी विटामीन्स ( विटामीन डी को छोड़कर ) आवश्यक मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

**दूध पिलाने का आदर्श तरीका**—माता को किसी आसन पर बैठ कर बालक को गोद में लेकर एक बाहु पर लेटाकर दूध पिलाना चाहिए। दूसरा हाथ खाली रखना चाहिये, ताकि उसकी सहायता से स्तन को बच्चे के मुँह में सुविधापूर्वक डाला जा सके। दूध पिलाने की क्रिया शान्ति के साथ सम्पन्न होनी चाहिए जिसमें माता और बालक दोनों को आराम मिल सके। यह भी ध्यान रखे कि बालक का मुँह और नाक ऐसी स्थिति में रहे कि उसको साँस लेने में किसी तरह की कठिनाई न हो।

स्तन को पिलाने के पूर्व और पश्चात् टंकण के घोल से ( Weak Boric acid solution ) दोनों चूचुकों को रुई में भिगोकर उससे साफ कर लेना चाहिये। एक बार में यदि दूध पर्याप्त हो तो एक ही स्तन पिलाना चाहिये यदि दूध पूरा न हो, तो एक का पूरा पी लेने के बाद दूसरा बालक के मुख में पोने को देना चाहिये। हर पिलाने वाले काल में शिशु को बीस मिनट तक स्तन पर लगाना चाहिये इतनी देर में वह पूरा दूध पी लेता है। कई बार बच्चे एक घण्टा या पैंतालिस मिनट तक स्तन से मुँह लगाये लेटे रहते हैं—वास्तव में ये पीते नहीं बल्कि केवल मुँह में चुचुक को लिये पड़े रहते हैं।

दूध पिलाने के बाद एक प्रकार का स्निग्ध पदार्थ व्यवहृत होता है जिसे 'निपुल क्रीम' कहते हैं। इसके प्रयोग से अर्थात् हल्का लेप कर लेने से स्तन

के पकने की सम्भावना नहीं रहती है कुछ विशेषज्ञ इसके बड़े प्रशंसक हैं। मैस्सी ( Masse-Orthc ) एक अच्छी क्रीम है। यदि 'क्रीम' सुलभ न हो तो साधारण तिल तेल से (पिलाने के पश्चात्) चूचुक को स्निग्ध कर लेना चाहिये।

दूध को हर तीन घण्टे के बाद पिलाना सबसे उत्तम रहता है।

मातृस्तन्य पान की अवधि—मातृस्तन्य को जन्म के तीन मास तक पिलाना बहुत महत्व का है। यह दूध पिलाना छै से नौ मास तक शिशु की वय पहुँचने तक भी ठीक है। विकास शील देशों में आर्थिक दृष्टि से १ वर्ष के वय तक शिशुओं में भी यह क्रम चल सकता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि शिशु का वय जब छै मास का हो जाय तो उसको मातृस्तन्य पर ही नहीं रखना चाहिये। ऊपरी दूध भी अवश्य देना चाहिये। एक वर्ष के अनन्तर माताओं का दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिये।

**माता के दूध का निषेध**—निम्नलिखित अवस्थाओं में माता का दूध पिलाना बन्द करा देना चाहिये।

**माता के रोग**—जैसे तीव्र औपसर्गिक रोग, तीव्र वृक्क शोथ, गर्भाक्षेपक ( Eclampsia ), फुफ्फुस का क्षय ( T. B. Lung ), माता का घातक रोग ( Malignant disease ) तथा गर्भाधान—यदि स्तन्य काल में दूसरा गर्भाधान हो जाय तो माता का दूध बन्द कर देना चाहिए।

**स्तन गत विकार**—चूचुक का कड़ापन ( Retraction ) या स्तन के दरार ( Fissures )।

**स्तन विद्रधि**—इस अवस्था में 'ब्रेस्ट पम्प' से दूध का दोहन कर लेना चाहिये। 'बोरिक घोल' से प्रक्षालन करना चाहिये 'मैस्सी क्रीम' का स्थानिक लेप कराना चाहिये स्तन का पिलाना पीड़ाकर होता है अस्तु नहीं पिलाना चाहिये। स्तन के घातक अर्बुद तथा क्षय में भी दूध का निषेध करना चाहिये।

**बालकों के रोग**—कटे ओठ ( Harelip ) या फटे तालु ( Cleftpalate ) से पीड़ित बच्चों में स्तन या बोतल का दूध पीना कठिन होता है, इन बच्चों को दूध रुई से, चम्मच से या पिपेट से पिलाना चाहिये।

इन माताओं में दूध के स्वाभाविक स्राव को कम कराने के लिये 'स्टिल-वेस्टेराल' ५ मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में तीन बार देना चाहिये। दूध और द्रव भोजनों की मात्रा कम कर देनी चाहिये। सामुद्रेचन ( Saline Purgatives ) देना चाहिये और स्तन पर मजबूत बन्धन ( Bandaging ) कर देना चाहिये।

**अति पोषण ( अध्यशन )**—कई शिशुओं को दूध अधिक परिमाण में मिलता है। जिससे उनके शरीर का भार तेजी से बढ़ता है। प्रत्येक बार पीने के बाद कुछ उल्टी भी हो जाती है। बच्चा ठीक चलता रहता है। परन्तु आगे चलकर उसको वमन होना, एक रोग के रूप में चलने लगता है उसके शरीर का वजन भी गिर जाता है। इन बच्चों में पिलाने के काल का अन्तर बढ़ा देना चाहिये। प्रत्येक स्तनपान के पूर्व थोड़ी मात्रा में उबाला हुआ जल पिला देना चाहिये। इससे अध्यशन ( Over feeding ) का दोष जाता रहता है।

**हीब पोषण**—जिन शिशुओं को स्तन का दूध कम मिलता है, वे वायु अधिक निगल जाते हैं, पेट में तेज दर्द होता है, पेट में कब्ज रहता है, पाखाना कम हो जाता है। ऐसी अवस्था में निम्नलिखित प्रबन्ध करना चाहिये। इन बच्चों में दोनों स्तनों का हर बार पिलाना चाहिये स्तन के दूध से खाली हो जाने पर उनको पीने नहीं देना चाहिये। साथ ही पूरक भोजन ( Suppelmentary, feeding ) की व्यवस्था करनी चाहिये।

इसके दो तरीके हैं। १—हर स्तन्यपान कराने के बाद बोतल में दूध भर कर पिला दिया जाय या २—दिन के एक दो स्तन्य पान कालों में स्तन पिलाने के स्थान पर बोतल का ही दूध पिलाया जाय जैसे दिन में तीन बार ८ बजे सुबह, ३ बजे और ६ बजे शाम को बोतल का दुग्ध और सुबह ६ बजे और रात में १० बजे माता के स्तन का दुग्ध पिलाया जाय। पूरक पोषण के फल का अन्दाज बालक के दिन-प्रतिदिन होनेवाले विकास या वजन के बढ़ने से लगाया जा सकता है।

पूरक पोषण बहुत मीठा नहीं बनाना चाहिये या स्तन पीने के पूर्व नहीं पिलाना चाहिये अन्यथा बच्चें को यह पोषण अधिक रुचिकर होगा तो वह माता का दूध पीना बिलकुल ही छोड़ देगा।

## कृत्रिम पोषण

माता के दुग्ध के अभाव में जो एक शिशु का प्राकृतिक पोषण है गाय या बकरी के दुग्ध प्रभृति अन्य पोषणों को देना कृत्रिम पोषण ( Artificial Feeding ) कहा जाता है। स्तन और गाय के दुग्ध का तुलनात्मक कोष्ठक नीचे दिया जा रहा है। दोनों की समानता स्पष्टतया ज्ञात हो जाती है।

| | कुल प्रोटीन | चरबी | कैसीनोजेन | लैक्टाल्बुमिन | कार्बोहाइड्रेट (लैक्टोज) | कैलोरीज प्रति औंस |
|---|---|---|---|---|---|---|
| गाय का दुग्ध | ३·५० | ४·०० | ३·० | ०·५० | ४·५० | १८·२० |
| माता का दुग्ध | १·२५ | ३·५० | ·५० | ०·७५ | ७·५० | २० |

लौहांश मातृ स्तन्य में गाय की तुलना में दो या तीन गुना होता है।

**दूध का विशोधन**—ताजे या धारोष्ण दुग्ध में कई प्रकार के विटामिन्स पाये जाते हैं जो उबालने से नष्ट हो सकते हैं। यही कारण है कि उबाले हुए दुग्ध के सेवन करने वाले शिशुओं में विटामीन 'सी' की पूर्ति उसको अतिरिक्त मात्रा में देकर करनी पड़ती है। ताजे दुग्ध के पिलाने में सभी गुणों के रहते हुए भी एक बहुत बड़ा दोष उसका जीवाणुओं से दूषित होने का आ सकता है। उदाहरणार्थ क्षय रोग के जीवाणु क्षय दण्डाणु ( T. Bascilli ) अधिकतर बाल्यावस्था में दुग्ध के साथ ही उनके आंत्रों में पहुँचते हैं जो भविष्य में क्षय रोग ( T. B. ) का कारण बनते हैं। इस प्रकार के दोष से यदि दूध को बचाना है तो यह भी आवश्यक है कि दूध का विशोधन कर लिया जाय और ताजा दूध सेवन के लिए न दिया जाय। दूसरी बात यह भी

है कि विशोधन की पद्धतियों से दूध कुछ सुपाच्य भी अधिक हो जाता है। कई विधियाँ विशोधन की प्रचलित हैं।

१. क्षय परीक्षित दूध ( Tuberculine Tested Milk )—ऐसा ताजा धारोष्ण कच्चा दूध जो परीक्षा के द्वारा प्रमाणित क्षय रोग से रहित गाय से लिया जाय।

२. 'पाश्चारायड दूध' ( Pasteurised Milk ) दूध को १४५° या १५०° फे० पर आधे घण्टे तक गरम करते हैं, फिर शीघ्रता से बरफ में रख कर उसे ठण्ढा करते हैं। इस प्रकार का बोतल का दूध सहयोग समिति की गोशालाओं से कई शहरों में प्राप्त हो जाता है।

३. विशोधित दूध—दूध को छानकर २१२° फे० के ताप पर रखते हैं। यह दूध जीवाणु रहित ( Sterlised ) हो जाता है।

४. इन विधियों के साथ मिलता-जुलता और सरल विधान दूध के विशोधन का उबालना या खौला देना है जो बड़ा ही व्यावहारिक एवं सस्ता है। यह घरों में आसानी से किया जा सकता है। यह एक घरेलू तरीका है।

यह तुलना में 'पाश्चारायज्ड' दुग्ध के समान गुण वाला और जीवाणु रहित हो जाता है। उबाले दुग्ध में अन्य जीवतिक्तियाँ नष्ट नहीं होती; केवल जीवतिक्ति 'सी' अवश्य नष्ट हो जाती है—इसकी पूर्ति फलों के रसों को देकर उन बच्चों में की जा सकती है; जो उबाले दुग्ध पर पल रहे हों।

**उबाले दूध को उसी रूप में देना**—कुछ बच्चों को जन्म से ही बिना पानी मिलाये अर्थात् बिना हल्का किये ही दुग्ध पिलाने की आदत पड़ी मिलती है, परन्तु यह अच्छी विधि नहीं जान पड़ती और विशेषतः छः मास के पहले की आयुवाले शिशुओं में। अतः दुग्ध को हल्का करके ही पिलाने का विधान अधिक समीचीन है।

**हल्का किया गाय का दूध**—दुग्ध को हल्का करने का उद्देश्य उसको आसानी से पचने योग्य, खास कर उसके चरबी और प्रोटीन को इस लायक करना ही रहता है। दुग्ध के हल्का करने के बाद उसके 'कार्बोहाइड्रेट' के मूल्य को माता दुग्ध सदृश बनाने के लिये उसमें चीनी भी पर्याप्त मात्रा में पड़नी चाहिए।

हल्का करने के लिये उबाले हुए गाय के दुग्ध में उबाला हुआ पानी मिलाना सबसे अच्छा रहता है। दुग्ध दो भाग रहे तो उसमें उबले पानी का एक भाग छोड़ कर उसमें थोड़ी चीनी मिलाकर पीने को बालक को दे। इससे अधिक हल्का नहीं करना चाहिये। इस प्रकार का दुग्ध बालक के जन्म के पन्द्रहवें दिन से देना शुरू कर देना चाहिये। पन्द्रह दिनों के पूर्व की आयु में दुग्ध में बराबर पानी मिलाकर जितना दुग्ध उतना पानी होना चाहिये फिर उसके बाद चौथे मास की आयु तक दुग्ध का दो भाग और एक भाग पानी का होना चाहिये। फिर चौथे से छठें मास की आयु में पानी की मात्रा और कम कर दे। तीन भाग दुग्ध और एक भाग पानी को मिलाकर मिश्रण तैयार करे तथा छठे महीने के बाद यदि बालक स्वस्थ है तो उसको बिना हल्का किये ही गाय का दुग्ध देना शुरू कर देना चाहिये।

इस दुग्ध में चीनी के लिये सामान्य चीनी ही लेना चाहिये 'ग्लूकोज' प्रभृति चीनियों की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है। दुग्ध के हल्का करने पर उसके चर्बी ( स्निग्ध भाग ) का परिमाण बहुत कम हो जाता है एतदर्थ थोड़ा मक्खन ( Cream ) भी मिलाया जा सकता है। दुग्ध को हल्का करने के लिये अधिकतर पानी ही ठीक पड़ता है। पानी के स्थान पर जौ का यूष ( बार्लीवाटर ) भी मिलाया जा सकता है। जब बच्चा कुछ बड़ा हो जाय और उसमें विबंध की शिकायत रहे तो जौ के यूष का मिश्रण अच्छा पड़ता है। यदि बच्चे को पतले दस्त आ रहे हों तो दुग्ध और पानी के मिश्रण में कुछ चूने का पानी भी मिलाकर पीने को दिया जा सकता है। दुग्ध का फाड़ा जल ( Whey ) के द्वारा ही समान मात्रा में गाय का दुग्ध मिलाकर दुग्ध को हल्का किया जा सकता है।

**बोतल से दूध पिलाने की आदर्श विधि**— दुग्ध यदि घर में उबालकर 'पाश्चराईज्ड' किया जा रहा हो तो दिन भर में पिलाये जाने वाले दुग्ध को एक ही साथ उबाल लेना चाहिये। फिर उसमें से एक बोतल दुग्ध को हर पोषण काल में गरम करके पिलाना चाहिये। एक बार दुग्ध पिला देने के बाद बोतल, उसकी रबर की टोंटी या टोपी को गरम पानी में उबलने को छोड़

देना चाहिये। उबल जाने के बाद उसको अँगीठी से उतार कर उसमें दुग्ध भर कर पीने को देना चाहिये।

बोतल के विशोधन अलावे रबर के छेद को भी देख लेना चाहिये। छेद बड़ा हो तो बालक शीघ्रता से दुग्ध पी लेता है साथ ही हवा भी निगल जाता है। यदि बहुत छोटा हो तो बालक पूरी तौर से पी नहीं सकता, अधूरा पीता है और दिनों-दिन दुर्बल होता जाता है। एतदर्थ छिद्र पर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

माताएँ प्रायः तकिये के सहारे बोतल को ऊँचा करके बोतल को सुलाकर उसके मुँह में बोतल को लगाकर छोड़ दिया करती हैं, परन्तु यह अच्छी आदत नहीं है—बालक को गोद में लेकर माता या धाय को स्वयं बैठकर हाथ में बोतल को पकड़ कर पिलाना चाहिये।

**शिशुओं के पेटेण्ट दूध** ( Proprietary Infant Food ) तीन वर्गों में इन दुग्धों को विभाजित किया जा सकता है।

क—सुखाया हुआ दुग्ध ( Dried milk ) या दुग्ध का चूर्ण।

ख—गाढ़ीकृत या घनीकृत दुग्ध ( Condensed milk )

ग—दुग्ध के साथ चलने वाले आहार।

घ—सुखाया दूध—सुखाये हुए दुग्ध दो प्रकार के पाये जाते हैं—

**अ**--पूरे दुग्ध को सुखाकर बनाया चूर्ण या पूरे मलाई के साथ दुग्ध सुखाकर बनाया हुआ चूर्ण ( Dried whole milk or Full cream dried milk ) बच्चों के पिलाने के लायक बनाने के लिए इस चूर्ण के १ ड्राम को एक औंस गर्म जल में घोलकर बनाना पड़ता है। इसके बने-बनाये विभिन्न निर्माताओं के डिब्बे मिलते हैं। इनमें निर्माताओं की ओर से चीनी नहीं मिलाई जाती है एतदर्थ पानी में बनाये घोल में चीनी के मिलाने की आवश्यकता रहती है। दुग्ध को मीठा करने के लिए १ चाय की चम्मच भर चीनी चार औंस दुग्ध के घोल के लिए पर्याप्त होती है। फिर बोतल में भर कर बालक को चीनी मिलाकर पीने के लिए देना होता है।

प्रथम दो तीन मासों में बालक के लिए यह दुग्ध भारी पड़ सकता है। अस्तु दुग्ध की दूसरी कल्पना करनी पड़ती है जैसा कि नीचे की कल्पना से स्पष्ट है।

**ब**—सुखाया और सुधारा दुग्ध ( Dried Modified milk ) इसी का दूसरा नाम मानवीकृत दुग्ध ( Humanised milk ) तथा आधी मलाई का दुग्ध ( Helf creamcd milk ) इसमें दुग्ध की मलाई का भाग कम करके, संस्कारों के द्वारा सुखा करके मातृ स्तन्य के समान घटकों वाला बनाया जाता है जो पचने में बहुत ही हल्का होता है। इस मानवी कृत दूध का सेवन शिशुओं में प्रथम तीन मास की आयु तक करना उत्तम होता है। इसका भी विभिन्न निर्माताओं द्वारा निर्माण होता है और डब्बे में भर कर बाजार में बिकता है।

**कुछ सूखे दूध चूर्णों के नाम और विशेषताएँ**—इस वर्ग में कई पेटेण्ट नामों से मिलने वाले दुग्ध चूर्णों का नाम दिया जा रहा है। जिनके बनाने की विधि सामान्यतया एक ही है। १ ड्राम चूर्ण को १ औंस गर्म जल में घोल कर बनाते और बोतल में भर कर पिलाते हैं। मीठा करने के लिए चीनी १ चाय के चम्मच भर ४ औंस घोल में पर्याप्त होती है।

१. Cow & Gate ( Half cream ) काऊ एण्ड गेट ( आधी मलाईदार )

२. Cow & Gate (Humanised) काऊ एण्ड गेट ( मानवी कृत )

३. Cow & Gate ( Tropical ) काऊ एण्ड गेट ( उष्ण देशीय )

४. Oster milk No 1 (Glaxo ) आस्टर मिल्क ( ग्लैक्सो आधी मलाईदार )।

५. Glaxo (Full Dried milk) ग्लैक्सो मिल्क ( शुष्क चूर्ण दुग्ध )

६. True Food ( Humanised ) ट्रू फुड ( मानवीकृत )।

७. True Food ( Halfcream ) ट्रू फुड ( आधी मलाईदार )

८. Lactogen ( लैक्टोजेन ) Nestle Ltd.

Lacidac ( लैसिडैक )—इस दुग्ध में 'लैक्टिक एसिड' डालकर अम्ल कर दिया जाता है। तीन प्रकार का बाजार में बिकता है--पूरी मलाईदार ( Full cream ), आधी मलाईदार ( Half cream ) और मलाई रहित ( Seperated ) इसमें दुग्ध का निर्माण 'काऊ एण्ड गेट' नामक फर्म करता है। कुछ विशेष अवस्थाओं में इसका प्रयोग होता है।

**एमुल सिल्क फुड**--शिशुओं के लिए यह एक उत्तम दुग्ध चूर्ण है। इसमें यथावश्यक विटामिन ए, डी, सी, बी, तथा लौह प्रभृति खनिज द्रव्य मिले रहते हैं। ( Amul Milk food for babies, Voltas )

इन दुग्ध चूर्णों के अलावे भी बहुत से दुग्ध होते हैं, विस्तार भय से जिनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। उपर्युक्त सिद्धांतों के आधार पर उनका प्रयोग करना चाहिये।

( ख ) घनीकृत या गाढ़ीकृत दुग्ध यह दो प्रकार का पाया जाता है। मीठा किया ( Sweetened ) तथा बिना मीठा किया हुआ ( Unsweetened ) मीठा घनीकृत दुग्धों में ( १ ) नेस्टल्स ( २ ) डिप्लोमा के नाम मुख्यतः उल्लेख योग्य हैं। बिना मीटा किए दुग्धों में ( १ ) 'नेस्टल्स आइडियल ब्राण्ड' ( २ ) 'लिब्बीज' तथा ( ३ ) 'कारनेशन' के नाम अधिक प्रचलित हैं।

मीठा घनीकृत दुग्ध पिलाने के लिए १ भाग दुग्ध और ८ भाग जल का घोल बनाकर पिलाना चाहिए। यह बड़ी ही अच्छी तरह पच जाने वाला हल्का दुग्ध होता है। इसका उपयोग अपक्व प्रसव के बालकों में या अत्यन्त दुर्बल और सुखण्डी से पीड़ित बालकों में करना चाहिए। यह इन शिशुओं के लिए हल्का पड़ता है। परन्तु इस दुग्ध में एक दोष यह है कि स्नेह ( चर्बी ) की मात्रा इसमें बहुत ही कम पाई जाती है जिससे लम्बे समय तक प्रयुक्त होने से जीवतिक्ति 'डी' की कमी होकर फक्क होने की सम्भावना रहती है। अस्तु इसका प्रयोग जन्म के बाद कुछ सप्ताहों तक करके

तुलना के द्वारा दीर्घता की वृद्धि का ज्ञान किया जा सकता है। वृद्धि का वेग ( Spurts of growth ) लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में पहले पाया जाता है। परिणामस्वरूप लड़कियाँ लड़कों से १½ वर्ष पूर्व पूर्णता को प्राप्त कर लेती हैं और अन्तिम ऊँचाई लड़कों से ६ इंच कम होती है। बालक की दीर्घता के ऊपर कई बातों का प्रभाव पड़ता है; फिर भी कुल वंश का प्रभाव सबसे अधिक होता है। पोषण या भोजन का प्रभाव कहाँ तक रहता है यह कहना कठिन है; फिर भी हीन पोषण यदि बहुत गम्भीर स्वरूप का हुआ तो वृद्धि कम हो जाती है। उपवास से भी वृद्धि में बाधा होती है। दीर्घता के ऊपर रोगों का भी प्रभाव पड़ता है। कई प्रकार के उपसर्गज व्याधियों में विशेषतः विषम ज्वर आदि में लम्बाई में कमी पड़ती है।

पोषणों का दीर्घता के ऊपर प्रभाव पड़ने के सम्बन्ध में एक और विचित्रता देखने को मिली है। विशुद्ध जापानी-दम्पति से पैदा हुए बालकों का जन्म और पालन अमेरिका में होने पर वे जापान में रहने वाले अपने सम-सामयिक बच्चों से अधिक लम्बे होते देखे गये हैं।

वृद्धि कर हार्मोन्स का निःस्यंद ( Growth Hormones )— में जो 'पिच्युटरी' के पूर्व खण्ड से स्रवित होता है। बालकों के बढ़ाव पर अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। यह निःस्यंद भोजन के 'प्रोटीन' 'कार्बोहाइड्रेट' एवं मेद के पाचन ( Metabolism ) पर अपना प्रभाव दिखलाते हुए शरीर की वृद्धि में सहायक होता है; साथ ही अन्य निःस्यंदों का सन्तुलन भी नहीं बिगाड़ता है। वृद्धि के लिये भी दिये जाने वाले निःस्यंद में इसका प्रभाव उत्तम रहता है। मानवीय निःस्यंद ही मनुष्य में लाभप्रद रहता है।

भार ( Weight )—जीवन के प्रथम सप्ताह में शिशु का ५–६ औंस वजन औसतन प्रति सप्ताह बढ़ता है। इस प्रकार भार की वृद्धि होने से चार मास की आयु में वह अपने जन्मकालीन भार का दुगुना हो जाता है। एक वर्ष की आयु में उसका भार २१ पाउण्ड, २ वर्ष की आयु में २८ पाउण्ड, ३ वर्ष की आयु में ३३ पाउण्ड हो जाता है। तीन से सात वर्ष की आयु में वह

प्रति वर्ष ४ पाउण्ड प्राप्त करता है। ८ से १२ वर्ष की आयु तक वह ६ पाउण्ड प्रति वर्ष के हिसाब से भार की प्राप्ति करता है। यह एक औसत परिमाण है, इससे थोड़ा कम होना किसी प्रकार के विकार का सूचक नहीं है। अस्तु अभिभावक को कुछ कम भारवृद्धि होने पर चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं रहती है।

**सिर की परिधि** ( Circumference of the head )—आयु के प्रथम वर्ष में सिर की परिधि की सबसे अधिक वृद्धि होती है। जन्म के समय जो घेरा १३ इञ्च का होता है। वह बढ़कर बारह मास में १८ इञ्च हो जाता है। बारह वर्ष की आयु में वह २१ इञ्च हो जाता है। फलतः ११ वर्षों में वह कुल ३ ही इञ्च बढ़ता है और प्रथम वर्ष में वह एक ही वर्ष की अवधि में ५ इञ्च बढ़ता है।

**पूर्णता** ( Maturity )—एक बालक की पूर्णता का मूल्यांकन तीन बातों पर आश्रित होता है। अस्थि पंजरों की स्थिति, मन एवं बुद्धि की स्थिति तथा दन्तों की पूर्णता की स्थिति।

**अस्थि पंजरों की पूर्णता**—अस्थि पंजर पूर्णता (Skeletal maturity) या अस्थि की आयु ( Bone age ) का मूल्यांकन अस्थियों के 'इपिफिसेज' के सम्मिलन ( Fusion of Epiphyses ) की स्थिति के आधार पर करना होता है। मणिबन्ध ( Wrist ), हाथ तथा केहुनी ( Elbow ) की तुलना के ज्ञात मापदण्ड ( Known standard ) के आधार पर करके अस्थियों की पक्वता का निर्धारण किया जाता है।

**लिंग की पूर्णता** ( Sexual Maturity )—इसका निर्णय युवावस्था में होने वाले जननांगों के परवर्ती परिवर्तनों से किया जाता है। पुरुषों में मुख, कक्षा ( Axilla ), भगसन्धानिका ( Pubis ) पर केशों के आविर्भाव से स्वरयन्त्र गत परिवर्तन से जिससे स्वर या आवाज में परिवर्त्तन पाये जाते हैं, शिश्न तथा वृषणों के विकास से पूर्णता ( यौवन ) का ज्ञान किया जाता है। स्त्रियों में कक्षा तथा जघन सन्धानिका के केशों की उपस्थिति, स्तनों के

**नवें से बारहवें मास तक का आहार**—बालक के आहार में दूध के पिलाने के अतिरिक्त हल्के अन्न, फल, शाक भाजी, मांस-रस और अण्डे आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। समय-समय के चार-चार घण्टे के अन्तर से उसके आहार काल की व्यवस्था करनी चाहिए।

**एक वर्ष के बाद की आयु का आहार**—यदि बालक स्तन का दूध पीता हो तो १ वर्ष के बाद धीरे-धीरे छुड़ा देना चाहिए। यदि बोतल से पीने का अभ्यासी हो तो उसे चम्मच या कटोरी से पिलाना चाहिए। जर्सी दूध ( Jerccy milk ) बहुत स्निग्ध पड़ता है। कुछ बच्चों में बड़ा लाभप्रद होता है। इस उमर में दिया जा सकता है। भोजन के समय में अब बालक को रोटी, दाल, शाक, मछली आदि का भी सेवन कराना शुरू करा देना चाहिए। हलुवा खीर, मुरब्बा, पके फल, सूखे फल प्रभृति आहारों को भी देना प्रारम्भ करना चाहिए।

—:०:—

हो अथवा दुग्ध फ

अथवा अधिक उष्णता उ

में मिलाकर पिलाने में करना चाहि

परन्तु 'स्टार्च' की अधिक होती है। कई प्र

हैं। जैसे—( १ ) बेंगर्स फूड, ( २ ) मेलिन्स फूड

का फूड, ( ४ ) एलेनवरी नं० ३, ( ५ ) फैरेक्स (

मिल्क फूड आदि।

**अभाव क्षीर**—माता के दुग्ध के अभाव में किसी दूसरी

या गाय का दुग्ध दिया जा सकता है। यह न मिले तो गाय का दूध

जा सकता है। अगर गाय का दुग्ध न मिले या बालक को बर्दाश्त न हो तो गाय के दुग्ध से मिलता-जुलता दुग्ध बकरी का होता है। वह दिया जा सकता है। इसको गाय के दुग्ध की भाँति ही पानी मिलाकर हल्का करके देना

# अध्याय ७

## बालकों के पचन-सम्बन्धी विकार

बालकों में पचन-सम्बन्धी विकारों की सफलतापूर्वक चिकित्सा करने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसके आहार-विहार का पूर्ण वृत्त लिया जाय। केवल मात्र अन्तिम भोजन जिसके कारण अजीर्ण हुआ हो उसी के ज्ञान से कारण की पूरी जानकारी सम्भव नहीं है। अस्तु इतिहास में विस्तार के साथ इन बातों की जानकारी हासिल करनी चाहिए। ( १ ) दिन में कितनी बार भोजन या पेय दिया जाता है ? ( २ ) उसकी मात्रा और शक्ति कितनी रहती है ? ( ३ ) भोजन या पेय कितने समय में लेता है ? ( ४ ) उसमें चीनी, घी या यकृत वसा तो नहीं मिलाई जाती है ? ( ५ ) दस्त दिन में कितनी बार होते हैं, मल का रंग कैसा रहता है ? वह ठोस, द्रव, अर्द्ध द्रव या चिकना, रूखा कैसा रहता है ? इन बातों की जानकारी बिना किये व्याधि का उत्पादक कारण अज्ञात ही रह जाता है। इस उमर में बहुत से पचन-सम्बन्धी रोग, अभोजन या अति भोजन के कारण अथवा भोजन में प्रोटीन, मेद या चीनी के विषय अनुपात में पड़े रहने के कारण पैदा होते हैं।

## अल्प पोषण या हीन भोजन

शिशुओं में पचन-सम्बन्धी दोष अधिकतर हीन भोजन के कारण पाये जाते हैं। स्तन-पायी शिशुओं में यह दोष यदि धात्री या माता में कम दूध से पैदा होता हो तो बच्चों की भोजन पूर्ति उस दूध से नहीं हो पाती इसलिए ऐसे बच्चों में उनके पोषण के लिए प्रत्येक स्तनपान के अनन्तर शीशी से दुग्ध पिलाने की व्यवस्था करनी चाहिए। अथवा कई बार एक दो स्तन पान काल के स्थान पर शीशी से दुग्ध देने का प्रबन्ध रखना चाहिए। उन बच्चों में जो प्रारम्भ से ही शीशी के जरिए दूध पीने के अभ्यासी हैं,

उनके पूर्ण पोषण का ध्यान रखते हुए प्रथम तीन मास की आयु तक प्रति तीन घण्टे पर अर्थात् दिन में ६ बार शीशी का दुग्ध देना चाहिए। इससे हीन पोषण का भय नहीं उत्पन्न होता अन्यथा अधिक-अधिक अन्तर से दुग्ध पिलाने पर हीन पोषण की सम्भावना रहती है। कई बार बोतल के दोष जैसे रबर के टीट के ठीक छिद्रित न होने से भी पूरी मात्रा में दुग्ध बच्चे को नहीं मिल पाता। कई बार पेय की मात्रा अल्प होने से भी हीन भोजन का दोष आ सकता है जैसे दुग्ध और जल के मिश्रण में दुग्ध की मात्रा अल्प और जल की प्रचुरता अथवा सूखे या जमाये दुग्ध के बनाये हुए चूर्ण की मात्रा की अल्पता।

**लक्षण**--बच्चा बेचैन रहता है, प्रति भोजन के बाद रोता है, आधे या एक घण्टे तक सोकर जागता और रोना शुरू करता है जब तक कि उसे दूसरा भोजन न दिया जाय शान्त नहीं होता। उसका शरीर मंद गति से बढ़ता है, या एक समान ही बना रहता है, अथवा दिनों-दिन पतला होता चलता है। वमन नहीं होता, परन्तु पोषण के साथ हवा निगल गया हो तो डकारें आती हैं और पोषण के तत्काल बाद उन डकारों के साथ कुछ दूध उलट कर मुख से बाहर आ जाता है। विबन्ध या टट्टी का न होना एक प्रमुख लक्षण पाया जाता है। जिससे उसे दो या तीन दिनों के अन्तर से पाखाना हुआ करता है। कई बार या थोड़ी मात्रा में तीन या चार हरे दस्त हो जाते हैं। जिसे भूख का पाखाना ( Hunger stool ) कहते हैं।

**चिकित्सा**--कारणानुरूप करे। यदि आयु के अनुसार दुग्ध और पानी का मिश्रण ठीक अनुपात में नहीं दिया जा रहा हो, अर्थात् एक मास की आयु के पश्चात् दो भाग गाय का दूध और एक भाग जल, अथवा बच्चे के लिये अनुकूल पड़ रहा हो तो उसे सूखे दूध पर एक ड्राम सूखा दूध ( Dried milk ) और एक औंस जल मिलाकर इस अनुपात से बनाये मिश्रण पर रख देना चाहिये। यदि यह भी स्वादिष्ट प्रतीत न हो तो गाढ़े दूध ( Condensed milk ) पर अर्थात् दूध एक भाग और तीन भाग जल मिलाकर

घोलकर रखना चाहिये। उसके चौबीस घण्टे की पूरी द्रव की मात्रा अर्थात् प्रति आधा सेर शरीर-भार के ऊपर ढाई औंस द्रव के विचार से निर्धारित कर देनी चाहिये। पिलाने के वारों की संख्या भी बढ़ा देनी चाहिये और कोई दूसरा भी पोषण सम्बन्धो दोष प्रतीत हो तो उसे स्वयं निरीक्षण करके सुधार देना आवश्यक होता है।

जब पोषण की मात्रा ठीक-ठीक निर्धारित हो जाय तो उसे 'क्लोरल' ½ ग्रेन ( Chloral ½ grain ) की मात्रा दिन में दो बार या तीन बार पोषण के पूर्व १ चाय चम्मच भर पानी में घोलणर पिला देना चाहिये। बच्चों के रोने और चिल्लाने की आदत जाती रहती है। इस ओषधि का प्रयोग कुछ एक या दो सप्ताह के लिए करना चाहिये।

## अति भोजन या अति पोषण

धनी मातायें लाड़-चाव से शिशु का पोषण करती हुई उसके भार में शीघ्रता से वृद्धि कराने के विचार से अति भोजन की व्यवस्था करती हैं जिससे बच्चे में पचन-सम्बन्धी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। स्तनपायी बच्चों में तो अति पोषण की सम्भावना कम रहती है; परन्तु गाय के दूध के मिश्रण, या गाढ़े या सुखाये चूर्ण के घोल से बने कृत्रिम दूध को अधिक गाढ़ा और मीठा करके पिलाने से या थोड़े-थोड़े अन्तर से अधिक बार पिलाने से या घी आदि की घूँटी जैसे चरबीयुक्त द्रव्यों के प्रयोग से बच्चों में अति-भोजन जन्य स्थूलता आती है।

**लक्षण**—बच्चे शीघ्रता से मोटे हो जाते और उनके शरीर का भार बढ़ जाता है। प्रत्येक पान के अनन्तर उनमें वमन हो जाता और कुछ दूध गिर जाता है; परन्तु यह एक ऐसी आम घटना है कि माता का ध्यान इस लक्षण की ओर विशेष रूप से आकृष्ट नहीं होता। मल का रंग स्वाभाविक रहता है—परन्तु उसकी संख्या और मात्रा अधिक हो जाती है। आगे चलकर वमन का लक्षण अधिकाधिक बढ़ता चलता है। यहाँ तक कि पिये दूध की अधिक से अधिक मात्रा वमन से निकलने लगती है। दस्तों की संख्या बढ़ जाती हैं, वे बदबूदार और पीलाथक्केदार ( Yellow curd )

हो जाते हैं आंत्र में वायु पैदा होने से पेट में आध्मान, उदरशूल होने लगता है जिससे बच्चा चीखता और रोता है, अपने घुटनों को बार-बार खींचकर पेट पर ले आता है और अधिक वायु पेट से निकलती है। बच्चे का भार और मोटा होना जो बढ़ रहा था, अब अचानक रुक जाता है या उल्टे कम होने लगता है और वह दुबला हो जाता है।

**चिकित्सा**—पोषण की मात्रा को कम करने के साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि बच्चे की पचन-क्रिया में भी सुधार हो। बच्चे के पेट की शुद्धि के लिए एरण्ड तैल पीने के लिए देना चाहिये। पेयों में अर्थात् पीने वाली चीजों को गाढ़ापन कम कर देना चाहिये जैसे गाय के दूध और पानी की शक्ति आधा गाय का दूध और आधा जल कर देना चाहिये। अथवा इसके स्थान पर मानवी कृत दूध ( Humanised milk ) के चूर्ण पर ( १ ड्राम में डेढ़ औंस पानी में बनाकर ) बच्चे को एक या दो सप्ताह रख देना चाहिये। घोल या पेय का परिमाण कम होने से बच्चा सन्तुष्ट नहीं हो पाता और यह अधिक क्षुब्ध हो जाता है और रोने लगता है। यदि बच्चा इस भोजन-गत परिवर्तन के कारण रोता अधिक हो, तो उसे 'क्लोरल हाइड्रेट' की अल्पमात्रा ( १/२ ग्रेन ) एक सप्ताह तक भोजन के पूर्व दे दिया करे। जैसा कि हीन-भोजन जन्य क्षुब्धता में बतलाया गया है।

## 'प्रोटीन जन्य अजीर्ण'

'प्रोटीन' के अधिक सेवन से उत्पन्न अजीर्णों का आज के युग में पहले जैसा महत्व नहीं रहा। जब से दूध के चूर्णों का प्रयोग अधिक होने लगा है यह बहुत कम हो गया है क्योंकि इन दूधों के प्रोटीन 'केसीन' इतने सुपाच्य बना दिये जाते हैं कि उनसे अजीर्ण की सम्भावना कम रहती है। फिर भी जिन क्षेत्रों में प्राकृतिक गाय के दूध पर बच्चों को रखा जाता है इस प्रकार के प्रोटीन जन्य अजीर्ण अति पोषण से उत्पन्न हो सकते हैं।

**लक्षण**—गाय के दूध पर पलने वाले शिशुओं में इस प्रकार का अजीर्ण प्रायः मिलता है। गाय के दूध में पाये जाने वाले 'केसीन' नामक प्रोटीन की मात्रा अनुचित परिमाण की होने से उस दूध से अजीर्ण होता है और प्रोटीन कड़े दधि के रूप में परिणत हो जाता है जो वहाँ पर अधिक समय तक पड़ा रहता है जिससे वहाँ पर आमाशय का शोथ पैदा हो जाता है। इसके कारण सबसे प्रमुख लक्षण वमन का होना मिलता है, यह वमन कफ मिश्रित होता है साथ ही उदरशूल और शिशुओं का क्रंदन भी पाया जाता है। विबंध अर्थात् पेट का साफ न होना भी पाया जाता है। पाखाना प्रतिक्रिया में क्षारीय होता है। बच्चा दिन-प्रतिदिन दुर्बल होता चलता है।

**चिकित्सा**—दूध के 'प्रोटीन' भाग को हल्का करने के लिये उसमें प्रचुर मात्रा में जल मिलाकर पीने को देना चाहिए या उसके स्थान पर दूध के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। आमाशय शोथ की चिकित्सा के लिये सर्वप्रथम वमन के लक्षणों को शान्त करने के लिए आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिये। बड़ों की अपेक्षा छोटे बच्चों में यह क्रिया बड़ी आसानी से की जा सकती है। इसके लिये एक फीट लम्बी मृदु रबर की नलिका होती है जिसे अन्न-नलिका में डालना होता है। नलिका के अन्त में एक छिद्र होता है और नलिका ऊपर की ओर एक शीशे के चोंगे से जुड़ी रहती है। चोंगे से सर्जिक क्षार ( Soda Bicarb ) घोल बनाकर भर दिया जाता है। पुनः चोंगे को उलट देने से आमाशय में गया हुआ पानी निकल आता है। एक दो बार ऐसा करते हुए आमाशय का प्रक्षालन संभव रहता है। आमाशय के प्रक्षालन का कार्य चिकित्सा प्रारम्भ करते समय प्रारम्भिक दो दिनों तक लगातार दिन में एक बार कर देना चाहिये।

तदनन्तर प्रोटीनों के पाचन के लिए औषधियों की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके लिए कई उपाय प्रचलित हैं—जैसे ( १ ) निम्बुकीकरण ( Citration ) १½ औंस दूध में १½ ग्रेन की मात्रा में 'सोडियम साइट्रेड' मिलाकर पीने को देना चाहिए। ( २ ) अम्लीकरण ( Acidification ) दूध को सुपाच्य बनाने के लिए कुछ अम्ल मिलाकर बच्चे को पीने के लिए देना चाहिए। जैसे १

पिण्ट ताजे दूध को उबाले जब ठण्ढा हो जाय तो उसमें दुग्धाम्ल ( Lactic acid 75% ) का ४५ बूँद, बूँद-बूँद करके छोड़े और दूध को खूब हिला दे। फिर बोतल में भरने के पूर्व उसको गर्म करे और मीठा कर ले। बाजार में मिलने वाला "काऊ एण्ड गेट मिल्क फूड" अम्लीकृत होता है। यह तीन प्रकार का होता है। पूर्ण मक्खन युक्त, आधा मक्खन युक्त और मक्खन रहित। जैसा उचित प्रतीत हो प्रयोग में लाया जा सकता है दुग्धाम्ल के स्थान पर हल्का लवणाम्ल ( Dilute Hcl ) भी उसी विधि से मिलाया जा सकता है। (३) पेप्टोनाइज्ड दूध ( Peptonizedmilk ) पानी में मिले १ पिंट गाय के दूध में "पेप्टोनाइजिंग" टेबलेट ( पी० डी० को० ) एक गोली छोड़कर गर्म जल से भरे बर्तन में दूध के बर्तन को बीच में चालीस मिनट तक स्थित रखे, फिर गर्म करके पिलाये। 'काउ एण्डगेट' कम्पनी का बनाया 'पेप्टौलैक' Peptolac ) नामक दूध भी बाजारों में मिलता है। इसका व्यवहार इस निमित्त कर सकते हैं। दूध अधिक पचने योग्य बनाने के लिए फाड़े हुए दूध का पानी जिसको अंग्रेजी में 'ह्वे' ( Whey ) कहते हैं। पीने के लिये दिया जा सकता है, इसके बनाने की पद्धति यह है। एक पिण्ट दूध में एक चाय का चम्मच भरकर रेनेट ( Rennet ) डाले दूध को कुछ गरम करे उसके ऊपर दधि की एक परत छा जायगी उसको फाड़कर अलग करे और पानी का भार ठण्डे सुरक्षित स्थान पर रखे। जब पिलाने की आवश्यकता हो गरम करके पिलावे। इस विधि से प्रोटीन और फैट का बहुत कुछ हिस्सा निकल जाता है। इस जल में जल के अलावे लैक्टाल्बुमिन ( Lactalbumin ) दुग्धोज ( Lactose ) और खनिज लवण तथा एक तिहाई चर्बी का अंश रहता है, परन्तु पोषण की दृष्टि से इस जल का मूल्य बहुत ही कम होता है। स्वतन्त्रतया इसीलिये इसका अकेले प्रयोग एक सप्ताह से अधिक नहीं करना चाहिये। बाद में उसमें मूर, मेलिन या बेंगर का भोजन ( Moor's of Mellin's or Benger's food ) मिला कर जल को गाढ़ा कर देना चाहिए। बच्चे की दशा सुधर जाने पर क्रमशः इस जल के स्थान पर पुनः प्राकृतिक दूध और जल का मिश्रण देना चाहिये।

# स्नेह या मेद का अजीर्ण

## ( Fat-indigestion )

**लक्षण**—बच्चे के पाखाने के ज्ञान से उसके भोजनगत मेद के अपचन का ज्ञान होता है। प्रारम्भ में मेद का त्याग पाखाने द्वारा साबुन के रूप में होता है। पाखाने की मात्रा अधिक होती है—रंग में श्वेत और इतना कड़ा होता है कि बच्चे को मलत्याग करने में भी कठिनाई होती है। मूत्र में 'एमोनियम' की तीव्र गन्ध होती है। नितम्ब लाल और व्रण युक्त हो जाते हैं। आगे चलकर स्वतन्त्रतया वसाम्ल पाखाने से निकलने लगता है। पाखाना पतला हो जाता है; खट्टा और बदबूदार हो जाता है। और बच्चे को पेट में दर्द का होना और उसका रोना शुरू हो जाता है। बच्चे का पोषण ठीक न होने से दुर्बलता आ जाती है।

**चिकित्सा**—उसके पेय दूध से चर्बी की मात्रा कम करनी चाहिए। दूध यदि पूर्ण मलाईदार हो तो आधी मलाई वाला कर देना चाहिये, यदि गाय का दूध देना हो तो उसको भी उबालने के बाद साढ़ी को अलग करके देना चाहिये अर्थात् स्नेहांश को अलग करना चाहिये। आमतौर से इन्हीं विधियों से बच्चे का अजीर्ण ठीक हो जाता है। यदि लक्षण अजीर्ण के बड़े तीव्र स्वरूप के हो तो उसको पूणतया मलाई निकाले सूखे दूध के चूर्ण के आहार पर ( Skimmed dried milk ) एक दो सप्ताह तक रख देना चाहिये। यदि ऐसे आहार पर रखने पर विटामिन 'डी' की कमी प्रतीत हो तो 'एडेक्सोलीन' ( Adexoline ) कुछ बूँद की मात्रा में दे देना चाहिए।

मक्खन निकले दूध में भी, जो मक्खन के निकाल लेने के बाद शेष रह जाता है मेद की मात्रा १ प्रतिशत से अधिक नहीं रहती। इस दूध का भी मेद के अजीर्ण से पीड़ित बच्चों में प्रयोग किया जाता है। यदि नितम्ब पर व्रण हो या खुजली प्रतीत हो तो उसमें 'जिंक आक्साइड' और एरण्ड तैल बराबर मात्रा में मिलाकर लेप करना चाहिए।

## 'कार्बोहाइड्रेट' का अजीर्ण

उन बच्चों में जिनमें दूध के अलावे जौ का यूष या भोजन के रूप में श्वेतसार युक्त ( Starchy ) वस्तुयें दी जाती हैं इस प्रकार का अजीर्ण पाया जाता है। जिन बच्चों में दूध को मीठा करने के लिए चीनी दी जाती है। उनमें भी इस तरह के अजीर्ण की सम्भावना रहती है। इस प्रकार के आहार से बच्चे फूल जाते हैं और अधिक मोटे दीखते हैं; परन्तु जब उनमें अजीर्ण होता है, तो अतिसार होने लगता है अर्थात् पतले दस्त होने लगते हैं। पतले दस्तों का आना इस प्रकार के अजीर्णों में एक प्रमुख लक्षण है। इससे बच्चे बहुत जल्दी कुम्हला जाते हैं और सूख जाते हैं।

**लक्षण**—उदर का आध्मान, पेट में वायु का भरना एवं गुड़गुड़ाहट सामान्यतया ये लक्षण मिलते हैं। यदि अधिक दिनों तक इस प्रकार का अजीर्ण चलता रहा तो उदर की पेशियाँ शिथिल और आपस में पृथक् हो जाती हैं। जिससे जब बच्चा बैठने की कोशिश करता है तो उसमें एक निकला हुआ सा भाग दिखलाई पड़ता है। उदरशूल के दौरे होते रहते हैं जिससे बच्चा रोता और बेचैन रहता है। अपने पैरों को बारम्बार ऊपर की ओर उदर की तरफ खींचता है और वायु निकलती है। पाखाने पतले और हरे रंग के होने लगते हैं जो प्रतिक्रिया में अम्ल होते हैं; परन्तु उनमें मेद के अजीर्ण सदृश बदबू अधिक नहीं होती है। एक दो दिनों में नितम्ब पर व्रण भी बन जाते हैं। नितम्ब लाल और शोथयुक्त हो जाता है। वमन प्रारम्भ में नहीं होता परन्तु बाद में चलकर जब पचन पूर्णतया विकृत हो जाता है तो वमन होने लगता है। बच्चे का भार बढ़ना रुक जाता है और वह कृश हो जाता है।

**चिकित्सा**—भोजन में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा कम कर देनी चाहिए और स्टार्च से युक्त भोजन को रोक देना चाहिये। दूध और जल का मिश्रण सामान्यतया उत्तम और सन्तोषजनक पथ्य है। इस मिश्रण को मीठा करने के लिए उत्तम चीनी ( Dextri-Maltose ) या ( Daltose ) नाम से आती है, देना चाहिए।

प्रोटीन मिल्क ( Protein Milk ) जो बाजार में 'प्रौलैक' ( Prolac, Cow and Gate ) नाम से आता है इसका प्रयोग पीने के लिए किया जा सकता है। ओषधि के रूप में क्लोरल ½ से १ ग्रेन तथा कैस्टर आयल ३ से ५ बूँद की मात्रा में मिश्रित करके दिन में तीन बार देना प्रारम्भ में लाभप्रद होता है।

## वमन

कै होने की तकलीफ लेकर कोई बच्चा आवे तो सर्वप्रथम यह विचारना चाहिए कि यह किसी अजीर्ण के कारण है या केवल उल्टी ( regurgitation ) है। तदनन्तर दूसरा विचार यह करना चाहिए कि वह वमन पचन संस्थान के कारण है या किसी अन्य संस्थान के तीव्र उपसर्ग के परिणाम स्वरूप है जैसा कि फुफ्फुसशोथ, मध्यकर्णशोथ वृक्कशोथ आदि में पाया जाता है। तीसरा विचार दन्तोद्भव का करना चाहिए। दाँतों के निकलने में प्रायः कई दिनों तक लगातार वमन बच्चों में होता है। जब तक कि निकलने वाले दाँत मसूढ़े को फाड़कर बाहर नहीं आ जाते हैं तब तक चलता रहता है। मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर ( Meningitis ), जल शीर्ष ( Hydrocephalus ) तथा शिरोकपालगत अर्बुद भी वमन के कारण हो सकते हैं। सामान्यतया यदि वमन पचन-संस्थान के दोष से हो रहा हो तो उसके साथ अजीर्ण के कुछ चिह्न पतले दस्त आदि भी होते हैं। परन्तु विबन्ध के साथ यदि वमन मिले तो विशेष विचार की आवश्यकता होती है। कई बार वमन जन्म के दिन से ही प्रारम्भ होता है और लगातार चलता रहता है। ऐसी अवस्था में कोई जन्मजात अन्ननलिका का अवरोध हेतु हो सकता है।

इसके अलावे वमन के दो विशेष प्रकार और भी होते हैं जिनका संक्षेप में नीचे वर्णन दिया जाता है। ( १ ) वायु भक्षण जन्य वमन ( २ ) उद्गिरण और चूषण !

**वायुभक्षण** ( Areophagy )—इसमें बच्चे अपने पेय द्रव्यों के साथ वायु का भी पान कर जाते हैं जिससे एक बड़ी डकार आती है और पिये

हुए दूध का बहुत अधिक भाग निकल जाता है। कुछ मात्रा में हवा का पी जाना स्वाभाविक है, परन्तु अधिक मात्रा में हवा का निगलना पिलाने के दोष के कारण से हो सकता है जैसे बोतल में किये हुए छिद्र का बहुत छोटा होना या लम्बे-लम्बे अन्तर से दूध का पिलाया जाना। कई बार खिलौने या अँगूठे को यदि बच्चे देर तक पीते हैं तो उससे भी हवा निगलने की उनमें आदत पड़ जाती है। यदि अधिक दिनों तक ऐसी आदत रही तो बड़े आनन्द के साथ बड़ी-बड़ी मात्रा में हवा को निगल जाया करते हैं। उसके बाद उनको शब्द के साथ बड़ी डकारें आती हैं और आमाशय का दूध वमन के द्वारा बाहर निकल आता है। बच्चे की भार-वृद्धि रुक जाती है और पोषण के अभाव में वे कृश हो जाते हैं। इसी भाव का द्योतन काश्यप संहिता के निम्नलिखित श्लोक में पाया जाता है।

**अनिमित्तं अभीक्ष्णश्च, यस्योद्गारः प्रवर्त्तति।**
**निद्रा जृम्भा परीतस्य, छर्दिस्तस्योपचायते ॥**

अर्थात् बिना कारण, निरन्तर डकारें बालक में आने लगे साथ ही नींद एवं जम्भाई आवे तो समझना चाहिए कि उसे वमन (कै) होगा।

**चिकित्सा**—दूध पिलाने की कला में सुधार करना चाहिए। बैठा कर दूध पिलाने से भी हवा के निगलने की आदत कम हो जाती है, कई बार पिलाने के पूर्व उबाला हुआ जल पिलाने से वेग से पीने की आदत उनकी छूट जाती है जिससे हवा के निगलने की सम्भावना कम हो जाती है। यदि ये उपाय सफल नहीं हुए तो पेय को गाढ़ा करके पिलावे। गाढ़ा करने के लिए उनके पेय में आधे चम्मच से एक चम्मच 'बेंगर का भोजन' ( Benger's food ) मिला देना चाहिए।

संशमन और वातानुलोमन के लिए निम्नलिखित मिश्रण भोजन के बाद देना चाहिए :—

| | |
|---|---|
| क्लोरल | $\frac{1}{2}$ ग्रेन |
| ऐरोमेटिक स्पिरिट आफ अमोनिया | २$\frac{1}{2}$ बूँद |

ग्लीसरीन ५ बूँद
पिपरमिण्ट जल १ चम्मच

'लार्जेक्टिल', 'ऐवोमिन', 'सिक्लिल' का प्रयोग भी बड़ों की मात्रा की चौथाई मात्रा में लाभप्रद रहता है।

## उद्‌गिरण तथा निगरण
## ( **Rumination** )

शिशुओं में पाई जाने वाली एक विचित्र आदत है जो अधिक दिनों तक रह कर एक रोग का रूप ले लेती है। इसमें पिलाने के बाद आमाशय में गया हुआ दूध उलट कर मुख में आ जाता है फिर वहाँ पर बच्चा उसका स्वाद लेता, चूसता और पुनः निगल जाता है। यह अधिकतर बोतल से पीने वाले बच्चों में पाया जाता है और चार मास को आयु के पश्चात् ऐसी आदत उनमें उत्पन्न होती है। उसके पूर्व बच्चा साधारण रूप से ही दूध पीता और निगलता रहता है।

इस अवस्था में बच्चे की भूख प्राकृत रहती है। दुग्ध के पी लेने के पश्चात् कुछ ही मिनटों के बाद वह शरीर को मोड़कर इस प्रकार की चेष्टा करता है, जिससे दूध उलट कर मुख में आ जाय और पुनः मुख में आने के बाद वह उसको आनन्द पूर्वक चूसना शुरू करता है। हर उल्टी के साथ कुछ न कुछ दूध मुख के बाहर आ जाता है। कई बार इस प्रकार की उल्टी आती रहती है जब तक कि सम्पूर्ण या अधिकांश दुग्ध उलट कर बाहर न आ जाय। आगे चलकर बच्चे में पोषण की कमी पैदा होती है, जिससे वह कृश होता चलता है। अन्त में सूखता हुआ काल-कवलित हो जाता है।

इसमें वमन वेग के साथ नहीं होता है। जिससे धात्री या माता को रोग का ज्ञान नहीं हो पाता किन्तु बच्चे के कपड़े भींगे मिलते हैं। इस आदत की ठीक-ठीक निगरानी के लिए बच्चे को आगे की ओर से न देखकर पीछे की ओर से निरीक्षण करना चाहिए। दुग्ध पीने के अनन्तर उसके शरीर की गति, मुख में दुग्ध की उपस्थिति, उस दुग्ध को चूसना और निगलना, इससे रोग का निश्चय हो जाता है।

**चिकित्सा**—बच्चे के इस अभ्यास को क्रमशः दूर करना। सुशिक्षित धात्री के द्वारा यह कार्य सम्भव है। बच्चे के पेय को आरारूट जैसी चीजें मिलाकर गाढ़ा कर देना चाहिये जिससे उसका उलटना सम्भव न हो सके। इस आदत की वजह से बच्चों में निद्रा भी कम आती है इसलिए पिलाने के अनन्तर संशामक औषधि जैसे 'क्लोरल' १ ग्रेन की मात्रा में दे देना चाहिए। बच्चे की निगरानी लगातार एक मास तक करते रहना चाहिए जब तक कि उसकी यह बुरी आदत पूरी तौर से न छूट जाय।

**आयुर्वेदीय उपचार**—बच्चे में किसी प्रकार का अजीर्ण क्यों न हो सर्व-प्रथम उसके दूध के पिलाने की विधि के ऊपर ध्यान देना चाहिये। बच्चा केवल क्षीर पायी ( दूध पर पलनेवाला ) है या क्षीर-अन्नाद ( दूध और अन्न ) या केवल अन्न पर पलने वाला है। यदि वह केवल दूध पर पलने वाला है तो यह विचार करें कि वह स्वतन्त्र वृत्ति का है अर्थात् बोतल का दूध पीनेवाले या गाय के दूध पर पलनेवाला है अथवा परतन्त्र वृत्ति का है; अर्थात् माता के दूध पर पलनेवाला है।

यदि उसकी वृत्ति परतन्त्र है तो बालक को स्वतन्त्रतया मुख से किसी दवा के खिलाने की आवश्यकता नहीं रहती केवल माता या धात्री की चिकित्सा करने से ही बालक ठीक हो जाता है। माता के भोजन में अगर गरिष्ट आहार ( जैसे घृत का अधिक सेवन, पूड़ी का अधिक खाना, चने का सेवन, चने का शाक आदि का ) के सेवन का इतिहास मिले तो इस आहार को बन्द करा देना चाहिये। माता को खाने के साथ कोई पाचन योग जैसे हिंग्वष्टक चूर्ण, भास्कर लवण, अजीर्ण कंटक, रामबाण या संजीवनी का प्रयोग करना चाहिये। माता के अजीर्ण के ठीक होने से बालक का अजीर्ण भी ठीक हो जाता है। माता को हलका सुपाच्य भोजन जैसे चावल, दाल, खिचड़ी आदि देना चाहिये। भारी भोजन, शाक, तरकारी का सेवन कुछ दिनों तक बन्द करा देना चाहिए। इन उपचारों से माता के दूध का शोधन हो जाता है; तज्जन्य अजीर्ण भी जाता रहता है। यदि ऐसे बालक में विबंध (कोष्ठबद्धता) मिले तो माता को किसी रेचक औषधि का प्रयोग करना चाहिए जैसे—षट्-

सकार चूर्ण ( हरड, सनाय, सौंफ, सोंठ, सेंधानमक और कालानमक को समान मात्रा में लेकर बनाया चूर्ण ) ६ ग्राम की मात्रा में। इसी से बच्चे के दस्त भी साफ हो जाते हैं। कषायों में स्तन्य शोधन में प्रशस्त कषायों को माता को पीने के लिए देना चाहिये। अमृता, सप्तपर्ण कषाय, शुण्ठी किराततिक्त ( चिरायता ) आदि।

यदि बालक स्वतन्त्र वृत्ति पर पल रहा हो तो उसके दूध के ऊपर ध्यान देना चाहिए। यदि दूध के गाढ़ेपन या अधिक मलाईदार होने की वजह से अजीर्ण हो तो पानी अधिक मिलाकर हल्का कर देना चाहिए। इससे भी सुधार न हो तो दूध में नीबू या इमली डालकर फाड़े दूध के छेने को अलग करके पानी का हिस्सा ( Whey ) दिया जा सकता है। बालकों के दूध में यदि वायविडंग छोड़कर उसका पाक कर लिया जाय ( ५० मि० ली० दूध में तीन वायविडंग ) तो दूध का अजीर्ण जाता रहता है। दूध सुपाच्य हो जाता है। यह बालकों के विभिन्न प्रकार के अजीर्ण ( प्रोटीन या कार्बोहाइड्रेट प्रभृति ) को ठीक करने में समर्थ है। जहाँ पर दूध में अम्लीकरण से लाभ की आशा हो वहाँ दूध पिलाने के अनन्तर यमानी षाडव थोड़ा-सा पानी में घोलकर देना चाहिए। बाल चतुर्भद्र का चूर्ण ( अतीस, काकड़ासींगी, नागरमोथा और छोटी पीतल का समान भाग में लेकर बनाया चूर्ण या पत्थर पर पानी से घिसकर बनाया चंदन ) बालकों में एक उत्तम पाचन है। चटाने के लिए मधु, पानी या दूध में घूँटी जैसे घोलकर चम्मच से एक-दो रत्ती की मात्रा में दिन में तीन-चार बार दिया जा सकता है।

महागंधक योग का प्रयोग विशेषतः बालकों के अजीर्ण में पाया जाता है। इस योग का निर्माण ही बाल रोगों में विशेषतया उनके पचन सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए हुआ है। किसी भी प्रकार के अजीर्ण में निःशंक होकर १२५ मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में तीन या चार बार देना चाहिए। यदि आध्मान, पेट का अफारा या फूलना पाया जाय तो पेट के ऊपर नाभि में और नाभि के आस-पास कच्चा हींग घोलकर लेप करने से आध्मान शान्त होता

है। इससे शान्त न हो तो दारूषट्क लेप ( देवदारु, वच, कूठ, सौंफ, हींग और सेंधानमक लेप ) पीस कर, गुन-गुना कर उदर पर लेप करने से पेट का अफारा और शूल सद्यः शान्त हाता है। यदि आध्मान का हेतु विबंध ज्ञात हो तो हरीतकी को पानी में घिसकर उसके चंदन को अल्प मात्रा में सेंधानमक के साथ मिलाकर देना चाहिए। औषधि के अनुपान रूप में व्यवहृत होनेवाले पानी को गरम करके ( उबालकर ) देना चाहिए। कुछ लोग हर्रे, सोंठ और सेंधानमक के चंदन को भी मिलाकर देने का विधान बतलाते हैं। कच्ची हींग और रेंड़ के बीज की गुद्दी का उदर पर मोटा लेप करने से आध्मान और कब्ज दूर हो जाता है।

अगर पतले दस्त अजीर्ण के कारण हो रहे हों तो महागंधक का सेवन करावे, साथ ही उदर पर वृद्ध गंगाधर चूर्ण को पानी में पीस कर लेप करायें। केवल वृद्ध गंगाधर चूर्ण के लेप से अतिसार का शमन हो जाता है। क्षारीय पाचनों में वराट भस्म और शंख भस्म का प्रयोग २५० मि० ग्रा० की मात्रा में लाभप्रद होता है। वमन के शमन के लिए लाची का चन्दन और मधु बार-बार देना चाहिए। यदि वमन और हिचकी दोनों मिलते हों तो मयूर पुच्छ को जलाकर उसके भस्म को ५० से १०० मिग्रा० की मात्रा में मधु के साथ देना चाहिए। वमन के लिए बेल के छाल का पानी (एक हँड़िया में आधा किलो जल हो तो २० ग्राम बेल की छाल डालकर खौला ले ) पीने को देना चाहिए। दसरा जल इसी विधि से बनाया हुआ गुडूची का ताजा स्वरस ( गिलोय को पत्थर पर पीस कर उसके गाढ़े रस ) का प्रयोग भो सद्यः वमन को शान्त करता है इस जल को खूब ठंडा करके देना चाहिये। वमन में शीतल जल को थोड़ा-थोड़ा चम्मच से प्रयोग करना चाहिये। बढ़िया गुडूची का सत्व ५० मि० ग्रा० की मात्रा में मधु के साथ चटाने से वमन में शान्ति मिलती है। इसकी स्वतन्त्र या अन्य किसी योग जैसे महागंधक या रामबाण रस के साथ मिलाकर दिया जा सकता है। अर्कों में सौंफ या अजवायन का अर्क या पुदीने का अर्क थोड़ा-थोड़ा दे। ये अजीर्ण के पाचक होते हैं—वमन और अतिसार को बन्द करते हैं—साथ ही शरीर के जलांश को कम नहीं होने देते।

यदि वमन किसी तरह से शान्त न हो तो **'अगस्ति सूतराज'** २५-५० मिग्रा० की मात्रा में त्रिकटु चूर्ण और मधु के साथ देना चाहिए। इससे शूल और वमन दोनों की सद्यः शान्ति होती है। ( त्रिकटुक मधु युक्तं सर्व वान्तिं च शूलम् )। यह औषधि अहिफेन घटित है—एतदर्थ इसके सेवन से बालक सुस्त पड़ जाता है—चिकित्सक को घबड़ाना नहीं चाहिए—बालक को अनार का रस पिलाना चाहिए।

अजीर्ण के अधिकार में पठित अन्य योगों का भी अल्प मात्रा में बच्चों में प्रयोग किया जा सकता है। जैसे हिंग्वष्टक चूर्ण या भास्करलवण—$\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ ग्रा० की मात्रा में। हिंग्वष्टक चूर्ण में थोड़ा शुद्ध टंकण का योग करके देने से और अधिक लाभ होता है।

क्षारीय पाचनों के देने की आवश्यकता हो तो शुद्ध टंकण १२५ से १५० मि० ग्रा० मात्रा में मधु के साथ देना चाहिये। अथवा यवक्षार, वज्रक्षार या श्वेत पर्पटी १२५ से २५० मि० ग्रा० की मात्रा में पानी घोलकर पिलाना चाहिए बालकों में विविध प्रकार के अजीर्ण में निम्नलिखित योग बड़ा उत्तम कार्य दिखलाता है। इसके सेवन से बच्चों का दूध ठीक पचता है, नींद अच्छी आती है। सर्दी, खाँसी, अजीर्ण, अतिसार में भी लाभ होता है।

बालघुटी—जीरा, छाया में सुखाया पोदीना, बड़ी हरें का दल, वायविडङ्ग, लौंग, अतीस, सौंफ, भाँग, रूमीमस्तगी, कोयल के बीज और केसर। सम भाग में सब चूर्णों को लेकर, घृतकुमारी के रस से भवितकर १२५ मि० ग्रा० की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा कर शीशी में भर लें। मात्रा १-२ गोली दध से दिन में तीन बार।

## विबंध

**हेतुकी**—शिशुओं के पाखाने में कब्ज होने का वृत्त बहुत मिलता है। पेट न साफ होने का सबसे बड़ा कारण बच्चे का हीन भोजन ( Under feeding ) माना जाता है। भोजन की मात्रा अल्प होने से अवशेष थोड़ा-सा बचता है जो आंत्र के नीचे के भाग में पहुँचता है, जिससे विबन्ध हो जाता

है। इस हालत में चिकित्सा करते हुए कोई रेचक न देकर पोषण की मात्रा बढ़ा देने से ही लाभ होते देखा जाता है।

बच्चों के पेय में पानी की कमी होने से भी विबन्ध का होना पाया जाता है—इससे बच्चे का पाखाना कड़ा और सूखा हो जाता है, प्यास की वजह से वह बेचैन रहता है—पानी की मात्रा बढ़ा देने से इस दशा में भी सुधार सम्भव है।

इसके अतिरिक्त यदि बच्चे का पेय ही अधिक गरिष्ठ हो अर्थात् उसमें प्रोटीन या मेद की मात्रा अतिशय हो तो वह भी विबंध का हेतु बनता है। साथ ही अगर दूध में चीनी की मात्रा पर्याप्त ( ८ से १० प्रतिशत ) नहीं हुई तो यह दूध भी विबंध कर सकता है। क्योंकि चीनी सारक होती है। इस हालत में पीने के दूध में चीनी की मात्रा पर्याप्त देनी चाहिए।

गुदनलिका ( Anus ) का सहज सन्निरोध ( Congenital striture ) भी विबंध पैदा करता है। बच्चे के बड़े जोर लगाने से थोड़ा-सा पाखाना निकलता है, जोर लगाने से गुदा की श्लेष्मल कला विदीर्ण होने से पुरीष के साथ कुछ लाल रक्त भी आ जाता है। गुदा की परीक्षा से रोग का निदान सम्भव है। गुदा में एक अंगुली को तैल आदि से चिकनी करके डालकर सन्निरोध की प्रतीति की जा सकती है। जहाँ पर सन्निरोध होगा अंगुलि से छिद्र कड़ा और सँकरा प्रतीत होगा। इस अंगुलि प्रवेश से न केवल रोग का निदान ही होता है, बल्कि इसी विधि से रोग का प्रतिकार भी किया जा सकता है। नित्य इस तरह क्रिया करने से द्वार का संकोचन दूर किया जा सकता है।

कई बार छोटे शिशुओं में या बड़े-बड़े बालकों में विबंध मानसिक कारण से होता है। बच्चे यदि आलसी या सुस्त हो जायँ, टट्टी का वेग प्रतीत होने पर भी उसका वेगावरोध करते रहें तो उनमें विबंध होने लगता है। इन बच्चों के उपचार में आदत के सुधारने से ही लाभ होता है। उन्हें नियमित समय से पाखाने जाने के शिक्षण की आवश्यकता रहती है।

अतिवृद्ध जठर निर्गम संकीर्णता के कारण ( Hypertrofic Pyloric stenosis ) या स्थूलान्त्र के विस्फारित होने से ( Dilatation of the colon or Hirschsprung's disease ) के कारण भी शिशुओं में विवंध की उत्पत्ति होती है।

**लक्षण**—विवंध के कारण अन्य लक्षण भी पैदा हो सकते हैं जैसे तीव्र उदरशूल और क्रंदन, जिह्वा में दरार का पैदा होना ( Furred tongue ) श्वास में बदबू ( Unpleasant breath ), शाखाओं का नीला एवं ठंढा होना, वातिक लक्षण जैसे बेचैनी, रात में नींद का पूरी तौर से न आना, आक्षेप ( Convulsion ) प्रभृति मिल सकते हैं। बार-बार शौच काल में जोर करने के परिणामस्वरूप नाभि की वृद्धि या वंक्षणीय हर्निया ( Umblical or Inguinal Hernia ) भी उत्पन्न हो जाती है।

**चिकित्सा**—बच्चों के पेय के सम्बन्ध में विचार करते हुए जिस प्रकार का दोष ज्ञात हो उसके सुधार की व्यवस्था करनी चाहिए। आहार सम्बन्धी इन परिवर्त्तनों से ही उनका विवंध जाता रहता है। यदि औषध का उपयोग वांछनीय हो तो तीव्र रेचक देने की जगह मृदु रेचक नित्य देना चाहिये। इसके लिए एरण्ड तैल एक घरेलू दवा सी हो गई है; परन्तु इसमें एक दोष यह है कि अधिक मात्रा में अर्थात् रेचक की मात्रा में देने से इसके दस्त होकर पुनः प्रतिक्रिया स्वरूप में कब्ज के बढ़ने की सम्भावना रहती है। इसलिये देना हो तो बालकों के जीर्ण स्वरूप के विवंध की अवस्था में अल्प मात्रा में कई दिनों तक दिया जा सकता है। बच्चों के विवंध में "मिल्क आफ मैग्नेशिया" एक उत्तम औषध मानी जाती है। प्रातःकालीन पेय के साथ शीशी में भर कर या अलग से एक चम्मच से दिया जा सकता है। "ग्रे पाउडर" ( Hydrargyrum cum creta ) $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ ग्रेन तक मृदु रेचक के रूप में दिया जा सकता है। विशेषतः उस अवस्था में जब कि विबंध के साथ बच्चों में मंद ज्वर भी हो तो इसका प्रयोग उत्तम रहता है। "लिक्विडपैराफीन' विशुद्ध स्नेहन या आंत्रों में चिकनाई पैदा करने की दृष्टि

से व्यवहृत होता है। इसका एक चाय की चम्मच भर मात्रा में दिन में दो बार प्रयोग करना होता है। यदि बच्चों में विवंध बहुत अधिक हो तो उसमें सनाय का शर्वत (Syrup of Senna) २० से ३० बूँद की मात्रा में रात में सोते वक्त देना चाहिये। यह सुलभ न हो तो सनाय की पत्ती का कपड़छान महीन चूर्ण १ से ३ ग्राम, चीनी १-३ ग्राम, गर्म दूध २५ ग्राम और गर्म जल २५ ग्राम एक ही में मिलाकर पिलाने से भी कोष्ठ शुद्धि हो जाती है। मुख से इन दवाओं के देने के अतिरिक्त वस्ति ( Enema ) एवं गुदवर्ति ( Suppositories ) का प्रयोग गुदा मार्ग द्वारा किया जा सकता है। गुदवर्त्तियों में मधुरी की वर्ति ( Glycerin suppository ) का उपयोग अच्छा है और यदि मलाशय में कठिन गाँठदार पुरीष इकट्ठा हो तो साबुन या लवण जल की वस्ति का प्रयोग भी उत्तम होता है।

## क्षीरालसक या बालातिसार

शिशुओं में अतिसार का पाया जाना शैशवीयातिसार कहलाता है। पतले दस्त का होना आमतौर से बच्चों में मिलनेवाली एक तकलीफ है। अतिसार के साथ ही साथ इन बच्चों में वमन या कै का होना भी पाया जाता है। अतिसारों का विचार तीन वर्गों में बाँट कर किया जा सकता है, १. आहार दोष से, २. उपसर्गज, ३. पाचनेतर दोष से। आयु के प्रथम वर्ष में रोग अधिक होता है और प्रायः जीवन के लिए घातक स्वरूप का होता है। स्तन-पायी बच्चों में कम, परन्तु गाय के दूध पर पलनेवाले बच्चों में अधिक पाया जाता है।

## आहारदोषज अतिसार
## ( Dietetic Diarrhoea )

बच्चों को पिलाने वाली माँ या धात्री यदि गरिष्ट अन्न सेवन कर रही हो जैसे चना, मटर, शाक आदि का या उसे स्वयं अजीर्ण हो तो उस दूध को पीने वाला बच्चा भी अजीर्ण से पीड़ित हो जाता है, अतिसार या पतले

दस्त होने लगते हैं। इस अवस्था में माता के अजीर्ण को सुधार देने से बच्चों का अतिसार ठीक हो जाता है। जो बच्चे स्वतन्त्र पाथी अर्थात् बोतल के दूध पर या गाय के दूध और जल पर पल रहे हैं उनमें कई बार दूध में मेद की मात्रा अधिक होने से पतले दस्त होने लगते हैं जो गन्ध में अम्ल होते हैं। उन बच्चों में जिनको छोटी आयु में अर्थात् छः मास के पूर्व ही अन्न विशेषतः स्टार्च या कार्बोहाइड्रेट युक्त पदार्थ दिये जा रहे हों इस प्रकार के अतिसार की सम्भावना रहती है। इस दशा में चिकित्सा करते हुए बच्चों के आहार के दोषों का सुधारना अपेक्षित है अन्यथा अतिसार के कारण बच्चा क्षीण और दुर्बल होता हुआ शोष ( सुखंडी ) ( Marasmus ) से पीड़ित हो जाता है।

## संक्रमी अतिसार

## ( Infective Diarrhoea )

जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है, आमाशय और आंत्रों में किसी जीवाणु ( Bacteria ) का संक्रमण होकर इस प्रकार का अतिसार बच्चों में होता है। यह व्याधि अधिकतर ग्रीष्म ऋतु में होती है, इसलिए ग्रीष्मातिसार ( Summer diarrhoea ) भी कहते हैं। इस व्याधि से पीड़ित बच्चों की पाखाने की जाँच या मरे बच्चों के आन्त्र की श्लेष्मल कला के विकार युक्त भाग की वृद्धि करके देखने से किसी विशष विकारी जीवाणु की खोज नहीं हो पाई है तथापि इसकी विशिष्ट संज्ञा संक्रमी अतिसार की ही दी गई है। आजकल वैज्ञानिकों का ध्यान 'इकोलाई' के विशिष्ट प्रकारों पर केन्द्रीभूत होता जा रहा है, जो कुछ बच्चों के आंत्र में बिना किसी प्रकार का रोग पैदा किये वाहित होता रहता है तथा बहुतों में वमन एवं अतिसार का हेतु बनता है। स्तन पीनेवाले बच्चों में यह रोग नहीं होता। आम तौर से ऊपरी दूध पर पलने वाले बच्चों में ही यह रोग होता है। कई बार मरक के रूप में यह रोग फैलता है। ग्रीष्म ऋतु में धूल, मक्खी, उष्णता आदि के प्रभाव से बच्चों के पेय दूषित होकर रोग के प्रसार में सहायक होते हैं।

इस रोग के प्रतिषेध के लिये बहुत प्रकार के उपाय शोधकों द्वारा निर्धारित किये गये हैं। जैसे, स्तन पिलाने पर जोर देना। दूध के संरक्षण के विचार से स्वच्छता और सफाई का ध्यान रखते हुए दूध के संग्रह और वितरण की व्यवस्था करना। दूध को विशोधित करके उबाल करके या 'पाश्चाराइज' करके पीने को देना तथा सूखे दूध के चूर्ण ( ग्लैक्सो ) के उपयोग पर जोर देना। मक्खियों और धूल से दूध के बचाने की व्यवस्था। दूध को बन्द करके कुछ दिनों तक बालक को 'ग्लूकोज' और नमक के पानी पर रखकर चलाना सभी प्रकार आमाशय और आंत्र की बीमारियों में लाभप्रद रहता है। घर में माताओं द्वारा इसके बनाने की विधि यह है—एक चाय चम्मच भर चीनी, पाँच औंस उबाला जल और थोड़ी मिकदार में ( One salt spoonful ) नमक। इस घोल को बच्चों के वमन एवं अतिसार सभी अवस्थाओं में दिया जा सकता है। वमन को कम करने के लिए थोड़ी-थोड़ी मात्रा में देना प्रारम्भ करना चाहिये। यदि इस घोल से वमन न रुके तो मुँह से चौबीस घण्टे तक द्रव का देना बन्द कर देना चाहिए। जलनाश ( Dehydration ) से बचाने के लिए सूचीवेध प्रक्रिया से द्रवांश देना चाहिये। जलनाश से बचाने के लिए मुख द्वारा 'एलेक्ट्राल्स' का उपयोग लाभप्रद रहता है। इस चूर्ण का $\frac{1}{2}$ चम्मच आधे प्याले पानी में घोलकर, बार-बार पिलाना चाहिए।

वृहत्तर प्रतिजीवी ओषधियों ( Chloramphenicol ) का इस अवस्था में विशिष्ट महत्व है और बड़ा लाभप्रद सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त "सल्फाडायमेडिन", "ग्वैनिमाइसिन सस्पेशन फोर्ट" तथा "स्ट्रेप्टोमायसिन" मुख या सूचीवेध के द्वारा यथोचित मात्रा में लाभप्रद रहते हैं। 'क्लोरस्ट्रेप' या 'एण्ट्रोस्ट्रेप' या 'कोमायसीन' नामक कई पेटेण्ट योग पेय के रूप में मिलते हैं और लाभप्रद सिद्ध होते हैं।

बालकों का संक्रमी अतिसार अन्य अतिसारों की अपेक्षा अधिक तीव्र और घातक स्वरूप का होता है।

# आंत्रेतर दोष के अतिसार
## ( Parenteral Diarrhoea )

यह एक प्रकार का उपद्रव स्वरूप का अतिसार है। जिसमें पचन-संस्थान के अतिरिक्त किसी अन्य अङ्ग का रोग प्रधान व्याधि के रूप में पाया जाता है जैसे बड़ी आयु के व्यक्तियों में शिरःशूल और अंगमर्द प्रभृति लक्षण से बहुत रोगों में मिलते हैं उसी प्रकार बच्चों में वमन एवं अतिसार का होना भी एक ऐसा लक्षण है जो विभिन्न रोगों में मिल सकता है। जैसे मध्यकर्ण शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ, श्वसनसंस्थान के तीव्र उपसर्ग तथा दन्तोद्भेद में वमन और अतिसार उत्पन्न होता है, परन्तु वास्तव में पचनसंस्थान में कोई भी विकृति नहीं पायी जाती।

इस प्रकार के अतिसार का हेतु बालक का पूर्णतया निरीक्षण करने से प्राप्त हो सकता है जैसे उनके कान एवं गले की परीक्षा तथा मूत्रपरीक्षा आदि। इसमें अतिसार की चिकित्सा तो करनी चाहिये; परन्तु मूल व्याधि की खोज भी आवश्यक है; अन्यथा केवल अतिसार की चिकित्सा निरर्थक भी हो सकती है। क्योंकि "प्रधान प्रशमात् प्रशमः।" प्रधान व्याधि की चिकित्सा करने से से उपद्रव अपने आप शान्त हो जाते हैं। मध्यकर्ण पाक में वमन तीव्र स्वरूप का पाया जाता है। इसलिये कान की परीक्षा करके तद्नुकूल व्यवस्था करनी चाहिये।

**लक्षण**—अतिसार यदि मृदु स्वरूप का हो तो उसमें पिलाने के दोष या अजीर्ण के कुछ लक्षण प्रारम्भ में मिलते हैं। यदि रोग तीव्र स्वरूप का हुआ तो सर्वप्रथम अचानक वमन एवं अतिसार होने लगता है। दस्तों की संख्या बढ़ती जाती है—पाखाना पतला, दिन में छः या आठ बार या अधिक तक पहुँच जाता है—प्रारम्भ में तो ये हरे रंग के, किंचित् बदबूदार, मेदीय छेने युक्त ( Fatty curd ) और किंचित् प्रचुर आँवयुक्त ( Mucus ) होते हैं। बच्चे को ज्वर भी हो जाता है, उसका तापक्रम दो तीन अंश तक बढ़ जाता है। उसका पूर्व पश्चात् रंध्र ( Fontanelle ) नीचे को धँस

जाता है; बच्चे की दशा दयनीय हो जाती है, वह बेचैन हो जाता है और कराहता रहता है। दस्तों के द्वारा जल-नाश के कारण वह सूख जाता है और मूत्र त्याग की मात्रा अल्प हो जाती है।

रोग के बहुत तीव्र होने पर वमन एक प्रमुख लक्षण हो जाता है, कुछ भी नहीं पचता, जल भी देने पर उसको तत्काल वमन हो जाता है। कई बार वमन अल्प होता है या नहीं होता जिससे बच्चे की अवस्था अधिक सांघातिक नहीं प्रतीत होती है। कई बार रोग का प्रारम्भ आक्षेप से होता है। कई बार रोग का आरम्भ अतिसार से ही होता है। मल जो प्रारम्भ में हरे और छेने युक्त रहते हैं, आगे चलकर जलीय और निर्गन्ध हो जाते हैं। जल का शीघ्रता से नाश होने से बच्चा तीव्र जलाल्पता ( Dehydration ) की स्थिति में आ जाता है। वह पीला पड़ जाता एवं बेचैन हो जाता है, शरीर का तापक्रम १०३° या १०४° हो जाता है। पूर्व रंध्र का स्पंदन क्षीण हो जाता है, वह अवनत हो जाता है, आँखें धँस जाती हैं, त्वचा का लचीलापन जाता रहता है और उस पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। जिह्वा शुष्क और रक्तवर्ण की हो जाती है। उदर पिलपिला ( Flaby ) हो जाता और नीचे को धँस जाता है, उसमें आंत्र गतियाँ भी दिखलाई पड़ने लगती हैं। उदर पर स्पर्शनाक्षमता नहीं पाई जाती। नाड़ी की गति तेज १६० प्रति मिनट तक हो जाती है। हृच्छब्द मृदु और घड़ी के टिक्टिक् शब्द जैसे मिलते हैं। मूत्र में गाढ़ापन और शुक्ली ( Albumin ) की उपस्थिति पाई जाती है। रोग यदि अधिक सांघातिक हुआ तो अमूत्रता ( Anuria ) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें चौबीस घण्टे तक मूत्र-त्याग होता ही नहीं। आगे चलकर विषमयता ( Toxaemia ) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है; चेहरा भूरा, मुरझाया हुआ हो जाता है; बच्चे की बेचैनी जाती रहती है; और वह सुस्त होकर असहाय स्थिति में अपने पीठ के बल लेटा रहता है; नेत्र अचंचल हो जाते हैं; स्वच्छमंडल ( Cornea ) के ऊपर कीचड़ इकट्ठा हो जाता है; श्वास की गति उथली हो जाती है; नाड़ी की गति अनगिनत हो जाती है; हृदय की गति

अनियमित हो जाती है; शाखायें श्यावता युक्त हो जाती हैं। तापक्रम अन्त तक ऊँचा ही बना रहता है या अंत में प्राकृत से भी नीचे हो जाता है। अंत में एक या दो आक्षेपों के अनन्तर बालक की मृत्यु हो जाती है।

वमन एवं अतिसार की अत्यन्त उग्रावस्था में जिसको बाल-विसूचिका ( Cholera Infantum ) कहते हैं; उपर्युक्त लक्षण अति तीव्र स्वरूप के मिलते हैं। रोग का आक्रमण हटात् होता है; तीव्र स्वरूप का अतिसार शुरू हो जाता है; पाखाने का रंग चावल के मण्ड सदृश हो जाता है; विषमयता की अवस्था शीघ्रता से आ जाती है। नाड़ी की गति तेज, हृदय अनियमित होकर बालक की अवस्था चिन्तनीय हो जाती है।

उपद्रव—मुखपाक-जीभ, गले और गाल में छाले पैदा हो जाते हैं। जब तक ये छाले नहीं हो जाते, अतिसार भी शान्त नहीं होता। मुखपाक की चिकित्सा में शुद्ध टंकण और मुख का लेप या १% जेनेशियन वायलेट का लेप व्यवहृत होता है।

मध्यकर्ण-शोथ के कारण आन्त्रेतर प्रकार का अतिसार पाया जाता है। कान की चिकित्सा करने से अतिसार शान्त हो जाता है। श्वसनी फुफ्फुसशोथ ( Broncho Pneumonia ), कई बार इसका निदान भी करना कठिन हो जाता है। क्योंकि न ज्वर होता है और न साँस की गति ही बढ़ी ही मिलती है तथापि फुफ्फुसीय घनता ( Consolidation ) पाया जाता है। त्वचा-गत उपद्रव–विद्रधि आदि का उत्पन्न होना रोग में अरिष्ट लक्षण के सदृश होता है, रोग की साध्यता की आशा जाती रहती है। शिरागत घनास्रता ( Thrombosis of Veins )—इस उपद्रव का निदान भी कठिनाई से हो पाता है। आक्षेप—अतिसार के प्रारम्भ होने के साथ आक्षेप आने लगता है। इन आक्षेपों का कोई महत्व नहीं है; परन्तु रोग में आगे चलकर यदि ऐसे आक्षेप आयें तो वे अवश्य गम्भीर अवस्था के द्योतक हैं। ऐसी स्थिति मस्तिष्कान्तर्गत भार की वृद्धि से उत्पन्न हो सकती है।

**चिकित्सा**—अतिसार की चिकित्सा में मूलतः दो तत्वों का ध्यान रखते हुये कार्य करना पड़ता है--१. जल तथा विद्युत अपघटन ( Electrolytes ) द्रव्यों की जो कमी अतिसार के कारण उत्पन्न हो रही है उसकी पूर्ति करना। २. आमाशय एवं आंत्रों को प्राकृत आहार पर लाने के लिये पूर्ण विश्राम देना—

मृदु रोगों में वमन के नियन्त्रण के लिये आहार का नियन्त्रण करना पर्याप्त होता है। आहार की जगह पर पूर्णतया ग्लूकोज का घोल २½% का मुख द्वारा २४ से ४८ घण्टे तक देना चाहिये। तदनन्तर क्रमशः रोगी को प्राकृत आहार ( Normal diet ) पर लावें। यदि जलाल्पता की अवस्था उपस्थित हो तो अधस्त्वक् मार्ग से लवण विलयन हायोलेज ( Saline With Hylase ) दें। इसकी विधि यह है--

काँच की बनी कान की पिचकारी का पिस्टन निकालकर या एक शीशे का चोंगा लेकर उसको एक रबर के ट्यूब से जोड़ें फिर इस रबर ट्यूब से Y के आकार की बनी काँच की नलिका से दो छोटी नलिकाओं को जोड़ लें फिर इन छोटी रबर की नलिकाओं से दो सूचिकाओं को जो अधस्त्वक् जल-भरण में काम आ सकें संयुक्त कर लें। अब चोंगे वाले भाग को बच्चे से बारह इञ्च ऊपर उठाकर 'नारमल सेलाइन' डालकर और सुइयों को त्वचा के नीचे प्रविष्ट कर इस जल का भरण करे। प्रयोग के पूर्व यन्त्र का विशोधन आवश्यक होता है। लवण-विलयन ( Normal saline ) को १३०° फे० तक गरम करना चाहिये। सूचीवेध का स्थान जंघा के बाहरी भाग में, अन्तः भाग में तथा कक्षा में रखना चाहिये। शोषण के वेग को बढ़ाने के लिये हायलेज नामक ( Benger's Hylase ) चूर्ण का विशोधित जल में बनाया घोल रबर की नलिका के द्वारा भर देना चाहिये।

यदि वमन ही प्रमुख लक्षण हो और बड़े वेग से हो रहा हो तो आमाशय का प्रक्षालन पूर्व कथित विधि से करना चाहिये। यदि अतिसार ही प्रमुख लक्षण हो तो स्थूलान्त्र के अन्तिम भाग का प्रक्षालन ६ से ८ औंस उष्ण लवण विलयन ( 100° F. ) से वस्ति के द्वारा प्रक्षालन करना चाहिये।

यदि जलनाश बहुत तीव्र हो तो निम्नलिखित द्रव का भरण किया जा सकता है। समबल-लवण-विलयन, सोडियम क्लोराइड, पोटेशियम क्लोरायड और कैलशियम क्लोरायड का मिश्रण। इसी में ५% ग्लूकोज भी मिलाया जा सकता है। जलाल्पता की अवस्था का विचार करते हुए शीघ्रता से रक्त संवहन में द्रव्यों को पहुँचाने के लिए सिरा मार्ग से बूँद-बूँद करके लगातार औषधि पहुँचाई जा सकती है। इस विधि को संतत अन्तःशिरीय बिन्दु पद्धति ( Contineous Intravenous drip method ) कहते हैं। इस विधि से ६–८ बूँद द्रव का प्रति मिनट प्रवेश होता है और कूर्पर की आधारीय सिरा ( Basilic vein ) या पैर की दीर्घ उत्ताना शिरा ( Sephenous-vein ) में करना चाहिए। उस अंग पर सूचिका को स्थिर करने के लिए अंग को कुश ( Splint ) द्वारा बाँध देना चाहिए। यह आवश्यक होता है कि कितनी मात्रा में और किस वेग से द्रव का प्रवेश कराया जाय। एक सामान्य नियम पच्चीस से पच्चास बूँद प्रति पौंड शरीर भार के ऊपर देने का है जब तक जलाल्पता में सुधार न हो जाय बीच-बीच में लवण-विलयन या ग्लूकोज को देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

यदि अतिसार कई दिनों से चल रहा हो, जलाल्पता बहुत बढ़ गई हो, लवण-विलयन के भरने से सन्तोषजनक फल की आशा न हो, रक्तगत प्रोटीन बालक का बहुत नष्ट हो तो लसीका ( Serum ) का भरण ( Transfution ) भी किया जा सकता है। अधुना 'एलेक्ट्राल' का प्रयोग मुख से जलनाश की चिकित्सा में हो रहा है। इस चूर्ण का ½ चम्मच आधे प्याले पानी में घोलकर बार-बार पिलाते रहना चाहिये।

अतिसार काल में यकृत में दोष आ जाता है उसको सुधारने के लिए 'अमाइनो एसिड' ( Amino Acid ) का उपयोग लाभप्रद हो सकता है। इसके लिए 'केसिड्राल ( Casydrol ) नामक योग आता है जिसका प्रयोग मुख द्वारा किया जा सकता है।

**आहार**—आन्त्रों को विश्राम देने विचार प्रारम्भ में लंघन कराना अच्छा होता है। परन्तु चौबीस घण्टे के अनन्तर बालकों में कुछ न कुछ

पोषण भी देना जरूरी है। इसके लिए मुख से या अधस्त्वक् मार्ग से द्रव पोषण देने की व्यवस्था करनी चाहिए। पश्चात् उसको मेद-हीन पेय पीने को देना चाहिए। विशेष प्रकार से बने हुए मलाई से रहित दूध के चूर्णों को ( Skimmed milk ) पानी में घोलकर देना चाहिए। यदि इस आहार के पचने में शंका हो तो दूध का फाड़ा हुआ जल देना चाहिए फिर जब पचन में सुधार हो तो लैक्टिक एसिड मिलाया हुआ दूध देना चाहिए। कच्चे सेव का रस भी बालातिसार में लाभप्रद माना गया है। जब अतिसार की स्थिति में तथा बच्चे की पाचन-क्रिया में पर्याप्त सुधार हो जाय तो संसर्जन विधि का अनुसरण करते हुए क्रमशः जौ का यूष, मंड आदि मिलाकर पिलाना चाहिये।

**ओषधियाँ**—अफीम के योगों का प्रयोग विषमयता या जलाल्पता के लक्षणों में चिकित्सा में नहीं करना चाहिए।

पल्व इपिकाक $\frac{1}{2}$ ग्रेन से १ ग्रेन तक की मात्रा में ( ३ मास से १ वर्ष के बालक के लिए ) बिस्मथ ( Bismuth Carb ) तथा खड़िया ( Pulv-armaticus ) चूर्ण ( प्रत्येक २ ग्रेन की मात्रा में ) के साथ मिलाकर प्रयोग करना चाहिये।

उत्तेजक चिकित्सा का प्रयोग तब करना चाहिए जब कि हृदय में अवसाद के लक्षण प्रतीत हों अर्थात् निम्न तापक्रम, शाखाओं का ठंडा होना एवं नाड़ी का मन्द होना आदि। इसमें उष्ण उपचार, जैसे उष्ण जल स्नान या सर्षप जल से स्नान दिन में एक या दो बार यथावश्यक कराना चाहिए। सर्षप जल स्नान की विधि यह है :—

१ औंस सरसों के बीज को लेकर ठण्डे जल में पीस ले फिर उसको एक गैलन जल में छोड़कर खूब हिलावे। इस जल का तापक्रम १००° फे० होना चाहिए। इस जल में बच्चे को वस्त्र से दबाकर ( पोछकर नहीं ) सूखा करे। पुनः उसको गर्म कम्बल में लपेट कर लेटा दे।

**आयुर्वेदीय उपचार**—बालक में रोग का प्रारम्भ यदि वमन से होकर पुनः अतिसार हो रहा हो और एक दो दिनों का हो तो अगस्ति सूतराज रस

५० से १०० मि० ग्रा० की मात्रा में, त्रिकटु चूर्ण १२५ मि० ग्रा० और मधु के साथ मिला कर ४-४ घण्टे पर तीन बार देने से सद्यः लाभ होता है। अतिसार हफ्ते दो हफ्ते से चल रहा हो, जलाल्पता बढ़ती जा रही हो तो सौंफ का अर्क, अजवाइन का अर्क, पुदीने का अर्क, कूर्परा‌म्बु थोड़ा सैंधव नमक मिलाकर पीने के लिए थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार देता रहे। दस्त को बाँधने के लिए साथ ही पाचन के लिए निम्नलिखित मिश्रण को दे या किसी एक योग का ही प्रयोग करना चाहिये।

| | | |
|---|---|---|
| महागंधक | २५० | मिलीग्राम। |
| शंख भस्म | १२५ | ,, |
| वराट भस्म | १२५ | ,, |
| दाडिम चतुःसम | ५०० | ,, |

मिलाकर ६ पुड़ियों में बाँटकर
१ पुड़िया प्रति चार घण्टे पर।

पोषण के लिए मिश्री या ग्लूकोज का उवाले जल में घोल बनाकर दे। यदि बालक को ऊपर का दूध दिया जा रहा हो तो उसको बन्द करा दे एवं माता के दूध पर ही उसे चलाने का प्रयत्न करे। धात्री या माता के क्षीर के संशोधन के लिए माता को संजीवनी बटी या रामबाण दिन में दो या चार बार दो-दो गोली करके गर्म पानी से सेवन के लिये दे। यदि बालक बोतल पायी हो तो उसको मलाई रहित दूध के चूर्ण ( Skimmed milk ) पर रखने की व्यवस्था करे। यदि बालक प्राकृतिक दूध गाय या भैंस के दूध पीने का अभ्यासी हो तो उसके दूध से मलाई या मेद का भाग अलग करके और पर्याप्त जल मिलाकर पीने के लिए देना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि सम्भव हो सके तो उसके पोषण को बदल कर बकरी के दूध के ऊपर रख देना चाहिये। बकरी के दूध को भी उबाल कर उसके मलाई वाले भाग को पृथक करके और पानी मिलाकर ही देना चाहिये।

औषधियों में मुग्ध रस ( Hydragcumcreta ) का उपयोग भी उत्तम होता है। यह वमन और अतिसार दोनों को कम करता है। ५० मि० ग्रा० की मात्रा दिन में तीन या चार बार पानी में घोलकर देना चाहिये। फलों में

सेब का या अनार का रस देना उत्तम पाया गया है। कच्चे बेल को उबाल कर उसका काढ़ा भी पीने के लिए दिया जा सकता है। मल को बाँधने में इसका प्रभाव उत्तम देखा गया है।

यदि बच्चे को रक्तातिसार हो तो दुग्ध पाषाण चूर्ण का उपयोग लाभप्रद रहता है। इसके लिए रामबाण १२५ मि० ग्रा० और दुग्धपाषाण २५० मि० ग्रा० मिलाकर एक-एक मात्रा। ऐसा दिन में तीन या चार बार दें। बेल के फल का काढ़ा मल को बाँधने में उत्तम सिद्ध होता है। कच्चे बेल को तोड़कर उसकी मज्जा को निकाल कर पानी में खौलाकर काढ़ा बना ले। सेवन स्वतन्त्र या सोंठ और गुड़ के साथ शर्बत जैसा बनाकर करावें।

दस्त अधिक हो रहे हों तो वृद्ध गंगाधर चूर्ण को पानी में पीसकर उदर पर लेप करावे। पिप्पली, अतीस, काकड़ासींगी और नागरमोथा का समान भाग में बनाया चूर्ण ( कृष्णादि चूर्ण-शार्ङ्गधर ) का ½ से १ ग्राम की मात्रा में सेवन कराने से भी अतिसार और ज्वर में कास एवं श्वास का उपद्रव भी हो तो लाभ होता है। रक्तातिसार में मोचरस, मजीठ, धाय, कमल का केसर, कुटज, अतीस, इन्द्र जौ, बेलगिरी, मुस्तक, सुगंध-वाला आदि ग्राही एवं स्तम्भन औषधों का सेवन कराना चाहिये।

'कर्पूरबटी' का उपयोग भी अतिसार से पीड़ित बच्चों में उत्तम रहता है। इसमें अफीम भी पड़ा है, अस्तु सतर्कता से उपयोग करना चाहिये। मात्रा ३० से ६० मि० ग्रा०। अनुपान चावल का पानी। दिन में तीन-चार बार। चावल के पानी में मधु मिलाकर मीठा भी किया जा सकता है। इस योग के उपयोग से दस्त शीघ्रता से बन्द हो जाते हैं। यदि इसके सेवन से बालक में कुछ सुस्ती प्रतीत हो तो उसे अनार का रस पिलाना चाहिए।

आधुनिक औषधों में निम्नलिखित का सेवन कराना उत्तम एवं लाभप्रद रहता है। इनमें सल्फावर्ग को दवाओं के अतिरिक्त वृहत्तर क्षेत्र के प्रतिजीवी द्रव्यों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बच्चों के लिये पेय रूप में मिलते हैं। जैसे कोमायसीन सीरप, क्लोरेस्ट्रेप, एण्ट्रोस्ट्रेप या "ग्वैनामाइसिन सस्पेंशन" ( ग्लैक्सो ) आदि द्रव्य।

★

# अध्याय ८

## बाल शोष

## सूखा रोग, सुखण्डी

## ( Marasmus or Infantile Atrophy )

बच्चों में पाया जाने वाला सूखा रोग वास्तव में कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है बल्कि एक संलक्षण है जो बहुत कारणों से उत्पन्न हो सकता है। कई बार रोग का मूल हेतु अज्ञात ही रह जाता है। उदाहरण के लिए—सहज हृद्रोग ( Congenital Heart Disease ) के साथ बच्चों का सूखना पाया जाता है, हृद्रोग का निदान करना भी प्रायः कठिन होता है; जब तक कि बच्चा शान्त न हो जाय सावधानीपूर्वक हृच्छदों की परीक्षा न की जावे। दूसरा महत्व का रोग सहज फिरंग है ( Congenital syphilis ), जिससे बालशोष पाया जाता है सामान्यतया इसमें कई एक चिन्ह उपस्थित मिलते हैं, जैसे नासा का विकार, स्फोट ( Rashes ) की उपस्थिति या प्लीहा यकृत् वृद्धि का मिलना। कई बार इन चिन्हों का सर्वथा अभाव भी रहता है। तथापि फिरंग का निदान हो जाने पर फिरंग का प्रतिषेध करने से रोग में शीघ्र लाभ पहुँचता है। बाल्यावस्था में सूखा रोग से सम्बद्ध तीसरा विकार आमाशय के १. जठरनिर्गम की संकीर्णता से उत्पन्न आमाशय-विस्फार ( Hypertrophic Stenosis of Pylorus ) होता है। इसी प्रकार जीर्ण मस्तिष्कावृत्ति शोथ २. गोणिका वृक्क शोथ ३. अंतः पूयता ( Empyema or Pyelitis ) के कारण भी बालशोष उत्पन्न हो सकता है जिसमें हेतु-भूत व्याधि का पता लगाना भी मुश्किल रहता है।

बाल-शोष जैसा नाम से प्रतीत हो रहा है इसमें बालक के रक्त, मांस-मेद अस्थि-मज्जा प्रभृति धातुओं का सूखना पाया जाता है। इस प्रकार का शोष

कई बार क्षय ( T. B. ) के कारण पाया जाता है। इन बच्चों में सूखने और अत्यन्त दुर्बल होने के अतिरिक्त कोई भी अन्य शारीरिक चिन्ह नहीं पाये जाते फलतः निदान भी कठिन होता है। एक वैज्ञानिक ने सात मास के शिशु में उसके मृत शरीर के मृत्यूत्तर परीक्षा के अनन्तर उसके दोनों फुफ्फुसों में क्षय के चिन्ह ( Miliary tubercle कंगु ग्रंथियाँ ) प्राप्त किया था।

बाल-शोष में आहार सम्बन्धी दोषों का विचार करने पर अल्पपोषण या हीनपोषण ( Under-feeding ) सबसे अधिक पाया जाने वाला हेतु मिलता है। स्तन पायी या बोतल पायी दोनों प्रकार के बच्चों में पोषण की कमी हो सकती है। इन बच्चों की चिकित्सा में पूर्ण पोषक आहार की पूर्ति ही पर्याप्त है।

कई बार खण्डौष्ठ ( Hare lip ) तथा फटे तालु ( Cleft Palate ) के शिशुओं में उनके दूध के चूसने की पूर्ण क्षमता न होने की वजह से पोषण की कमी उत्पन्न होनी है जिससे बाल-शोष अर्थात् सूखना शुरू हो जाता है। ऐसे बच्चों में अन्नवह नलिका ( Oesophageal Tnbe ) या पिपेट के द्वारा पोषण-पेय का पहुँचाना आवश्यक होता है।

कई बार पचन के विकार के कारण भी शोष उत्पन्न होता है। जैसे शिशु के आहार में प्रोटीन, वसा तथा कार्बोहाइड्रेट यथोचित मात्रा में दिया जा रहा हो; उसका पोषण भी ठीक हो रहा हो; फिर भी सूखना प्रारम्भ हो जाय, तो उस स्थिति में बच्चे के पाचन में दोष है ऐसा समझना चाहिए। इसके लिए उसके पाचन को सुधारने की ही व्यवस्था करनी चाहिये।

बाल-शोष से पीड़ित बच्चों में त्वचा के नीचे पाये जाने वाले मेद का सर्वथा अभाव हो जाता है, इस मेद का सबसे बड़ा कार्य शरीर के ताप को नष्ट न होने देना है; अतएव इस मेद के अभाव में अत्यधिक शरीर का ताप नष्ट होता रहता है। अब इस नष्ट हुई उष्णता की पूर्ति की इन बच्चों में आवश्यकता होती है। प्रकृति के द्वारा इसकी पूर्ति उन बच्चों में तो आसानी से हो जाती है जो अन्नाद हों अर्थात् अन्न पर पल रहे हों। उनके शरीर के लिए बढ़ती हुई माँग की पूर्ति अन्नगत 'कार्बोहाइड्रेट' से हो जाती है।

जो केवल मातृ स्तन्य, ऊपरी दूध या बोतल के दूध पर पल रहे हों या जिनकी पाचन शक्ति ठीक न हो तो इस शरीरगत ताप की पूर्ति अवशेष धातुओं के पाक से अर्थात् अवशिष्ट धातुओं को जलाकर ( Burning up of spare tissues ) प्रकृति करती है। जब ये धातु जलते-जलते नष्ट हो जाते हैं तो प्रकृति लाचार हो जाती है। उष्णता की उत्पत्ति बन्द हो जाती है और शरीर का तापक्रम प्रकृत से नीचे ( Sub normal ) हो जाता है। शरीर सूखता जाता है, वे अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं।

इस व्याधि से पीड़ित बच्चों की चिकित्सा बड़ी कठिन हो जाती है, क्योंकि तापोत्पादन की दृष्टि से ऊँची उष्णता के मूल्य वाले उष्ण वीर्य ( High Caloric Value ) का आहार देने पर इनकी पाचन की शक्ति विकृत हो जाती है। फलतः वेग से नष्ट होते हुए ताप की पूर्ति तथा शरीर का बल और भार का बढ़ाना ऐसे बालकों में दुष्कर हो जाता है। अल्प प्रोटीन रक्तता तथा अम्ल-रक्तता इन बच्चों में प्रबल हो जाती है।

**लक्षण**—बालक की दशा दयनीय हो जाती है। उसकी आकृति म्लान और भूरी हो जाती है, गालों में गडढे पड़ जाते हैं, रन्ध्र अवनत हो जाते हैं, त्वचा का लचीलापन जाता रहता है और उसमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। केवल अस्थियों के उभार बीच-बीच में प्रतीत होते हैं, उदर की दीवाल इतनी पतली पड़ जाती है कि उसमें आन्त्र की गति दिखाई पड़ती है; शरीर का तापक्रम प्राकृत से तीन या चार अंश नीचे हो जाता है। बढ़ती हुई दुर्बलता और क्लान्ति के कारण बालक मृत्यु का शिकार हो जाता है। यदि क्वचित् चिकित्सा से सुधार हुआ तो कुछ मासों में पूर्णतया स्वस्थता भी आ सकती है।

**उपद्रव**—दो उपद्रव प्रमुख रूप से पाये जाते हैं—१. शोफ—रक्तगत प्रोटीन की कमी से शाखाओं पर शोफ होता है। २. त्वचागत रक्तस्राव ( Purpura )—उदर के अधोभाग तथा पीठ पर यह लक्षण व्यक्त होता है और अरिष्टसूचक होता है। अन्य उपद्रव में मुखपाक, मध्य कर्ण-शोथ, विद्रधियाँ, फुफ्फुस शोथ तथा अतिसार आदि उत्पन्न होते हैं। विद्रधि या फोड़ों का होना रोग की असाध्यता का सूचक है।

**चिकित्सा**—इस व्याधि में सुशिक्षित धात्री की परिचर्या बड़ी मूल्यवान है। शरीर की उष्णता को नष्ट न होने देने के लिये शिशु को पूर्णतया उष्ण-गृह, उष्ण आस्तरण और प्रावरण ( घर, विस्तर, ओढ़ना और बिछौना ) में रखते हुए उष्ण रखना चाहिये।

दूसरी व्यवस्था आहार के सम्बन्ध में करनी चाहिये। अल्प मात्रा में शिशु को पुनः-पुनः दो-दो या ढाई घण्टे के अन्तर से पेय पिलाना चाहिये। अर्थात् उसके पचन-संस्थान को भार न देते हुए पोषण की अधिक व्यवस्था करे। उसके भोजन में तापोत्पादक मूल्य अधिक होना चाहिये। उसके पेय में १२ से १५ प्रतिशत तक चीनी मिलाकर देना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि मेद का, चीनी की अपेक्षा कई गुना मूल्य तापोत्पादन में है; परन्तु सामान्य वसा से अतिसार और पाचन के विकृत होने का भय रहता है।

पथ्य—बोतलपायी बालकों में आधे मलाई युक्त ( Halfcream ) या मलाई रहित ( Skimmed ) सूखे दुग्ध चूर्ण के घोल 'डेक्स्ट्रीमाल्टोज' के साथ ( Dextri Maltose ) घनीकृत दूध (Condensed Milk) को मीठा करके एक भाग दूध चार भाग जल मिलाकर देना या ताजे दूध को गर्म करके उसमें आधा गर्म जल मिलाकर हल्का करके देना। ताजे दूधों में बकरी का दूध लेखक के अनुभव में सर्वोत्तम मिला है। इस दूध में बेंगर का आहार ( Benger's Food ) मिलाकर दे तो अधिक बल्य हो जाता है। दुग्धाम्ल के साथ बनाया दूध भी उत्तम है। एक पिण्ट दूध में १ बड़े चम्मच भर 'डेक्स्ट्री माल्टोज' नामक शर्करा को मिलाकर इस दूध को मीठा करके दिया जा सकता है। शर्करा मिलाने का उद्देश्य आहार में 'कार्बोहाइड्रेट' के मूल्य का बढ़ाना होता है।

बालक के बल और भार की वृद्धि होती चले, तो दशा में सुधार हो रहा है, ऐसा समझे। इसलिए यदि उसकी पचन शक्ति अच्छी हो, तो हर तीसरे चौथे दिन उसकी तौल कराते रहना चाहिये। बालक में जीवतिक्तियों की पूर्ति भी आवश्यक होती है। सर्वाधिक महत्व जीवतिक्ति ए और डी का है। 'रेडियोस्टालियम' या 'एडेक्सोलीन' प्रभृति योगों का प्रतिदिन १० बूँद उसे आहार के साथ मिलाकर देना लाभप्रद होता है। प्रतिदिन

जीवतिक्ति सी ( Vitamin C ) भी २५० मि० ग्राम को मात्रा में दे। कई बार अवटुका ग्रन्थि सत्व $\frac{1}{20}$ ग्रेन प्रति पाउण्ड शरीर भार के ऊपर इस मात्रा में ( Thyroid $\frac{1}{20}$ grain per lb. of body Weight ) देना लाभप्रद होता है। इससे पचन में सुधार होकर क्षुधा बढ़ती है। बालक आहार अधिक लेता है और दुर्बलता कम होती है।

कई एक पेटेण्ट योग जीवतिक्ति 'ए' और 'डी' के मिलते हैं इनका भी सेवन कराया जा सकता है जैसे 'यूनिवाइटकोलीन', 'एवडेकड्राप', 'एडेक्सो-लीन', 'एडविटाल', 'पैलेडाक', 'विकाडेक्सामीन' आदि।

आयुर्वेदोपचार—गाम्भारी फल या काश्मरी फल का दूध के साथ सेवन लाभप्रद रहता है। यह अत्यधिक मीठा होता है। फलतः बच्चों को इसके सेवन की इच्छा नहीं जाग्रत होती है। लहसुन को दूध में पकाकर उस दूध का सेवन या नागबला ( गंगेरन ) का दूध में पकाकर सेवन या पिप्पली से दूध पाक कर उसका सेवन या अल्प मात्रा में शुद्ध शिलाजीत का १२५–२५० मि० ग्रा० की मात्रा में सेवन कराना सुखण्डी ( शोष ) को दूर करता है। अश्वगंधा के चूर्ण का दूध, घृत या जल में पाक करके मिश्री के साथ सेवन कराना भी कृश बालक को पुष्ट करता है। घोंघे को मय कीड़े के साथ ताजा लेकर एक या दो को पानी में खौलाकर उसके रस का सेवन सुखण्डी रोग को दूर करता है। बने बनाये योगों में भोजन के बाद अरविन्दासव का प्रयोग १ तोले की मात्रा में समान मात्रा में जल मिलाकर उत्तम रहता है। कई तैल हैं जिनका वातरोगाधिकार में पाठ आता है, जैसे नारायण तैल, माष तैल या महाबला तैल इनका अभ्यंग हितकर है। अगर ज्वर रहता है तो लाक्षादि तैल, महालाक्षादि तैल या चंदन बला लाक्षादि तैल का अभ्यंग कराना चाहिये, साथ में चातुर्भद्र योग का ( अतीस, काकड़सींगी, नागरमोथा और पिप्पली को समान मात्रा में लेकर बना चूर्ण ) सेवन २५०–५०० मि०ग्रा० तक दूध के साथ उत्तम रहता है। यदि बालक माँ का दूध पी रहा हो तो उसको बन्द कराके डिब्बे के दूध या बकरी के दूध पर रखना चाहिये। यदि पतले दस्त प्रभृति पचन दोष मिलते हों शंखभस्म, बराट भस्म, शम्बूक भस्म,

मुक्ता भस्म, शुक्ति भस्म, महागंधक ६०–१२० मि०ग्रा० तक की मात्रा में और चन्द्रोदय या मकरध्वज २५ मि० ग्रा० की मात्रा में मिलाकर देना चाहिये। पतले दस्त अधिक आ रहे हों तो उस बच्चे को दाडिम चतुःसम या लवङ्ग चतुःसम योग (बालरोगाधिकार भैषज्य रत्नावली) १ ग्राम-२ ग्राम की मात्रा में मधु से चटाना अच्छा कार्य करता है।

कई बार गुदा से अण्डे का चढ़ाना भी बड़ा उत्तम पड़ता है। यह रोग का निदान एव चिकित्सा दोनों ही है। एक कम्बल के टुकड़े पर चिकना मोटा कपड़ा फैलाकर उस पर अण्डे को फोड़ कर रख दे। पश्चात् बालक को इस प्रकार बैठावे कि उसके गुदा का छिद्र उस स्थान पर आवे। गुदा के छिद्र से वह अर्ध द्रव पदार्थ बड़े वेग से खिंच जावेगा। एक बार में एक अण्डे का द्रव चढ़ाना चाहिये। कुल तीन सप्ताह तक करने से लाभ होता है।

**सुधाष्टक योग**—प्रबाल भस्म १ भाग, सीप (शुक्ति) भस्म २ भाग, शंख भस्म ३ भाग, कपर्द भस्म ४ भाग, कछुवे की पीठ की हड्डी की भस्म ५ भाग, गोदन्ती भस्म ६ भाग ले। सबको नीबू के रस में खरलकर, सुखाकर शीशी में भरकर रख ले। मात्रा $\frac{1}{8}$–$\frac{1}{2}$ ग्राम सुबह शाम दूध से। बाल-शोष एवं चूने की कमी से होनेवाले बच्चों के रोगों में उत्तम लाभप्रद पाया जाता है।

★

# अध्याय ६

## पोषण की कमी से होनेवाले रोग

## फक्क-रोग
## ( Rickets )

**निरुक्ति**—बालकों में पाया जानेवाला यह अस्थि संस्थान का रोग है। नवनिर्मित अस्थि धातु में उसकी पुष्टि या मजबूती के लिये खटिक ( Calcium ) एवं फास्फोरस के संचय की नितान्त आवश्यकता होती है। यदि किसी कारण से उसकी अस्थियों में इन धातुओं का भरण न हो तो वे मृदु हो जाती हैं या टेढ़ी हो जाती हैं। उनमें मजबूती नहीं आती अर्थात् बालक के अस्थि-संस्थान की समुचित वृद्धि नहीं होती। इस व्याधि को अंग्रेजी में 'रिकेट्स' कहते हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन साहित्य काश्यप संहिता में इस रोग का वर्णन फक्क रोग के नाम से आया है। आमतौर से बच्चा की एक साल की आयु में यदि उसके अस्थि संस्थान का विकास समुचित हुआ हो तो अपने पैरों पर खड़े होकर चलने लगता है, परन्तु यदि ऐसा न हो तो यह समझना चाहिये कि वह फक्क रोग से पीड़ित है।

**बालः संवत्सरापन्नः पादाभ्यांयोनगच्छति**
**सफक्क इति विज्ञेयस्तस्य वक्ष्यामिलक्षणम्। ( का० सं० चि० )**

आधुनिक युग के वैज्ञानिकों ने इस रोग के सम्बन्ध में बहुत से अनुसंधान किये और अन्त में यह प्रमाणित किया कि इस रोग में मूल हेतु बालकों के पोषण में जीवतिक्ति डी (Vitamin D) की कमी होती है। जीवतिक्ति 'डी', "एर्गोस्टेराइल" नामक द्रव्य जो त्वचा की गहराई के स्तरों में विद्यमान रहता है सूर्य प्रकाश से विशेषतः उसके विशेष प्रकार की किरणों (Ultra Violet Rays)

की सहायता से निर्मित होता है। कहने का तात्पर्य है कि त्वचा में 'एरगो-स्टेराल' प्राकृतिक अवस्था में ही पाया जाता है और सूर्य प्रकाश या किरणों की उपस्थिति में इनकी सहायता से वह जीवतिक्ति 'डी' के रूप में परिणत हो जाता है। प्रकृति में काड मछली, हैलिबट मछली के यकृत की वसा में, अण्डे की जर्दी ( yolk ) में तथा अपेक्षाकृत अल्प मात्रा में दूध में 'एरगो-स्टेराल पाया जाता है। इनके सेवन के अनन्तर उसको जीवतिक्ति 'डी' के रूप में बदलने के लिए सूर्य प्रकाश की अपेक्षा रहती है। सूर्य किरणों की सहायता से यह जीवतिक्ति 'डी' के रूप में परिणत हो जाता है।

अब तब 'जीवतिक्ति' 'डी' शरीर में क्या करता है--यह पूर्णतया तो ज्ञात नहीं है; फिर भी ऐसा माना जाता है कि वह आँत से खटिक और फास्फोरस का शोषण कराने में सहायक बनता है, जिससे रक्त में पर्याप्त मात्रा में खटिक और फास्फोरस भर जाता है। पुनः इन दो द्रव्यों की उपस्थिति से बालक का अस्थि संस्थान पूर्ण विकास और वृद्धि को प्राप्त करता और पुष्ट होता है।

यदि शरीर की प्राकृतिक क्रिया सुचारु रूप से न चले तो बालक फक्क रोग 'रिकेट्स' से पीड़ित हो जाता है।

**हैतुकी**--भौगोलिक विभाजन--यह रोग सर्वत्र ही पाया जाता है, फिर भी उष्ण कटिबंध के देशों में तथा अति शीत देशों में जैसे आइसलैण्ड में कम पाया जाता है। अपूर्ण प्रसवों ( Premature Infants ) में पूर्ण प्रसवों की अपेक्षा अधिकता से होता है।

**आयु**—चार मास की आयु के पूर्व नहीं पाया जाता; परन्तु उसके बाद दो वर्ष की आयु तक प्रचुरता से मिलता है। इसके बाद की आयु में प्रायः नहीं होता है।

**आहार**—स्तनपायी बच्चों में कृत्रिम पोषणों पर पलनेवाले बालकों की अपेक्षा यह व्याधि कम पायी जाती है; परन्तु स्तन-पायी में कदापि नहीं होगी ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि माता के निजी आहार के ऊपर उसके दूध की पोषकता निर्भर करती है। उदाहरणार्थ यदि माता को जीवतिक्ति 'डी' धारण करने वाले आहार जैसे दूध, घी, मक्खन,

अंडा आदि खाद्य मिलता है साथ ही उसको सूर्य-प्रकाश भी प्रतिदिन प्रचुर मात्रा में मिलता है तो उसके दूध या स्तन्य पर आश्रित रहने वाले बच्चे में फक्क नहीं होता है ।

मातृ स्तन्य पर जीनेवाले बच्चों में पुनः नवें-दसवें मास के बाद दूध पीना छोड़ देने के बाद जब वे स्वतन्त्र दूध पर चलने लगते हैं उस समय पुनः हीनपोषण से दूसरे वर्ष की आयु तक उनमें फक्क के होने की सम्भावना रहती है । इसीलिए इन बच्चों के पोषणों में पृथक्तया विटामिन 'डी' के बने यौगिकों की कुछ बूँदों के पिलाने की प्रथा सी चल गई है । हालाँकि बच्चों को यदि ताजा दूध और पानी पर या सूखे चूर्ण के घोलों पर ही ढंग से रखा जाय और उनको ऊपर से बाहर सूर्य प्रकाश में खेलने की व्यवस्था की जाय तो कोई कारण नहीं है कि उनमें विटामिन 'डी' की कमी पड़े या वे फक्क रोग के शिकार हों ।

**ऋतु**—शीत देशों या शीत ऋतुओं में जब कि बालकों को सूर्य प्रकाश कम मिलता है साथ ही जब ताजे आहार, दूध और अंडों का, विटामिन 'डी' का धारण भी कम मात्रा में हो जाता है—इस रोग की सम्भावना अधिक रहती है ।

**वृद्धि**—यदि बालक की वृद्धि वेग से हो रही हो तो फक्क की सम्भावना अधिक रहती है, ये बच्चे कृश नहीं होते प्रत्युत अधिक स्थूल किन्तु शिथिल शरीर के होते हैं ( Fat but Flabby ) । बाल-शोष के अनन्तर सुधार पर बच्चा शीघ्रता से वृद्धि करता है अधिक मोटा होने लगता है और उसका भार बढ़ने लगता है । ऐसे बच्चों में फक्क होने की सम्भावना बहुत रहती है । शोषणाभाव—बालकों हीन पोषण के अतिरिक्त कुछ रोग फक्क पैदा करने में सहायक होते हैं । आंत्र से यदि विटामिन 'डी' का उचित मात्रा में शोषण न हो तो भी 'डी' विटामिन की कमी से रोग हो जाता है । इन रोगों में मेदातिसार ( स्टेटोरिया ) प्रमुख है ।

**विकृत शारीर**—सबसे महत्व का विकार फक्क रोग में अस्थि-कंकाल के सम्बन्ध में पाया जाता है । अस्थियों के बढ़ने वाले अग्र भाग पर 'कैलशियम'

और 'फासफोरस' की मात्रा कम हो जाती है। इनमें कुछ रोगियों में फासफोरस की कमी से होने वाला ( Low-Phosphorus type ) कहते हैं। चूने की कमी से होने वाले फक्क में कई अन्य लक्षण उपस्थित रहते हैं जैसे अपतानिका ( Tetany ); आक्षेप ( Convulsion ); घर्घर स्वर-यंत्राकर्ष ( लैरिजिस्मस स्ट्राइडुलस ) ये तीनों लक्षण जब उपस्थित रहते हैं, तो इस अवस्था विशेष को आकर्ष प्रियता ( Spasmophilia ) कहा जाता है। दूसरा महत्व का विकार फक्क से पीड़ित बच्चों में यह होता है कि उनके मल और मूत्र से कैलसियम और फास्फोरस का अत्यधिक नाश होता रहता है।

**लक्षण**--रोग का आक्रमण धीरे-धीरे होता है इसलिए चतुर्थ मास की आयु तक कोई निश्चित लक्षण नहीं दिखाई पड़ते, बालक देखने में स्वस्थ प्रतीत होता है परन्तु निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाय तो निदान में सहायता होती है।

**कपाल**--फक्क से पीड़ित बच्चों का कपाल ( Skull ) का अस्थि भवन ( Ossification ) बहुत धीरे-धीरे और अनियमित होता है। जिससे पूर्व रन्ध्र ( Ant. frontanelle ) काफी बड़ा रहता है। यह रन्ध्र अठारहवें महीने में भर जाता है परन्तु रोग से पीड़ित बच्चों में यह द्वितीय से तृतीय वर्ष की आयु तक खुला पाया जाता है। पूर्व एवं पार्श्व कपालास्थियों ( Frontal & Parital bone ) में भी अस्थि-भवन सम्बन्धी अनियमिततायें पाई जाती हैं। उनके ऊपर कुछ उभरे स्थल पैराट की ग्रन्थि ( Parrot glands ) पाई जाती हैं। पुरः और मध्य सीमन्तों ( The sagital and Coronal ) में जो पूर्व रन्ध्र के चारो कोणों से गुजरते हुए उभारों के मध्य से दरार (Furrows) जैसे प्रतीत होते हैं जिससे कपाल का आकार गोल हो जाता है और उसके ऊपर एक क्रास जैसा बन जाता है।

कपाल के अन्य भागों में अस्थियों के तनुता और दरार के क्षेत्र मिलते हैं जो पार्श्व कपालास्थि के नीचे के भाग पर एवं पश्चाद् पार्श्वास्थिसीमान्त (Occipito parietal suturs) पर विशेषतः स्पर्शन करते समय अनुभूत होते हैं। अगर फक्क रोग कई मासों से बालक में घर कर लिया हो, तो बालक के

कपाल का आकार वर्गाकार ( Square shaped ) हो जाता है, उसका शीर्ष ( Top ) चपटा और मस्तक बहुत ऊंचा प्रतीत होता है।

फक्क पीड़ित बालकों में दाँतों का निकलना भी विलम्ब से होता है अर्थात् दाँत देर से निकलते हैं। कई बार दूसरे साल की आयु तक प्रथम दाँत भी नहीं निकला रहता। कई बार पूर्णतया स्वस्थ बच्चों में भी दाँत देर से निकलते हैं, अतः जब अन्य लक्षणों की उपस्थिति के साथ-साथ बिलम्बित दन्तोद्भव पाया जावे; तो फक्क रोग के विनिश्चय करने में यह लक्षण सहायक होता है। रोग से पीड़ित बच्चों के दाँत भी मजबूत नहीं आते, समय से पूर्व टूट भी जाते हैं। इनके भोजन में प्रायः जीवतिक्ति 'डी' की कमी होती है इसलिये दाँतों में कृमि ( Caries ) लग जाते हैं। इन बच्चों में निकलने वाले दूसरे दाँत भी प्रभावित हो सकते हैं; परन्तु घने निकलते हैं। इन बच्चों के नाक और गला गाढ़े कफ से भरे मिलते हैं। जिससे साँस लेने में नाक में कुछ रुकावट प्रतीत होती है जिससे उनका तालु भी सँकरी और ऊंचा बनता है।

**वक्ष**—छाती की पशुकाओं में होने वाली गाठें ( Beadings ) सर्व-फक्क रोग में मिलती है जहाँ पर पशुकाओं एवं उपास्थियों ( Cartilages ) का सङ्गम है वहीं पर ये उभार पाये जाते हैं। अधिकतर चौथी, पाँचवीं और छठवीं पशुका के संगम पर चुचुक के बाहरी ओर इनकी अधिकतर उत्पत्ति होती है। रोग की तीव्रावस्था में ये स्पष्टतया दिखलाई पड़ते हैं, इसको फक्कीय-माला ( Ricket Rosary ) की संज्ञा दी गई है। मृदु रोगों में इनका अनुभव स्पर्श के द्वारा किया जा सकता है। पशुकास्थियाँ मृदु हो जाती हैं जिससे छाती चपटी हो जाती है और उरोस्थि ( Sternum ) आगे को निकल जाता है। इस अवस्था को कपोत-वक्ष ( Pigieon breast ) कहते हैं। तीव्र अवस्था में ऊपर से नीचे उरोस्थि के दोनों तरफ खाईं जैसी लम्बी लकीर पाई जाती है यकृत के ऊपरी किनारे पर दाहिने पार्श्व में और आमाशय के ऊपर बायें पार्श्व में पशुकायें आगे को निकल जाती हैं जिससे एक यकृत के

किनारे पर खाईं बन जाती है जिसे हैरिसन की सीता ( Harrision's Sulcus ) कहते हैं।

पृष्ठवंश तथा श्रोणि ( Spine & Pelvis )—पृष्ठ वंश में अग्रावनमन ( आगे को झुकना या ( Kyphosis ) और कई बार पार्श्वावनमन ( एक पार्श्व की ओर झुकना या ( Scoliosis ) कशेरुकाओं की मृदुता के कारण पाया जाता है। कई बार पेशी और बन्धनों की शिथिलता के कारण भी यह विकार होता है। श्रोणि का विकार यदि बालिकाओं में हो जाय तो उससे उनके युवावस्था में प्रसव तथा गर्भाधान काल में कठिनाई पैदा होती है।

लम्बी अस्थियाँ—लम्बी अस्थियों के कीकसाग्र ( epiphysis ) बढ़े हुए मिलते हैं जो विशेषतः मणिबन्ध ( wrist ) और गुल्फ ( ankle ) के क्षेत्र में अधिक व्यक्त रहते हैं। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में क्ष-किरण की सहायता से अन्तः प्रकोष्ठास्थि का अधोप्रान्त देखकर निदान किया जा सकता है।

कीकसाग्र के परिवर्त्तनों के अतिरिक्त लम्बी अस्थियों की वक्रता ( टेढ़ापन ) भी इस रोग में पाया जाता है। अस्थियों की मृदुता, पेशियों के खिंचाव और शरीर के भार के कारण दोनों पैरों की हड्डियों में अर्थात् उरु ( Femur ) तथा अंतः एवं जहिर्जंघास्थि में ( Tibia & Fibula ) यह वक्रता प्रायः देखने को मिलती है। घुटने और हाथ के बल चलने वाले बच्चों में हाथ की हड्डियों में भी वक्रता आ जाती है। पीड़ा रहित भग्न जो अनवमित प्रकार ( ग्रीन स्टिक ) के होते हैं अस्थियों में प्रायः रोग से पीड़ित बच्चों में पाये जाते हैं। पृष्ठ, शाखा एवं श्रोणि की अस्थियों के इन विविध विकारों से युक्त बच्चे वामन ( छोटे कद ) हो जाते हैं।

इस रोग से आक्रांत बच्चों में पाण्डु या रक्ताल्पता भी सामान्तया पाई जाती है। पेशियों का बल ( Loss of Muscular tone ) तथा बन्धनों की शिथिलता ( Laxity of Ligaments ) के कारण रोग से पीड़ित बालकों में बैठना, खड़ा होना या पैरों के बल चलना, स्वस्थ बच्चों की अपेक्षा विलम्ब से शुरू होता है। उदर की दीवाल बनाने वाली पेशियों की शिथिलता,

उदर का आध्मान, आंत्रगत अपचन के कारण वायु पैदा होना और प्लीहा का किंचित बढ़ा हुआ पाया जाना भी मिलता है।

## आकर्ष प्रियता

## ( Spasmophilia )

जैसा कि ऊपर में बताया जा चुका है चूने की कमी से होनेवाले फक्क के प्रकार को, जिसमें तीन वातिकलक्षण प्रमुखतया मिलते हैं जैसे १. अपतानिका ( Tetany ) २. घर्घरस्वरयंत्राकर्ष तथा ३. आक्षेप ( Counlsion ) इन तीन लक्षणों के आधार पर इस रोग का वर्णन ही आकर्षप्रियता नामक स्वतन्त्र रोग के रूप में किया जाता है। वास्तव में यह फक्क रोग का ही एक प्रकार है। परन्तु वर्णन की सुविधा की दृष्टि से इसे एक पृथक् रोग के रूप में वर्णन किया जाता है।

अपतानिका ( Tetany )—खटिक ( कैल्शियम ) की रक्तगत सीरम में कमी हो जाती है। इसकी मात्रा ७ मि० ग्रा० प्रतिशत से भी कम हो जाती है। अस्तु इस रोग में आकुञ्चन के दौरे आते हैं; ये आकुञ्चन या आक्षेप एक विशेष प्रकार के होते हैं। जैसे इस अवस्था में हाथ और पैर की पेशियों में आकर्ष ( Spasm ) पाया जाता है जिसे कर-पादाकर्ष ( Carpo-pedalspasm ) कहा जाता है, अन्य स्थानों में पेशियों के समुदाय में भी यह आकर्ष सम्भव है। आकुञ्चन काल में हाथ का अँगूठा अन्दर की ओर हाथ के तलवे की ओर मुड़ जाता है और हाथ मणिबंध पर संकुचित हो जाता है। करांगुलि-मूलीय संधि ( हाथ एवं अँगुलियों के मूल ) ( Mata-corpophalangeal ) संकुचित हो जाती है और अँगुली-पर्वान्तरीय हाथ की अँगुलियों के दूसरे जोड़ ( Interphalangeal joints ) फैल जाते हैं। इसे 'एकाउचर्स' का हाथ ( Accoucher's hand ) कहा जाता है। जब आक्षेप पैर (Feet) में आता है तो पैर नीचे और भीतर की ओर घूम जाता है और अँगूठा संकुचित हो जाता है।

हाथ और पैर के ये आक्षेप प्रारम्भ में कुछ पीड़ायुक्त होते हैं—कुछ मिनटों तक या कई घण्टों तक भी रह सकते हैं—हाथ और पैरों की स्थिति को बदलने पर बालक पीड़ा का अनुभव करता है। कर पादाङ्कुचन, अपतानिका की बढ़ी हुई स्थिति में पाया जाता है। बीच-बीच में हाथ और पैरों में आक्षेप के दौरे वायु के कारण होते हैं फिर बालक स्वस्थ हो जाता है और "गतेवेगे भवेत्स्वाथ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु।"

आक्षेपों के आने से रोग का रूप प्रकट हो जाता है, परन्तु इसके पूर्व रोग की अवस्था में रोग का ज्ञान करने के कई विशेषज्ञों ने कुछ चिह्न निर्धारित किये हैं। जिनके ऊपर आश्रित रहकर रोग का अनुमान किया जा सकता है। ये चिह्न निम्नलिखित तीन विशेषज्ञों के नाम से प्रचलित है :—

**सेवोस्टेक के चिन्ह**—मौखिकी तन्त्रिका (Facial nerve) की शाखायें हन्वस्थि के शृंग (Ramus of the mandible) पर फैली मिलती है; अगर इस स्थान पर हल्के हाथ से उनको ठोंका जाय तो उस विशिष्ट उत्तेजित शाखा के द्वारा सम्बन्ध रखने वाली चेहरे की पेशियाँ थोड़े समय के लिये सिकुड़ जाती हैं (Twitching); और इस प्रकार परीक्षा करते हुए आँख के वर्त्म, नासा, मुख के कोण, गले के पार्श्व की पेशियों (Platysma) का भी बारी-बारी से, एकैकशः संकुञ्चन (Twitching) पैदा करके देखा जा सकता है। यह फक्क रोग के बिलकुल प्रारम्भ में मिल सकता है।

**ट्रोसियस के चिन्ह**—हाथ या पैर को थोड़ी देर तक सिरा के रक्त को लौटने से रोकने के लिये दबाकर रखने से कर-पादीय आकुञ्चन होने लगते हैं। (Trousseu's sign), अर्बका चिह्न (Erb's sign), विद्युतधारा (Galvanic current) द्वारा पेशियों के उत्तेजित करने से उसकी क्षुब्धता (Irritabity) बढ़ जाती है। यह भी रोग का प्रारम्भिक चिह्न है।

**घर्घर स्वर यन्त्राकर्ष**—बालकों में पायी जाने वाली यह व्याधि है जिसमें बीच-बीच में रोग के दौरे आते रहते हैं। दौरे के समय में आक्षेपों के कारण कण्ठद्वार (glottis) बन्द हो जाता है। तेज आक्रमण में बच्चे का श्वसन

कर्म रुक जाता है, संकोच ढीला पड़ जाता है जिससे पतले छिद्र से ही वायु का पुनः वेग के साथ प्रवेश वक्ष के भीतर होता है। अन्दर की ओर जोर से साँस लेते हुए एक प्रकार कूजन ( whoop or crowing ) का शब्द होता है। सामान्यतः मामूली दौरों में श्वासावरोध और नीलिमा नहीं पाई जाती है केवल अन्तः श्वसन ( Inspiration ) के कूजन की ऊँची आवाज भर मिलती है विशेषतः उस समय जब कि बच्चा अधिक हँसता या रोता हो ऐसे कितने ही दौरे दिन में आते रहते हैं; परन्तु ये घातक बहुत कम होते हैं। यह अपने आप समय से ठीक हो जाता है प्रयत्न ऐसा करना चाहिये कि बालक को जोर से रोना न पड़े।

**आक्षेप या मूर्च्छा** ( Convulsions )—बेहोशी के दौरे अपस्मार सदृश ही आते हैं। संशामक औषधियों के प्रयोग तथा फक्क रोग की चिकित्सा अर्थात् खटिक योगों के उपयोग से लाभ पाया जाता है।

स्वेद और दन्तोद्गम—फक्क से पीड़ित बच्चों में माथे से पसीना बहुत आता है, जब बालक सोता रहता है उस समय में अधिक दिखलाई पड़ता है। इन बच्चों में दाँत भी देर से निकलते हैं।

उपद्रव--फक्क रोग के दो प्रधान उपद्रव होते हैं—(१) श्वसन-संस्थान के उपसर्ग ( २ ) अतिसार। अन्य उपद्रवों में नासास्राव, मध्य कर्ण शोथ, वक्ष की दीवाल की विरूपता, कास, श्वसनी शोथ, श्वसनी फुफ्फुस शोथ ( Broncho Pneumonia ) एक प्रबल उपद्रव के रूप में पाया जाता है। फक्क से पीड़ित बच्चों में इस रोग का पुनरावर्तन भी होता रहता है।

साध्यसाध्यता--बिना उपद्रव का फक्क रोग घातक नहीं होता है, परन्तु उसके उपद्रव विशेषतः श्वसनी फुफ्फुसपाक ( Broncho-pneumonia ) तथा अतिसार बढ़कर घातक रूप धारण कर सकते हैं।

चिकित्सा—स्निग्ध एवं उष्ण-गुण भूमिष्ठ आहार बालक को देना चाहिये। जीवतिक्ति 'डी' की पर्याप्त मात्रा पहुँचाने के लिए 'काड' मत्स्ययकृत्वसा ( Liver oils ) देना चाहिये। सूर्य प्रकाश या 'अल्ट्रावायलेट' भी पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। १५००–२००० अंतर्राष्ट्रीय इकाई ( I. U ) की

मात्रा में प्रतिदिन देना चाहिये। अति मात्रा में जीवतिक्ति का उपयोग भी हानिप्रद होता है। उससे वृक्क तथा धमनियों में कैल्सी भवन ( Calcification ) हो जाता है। काडमत्स्य यकृत्वसा के कैल्सिफेराल; मिले योग उत्तम होते हैं--अन्य योग जिनमें माल्ट भी मिला हो, नहीं देना चाहिये। विशुद्ध 'हैलिबट' वसा सर्वोत्तम होती है जिसका १० बूँद लगभग १७०० अन्तर्राष्ट्रीय इकाइ ( I. U ) की पूर्ति करता है।

रोग में सुधार या प्रगति का निश्चय पक्ष में एकबार क्ष-किरण के द्वारा मणिबंध की परीक्षा करके कर लेना चाहिए। इन फक्क-निरोधी चिकित्साओं के अतिरिक्त पेशी द्वारा चूने के यौगिक जैसे 'कैल्शियम ग्लुकोनेट' १०% घोल का १०-२० मि० ली० शिरा द्वारा या पेशीमार्ग से देना चाहिये। यदि रक्ताल्पता हो तो लौह के योग भी देना चाहिये।

पैरों को टेढ़ा होने से बचाने के लिए उसको प्रारम्भ में पैरों पर खड़ा होने के लिए प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए, बल्कि दोनों पैरों में लम्बी कुशा ( Splints ) बाँध देना चाहिए। यदि पैरों में वैरूप्य ( Deformity ) आ गई हो तो उसकी भी आगे अधिक प्रगति न हो; इसलिए पैरों के बाहर की ओर से कुशा बाँधकर शाखा को स्थिर करना चाहिए। पैरों का अभ्यंग करना बड़ा ही लाभप्रद होता है, एतदर्थ पैरों की तेल से मालिश करनी चाहिये इससे शिथिल हुए पेशी और बन्धन दृढ़ हो जाते हैं।

रोग का प्रतिरोध—फक्क रोग से बचाव बड़ा आसान होता है। यदि बालक में फक्क रोग की सम्भावना हो तो उसके पेय गाय के दूध में मिलाकर ५०० से ८०० अंतर्राष्ट्रीय इकाई ( I. U ) के रूप में जीवतिक्ति 'डी' प्रतिदिन देना चाहिए। हैलिबट यकृत्वसा ६ बूँद प्रतिदिन देना चाहिए। इस विधान को २ वर्ष की आयु से प्रारम्भ करके प्रथम पाँच वर्ष की आयुपर्यन्त चालू रखना चाहिये। उसके आहार में जीवतिक्ति 'डी' युक्त दूध, मक्खन आदि की व्यवस्था करनी चाहिये। सूर्य प्रकाश भी उसे पर्याप्त मात्रा में मिले इसके लिए समुचित मात्रा में इसकी भी व्यवस्था करनी चाहिये।

फक्क के प्रकार—मूलतः दो प्रकार हैं। १—बहिर्जात (Exogenous)-जिनमें स्पष्टतया विटामिन 'डी' का भोजन में अभाव हो। २—अन्तर्जात (Endogenous) शरीर के भीतर रासायनिक परिवर्तनों का ठीक न होना।

१—विलम्बित फक्क (Late Rickets)—शिशु की अल्पायु में न होकर उसके पश्चात् कालीन बाल्यावस्था में होता है जैसे ५ वर्ष की आयु में क्वचित और आगे चलकर युवावस्था में प्रारम्भ में दिखाई पड़ता है। इनकी अस्थियाँ मृदु (Osteomalacia) हो जाती है। इस रोग की उत्पत्ति में भी सुधा (Cal) फास्फोरस और जीवतिक्ति 'डी' की भोजन में प्रचुर मात्रा में न मिलना तथा सूर्य प्रकाश की कमी ही हेतुभूत होता है।

२—औदरिक फक्क (Coeliac Rickets) शरीर भार की स्थिरता, विकास का पूर्ण न होना प्रभृति लक्षण इस प्रकार से पीड़ित बच्चों में मिलते हैं। इस प्रकार के आंत्रों के द्वारा मेद का शोषण न होना हेतु के रूप में पाया जाता है। इससे बालक में मेद में घुलनशील जीवतिक्ति 'डी' का शोषण नहीं हो पाता। सात वर्ष की आयु के बाद ऐसे बालकों में सुधार होने लगता है। चिकित्सा पूर्व कथित विधानों से ही की जाती है।

३—अंतर्जात—जैसे वृक्कजफक्क (Renal Rickets) इस प्रकार में तीन लक्षण प्रमुखतया मिलते हैं १. चलजानु (Knock-Knee), २. अपूर्ण विकास या वामनता (Renal dwarfism) ३. अस्थियों की विरूपतायें (Skeletal deformities), इसके अतिरिक्त वृक्क-विकार, वृक्क की तन्तुमयता (Fibrosis of Kidneys) के कारण तृषा, बहुमूत्रता। मूत्र की आपेक्षिक गुरुता का कम होना, मूत्र शुक्लि (Albumin) तथा निर्मोक (Casts) की उपस्थिति भी रहती है।

रोग का कारण सम्पूर्णतया नहीं जाना जा सका है। तथापि कुछ रासायनिक कारण प्रधान माने जाते हैं जैसे—रक्त में निरीन्द्रिय स्फुर (Inorganic Phosphorus) की मात्रा बहुत हो जाती है। अर्थात् जहाँ प्राकृतिक ४ से ६ मिलीग्राम प्रति १०० बूँद की होती है बढ़कर १० से २४ मि० रहता है या प्राकृत से कम हो जाता है। जिससे कैल्शियम और फास्फोरस का आपसी

अनुपात बिगड़ जाता है—फलस्वरूप कैल्शियम फास्फेट की यथोचित मात्रा में अस्थियों का भरण नहीं हो पाता है और रोग फक्क का रूप धारण कर लेता है। चूने की अल्पता होने पर भी इस रोग में ( Acidosis ) रहने के कारण अपतानिका ( Tatany ) के दौरे नहीं होते।

रोग की असाध्यता दिनोंदिन बढ़ती जाती है, मूत्र विषमयता के दौरे होते रहते हैं कई बार मूत्र विषमयता ( Uraemia ) प्रबल रूप धारण करके प्राण का घातक हो जाता है। आमतौर से दस या बीस वर्ष की आयु में बालक का अन्त हो जाता है। फक्क रोग की सामान्य चिकित्सा विशेष लाभप्रद नहीं होती। तथापि क्षारों की प्रचुर मात्रा में उपयोग ( १०० ग्रेन प्रतिदिन ), कैल्शियम ग्लुकोनेट ( ६० ग्रेन प्रतिदिन ) तथा विटामिन 'डी' ( २००० I. U. प्रतिदिन ) से अस्थियों में सुधार पाया जाता है फिर भी वृक्क की दशा में कोई विशेष सुधार नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'जेनेविस डी$_2$' ( Genevis $D_2$ ) का सेवन बड़ा लाभप्रद होता है। इसकी एक ट्यूब मात्रा का मास में एक या दो बार सेवन कराना होता है।

४—फास्फेट की कमी से होने वाला फक्क—

वृक्क के छोटे-छोटे स्रोत फास्फोरस का शोषण नहीं कर पाते जिससे रक्त में फास्फोरस की कमी यानी २ मि० ग्रा० प्रति १०० बूँद हो जाती है। आमतौर से इस प्रकार का फक्क रोग दूसरे वर्ष की आयु में होता है। इसमें विटामिन 'डी' के प्रयोग से भी विशेष लाभ नहीं होता फिर भी बड़ी मात्रा पचास हजार से एक लाख अ० ई० ( I. U. ) की मात्रा में प्रतिदिन देने से कुछ हित हो सकता है।

५—एक अन्य प्रकार का भी फक्क रोग पाया जाता है। जिसमें वृक्क की नलिकाओं द्वारा न केवल फास्फोरस का बल्कि शर्करा और 'अमाइनो एसिड्स' का भी शोषण नहीं होता। इस अवस्था में भी जीवतिक्ति 'डी' का उपयोग उतना उत्तम नहीं रहता है।

६—कई ग्रंथकारों ने वृक्क जन्य अम्लरक्तता ( Renal Acidosis ) के साथ पाया जाने वाला एक विशेष प्रकार के फक्क का वर्णन किया है जिसमें

मूत्र के द्वारा अधिक मात्रा में क्षार निकल जाता है और वृक्क की नलिकाओं द्वारा अमोनियम का निर्माण नहीं हो पाता। शरीर के रक्त में अम्लोत्कर्ष पाया जाता है। दस से पन्द्रह वर्ष की आयु में बालक प्रायः इस रोग से पीड़ित मिलते हैं। अधिक मात्रा में जीवतिक्ति 'डी' के प्रयोग से कुछ लाभ हो सकता है।

**आयुर्वेदोपचार**—फक्क रोग की चिकित्सा बहुत कुछ बाल शोष सदृश ही होती है। फक्क से पीड़ित बालक का निशोथ से सिद्ध दूध पिलाकर रेचन कराना चाहिये, पश्चात् कल्याण घृत, क्षीर-कल्याण घृत, ब्राह्मी घृत, रास्ना सिद्ध घृत, मधुक ( मुलैठी ) से सिद्ध घृत का प्रचुर प्रयोग कराना चाहिये। वात रोगाधिकार में पठित नारायण, विष्णु, माष, प्रसारणी या बला प्रभृति तैलों का अभ्यंग सूर्य प्रकाश में कराना चाहिये। इनमें सर्वोत्तम बला या महाबला तैल पड़ता है। इसके अभ्यंग से किसी भी उमर में किसी भी कारण से होने वाला आक्षेप शान्त होता है साथ ही धातुओं का वर्द्धन और जीवतिक्ति 'ए' और 'डी' की पर्याप्त प्राप्ति होती चलती है, बच्चा रोग मुक्त हो जाता है।

काश्यप संहिता में राज तैल का पाठ पाया जाता है। इसका भी अभ्यंग कराके लाभ प्राप्त किया जा सकता है। बहुत प्रकार के घृत, तैल, दूध, यूष, और मांस के प्रयोगों का भी ( जिनसे जीवतिक्ति ए० डी० की पूर्ति के साथ ही भोजन का भी समाधान हो सके ) उल्लेख मिलता है।

शरीर में चूने और फासफोरस की कमी की पूर्ति के लिए प्रबाल भस्म, शंख भस्म, शुक्तिभस्म, वराट भस्म, शंबूक भस्म, कछुवे की हड्डी का भस्म, मृग श्रृंग भस्म को स्वतंत्र या मिश्रण करके ६० मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में चार बार मधु से चटाया जा सकता है। इसमें यदि चन्द्रोदय या मकरध्वज या रस सिन्दूर १० मि० ग्रा० प्रति मात्रा में मिला दिया जाय तो और सुन्दर कार्य होता है। भैषज्य रत्नावली का प्रबाल पंचामृत योग भी यही कार्य करता है। फक्क रोग में वर्णित सुधाष्टक योग का उपयोग भी इस रोग में उत्तम लाभ दिखलाता है।

पेटेण्ट योगों में बहुत से बालामृत के नाम से व्यवहृत होने वाले योग भी अच्छा कार्य करते हैं। वास्तव में ये 'सिरपहाइपो फास्फेट आफ लाइम' या 'कैल्शियम फास्फेट' के शर्बत जैसे पदार्थ होते हैं। जिनसे चूने की कमी दूर होती है और अस्थियाँ मजबूत होती हैं और भी बहुत से योग जैसे 'कैल्सिफेराल', 'डेल्टोलीन', 'एडिकाल १२' 'सीपर कैल्जमीन, आदि उत्तम कार्य करते हैं।

## शुक्तिका या नक्तांध्य
## ( Xerophthalmia )

बालकों के नेत्र में पायी जाने वाली यह एक व्याधि है जिसमें नेत्रश्लेष्म-कला में (Conjunciva) श्वेत वर्ण के धब्बे पैदा होते हैं—बालक को नक्तांध्य ( रात में दिखलाई नहीं पड़ता ) हो जाता है। कई बार उपकला की अतिवृद्धि ( Hypertrophy of epithelium ) होकर स्वच्छ मण्डल अपार दर्शक ( Opacity of Cornea ) हो जाता है। इस रोग में कारण जीवतिक्ति 'ए' की कमी मानी जाती है—रोग स्वतंत्र या फक्क के साथ-साथ भी मिलता है। चिकित्सा में जीवतिक्ति 'ए' की पूर्ति करनी पड़ती है। इसकी चिकित्सा में हैलीबट मत्स्य-वसा ( Hallibut liver oil ) ५ बूँद की मात्रा में दिन में दो बार देना चाहिए तथा 'एरोविट' ( Roche ) का सेवन कराना भी उत्तम पड़ता है।

## शैशवीय प्रशीताद
## ( Infantile Scurvy )

बालकों में होने वाले शीताद तथा फक्क रोग में बहुत सादृश्य है यहाँ तक कि पहले अर्थात् १९७८ ई० के पूर्व आधुनिक ग्रन्थकार दोनों रोगों को एक ही समझते थे। परन्तु "चीडल" नामक वैज्ञानिक ने अपने शोधों के आधार पर प्रमाणित किया कि यह एक पृथक्तया स्वतंत्र व्याधि है जिसकी उत्पत्ति में निम्नलिखित कारण भाग लेते हैं—

**हैतुकी**—भोजन में जीवतिक्ति 'सी' की कमी, यह जीवतिक्ति प्रकृति में नीबू, संतरे, अंगूर, आँवला प्रभृति ताजा फलों, ताजा शाकों और ताजा दूध में पाया जाता है। प्रकृति में आँवला प्रचुर होता है। इसके अलावे हरी मिर्च, पपीता आदि में भी मिलता है। विटामिन सी की २५ मि० ग्रा० की मात्रा, बच्चों में ५० मि० ग्रा० बड़े बच्चों में और ७५ मि० ग्रा० युवकों में नित्य मिलने से प्रशीताद से रक्षा हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन यह मात्रा मिलनी चाहिए। यही कारण है कि मातृ-स्तन्य पर पलनेवाले शिशुओं में यह रोग नहीं पाया जाता क्योंकि माता को अपने आहार से इन जीवतिक्तियों की पर्याप्त मात्रा मिलती रहती है जिससे उसके क्षीर में कमी नहीं आती और इस क्षीर को पीनेवाले बच्चे में रोग नहीं उत्पन्न होता। इसी प्रकार धारोष्ण गाय के दूध पर पलनेवाले बच्चों में भी (ताजा और बिना उबाले दूध पर रहने से) यह रोग नहीं होता। दूध को उबालने या पाश्चाराइज करने से उसके प्राकृतिक जीवतिक्ति 'सी' के नष्ट हो जाने की सम्भावना सदा बनी रहती है। ठीक यही हालत कृत्रिम पोषणयुक्त बोतल पायी शिशुओं की भी होती है, उनमें सूखे या गाढ़े किये दूध पर रहने की वजह से यह जीवतिक्ति प्राप्त नहीं हो पाती; अतः उनके दूध में ऊपर से जीवतिक्ति 'सी' की पूर्ति के लिए ताजे फलों के रसों का उचित मात्रा में देना आवश्यक होता है। आज कल इस जीवतिक्ति की बनी बनायी (Synthetic Vitamin C) गोलियाँ या पेय भी मिलता है जिनका योग उनके कृत्रिम पोषणों में कर देने से 'जीवतिक्ति सी' का अभाव इन बच्चों में नहीं हो सकता। इस प्रकार मातृ-स्तन्य या ताजा गाय के दूध का जहाँ पर आधुनिक युग में उनके पाचन का विकृति करने का दोषारोपण किया जाता है वहाँ पर इस दृष्टि से विचार करने से उनकी महत्ता भी स्पष्ट है।

**आयु**—बाल्यकालीन प्रशीताद रोग लगभग नवें मास की आयु में पैदा होता है। अर्थात् छठवें मास की आयु तक भी हो सकता है; फिर भी छः महीने की आयु के पूर्व विरलता से पाया जाता है।

**लक्षण**—रोग का आक्रमण धीरे-धीरे होता है। प्रारम्भ में बालक का शरीर दुर्बल होने लगता है चेहरा दिनोंदिन पीला पड़ने लगता है आगे चलकर बच्चा अपने हाथ और पैरों को विशेषतया पैरों का चलाना बन्द कर देता है। पैरों की गति कराने में या हिलाने में उसको कष्ट का अनुभव होता है वह चिल्लाने लगता है। उनके पैरों में स्पर्शना-क्षमता आ जाती है अर्थात् पैरों को दबाने या छूने से पीड़ा का अनुभव होता है। कपड़े निकालते समय, पैरों की परीक्षा करते समय वह छूने मात्र से रोने लगता है।

लम्बी अस्थियों के अस्थ्यावरण के नीचे, दाँत, मसूड़ों और उदरस्थ कोष्ठांगों में रक्तस्राव होने से ये लक्षण मिलते हैं। वह अपने पैरों को घातित अंग जैसे निश्चेष्ट, एवं सिकोड़ कर रखता है। वास्तव में अंग घात नहीं पाया जाता क्योंकि पैर के तलवे को सहलाने से उसके प्रत्येक जोड़ में गति पाई जाती है, केवल स्पर्शनाक्षम होने से वह पैरों की गति कराने में असमर्थ रहता है।

अस्थ्यावरण के नीचे कई बार अत्यधिक रक्तस्राव होने की वजह से जानु के ऊपर नीचे सूजन दिखलाई पड़ती है पेशियों के भीतर भी रक्त इकट्ठा हो सकता है जिससे हाथ, पैर शोफ युक्त हो जाते हैं। पैरों में उर्वस्थि और बहिर्जंघास्थि ( Femur & Tibia ) के निचले किनारे पर और हाथ में वहिः प्रकोष्ठास्थि ( Radius ) के अन्तः भाग पर रक्तस्राव अधिक होकर सूजन मिल सकती है।

अगर दाँत निकल आये हों तो मसूड़ों में होनेवाला रक्तस्राव व्यक्त होता है, कर्त्तन दन्तों की पंक्ति में ( Incisors ) ऊपर एवं नीचे की ओर मसूड़ों में सूजन और लाली पाई जाती है या लाल रंग की रेखा के समान विवर्णता पाई जाती है। जिनके छूने से रक्तस्राव होता है दाँत पीले पड़ जाते हैं। क्वचित् गिर भी जाते हैं। कठिन तालु ( Hard Palate ) में एवं रक्तस्राव नेत्रकोटर ( Orbit ) में भी हो सकता है जिससे नेत्र के पलकों का व्रणित होना भी मिल सकता है। एक या दोनों नेत्रों में ये लक्षण मिल सकते हैं।

वक्ष की परीक्षा करते हुए जीवतिक्ति 'सी' के अभाव में पैदा होने वाली छोटी-छोटी गाँठें पर्शुकाओं ऊपर मिल सकती हैं। यह भी एक प्रारम्भिक लक्षण ( Scorbutic beadings ) है जो आमतौर से तीन चौथाई बच्चों में मिलता है। फक्करोग के गाँठों के इन गाँठों का विभेद करना आवश्यक होता है। फक्क में उरोस्थि ( Sternum ) का पीछे की ओर च्युत होना नहीं पाया जाता साथ ही प्रशीताद की चिकित्सा प्रारम्भ करने से शीघ्र ही कुछ सप्ताहों में गाँठें लुप्त हो जाती हैं।

दूसरा महत्व का लक्षण शोणितमेह ( Heamaturia ) है जिसमें मूत्र से रक्तस्राव होता है। यह भी प्रशीताद रोग में प्रारम्भ से ही मिलता है। कई बार लाल चमकता हुआ रक्त मूत्र के साथ पाया जाता है और कई बार रक्त की मात्रा इतनी कम होती है कि केवल नेत्र से उसका ज्ञान भी कठिन हो जाता है। ऐसी दशा में मूत्र की अणुवीक्षणात्मक परीक्षा कराके निर्णय करना होता है। अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से लालरक्तकणों की (R.B.C.) की उपस्थिति मूत्र में मिलेगी। मल में भी रक्त की उपस्थिति मिलती है; परन्तु उसके कारण बच्चे के उदर में पीड़ा या स्पर्शाक्षमता नहीं पाई जाती है।

रोग से पीड़ित बालकों में रक्ताल्पता या पाण्डु भी पाया जाता है, कई बार तो यह इतना अधिक होता है कि बच्चे की आकृति; मोम जैसी सफेद ( Waxy Complexion ) हो जाती है। रक्त की परीक्षा से लाल रक्तकणों की संख्या तथा रक्तवर्तुलि ( हीमोग्लोबिन ) की प्रतिशत मात्रा बहुत गिरी मिलती है। आगे चलकर शोणित सूची ( Colour Index ) भी गिर जाती है। जब तक यह रोग बच्चे के शरीर में रहता है उसके शरीर की वृद्धि या विकास रुका रहता है। क्ष-किरण से परीक्षा करने पर लम्बी हड्डियों के कीकसाग्र की दिशा में ( Epiphyseal line ) लम्बी सँकरी रेखा सदृश घनी खटिकीभरण ( Narrow zone of dense Calcification ) के चिह्न उपस्थित मिलते हैं; जिसको प्रशीताद की श्वेत रेखा ( Whiteline ) कहते हैं इसके अतिरिक्त अस्थि के गात्र से अस्थ्यावरण का विलगाव ( Speration of the periosteum ) भी पाया जाता है। अस्थ्यावरण के नीचे रक्तस्राव होने से,

यदि वह वहाँ पर दो-तीन सप्ताहों तक रहा तो उठे हुए अस्थ्यावरण से एक ताजा अस्थि का बनना शुरू हो जाता है—जिसका एक पतला स्तर रक्तस्राव के स्थान के ऊपर क्ष-किरण द्वारा दिखलाई पड़ता है। अन्त में रक्तस्राव का भाग शोषित हो जाता है और अस्थि अपनी प्रकृत दशा में आ जाती है।

**चिकित्सा**— बालक की बढ़िया सुश्रूषा सावधानी से करनी चाहिए उसकी शैय्या मृदु एवं मुलायम होनी चाहिये। कमरा गरम होना चाहिए। बालक की प्रत्येक गति पीड़ा देने वाली होती है इसलिए ऐसा प्रयास करना चाहिए कि उसके अंगों की गति अधिक न होने पावे। जब तक पीड़ा शान्त न हो जाय स्नान नहीं कराना चाहिए।

चिकित्सा का मूलभूत तत्व है जीवतिक्ति 'सी' की पर्याप्त मात्रा में देना। इसकी बनी बनाई गोलियाँ १०० और ५०० मि० ग्रा० की बाजार में आती है। मुख से २०० या ५०० मि० ग्रा० प्रतिदिन देना चाहिए। अधिक मात्रा होने पर भी इससे कोई हानि नहीं होती। रोग में अतिसार भी साथ हो तो विटामिन सी मुख से न देकर शिरा या पेशी मार्ग द्वारा भी दिया जा सकता है यदि बच्चा फल के रसों को ले सकता हो तो उसे सन्तरे का रस या अंगूर का रस या इसी प्रकार के विटामिन 'सी' युक्त फलों के रसों का प्रयोग कर सकते हैं। पीड़ा यदि अधिक रहे तो 'क्लोरल हाइड्रेट' १ ग्रेन की मात्रा में दिन में दो बार करके दिया जा सकता है। रोग के बचाव की दृष्टि से बच्चों के पोषण में फल के रसों का विशेषतः नीबू के रस का प्रयोग करना उत्तम माना गया है, प्रतिदिन इन रसों की चार आउंस ( ११५ मि० ली० ) मात्रा मिलते रहने से प्रशीताद होने का अन्देशा नहीं रहता।

## पेलाग्रा या त्वग्ग्राह
## ( Pellagra )

जीवतिक्ति 'बी' के एक प्रभेद 'नियासिन' ( Niacine ) के पोषण में कमी पड़ने से बालकों में यह रोग होता है। पशुओं के प्रायोगिक अध्ययन से सिद्ध होता है कि यदि भोजन में प्रोटीन की अल्पता हो और ल्यूसिन की मात्रा

अधिक हो तो यह रोग होता है। ज्वार और मक्का में 'ल्यूसिन' बहुत होता है। अतः इनके खाने वालों में यह रोग प्रायः मिलता है। इसमें त्वचा पर चकत्ते पाये जाते हैं और वहाँ का चर्म मोटा हो जाता है। कभी-कभी सिर में दर्द और चक्कर भी आता है। चाल अनियमित हो जाती है, हाथ और पैरों में कम्पन होता है। पचन विकृत हो जाता है। मुख पाक, जिह्वा पाक, मसूड़ों की सूजन और अतिसार भी पैदा हो जाता है। त्वचा के चकत्ते प्रायः उन स्थानों पर मिलते हैं जो सूर्य प्रकाश के सम्पर्क में आते हैं और खुले रहते हैं जैसे चेहरा, गर्दन, हाथ, पैर। प्रारम्भ में इनमें सूजन, लालिमा और स्पर्शनाक्षमता रहती है परन्तु आगे चलकर ये मोटे, भद्दे और खुरण्डयुक्त एवं भूरे रंग के हो जाते हैं। रोग पाँच, छः वर्षों तक चलता है, बच्चे धीरे-धीरे कृश होते चलते हैं और अन्त में दुर्बलता के कारण मृत्यु हो जाती है।

**चिकित्सा**—रोग से पीड़ित बालक के भोजन में प्रोभूजीन ( Protein ) की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। एतदर्थ उसके भोजन में मांस रस, गेहूँ, अण्डे, मक्खन, यीस्ट आदि देना चाहिए। सूर्य प्रकाश में आने वाले त्वचा के भाग की सावधानी से रक्षा करनी चाहिए—सबसे उत्तम लाभ १०० से २०० मि० ग्रा० की मात्रा में प्रतिदिन निकोटिनिक एसिड देने से होता है।

## बेरी-बेरी या वातवलासक
## ( Beri-Beri )

उष्ण कटिबन्ध में होनेवाला यह रोग है जो विटामिन बी$_1$ ( Anurin ) की भोजन में कमी होने से होता है।

बालकों में दो वर्ष की आयु तक यह रोग बहुत मिलता है विशेषतः उन बच्चों में जो माता के दूध पर पल रहे हों और माता स्वयं रोग से पीड़ित हो। रोग से पीड़ित बच्चे कमजोर हो जाते हैं सूखते चले जाते हैं, साथ ही बेचैनी, श्वासकष्ट, बोलने की असमर्थता, प्रभृति लक्षण पैदा होते हैं। सर्वांग शोफ पूरे अंग पर सूजन का होना इस रोग का प्रमुख लक्षण है। हृदय विस्फार या हृदय के निपात से, रोग से पीड़ित बालक की मृत्यु होती है।

अधिक वय के बालकों में तीन प्रकार के रूप बेरी-बेरी में देखने को मिलते हैं--

(क) तीव्र रोग का आक्रमण सहसा वमन, मिचली, पेट में दर्द से होता है। वहिजंघास्थि पर विशेष रूप से झिनझिनी एवं तोद पाया जाता है। फिर शीघ्रता से शाखाओं का घात तथा हृदयपात के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। यदि शीघ्रता से रोग का विनिश्चय करके बड़ी मात्रा में 'थियामीन' का सूचीवेध किया जाय तो लाभ की आशा रहती है अन्यथा मृत्यु हो जाती है।

(ख) अनु-तीव्र-रोग का प्रारंभ छिपे रूप से होता है। शाखाओं में स्पर्श ज्ञान की कमी एवं दुर्बलता क्रमशः उत्पन्न होती है। अधो शाखा ऊर्ध्व शाखा की अपेक्षा अधिक प्रभावित होती है। शोफ सर्वप्रथम गुल्फ संधि पर दिखाई पड़ता है, पुनः बढ़ता हुआ पूरे पैर को प्रभावित करता है, आगे चल कर चेहरा एवं गुह्यांग (अण्डकोष) पर शोफ फैल जाता है। अन्यान्य शरीर के अवकाशों ( सिरस कैविटीज ) में भी द्रव का संचय हो सकता है।

'थियामीन' चिकित्सा से सुधार होता है और रोगी पूर्णतया स्वस्थ हो जाता है।

(ग) जीर्ण--यह प्रकार विशेषतः बच्चों में मिलता है। यह गर्भिणी तथा स्तनपान कराने वाली माताओं में गुप्त बेरी-बेरी के स्वरूप का होता है। मिलने वाले लक्षणों में पिण्डिकोद्वेष्टन ( काफ पेशियों में ऐंठन ), पैरों का शीतल होना, चलते समय पैरों में तीव्र वेदना, पैरों की त्वचा में स्पर्श-ज्ञान की अध..ता गुल्फ एवं जानु प्रतिवर्त की कमी या अभाव प्रमुखतया मिलते हैं। भारतीयों में मूत्र से 'थियामीन' का अधिक मात्रा में निकलना रोग विनिश्चय में सहायक होता है। चिकित्सा में थियामीन के प्रचुर प्रयोग से लाभ पहुँचता है।

**विटामिन बी की भोजन में अल्पता से होने वाले अन्य रोग—**

( १ ) राइबोफ्लविन तत्त्व की कमी से मुखपाक तथा वृषण कण्डु ( अण्डकोश की त्वचा में खुजली ) प्रमुखतया मिलती है। कई बार नेत्र के विकार जैसे वर्त्म शोफ ( पलकों की सूजन ), नेत्र के श्वेत भाग में लालिमा, अस्थि का

ठीक निर्माण का न होना भी मिलता है। कई बार पैलेग्रा रोग में भी इस तत्व की साथ ही साथ कमी पाई जाती है। चिकित्सा में मुख से विटामिन बी कम्प्लेक्स के उपयोग से लाभ होता है।

( २ ) पाइरिडोक्सिन--इस तत्व की कमी से शिशुओं में आक्षेप आ सकते हैं। इस विटामिन का मेद के पाचन में बहुत बड़ा योग है। इस अवस्था का विनिश्चय अधुना मूत्र में 'जैन्थूरेनिक' अम्ल की उपस्थिति के आधार पर किया जाता है।

( ३ ) विटामिन बी$_{१२}$--दुष्ट पाण्डु रोग (परनिशस एर्नामिया) के निरोध में यह तत्व मूल्यवान् होता है। इसकी कमी से बच्चों में "मैक्रोसायटिक एनीमिया" के प्रकार की रक्ताल्पता पैदा होती है।

( ४ ) फोलिक एसिड—इस पदार्थ की आवश्यकता रक्त के लाल कणों के निर्माण के लिये अपेक्षित है। इसके अभाव में 'मैक्रोसायटिक एनीमिया' पैदा होती है।

( ५ ) पैरा एमिनो बेन्जोइक अम्ल—इसकी कमी से सूर्य प्रकाश के लिये अधिक संवेदन शील बच्चे हो जाते हैं।

( ६ ) कोलीन—इसकी अल्पता मानव जाति में कम देखी जाती है। कोलीन की कमी वाले आहार पर पलने वाली गर्भिणी माताओं के बच्चों में मृत-प्रसव की संभावना रहती है।

( ७ ) पैण्टोथेनिक एसिड—इस तत्त्व की कमी से हस्तपादतल दाह ( बर्निङ्ग फीट ) के संलक्षण बच्चों में मिल सकता है।

( ८ ) बायोटीन—इस तत्व की प्राकृतिक कमी प्रायः मानव में नहीं पायी जाती है। पशुओं प्रायोगिक अध्ययनों में बायोटीन की कमी वाले आहार से त्वक् रोग उत्पन्न होते देखा गया है।

( ९ ) इनो सिटाल—इसकी कमी से होने वाले विकार अभी तक नहीं जाने जा सके हैं।

**चिकित्सा**—पूर्णतया पथ्य पर ध्यान देना ही चिकित्सा है। बालक के पोषण में दूध, मांस-रस, गेहूँ का आटा, जौ का यूष, अरवा चावल ( Unpo-

lished Rice ) का मण्ड या भात देना चाहिए। यदि बच्चा माता का दूध पी रहा हो तो माता के भोजन में ही प्रचुर मात्रा में ये द्रव्य दिये जाने चाहिए।

ओषधि के रूप में विटामिन 'बी' के योगों का मुख से या सूचीवेध द्वार. प्रयोग करना चाहिए। विटामिन बी, ५०–१०० मि० ग्रा० की मात्रा में प्रतिदिन मुख से या पेशी से देना चाहिये।

**आयुर्वेदोपचार**—रतौंधी की अवस्था में दूध पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। दूध में नेनुवाँ की पत्ती का रस १ छटाँक दूध में ½ तोला रस प्रातः काल में देना चाहिये। नये बाजरे की रोटी और दूध पथ्य करके देना चाहिये। पके आम या अमावट ( आम का ) बालक को पर्याप्त मात्रा में खिलाना चाहिये। त्रिफला का जल मिश्री के साथ मिलाकर ( आँवला, हर्रे, बहेरा समान मात्रा में लेकर रात में एक मिट्टी के बर्त्तन में भिगो दें प्रातःकाल मसल कर छान ले; इसे जल में मिश्री मिलाकर दे ) गुडूचीसत्व का सेवन ¼–½ ग्रा० की मात्रा में घी और चीनी से करावें। चन्द्रोदया वर्त्ति का अञ्जन नेत्रों में करने से भी लाभ होता है। यकृत् का खिलाना या यकृत् में पिप्पली भर कर पाक करके बनाये योग का अञ्जन करना भी लाभप्रद होता है।

**प्रशीताद**—की अवस्था में बालक को पर्याप्त दूध और हरे फल पर विशेषतया आँवला, नीबू, संतरा और मौसमी का रस देना चाहिये।

**त्वग्ग्राह**—में गेहूँ की रोटी और दूध का पथ्य देना चाहिए। त्वग्ग्राह के साथ ही बेरी-बेरी की अवस्था में शोफ की चिकित्सा करनी चाहिए। गेहूँ की रोटी और अरवा चावल का भात और दूध पथ्य में दे। मांस रसों में यकृत् का सेवन करावे। औषधों में पुनर्नवा मण्डूर २५० मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में दो या तीन बार दे। रात में सोते वक्त सप्तामृत लौह २५० मि० ग्रा० की मात्रा में घी और मधु के साथ देना चाहिये। शुष्क मूल्यादि तैल की मालिश करनी चाहिये।

★

# अध्याय १०

## चयापचय के विकार से होने वाले बाल रोग

## ( Disorders of Metabolism )

इस वर्ग के भीतर छोटे से लेकर बड़े तक बहुत से रोगों का समावेश हो जाता है। इनमें कुछ का जो कम मिलते हैं, नामोल्लेख करके और कुछ रोगों की जिनकी चिकित्सा की प्रायः आवश्यकता पड़ती रहती है विशेष वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

( १ ) **अम्लरक्तता** ( Acidosis )—यदि शरीर से अम्ल पदार्थों का त्याग न हो सके, या शरीर से अधिक मात्रा में क्षार भाग निकल जाय या अम्ल पदार्थ प्राकृत रूप में शरीर नहीं हो या वे किसी विकार के कारण अधिक बनने लगें तो यह स्थिति उत्पन्न होती है। चिकित्सा में सोडा बाई कार्ब या अन्य क्षारों का प्रयोग लाभप्रद होता है।

( २ ) **क्षाररक्तता** ( Alkalosis )—यदि शरीर के अम्ल का अत्यधिक नाश जैसे वमन में अथवा चिकित्सा करते समय अधिक मात्रा में क्षार का सेवन करा देने से यह दशा उत्पन्न होती है। चिकित्सा करते हुए यह विचारना आवश्यक होता है कि रोगी में क्षार की अत्यधिक मात्रा के सेवन से तो क्षारोत्कर्ष नहीं हुआ है, यदि ऐसा हो तो क्षार सेवन के बन्द करा देने से ही स्थिति में सुधार हो जाता है। यदि अत्यधिक वमन के कारण क्षारोत्कर्ष पैदा हुआ तो आमाशय का प्रक्षालन लवण से करें तत्पाश्चात् शिरा द्वारा लवण-विलयन के भरण की व्यवस्था करनी चाहिये।

(३) **किटोन्मयता या किट्टोत्कर्ष** (Ketosis)—बालकों के यकृत में शर्करेय (Glycogen) का संग्रह युवक की अपेक्षा बहुत कम होता है अतः उनमें युवा की अपेक्षा किट्टोत्पादन या कीटोन द्रव्यों का उत्पादन भी अधिक होता है। फल

यह होता है कि उनके यकृत की मेद की पाचन की शक्ति क्षीण हो जाती है चयापचय बिगड़ जाता है जिससे कई प्रकार के कीटोनद्रव्य जैसे 'एसीटोन', 'डायएसेटिक एसिड', 'बीटा हाइड्राक्सी व्युटिरिक एसिड' बनते एवं रक्त में मिलने लगते हैं। ये सभी द्रव्य अम्ल वर्ग के होते हैं। प्राचीन परिभाषा में इसे शुक्तपाक कहा जा सकता है। ऐसी दशा तीव्र ज्वर, पाचन दोष तथा मधुमेह में होती है। कारण के अनुसार चिकित्सा की अपेक्षा रहती है। कई बार लम्बे उपवास अथवा भोजन में प्रधानतया प्रोटीन तथा फैट मिलने के कारण भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(४) **चाक्रिक वमन** ( Cyclic Vomiting )—इस रोग में नियमित अन्तर से छर्दि या वमन के दौरे होते रहते हैं। यह बाल्यावस्था में पाया जाने वाला रोग है जो दोनों लिङ्ग के बाहकों में समान भाव से मिलता है। आमतौर से रोग एक वर्ष की आयु के बाद आक्रमण करता है और उमर बड़ी होने पर उसकी तीव्रता घटती जाती है एवं आगे चलकर ठीक हो जाती है कई बार बड़ी उम्र में अर्धावभेदक का रूप ले लेता है। यह रोग अधिकतर सम्पन्न व्यक्तियों के परिवार के बच्चों में होता है; जिनमें मेद से युक्त पोषण, मलाई, मक्खन वगैरह ज्यादे खाने को मिलता है रोग के बार-बार दौरे जैसे आते रहते हैं अतः इसे आवर्त्तित या चाक्रिक वमन कहते हैं।

**लक्षण**—रोग का आक्रमण अचानक होता है, कई बार एक-दो दिन पूर्व कुछ पूर्वरूप जैसे चिड़चिड़ापन, सुस्ती, अरुचि और जीभ का दरार युक्त होना भी मिलता है। पश्चात् वमन का होना प्रारम्भ होता है। वमन निरन्तर होने लगता है, जिससे बालक पानी भी नहीं पचा सकता, पानी देने पर भी उल्टी हो जाती है। जीभ सूख जाती है, ओठ सूख जाते हैं। तृषा बढ़ जाती है। रोगी बेचैन हो जाता है। शिरःशूल होता है, बच्चा सुस्त हो जाता है। पाखाना सूख जाता है, जिससे कोष्ठ बिवंध युक्त हो जाता है। पश्चात् ज्वर होता है, तापक्रम १०३° फ० तक चला जाता है। पश्चात् उदर शूल भी होता है उपजठर ( Epigastrium ) में स्पर्शनाक्षमता रहती है। मूत्र की मात्रा

कम हो जाती है, बहुत रंगीन मूत्र आता है; मूत्र में परीक्षा करने से कई बार शुक्लि ( Albumin ) की उपस्थिति मिलती है साँस से मीठी गंध ( Sweetish odour ) निकलती है।

दौरे की प्रगति के साथ सुस्ती, बेहोशी ( संन्यास Coma ) में बदल जाती है, नेत्र अन्दर को धँस जाते हैं, उदर रिक्त होकर अन्तः प्रविष्ट हो जाता है और गर्दन झुक जाती है। 'कर्निंग, के चिन्ह मिलने से कई बार क्षयज मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर की आशंका हो जाती है ( T. B. Meningitis ) रोग का दौरा तीन-चार दिनों तक या एक सप्ताह तक चलता है। भाग्यवश रोग इतना घातक नहीं होता, बल्कि दौरे के अनन्तर बहुत दुर्बल हो जाता है। दौरे के निकल जाने पर पुनः बल भार आदि शीघ्रता से प्राप्त कर लेता है।

**चिकित्सा**—बालक को केवल जल या मीठे 'लेमोनेड' पर रखना चाहिये। जब वमन कम हो जावे उसे पानी पचने लगे तो उसके आमाशय का प्रक्षालन क्षार जल से ( १ पिण्ट में १ ड्राम सोडा बाई कार्ब घोलकर ) करे। दूध या दूसरा भोजन न दे। किट्टोत्कर्ष से रक्षा के लिये मुँह से चीनी की पर्याप्त मात्रा 'ग्लूकोज' के रूप में देना उत्तम होता है। 'ग्लूकोज' के स्थान पर मिश्री का पानी भी दिया जा सकता है।

यदि मुख से 'ग्लूकोज' का शर्बत देना वमन के कारण संभव न हो तो मलाशय को वस्ति देकर साफ करके पुनः १०% का 'ग्लूकोज' का घोल बना कर गुदा मार्ग से बूँद-बूँद कर चढ़ावे। यदि जलाल्पता ज्ञात हो तो २½% ग्लूकोज का घोल और सामान्य लवण-विलयन बनाकर अधस्त्वक् मार्ग से सूचीभरण करे या शिरा द्वारा १% 'ग्लूकोज' का घोल और सामान्य लवण विलयन बना कर दे। वमन के बन्द हो जाने पर हल्का पथ्य मण्ड, पावरोटी, मधु मीठे फल खाने को दे। भोजन में कार्बोहाइड्रेट; की मात्रा अधिक; परन्तु चिकने पदार्थों की न्यूनता होनी चाहिये। इसके लिए मक्खन, मलाई, घी युक्त पदार्थों को न दे। मलाई उतारा हुआ दूध ( Skimmed milk ) देना चाहिये ताजा गाय का दूध बिना मलाई हटाये नहीं दे। ऐसी मिठाई जिसमें

केवल चीनी और जल पड़ा हो दी जा सकती है। दशा में जैसे-जैसे क्रमशः सुधार होता चले रोटी, तरकारी, आलू, फल, मांस, मछली, मुरब्बे आदि दिये जा सकते हैं। पेट साफ न रहे तो बीच-बीच में मृदु रेचक यण्ट्यादिचूर्ण या मैग सल्फ देकर पेट साफ करते रहना चाहिये। बालक को पर्याप्त विश्राम दे ताकि रोग का पुनरावर्त्तन न होवे।

## मधुमेह
## ( Diabetes Mellitus )

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में जात-प्रमेही का वर्णन पाया जाता है। टीकाकारों ने उसका अर्थ प्रमेही की सन्तान लगाया है। जात-प्रमेही शब्द का दूसरा भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है जन्म से ही प्रमेह पीड़ित या बाल प्रमेही। आधुनिक युग के ग्रन्थों में बाल प्रमेही अर्थात् बाल्यावस्था में होनेवाले प्रमेह का वर्णन पाया जाता है। पाँच वर्ष की आयु के पूर्व प्रमेह का होना असामान्य घटना है और दो वर्ष की आयु के पूर्व तो होता ही नहीं या बहुत ही विरलता से पाया जाता है। लारेंस और कैंस ( Lawrence & Mecancc ) नामक बाल रोग विशेषज्ञों ने एक बार अठारह दिनों की आयु के बच्चे में भयंकर मधुमेह देखा जिसमें कोथ ( Gangrene ) का उपद्रव भी उपस्थित था, साथ ही कुछ ऐसे भी साहित्य का संकलन किया जिसमें १ वर्ष से कम आयु में ही २६ शिशु मधुमेह से पीड़ित मिले थे। आमतौर से इन शिशुओं के परिवार में मधुमेह का वृत्त मिलता था। फलतः ये प्रमेही की सन्तानें या जात-प्रमेही रहे।

निरुक्ति—मधुमेह एक जीर्णस्वरूप का शारीरिक रोग है जिसमें कार्बोहाइड्रेट का चयापचय प्रधानतया विकृत होता है। साथ ही मेद एवं प्रोटीन का चयापचय का क्रम भी विकृत मिलता है। इन विकारों के फलस्वरूप रक्तवाहिनियों की बनावट में रचना एवं क्रिया सम्बन्धी परिवर्तन पाया जाता है। बाल-प्रमेह उस मेह को कहते हैं जिसमें १५ वर्ष की आयु के पूर्व ही डायबेटीज का रोग मिले। ऐसे बाल मधुमेही की संख्या संसार भर के मधुमेहियों की संख्या के ५% पाई जाती है।

वैकृतिकी—हमारे भोजन में कार्बोहाइड्रेट नामक तत्व के पचाने के लिये 'इन्सुलीन' नामक तत्व की अपेक्षा रहती है। इसका निर्माण अग्न्याशय के लैंगरहैन्स द्वीपाणुओं के बीटा कोशिकाओं में होता है। भोजन सेवन किये गये कार्बोहाइड्रेट पचन के अनन्तर रक्त में ग्लुकोज के रूप में मिलता है। रक्त में ग्लुकोज की मात्रा जितनी अधिक या कम होती है उसी अनुपात में उसके पचाने के लिए अग्न्याशय की कोशिकाओं से "इन्सुलिन" का अधिक या कम उत्पादन प्राकृतावस्था में होता है। फलतः इन्सुलिन का उत्पादन रक्त गत मात्रा के ऊपर निर्भर रहता है। इन्सुलिन, एडिपांज उतकों की शर्करा छानने की क्षमता को बढ़ा देता है और ग्लुकोज दो कार्बनिक भागों में विभाजित करता है, जो फिर मेदसाम्ल ( फैटी एसिड्स ) के संश्लेषण में काम आता है अथवा उसी रूप में संचित होता रहता है। इसके अलावे इन्सुलिन रक्तगत ग्लुकोज को ग्लायकोजेन के अधिकाधिक खर्च किया जाने की प्रक्रिया को भी उत्तेजित करता है। साथ ही एमाइनो एसिड्स को पेशी प्रोटीन के रूप में संयोजित करता है। इस प्रकार इन्सुलिन ग्लुकोज के ग्रहणार्थ उतकों की ग्रहण-क्षमता को बढ़ाने एवं ग्लुकोज, एमाइनो एसिड्स, तथा फैट्स के संचय कराने में सहायक होता है। यदि इन्सुलिन कम मात्रा में शरीर में उत्पन्न हा तो ग्लुकोज का पर्याप्त मात्रा में दूरीकरण नहीं हो पाता अर्थात् शरीर के उतकों में उसका व्यय नहीं हो पाता है, परिणामस्वरूप रक्त में ग्लुकोज की मात्रा बढ़ती है ( हाइपर ग्लायसीमिया ) और मूत्र से ग्लुकोज का निकलना शुरू हो जाता है ( ग्लायकोसुरिया )।

इसके विपरीत कुछ परिस्थितियों में इन्सुलिन की विपरीत प्रभाव वाले हार्मोन्स का अधिक स्राव होने से भी ग्लायकोसुरिया उत्पन्न हो सकती है। इन्सुलिन के विपरीत प्रभाववाले हार्मोन्स को एण्टी डायबेटिक हार्मोन्स कहते हैं। इनका शरीर में अधिक मात्रा में स्रवण होने से भी मधुमेह उत्पन्न हो सकता है। इन हार्मोन्स में निम्नलिखित नाम आते हैं—इपिनेफ्रीन, पिट्युटरी ग्रोथ हार्मोन्स, ए. सी. टी. एच. ग्लोकार्टिकायड, ग्लुकागान, थायोरायड

हार्मोन्स। इस प्रकार का मधुमेह एक्रोमिगैली, कशिङ्ग सीन्ड्रोम नामक विकारों में पाया जाता है।

लक्षण—रोग का आक्रमण तीव्र स्वरूप का रहता है। कई बार संन्यास ( Coma ) या संन्यास पूर्वावस्था ( Pre-Coma ) ही सर्वप्रथम लक्षण उत्पन्न होता है। प्रारम्भिक लक्षणों में कई बार तृषाधिक्य और बहुमूत्रता पायी जाती है जिससे बार-बार बिस्तर भींग जाता है। क्षुधा प्रायः अधिक लगती है, लड़कियों में भग कण्डु ( खुजली ) पायी जाती है, फिर भी युवावस्था की अपेक्षा कम मात्रा में होती है। प्रतिदिन दुर्बलता बढ़ती जाती है। भारक्षय होता चलता है, शक्ति क्षीण होती जाती है। त्वचा शुष्क रहती है। कीटोन्मयता ( Ketosis ) की स्थिति में गाल लाल रंग के हो जाते हैं, साँस से 'एसिटोन' की गंध आती है। रोग की तीव्रावस्था में जिह्वा शुष्क हो जाती है। त्वचा पर पूयजनक उपसर्ग होकर व्रण बन जाते हैं। भूख ठीक रहे, भोजन भी पूर्ण हो; परन्तु भार और बल क्षय होता चले तो मधुमेह की शंका होती है। ऐसी दशा में मूत्र की परीक्षा करा के निर्णय कर लेना चाहिये। मूत्र की गुरुता बढ़ी हुई ( १०३० से १०४० तक ), मूत्र में शर्करा की उपस्थिति; रक्त शर्करा का स्तर बढ़ा हुआ (८० से १४० मि०ग्रा० प्रति १००c.c.) रहता है। इस आधार पर रोग का विनिश्चय कर लेना चाहिये।

उपद्रव—सबसे महत्व का उपद्रव कीटोन्मयता ( Ketosis ) है जिसके परिणामस्वरूप संन्यास या मूर्च्छा उत्पन्न होती है। रक्त तथा मूत्र में कीटोन बाडीज पाई जाती हैं। सुस्ती, अरोचक, हृल्लास ( मिचली ), वमन प्रभृति उपद्रव भी होते हैं। श्वास की गति और गहराई बढ़ जाती है ( Air Hunger—वायु क्षुधा )। बहुमूत्रता, अति वमन और तेज साँस के कारण जलाल्पता भी पैदा हो जाती है। नाड़ी की गति तेज हो जाती है, रक्त दाब गिर जाता है। मृदु स्वरूप के उपद्रवों में तुण्डिका शोथ ( Tonsilitis ) तथा प्रतिश्याय हो सकता है।

कठिन उपद्रवों में दृष्टि-पटल शोथ ( Retinitis ), शुक्लिमेह ( Albuminuria ) उच्चरक्तदाब ( Hypertension ) तथा वृक्क रोग आदि

हैं। बालकों में क्षय ( T. B. ) तथा कोथ ( Gangreene ) के उपद्रव विरलता से मिलते हैं।

**रोग विनिश्चय**—लक्षण और चिह्नों के आधार पर करे। कई बार मूत्र में शर्करा का पाया जाना कई अन्य कारणों से भी सम्भव है जैसे, चीनी या मीठे का अधिक सेवन, तीव्र उपसर्ग से उपसृष्ट अवस्था में, शिर के अभिघात में, करोटि के भीतर पीडन बढ़ने से ( Increased intracranial pressure ), क्षयज मष्तिस्कावरण के अंतिम दिनों में एवं तीव्र मस्तिष्कावरण शोथ के प्रारम्भ में। अतः इन रोगों से विभेद कर लेना चाहिये।

**साध्यासाध्यता**—रोन असाध्य स्वरूप का होता है। फिर भी समुचित चिकित्सा का प्रबन्ध 'इन्सुलीन' के द्वारा करने से इसमें सुधार की आशा रहती है। इन बच्चों की वृद्धि रुक जाती है, वे वामन ( मधु मेहजन्य वामनता Dibetic Dwarfism ) नाटे कद के हो जाते हैं—यकृत बढ़ा हुआ मिलता है। रोग का सम्पूर्णतया निमूर्लन करना कठिन होता है।

**चिकित्सा**—रोग से पीड़ित बालक का आहार ऐसा होना चाहिये जो उसकी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा कर सके। जो देखने में आकर्षक स्वाद में रुचिकर और मात्रा में तृप्तिकारक हो। भोजन में टोटल कैलोरी की दृष्टि से प्रोटीन २०%, कार्बोहाइड्रेट ४०% और मेद ४०% की मात्रा होनी चाहिये। हरे शाक, ताजा फल, दूध, मट्ठा, जौ का प्रयोग उत्तम रहता है। पोषण ऐसा हो जो बल क्षय न होने दे साथ ही रोग में अपथ्य भी न हो। चिकित्सा के दो प्रमुख उद्देश्य रहते हैं १. रक्तगत ग्लुकोज की मात्रा को ठीक रखना, उसमें अतिन्यूनता न आने देना तथा २. प्राकृत स्वास्थ्य और विकास को ठीक बनाये रखना।

आधुनिक चिकित्सा में 'इन्सुलीन' का उपयोग सर्वोत्तम माना गया है। 'इन्सुलीन' की चिकित्सा के साथ-साथ 'कार्बोहाइड्रेट' के अधिक सेवन से भी हानि की सम्भावना नहीं रहती है। सामान्यतया 'प्रोटैमीन जिंक इन्सुलीन' ( P. Z. I. ) ५ यूनिट की मात्रा में प्रातःकाल में एक मात्रा अधस्त्वक् मार्ग

से रोग की प्रारंभिक अवस्था में देना पर्याप्त होता है। इसके लिये विशेष प्रकार की पिचकारी ( Insulin-Syring B. S. 1619 with 19 or 20 needle ) और सूची आती है उसी के द्वारा सूचीवेध करना चाहिए। माता या घर के ही किसी संरक्षक को सूचीवेध की कला सिखा देना उत्तम होता है जो नित्य प्रातःकाल में सूचीवेध कर सके। मूत्र की जाँच करता रहे। यदि मूत्र में शर्करा नास्त्यात्मक हो जाय तो बन्द कर दे, अन्यथा उपर्युक्त मात्रा में ही आगे चलकर घुलनशील इन्सुलीन ( S. I. ) की ५ से १० यूनिट और मिलाकर दिया जा सकता है। १० वर्ष या अधिक उमर के बच्चों में बड़ी मात्रा २० से ४० यूनिट्स तक की मात्रा में भी दिया जा सकता है। कुछ विशेषज्ञों के अनुसार इन्सुलीन जिंक सस्पेन्सन—लेण्टी सेमी लेण्टी एवं अल्ट्रा-लेण्टी ( Insulin Zinc Suspensions-Lenti, Semilenti and ultra lenti ) का उपयोग बाल-मधुमेह में अधिक संतोषप्रद रहता है। क्योंकि इसमें 'प्रोटीन' के अभाव के कारण बालक में किसी प्रकार के त्वचागत प्रतिक्रिया की संभावना नहीं रहती है। सूचीवेध के एक दो घण्टे के बाद औषधि की क्रिया प्रारम्भ होकर चौबीस घण्टे तक प्रभाव बना रहता है। इसकी मात्रा ०·१ यूनिट। प्रति किलोग्राम शरीर भार पर प्रतिदिन की होती है। मात्रा निर्धारण का एक सरल तरीका दूसरा निम्नलिखित है :—यदि 'बेनेडिक्ट' रीएजेण्ट मूत्र के साथ मिलाया जाय और मूत्र का वर्ण—

( क ) यदि हरा रहे, तो इन्सुलीन न दे।
( ख ) यदि पीला रहे तो ५–१० यू० दे।
( ग ) यदि संतरे के रंग का हो, तो १०–१५ यू० दे।
( घ ) यदि लाल हो जावे; तो १५–२० यू० दे।

यदि मधुमेह संन्यास की अवस्था में चिकित्सा करने को मिले तो प्रति चार घण्टे पर 'इन्सुलीन' का सूचीवेध और प्रति दो घण्टे पर १० से २० ग्राम तक कार्बोहाइड्रेट ( ग्लूकोज ) का घोल के रूप में प्रयोग करे। इन्सुलीन की मात्रा का निर्धारण बच्चे की आयु तथा रक्तगतशर्करा की मात्रा एवं कीटोन्मयता

के ऊपर करना होता है। 'इन्सुलीन की चिकित्सा काल में यदि बच्चा मुख से 'ग्लुकोज' लेने में असमर्थ हो तो उसको शिरा द्वारा या "राइले की नलिका" ( Ryle's tube ) से आमाशय में पहुँचाने की क्रिया द्वारा दे, इन्सुलीन की मात्रा अधिक होने से रक्तगत शर्करात्पता ( Hypoglycaemia ) के उत्पन्न होने का भय रहता है। यदि शर्करात्पता उत्पन्न हो जाय तो 'इन्सुलीन' बन्द करके मिश्री का पानी, ग्लुकोज का घोल, शर्बत मधु और मीठे फलों के रस देना चाहिये। मधुमेह की चिकित्सा में मुख से प्रयुक्त होने वाले विविध पेटेण्ट योग बच्चों के अनुकूल नहीं पड़ते हैं। अस्तु बाल्यावस्था के मधुमेह में चिकित्सा में इनका कोई स्थान नहीं है। तथापि डी० बी० आई० का सेवन एक सीमा तक लाभप्रद सिद्ध होता है।

**चयापचय के दोष से सद्योजात शिशुओं में होने वाले रोग**—धवलता ( Albinism ) रंजक कणों ( Melanin ) का निर्माण नहीं होता। जिससे त्वचा पर इन रंजकद्रव्यों का संचय नहीं होता और वर्ण श्वेत हो जाता है।

विषाणो मेह ( Cystinuria )—प्रोटीन का भंजन या पाचन ठीक न होने से मूत्र में सीस्टीन के कण आते हैं। कई बार इन्हीं कणों की अश्मरी बन जाती है।

क्षारासित मेह ( Alkaptonuria ) काले भूरे रंग का मूत्रस्राव होता है। प्रोटीन का पाचन न होने से रोग की उत्पत्ति होती है।

पंचधुमेह (Pentosuria )—मूत्र में 'पेप्टोज' निकलता है।

राजीवि या मांजिष्ठ मेह ( Congenital Prophysiunria )—गाढ़े लाल रंग का मूत्र आता है। दाँत और हड्डियाँ गुलाबी रंग की हो जाती हैं—त्वचा पर विस्फोट निकलते हैं।

शोण-वत्तु लिहीन पाण्डु ( Metheamoglobinaemia )—एक प्रकार की रक्तात्पता, जिसमें हीमोग्लोबिन का बनना बन्द हो जाता है। बच्चे की आकृति स्लेट जैसी नीलिमा युक्त हो जाती है। चिकित्सा में जीवतिक्ति 'सी' का उपयोग उत्तम है।

**आयुर्वेदोपचार**—बालकों में विविध प्रकार के प्रमेह बहुत कम पाये जाते हैं। अगर मिलें तो युवावस्था के प्रमेहों में वर्णित चिकित्सा को अल्प मात्रा में प्रयोग करने से लाभ होता है। कुछ एक सामान्य योगों का उल्लेख इस स्थान पर किया जा रहा है—जिसके प्रयोग से प्रायः लाभ होता है। आमलकी और हल्दी का चूर्ण या घिसकर चन्दन जैसा बनाया हुआ घिसारा सामान्यतया सभी प्रकार के चयापचय से उत्पन्न मूत्र दोषों में लाभप्रद पाया गया है। त्रिफला का चूर्ण ½ से १ ग्राम मधु के साथ प्रातः, सायं चटाने से या उसका शीत कषाय पिलाने से लाभ होता है। गुडूची का ताजा स्वरस मधु के साथ का गुडूची सत्व तीन कार्यों में सिद्ध योग है—१—वमन को रोकना, २—ऊँचे चढ़े हुए ज्वर को कम करना, ३—किसी भी प्रकार के कास श्वास ( Bronchitis, Broncho Pneumonia ) में काढ़ा बना कर मधु के साथ पिलाना सद्यः लाभ पहुँचाता है। गुडूची का चौथा कार्य प्रमेह को नष्ट करना है, इसको स्वतन्त्र या गुडूची सत्व के रूप में ½ से १ ग्राम और प्रवाल पिष्टि, प्रवाल भस्म या शृङ्ग भस्म १२५ मि० ग्रा० के साथ मिलाकर देना उत्तम रहता है। प्रमेह रोगों में बला प्रसिद्ध है—उसका स्वरस देना उत्तम रहता है। पाठा का प्रयोग भी उत्तम रहता है। मधुमेह आदि की अवस्था में गोमूत्र, त्रिफला, त्रिवंग, शिलाजीत, लौह, ताम्र तथा शालसारादि गण की औषधियाँ जिसमें विजयसार सबसे अधिक प्रसिद्ध है, कषाय या शीतकषाय बनाकर पिलाना चाहिये। योगों में शिवा गुटिका या चन्द्रप्रभावटी का आयु के अनुसार दूध में घोल कर आधी या चौथाई गोली का सेवन बड़ा लाभप्रद होता है। आसवों में लौहासव का प्रयोग श्रेष्ठ रहता है। फल, शाक, सब्जी, केला, मट्ठा, जौ की रोटी, मूँग की दाल, करैला का शाक, गूलर का फल पथ्य रूप में देना चाहिए।

## लिप्वायड धातु के चयापचय के विकार से होनेवाले रोग

रक्तगत फास्फोलिपिड्स कोलेस्टेराल या प्रोभूजिन के भंजन से उत्पन्न कुछ पदार्थ या कार्बोहाइड्रेट और वसाम्ल के भंजन से उत्पन्न मल, मूत्र

पदार्थ जिसका सामान्यतया शरीर से त्याग हा जाता है—वे त्यक्त न होकर शरीर में संचित होने लगते हैं। इन त्याज्य पदार्थों का क्रमशः संचय होते हुए रोग विकराल रूप धारण करता है, जिससे जीवन के लिए खतरा भी उपस्थित हो जाता है। इनमें अ—'गाउचर' का रोग आता है जिसमें 'सिरेब्रोसाइड' ( Cerebrosides ) का संचय शरीर में होता है। आ—'नीमानपिक' का रोग आता है जिसमें फास्फोटाइड्स ( Phosphotides ) का संचय होता है तथा इ—जैन्थोमैटोसिस ( Xanthomatosis ) का प्रसंग आता है जिसमें कोलेस्टेराल ( Cholesterol ) नामक पदार्थ का संचय होता है।

**गाउचर का रोग**—यह एक पारिवारिक रोग है जिसमें एक हीं परिवार के कई बच्चे रोग से पीड़ित हो सकते हैं—प्लीहा की अतिशय वृद्धि होती है। जो दूसरे वर्ष की आयु में घातक हो जाता है। रोग क्रमशः बढ़ता है जिसका पता भी नहीं लगता, यकृत भी बढ़ जाता है रक्त में श्वेत रक्तकणिकाओं की अल्पता ( Leucopenia ) पाई जाती है। प्लीहा को वेध करके परीक्षा करने पर उसमें विशेष प्रकार के 'गाउचर' कोशिकाओं ( Goucher's Cells ) की उपस्थिति मिलती है। रोग क्रम दीर्घकालीन हो सकता है। इसकी सिद्ध चिकित्सा ज्ञात नहीं है।

**नीमानपिक का रोग** ( Neimann Pick's Disease )—यहूदी परिवारों में पाई जाने वाली यह एक व्याधि है। अधिकतर कन्याओं में होती है। जन्म के कुछ मास बाद उत्पन्न होता है। प्लीहा की अति वृद्धि होकर नाभि के नीचे तक आ जाती है—द्वितीय वर्ष की आयु तक बालक की मृत्यु हो जाती है। कोई सिद्ध चिकित्सा ज्ञात नहीं है।

**पीतार्बुदता**—( Xanthomatosis )—उभरी हुई गोलाकार नारंगी के वर्ण की गाँठें शरीर की त्वचा पर निकलती हैं जिनका परिमाण पिन के सिर या मटर जितना होता है। ये गाँठें संख्या में बहुत और पूरी त्वचा पर निकलती हैं। ये गाँठों में 'कालेस्टेराल' ( Cholestrol ) पाया जाता है। बच्चे के साधारण स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है, गाँठें धीरे-धीरे लुप्त हो जाती हैं।

इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार की अवस्थाएँ इस रोग में देखने को मिलती हैं जिनमें अस्थि तथा शरीर के मृदु धातुओं में कणोत्कर्षमय संचय ( Granulomatous deposits ) पाया जाता है। इन कणदार संचयों में अधिक मात्रा में 'कोलेस्टेराल' पाया जाता है। अस्थियाँ भंगुर हो जाती हैं जिससे स्वयंजात भग्न ( Spontaneous Fracture ) की संभावना रहती है।

यह रोग अधिकतर २ से ८ वर्ष की आयु के बच्चे में होता है। प्रायः घातक होता है। अस्थियों के विकार के अतिरिक्त यकृत् और प्लीहा की वृद्धि रक्ताल्पता तथा त्वचा से रक्तस्राव ( Purpura ) आदि लक्षण भी मिलते हैं। चिकित्सा में लेखन तथा क्ष-किरण ( Curetage, X-Ray therapy ) से चिकित्सा लाभप्रद होती है।

**वातरक्त** ( Gout )—बच्चों में यह रोग बहुत ही कम पाया जाता है। लक्षण युवावस्था के सदृश ही होते हैं। आमवात से विभेद् कराना आवश्यक होता है। चिकित्सा में विशिष्ट योग 'वायनम कोल्चिकम' ( Vinum Colchicum ) का उपयोग लाभप्रद होता है।

**एमिलायड रोग** ( Amyloid Disease )—जीर्ण कालीन पूयोत्पादन के परिणामस्वरूप जैसे जीर्ण अस्थि मज्जापाक ( Chronic osteomyelitis ) जीर्ण अंतःपूयता ( Chronic Empyema ) या नाड़ी के साथ अस्थिक्षय ( T. B. of Bone with sinus ) में यह रोग होता है—जिससे छोटी-छोटी धमनियों की दीवालों में एमिलायड द्रव्य ( Amyloid material ) इकट्ठे हो जाते हैं। प्लीहा बढ़ती है और पिलपिली ( Sagospleen ) हो जाती है, यकृत् और वृक्क भी बढ़ जाते हैं। मूत्र फीके रंग का, कम आपेक्षिक गुरुत्व का एवं एल्बुमिन से युक्त हो जाती है। पाण्डु, जलोदर, पाद-शोफ आदि उपद्रव होते हैं। शोफ और पाण्डु की चिकित्सा करते हुए लाभ की आशा रहती है।

**वसादुष्पुष्टि या अतिकार्श्य** ( Lipodystrophia Progressive )—इस रोग का विशिष्ट चिन्ह अधस्त्वक् मेद का क्षीण होना—यह चरबी की क्षीणता प्रतिदिन बढ़ती चलती है, खास तौर से चेहरे और शरीर के ऊर्ध्वाङ्ग पर कृशता व्यक्त होती है। बालकों की अपेक्षा बालिकायें अधिक पीड़ित होती हैं। आकृति से ही रोग का निदान हो जाता है। चेहरे का सम्पूर्ण मेद सूख करके हड्डी ही दिखलाई पड़ती है—कृशता शरीर में ऊपर से आरम्भ करके नाभि तक ही सीमित रहती है। दोनों पैरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। चिकित्सा में सिद्धि कम मिलती है—संतर्पण करना लाभप्रद होता है। रोग का प्रभाव युवावस्था तक बना रहता है, परन्तु मानसिक या शारीरिक क्रिया में कोई बाधा नहीं आती है।

**अति-स्थौल्य** ( Obesity )—त्वचा के नीचे मेद का संचय अधिक होने से बच्चों का भार बढ़ता है और वे मोटे हो जाते हैं। सम्पूर्ण शरीर में मेद का संचय होता है, परन्तु विशेष करके उनके स्तन, कमर, नितम्ब और उदर की दीवाल में अधिक व्यक्त रहता है। स्थूलता का ज्ञान तो बहुत कुछ देखने से ही हो जाता है फिर भी शरीर का भार देख लेना चाहिये। शरीर के भार पर आयु की दृष्टि से न विचार करके उनकी लम्बाई के अनुपात से भार का विचार करना चाहिये। यदि स्थौल्य के कारण इन बच्चों में कार्य-क्षमता की कमी, थोड़े परिश्रम से ही साँस का फूलना, सुस्ती, चलने से पैरों में दर्द आदि लक्षण होने लगे तो रोग की अवस्था समझ कर उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। कुछ बच्चों में वंशगत परम्परा से भी स्थूलता पाई जाती है।

स्थौल्य के दो कारण हो सकते हैं—बाह्यहेतु ( Exogenous )—वा आन्तरिक हेतु ( Endogenous )। बाह्यहेतुओं में अति भोजन बार-बार भूख लगे और बार-बार उनको खाना दिया जाय तो ऐसे बच्चों में स्थूलता आ जाती है। भोजन अधिक मात्रा में और खेलकूद प्रभृति परिश्रम न करें तो उनकी शक्ति का नाश नहीं होता और शक्ति का रूपान्तर मेद में होकर त्वचा के नीचे संचय होने लगता है। पुनः अधस्त्वक् मेद का संचय शरीर की

उष्णता के नष्ट होने में भी बाधक होता है जिससे मेद का अधिकाधिक संचय बढ़ता ही चला जाता है। स्थौल्य का उत्पादक अति भोजन ही प्रधानतया होता है। कुछ बच्चों में आंतरिक हेतु—जैसे अवटुकाग्रन्थि की क्रियाल्पता ( Hypothyroidism ), षण्ढाभता ( Eunuchoidism ), पीयूषिका का अर्बुद ( Basophil adenoma of Pituitary ) तथा अधिवृक्क ग्रन्थि के बाह्य भाग की अतिपुष्टि (Hypertrophy of the suprarenalgland) प्रभृति अंतः स्यंदी ग्रन्थियों के विकार होते हैं। इनमें क्षुधा कम रहती है।

**चिकित्सा**—भोजन की अनियमितता का सुधार करना चाहिए। भोजन में मेद या चर्बी की मात्रा कम कर दे। प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में दे। श्वेतसार ( Starchy ) युक्त पदार्थों की मात्रा कम दे या पूर्णतया बन्द कर दे। भोजन या पोषण की मात्रा कम करने में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि बालक की जीवंतिक्तियों की पूर्ति अवश्य होती चले इसलिये जीवतिक्ति 'सी' की पूर्ति के लिए उसको हरे शाक, सब्जी, फलों के रस आदि पर्याप्त मात्रा में दे। प्रातःकालीन भोजन में दूध और फल दे। प्रधान भोजनों में मांसरस, मछली, अण्डा, जौ की रोटी, मूंग की दाल, मधु, कोद्रव, कुलथी, पुराना चावल, शाक, भाजी, फल सलाद जैसी चीज दे। भोजन क्रम से सुधारने के साथ ही उसके शारीरिक परिश्रम की भी व्यवस्था करनी चाहिये। सुबह-शाम उसको खेलने-कूदने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। तेल का अभ्यंग भी स्थौल्यहर होता है। इसलिए उसकी मालिश की व्यवस्था करनी चाहिये।

स्थौल्य चिकित्सा में पथ्य ही प्रधान है फिर भी अवटुकाग्रन्थिसत्व ( थायोरायड एक्सट्रैक्स ) का प्रयोग अल्प मात्रा में करना अच्छा होता है।

**पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।**
**पथ्यऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥** ( वैद्यजीवनम् )

चिकित्सा में आहार-विहार ही प्रधान है। ओषधि के रूप में विडङ्गादि लौह या लौह रसायन का प्रयोग या अमृतादि गुग्गुलु या नवक गुग्गुलु का प्रयोग, अल्प मात्रा में क्षारों का प्रयोग तथा गोमूत्र और शिलाजीत का प्रयोग

लाभप्रद होता है। हरीतकी चूर्ण या प्रयोग भी उत्तम पाया गया है। अरिष्टों में लौहासव का सेवन तथा महा-सुगन्धि तैल या त्रिफला तैल की मालिश करानी चाहिए।

## शिशुता
## ( Infantalism )

आयु के अनुपात में यदि बालक का मानसिक तथा शारीरिक विकास न हो पाये तो उसको शिशुता कहते हैं। यह दशा तीन प्रकार की हो सकती है। १—अंतःस्यंदी ग्रन्थियों ( Endocrin glands ) की अक्षमता से २—मर्माङ्गों की जीर्णव्याधियों से तथा ३—जिनके कारण ठीक ज्ञान न हो सके।

अन्तःस्यंदी ग्रन्थियों में अवटुका का जन्मजात क्रियाल्पता या पायूषिका की पूर्वखण्ड की अक्षमता हेतुभूत होता है। बच्चा वामन ( बौना ) हो जाता है। मर्माङ्गों के विकारों में वृक्कज वामनता, याकृतिक वामनता ( यकृत के विकार से ) या हृदय तथा फुफ्फुस के जन्मजात विकार के कारण वामनता पाई जाती है। बहुत ये सरकस वाले दलों में पाये जाने वाले वामन मिलते हैं जिनके कारणभूत कोई भी विकार नहीं पाया जाता ये तीसरे वर्ग में आते हैं। चिकित्सा बहुत सिद्ध ज्ञात नहीं हैं। कारणानुरूप प्रयास करके देखना चाहिये।

★

# अध्याय ११

## मुख और ग्रासनली के रोग

### मुखपाक

यह एक आम रोग है जो प्रायः सभी उमर के बच्चों में पाया जाता है। कई अवस्थाओं में एक मामूली शोथ से लेकर कोथ ( Gangrene ) तक में परिणत हो सकता है।

श्लेष्मस्रावी मुखपाक ( Catarrhal inflammation )—हीन पोषण के बालकों में अथवा तीव्र औपसर्गिक ज्वरों में विशेषतः रोमान्तिका ( Measles ) में यह अवस्था पाई जाती है। मुख की श्लेष्मकला रक्त वर्ण चमकती हुई दिखलाई पड़ती है, जिह्वा दरारयुक्त हो जाती है और भूक कम हो जाती है। चिकित्सा में मृदु शोथ शामक द्रव्यों के घोल से कुल्ली करना या धोना पर्याप्त होता है जैसे-'ग्लायकोथायमोलीन' या निम्नलिखित मिश्रण से—

| | |
|---|---|
| पोटैशियम क्लोरेट | १० ग्रेन ( ०.६५ ग्रा० ) |
| ग्लीसरीन | १ ड्राम ( ६० मिनिम्स ) |
| जल | १ औंस ( ४८० मिनिम्स ) |

सव्रण मुखपाक ( Ulcerative Stomatitis )—जीभ के नीचे दाँतों के सामने मुख के श्लेष्मल कला में और ओठों के ऊपर भूरापन लिए सफेद रंग के कुछ उभरे हुए छाले पाये जाते हैं। यह रोग अधिकतर छोटी उमर के बच्चों में पाया जाता है। कुछ ही दिनों में सफेद भाग सड़ जाता है और गहरे पीड़ायुक्त व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। पूरा मुख सूख जाता है जिससे चेहरा भी कुछ फूला हुआ सा नजर आता है। रोग के तीव्र होने पर मसूड़े भी सूख जाते हैं, छूने पर उनसे रक्तस्राव होता है, दाँत ढीले पड़ जाते हैं। जिह्वा दरारयुक्त हो जाती है, साँस से बदबू निकलती है, रोग के पूर्व वृत्त में विवन्ध, अतिसार, अग्निमांद्य या दाँत में गड्ढे का वृत्त पाया जाता है।

सार्वदैहिक लक्षणों में ज्वर, चिड़चिड़ापन, भोजन में अरुचि और छर्दि आदि लक्षण पाये जाते हैं। रोगी में अन्य विषमयता के चिह्न उपस्थित रहते हैं, परन्तु रोग घातक नहीं होता। रोग के उत्पादक हेतु के रूप में कुछ विशेष प्रकार के विषाणु ( Virus Herpes simplex ) या दण्डाणु ( Vincent's fusifom bascillus ) माने जाते हैं। कई बार पारा के सेवन के पश्चात् भी ऐसी दशा उत्पन्न हो सकती है।

**चिकित्सा**--मुख के प्रक्षालन के लिये 'हाइड्रोजन पेराक्सायड' के २५% घोल का प्रयोग करें या १% 'जेन्शियनवायलेट' के जलीय घोल को रुई के पिचु में भिगोकर उसके द्वारा मुख के व्रण स्थानों का प्रमार्जन करना चाहिये। यदि 'बिन्सेण्ट' के दण्डाणुओं के व्रण की उत्पत्ति हुई हो तो संखिया का लेप उत्तम होता है--इस कार्य में निम्नलिखित घोल का भी उपयोग होता है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| लायकर आर्सेनिकलिस | २ ड्राम | ( १२० मिनिम्स ) | सबका मिश्रण लेप के लिये |
| वायमन एपिकेकुवाना | २ ड्राम | ( ,, ) | |
| ग्लिसरीन | २ ड्राम | ( ,, ) | |
| जल | २ ड्राम | ( ,, ) | |

ऊँट के बालों से बने ब्रश द्वारा कुल चार या पाँच बूँद की मात्रा में लेप करना चाहिये। इन स्थानिक उपचारों के अतिरिक्त 'पोटैशियम-क्लोरेट' २ ग्रेन की मात्रा घोलकर मुख से प्रति चार घण्टे पर सेवन के लिए दिया जा सकता है। जब तक मुख व्रण से युक्त रहे, ठण्डा भोजन खाने के लिए देना चाहिये।

**सकोथ मुखपाक** ( Gangrenous stomatitis or Noma )--यह एक घातक रोग है, रोग से पीड़ित बच्चे बचते नहीं हैं। बहुत विरलता से पाया जाता है। कई बार तीव्र ज्वरों के उपद्रव रूप में विशेषतः रोमान्तिका में अत्यन्त दुर्बल बच्चों में पैदा होता है।

कपोल के अन्तः भाग पर एक बड़ा गहरा व्रण बनता है, जो धीरे-धीरे फैलते हुए पूरे गाल को रक्त वर्ण और शोथ युक्त कर देता है। आस-पास

के धातुओं को गला देता है। सार्वदैहिक लक्षण प्रबल स्वरूप के होते हैं शरीर का तापक्रम १०४$^0$ फे० हो जाता है विषमयता बढ़ती है। बालक की मृत्यु हो जाती है।

**चिकित्सा**—मुख की सफाई का पूर्ण ध्यान दे। गले हुए भाग को साफ कर दे। प्रतिजीवी योगों में 'स्ट्रेप्टोमायसिन' देकर देखना चाहिये।

**किण्वीय मुखपाक ( Thrush )**—बालकों में होने वाला एक विशेष प्रकार का मुखपाक है जिसमें कारणभूत पराश्रयी श्वेत किण्व ( Saccharomyces albicans ) होता है। इस किण्व का वायुमण्डल से संक्रमण का ग्रहण करके मुख की श्लैष्मिक कला दूषित होती है। स्तनपायी शिशुओं की अपेक्षा बोतलपायी शिशुओं में यह रोग अधिकाधिक होता है। हीन पोषण वाले बालकों में उनके मुख की श्लैष्मिक कला सूखी रहती है।

इस रोग में जिह्वा के ऊपर गालों के भीतर की ओर और तालु में सफेद रंग के छाले पड़ते हैं। जो देखने में दूध की साढ़ी के सदृश होते हैं और मुख के श्लेष्मल कला से अच्छी तरह से चिपके रहते हैं। दूध की साढ़ी को सरलता से हटाया जा सकता है परन्तु इनको नहीं। यदि रोग में वृद्धि हुई तो ये छालों के आवरण आपस में मिलकर पतली झिल्ली जैसे कला का निर्माण करते हैं। इस अवस्था में रोहिणी ( डिफ्थीरिया ) की कला से विभेद करना पड़ता है। यह विभेद कला के व्रण से तथा साधारण स्वास्थ्य पर विचार करने से किया जा सकता है। मुखपाक की अवस्था में सार्वदैहिक लक्षण उतने तीव्र नहीं होते हैं। ज्वर भी बहुत कम पाया जाता है। ग्रीवा की ग्रन्थियाँ नहीं बढ़ती। फिर भी मुख के स्पर्श करने से बालक पीड़ा का अनुभव करता है, और दूध पीने में भी असमर्थ रहता है। उपचार नहीं हुआ तो विकार का प्रसार ग्रासनली तक हो जाता है और अतिसार भी होने लगता है।

**चिकित्सा**—पीनेवाले बोतल और माता के स्तन की सफाई के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए। बोतल की सफाई पानी में उबाल देने से होती है। प्रत्येक पोषण के पूर्व बोतल को गरम पानी में खौला करके बच्चे को

दूध पिलाना चाहिये। मातृ-क्षीर पर पलने वाले बच्चों को चूचुक की सफाई टंकण के घोल से पोंछकर प्रत्येक बार दूध पिलाने से हो जाती है। स्थानिक उपचारों में बच्चे के मुख को एक प्रतिशत "जेनशियन वायलेट" के जलीय घोल का लेप ( शक्ति १:१००० ) करना चाहिए। प्रतिजीवी योगों वृहत्तर क्षेत्र के ( Antibiotics ) जैसे मिस्टेक्लीन या टेट्रासायक्लिन सस्पेन्शन या पेडियाट्रिक ड्राप ( Mystatine Suspension ) आदि का प्रयोग भी लाभप्रद रहता है।

**अकणोत्कर्ष**--( मुखपाक )--यह एक विशेष प्रकार का मुखपाक है जिसमें रक्त-परीक्षा करने से कणयुक्तश्वेत कोषाणुओं की कमी ( Reduction in Polymorphonuclear Leucocytes ) हो जाती है। रोग के उत्पादक कारणों में सितोत्कर्ष ( Leukaemia ) अथवा 'हाजकिन' का रोग अथवा सल्फा वर्ग की या कई अन्य ओषधियों की असह्यता पाई जाती है।

**चिकित्सा**—जीवतिक्ति 'बी ६' ५० मिलीग्राम की मात्रा में प्रातः सायं पेशी द्वारा देना चाहिये।

**आयुर्वेदोपचार**—स्थानिक चिकित्सा के रूप में सहिजन के छाल का काढ़ा या चमेली के पत्ती का वनाया हुआ काढ़ा का उपयोग बच्चों के मुखपाकों में करना भी बड़ा लाभप्रद पाया गया है। इन ओषधियों का काढ़ा बना कर कुल्ली करा के मुख की सफाई करनी चाहिये। लेप के लिये भेड़ का दूध बहुत शीघ्रता से मुखगत व्रणों का रोपण कराता है। शुद्ध टंकण और मधु का लेप भी उत्तम होता है। साथ में कुछ वल्य ओषधियों का भी प्रयोग करना चाहिये। यदि रोगी में विबंध हो तो कोष्ठ शुद्धि का भी ध्यान रखना चाहिये। इसके लिये हरीतकी चूर्ण, अमलताश की गुद्दी, मुनक्का एवं मिश्री की गोली वना कर देना चाहिये।

## जिह्वा के रोग

**वृहत् जिह्वा** ( Macroglossia )—जिह्वा के लसीकाभ धातुओं ( lymphagiomatous enlargement ) की वृद्धि होती है। प्रायः

बालक के जन्म से ही यह रोग होता है जीभ बहुत बड़ी और मोटी हो जाती है और मसूड़ों के बाहर निकली रहती है। इस प्रकार जीभ, वामनता ( Cretinism ) की भी सूचना देती है। चिकित्सा शल्यकर्मीय है बढ़े हुए लसीकाभ तन्तुओं को काटकर पृथक करना।

## रसना संग

## ( Tongue tie

**जीभ का बंधन** ( Framenum )—के छोटे होने से जिह्वा का अग्रभाग मुख के बाहर नहीं निकल सकता। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में बच्चा दूध पीने में भी असमर्थ होता है। आगे चलकर उसके बोलने में भी कठिनाई होती है। बालक जिह्वा के अग्र को दोनों होठों के बीच से बाहर नहीं कर सकता। यदि इस क्रिया में असमर्थ हो तो रसना संग नहीं है या है भी तो बहुत अल्प। उसमें चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है, ऐसा समझे।

**चिकित्सा**—शल्यकर्मीय होती है। जीभ के बन्ध का पृथक्करण करना है।

## रसना निगिरण

## ( Tongue Swallowing )

दुर्बल बालकों में शिशु जीवन के प्रारम्भिक सप्ताहों में यह व्याधि मिलती है। जिन शिशुओं में जीभ का बंध ( Fraenum ) अस्वाभाविक रूप से लम्बा होता है या जिनमें हन्वस्थि का निर्माण ठीक नहीं हुआ रहता या जीभ का भार अधिक होता है, उनमें अधिक मिलता है। जीभ पीछे की ओर ( Epiglottis ) गिर जाती है जिससे श्वसन रुक जाता है और अचानक श्वासावरोध का दौरा हो जाता है। कई बार बालक की सद्यः मृत्यु हो जाती है। यदि शिशु श्वासावरोध के दौरे से बच जाय तो कुछ सप्ताहों तक उसकी खास निगरानी रखनी चाहिये। उसे किसी पार्श्व ( करवट ) पर लेटना चाहिए। भाग्यवश शिशु जैसे-जैसे उमर में बढ़ता जाता है वैसे-वैसे क्रमशः उसकी जीभ के निगलने की आदत छूटती चलती है और अन्त में ठीक हो जाता है।

## भौगोलिक जिह्वा

इसमें जीभ के ऊपर दरार और व्रण निकलते हैं जो प्रायः किसी प्रकार के अजीर्ण या मंदाग्नि के द्योतक होते हैं। चिकित्सा में जीभ की स्थानिक चिकित्सा न करके मूल कारण अजीर्ण की ही करनी चाहिए।

## दन्त

### दन्तोद्भेद

दाँतों का निकलना एक शरीर की स्वाभाविक क्रिया है; परन्तु कुछ न कुछ असुख बच्चों में जरूर मिलता है। कुछ विशेष वर्ग के बच्चों में तो बहुत प्रकार के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। मृदु स्वभाव के लक्षणों में चिड़चिड़ापन और रोना दो तीन दिनों तक चलता है जब तक कि उनके दाँत मसूड़ों के बाहर नहीं आ जाते। मुख से बूँद-बूँद करके लालास्राव ( लार का टपकना ) एक प्रमुख पूर्व रूप मिलता है। कुछ बच्चे तकिये पर अपने सिर को रगड़ते भी मिलते हैं। कुछ अँगुली या मुट्ठी मुँह में डालकर पीते हुए अपने एतद्-कालीन असुख को व्यक्त करते पाये जाते हैं। कुछ ऐसे भी मिलते हैं जिनमें चिन्ताजनक लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण हर बार दाँतों को निकलते समय मिलते हैं—पुनः दाँतों के मसूड़ों को फाड़कर निकल आने पर स्वयमेव शान्त हो जाते हैं। बड़े दाँतों के निकलने में छोटे दाँतों की अपेक्षा कष्ट कम होता है।

ज्वर—दन्तोद्भेद काल में दो-तीन दिनों तक ज्वर ( दो या तीन अंश तक ) हो जाता है—जो कई बार कुछ सप्ताहों तक भी चल सकता है। यह ज्वर संध्याकाल में बढ़ता है एवं प्रातःकाल में प्राकृत रहता है।

क्षुधानाश—कई बच्चों में मसूड़ों की स्पर्शनाक्षमता के कारण भूख की कमी पाई जाती है, जिससे वे आहार लेना भी कभी-कभी पूर्णतया अस्वीकार करते हैं। ऐसी दशा में बच्चों का पोषण चम्मच से देना आवश्यक होता है। अन्यथा बलक्षय या भार-क्षय की सम्भावना रहती है।

श्वसन शोथ—बहुत से बच्चों में श्वसन संस्थान के विकार प्रतिश्याय, खाँसी, श्वासकष्ट, श्वसनी शोथ प्रभृति श्वसन संस्थान के परिस्रावी शोथ के भी लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वमन और अतिसार—पचन-संस्थान के लक्षण वमन और पतले दस्त का होना या केवल अतिसार प्रायः दन्तोद्भेद काल में मिलता है।

वातिक लक्षण – कई बच्चों में वातिक लक्षण प्रबल स्वरूप के जैसे मस्तिष्कावरण-शोथ ( Meningitis ) सदृश भी मिलते हैं। कई बच्चों में किसी विशेष दाँत के निकलने में आक्षेप ( Couvulsions ) भी पाये जाते हैं।

दाँतों को संस्कृत में द्विज भी कहते हैं। इसका अर्थ होता है जिसका जन्म दो बार हो। पहले वाले अर्थात् दूध वाले दाँत गिर जाते हैं उनके स्थान पर दूसरे नये दाँत आते हैं, परन्तु दूसरी बार दाँतों के निकलते वक्त बालक के स्वास्थ्य में पर्याप्त स्थिरता आ गई रहती है अतः कुछ भी कष्ट नहीं होता। कुछ बच्चों में मन्द ज्वर चलता है जो दाँत के निकलने पर स्वयमेव शान्त हो जाता है। युवावस्था में पुनः ज्ञानदन्त (Wisdomtooth) निकलते समय स्थानिक वेदना प्रभृति कष्ट होते हैं।

उपचार—जैसा कि पूर्व में ही बतलाया जा चुका है दन्तोद्भेद कोई रोग नहीं बल्लि एक स्वाभाविक क्रिया है अतः चिकित्सा लाक्षणिक करनी होती है। यदि बच्चों में बेचैनी, चिड़चिड़ापन और अनिद्रा पाई जाय तो 'क्लोरल' १ ग्रेन की मात्रा में दिन में दो या तीन बार देना चाहिए। कई बार वेदना के शमन के लिए 'एस्प्रिन' $\frac{1}{10}$ ग्रेन/प्रति पौण्ड भार ( १० मि० ग्राम/प्रति किलोग्राम ) दिन में कई बार देने से भी लाभ होता है। यदि बच्चा बोतल पीना चाहे तो उसको चम्मच की सहायता से आहार की व्यवस्था करे। कई बार उभड़े मसूड़े का दन्तशंकु से लेखन करने ( Lancing ) से बड़ा लाभ देखा गया है।

आयुर्वेदोपचार—लाक्षणिक चिकित्सा करते हुए वमन एवं अतिसार की अवस्था में ६० मि० ग्रा० की मात्रा में दुग्ध रस पानी में घोलकर चम्मच से

दिन में दो-तीन बार मुख से देना चाहिये। दूसरा स्थानिक उपचार मसूड़ों का घर्षण भी है। इसके लिए मधु के साथ यवक्षार या शंख भस्म का मसूड़े पर रगड़ना उत्तम है। सबसे अच्छा प्रयोग दन्तोद्भेद गदान्तक रस का है।

**दन्तोद्भेद गदान्तक रस**—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता, अजमोदा, सोंठ, अजवायन, हल्दी, मुलैठी, देवदारु, दारुहल्दी, वायविडंग, छोटी इलायची, नागकेसर, मोथा, कचूर, काकड़ासींगी, विडलवण, अभ्रक, भस्म, शंख भस्म, लौह भस्म, सुवर्ण माक्षिक भस्म। सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर गाय के दूध या जल के साथ खरल करके छोटी गोली ( ½–१ ग्राम की ) बना कर रख लेना चाहिये। पानी में घिसकर मसूड़ों पर लगाना चाहिए। मुख से सेवन के लिए भी इस योग का उपयोग हो सकता है। इन गोलियों को पानी से घिसकर पुनः सूजे हुए मसूड़ों पर रगड़ना होता है। दाँत के निकलते समय बीच-बीच में इसके प्रयोग करने से दाँत सरलता से निकलता है साथ ही ज्वर, अतिसार और आक्षेप प्रभृति लक्षण भी शान्त हो जाते हैं।

## दाँतों का कटकटाना
## ( Teeth grinding )

बहुत से बच्चों में रात में सोते वक्त दाँत के रगड़ने की आदत पाई जाती है। दाँतों का कटकटाना पास में सोने वाले को सुनाई पड़ता है; परन्तु बालक को स्वयं उसका अनुभव नहीं होता। ऐसी दशा बहुत से कारणों से पैदा हो सकती है—विशेष करके मस्तिष्क अथवा मस्तिष्कावरण के विकारों में ( जैसे—T. B. Meningitis, Hydrocephalus Meningococcal Meningitis ) तथा मानसिक दुर्बलता में जीर्ण अग्निमांद्य के साथ भी यह लक्षण पाया जाता है। आंत्रगत कृमियों में विशेषतः सूत्र कृमियों ( Thread worms ) को भी इस लक्षण की उत्पत्ति का हेतु माना जाता है, परन्तु ऐसा मिलता कम है। कारणों के अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये, परन्तु मस्तिष्क के किसी अंग के विकार से होने वाले लक्षण कदापि शान्त नहीं होते। ये काल से मस्तिष्क के विकास के साथ धीरे-धीरे शान्त होते हैं।

आयुर्वेदोपचार—यदि कृमि हेतु प्रतीत हो तो कृमिघ्न उपचार जैसे 'कृमि-कालानलरस' का प्रयोग १२५ मि०ग्रा०, दिन में दो बार प्रातः सायं मधु से करे। अजवायन, वायविडंगचूर्ण, पलाशबीज अथवा कबीले का चूर्ण ४ से १½ ग्राम तक गुड़ के साथ देना ठीक है। अन्य अवस्थाओं में मेध्य घृतों का प्रयोग लाभप्रद पाया जाता है। गोघृत भोजन के साथ दे। अष्ट मंगल घृत ( भै० र० ) बनाकर नियमित कुछ मास तक प्रयोग करना उत्तम है। शृंग भस्म का १२५ से २५० मि० ग्रा० की मात्रा में मधु से चटाना भी उत्तम रहता है। कृमि की चिकित्सा में अधुना बहुत से पेटेण्ट दवायें उपलब्ध होती हैं, जैसे, 'हेल्मासीड' 'डिकैरिस' और इनका भी उपयोग उत्तम रहता है।

## कृमिदन्त
## ( Dental Caries )

दूध वाले दाँत अस्थायी होते हैं, इनमें होने वाले दाँतों के गड्ढे भी पीड़ाकर प्रायः नहीं होते, इन दोनों कारणों से बालक के अभिभावक का ध्यान भी रोग की ओर आकर्षित नहीं होता फिर भी चिकित्सक को निजी परीक्षा काल में दाँतों पर ध्यान अवश्य देना चाहिये। कई बार इन दाँतों की जड़ों में मसूड़ों का पाक होकर विद्रधि का रूप हो जाता है जिससे बालक का स्वास्थ्य प्रभावित होता है और जब तक इस विद्रधि का समुचित उपचार नहीं किया जाता, बालक में सुधार भी नहीं दिखलाई पड़ता।

दूध के दाँतों के विकार से कई प्रकार के शारीरिक लक्षण उपस्थित हो सकते हैं जैसे—ज्वर, क्षुधा की कमी, पुराने अजीर्ण के लक्षण, अग्निमांद्य तथा अन्य वातिक लक्षण जैसे मुख-मुद्रा के परिवर्त्तन, निद्रा की कमी, रात का चौंकना, शय्यामूत्र आदि।

कृमि-दन्त का प्रधान कारण पोषण से जीवतिक्ति 'डी' की कमी बतलाया गया है, इस जीवतिक्ति के अभाव में दाँतों में चूने का भरण (Calification) यथोचित नहीं हो पाता जिससे वे गर्त्त युक्त या कृमियों से खाये हुए के समान प्रतीत होते हैं। इसके अलावे अल्पायु से ही अन्नाहार पर पलने वाले बालकों

के दाँतों में ये दोष आते हैं। उन बच्चों में जिनकी गर्भावस्था में माता को इन जीवतिक्तियों से युक्त आहार जैसे दूध, मछली और अण्डे, मक्खन, घी आदि न मिला हो उन बच्चों के इस प्रकार के रोग से पीड़ित होने की सम्भावना रहती है।

चिकित्सा में बच्चे के पोषण के ऊपर प्रधान रूप से ध्यान देना चाहिए। यदि माता का स्तन पीनेवाला बच्चा हो तो माता को पर्याप्त मात्रा में जीवतिक्ति 'डी' से युक्त आहार देना आवश्यक होता है। यदि बालक स्वतन्त्र वृत्ति का हो अर्थात् बोतलपायी या ऊपर का ताजा गाय का दूध का अभ्यासी हो तो उसे पर्याप्त मात्रा में दूध देने के अलावे ( १ प्रतिदिन ) तीन अण्डे, मक्खन १ औंस ( ३० ग्राम ) प्रतिदिन देने की व्यवस्था करनी चाहिए या काड मत्स्य की यकृत्वसा ( Codliver oil ) १ चाय की चम्मच भर कर प्रतिदिन दें।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि जब उचित पोषणों से अस्थायी दाँत मजबूत होंगे तो उनका प्रभाव स्थायी दाँतों के ऊपर भी पड़ेगा वे भी स्वस्थ निकलेंगे। पोषण के अतिरिक्त दाँतों की सफाई पर भी ध्यान रखना चाहिए दिन में दो बार मंजनों की सहायता से दाँतों को साफ कर लेना चाहिए।

**आयुर्वेदोपचार**—फक्क रोग में वर्णित ( चूने या कैल्शियम ) के योगों को देना चाहिए। दाँत के गड्ढे में दर्द अधिक हो तो 'लवंग के तैल' को रुई में लेकर गड्ढे को भर देना चाहिए। स्थानिक संज्ञाहरण के लिए 'नोवोकेन' का चूर्ण थोड़ी मात्रा में गड्ढे में भरकर रुई रख कर दबा देना चाहिए। इन बच्चों में मीठे का सेवन कम करा देना चाहिए।

## ग्रासनली के रोग

**सहज अच्छिद्रता** ( Congenital Atresia )—ग्रास नली का स्रोत प्रारम्भ से कुछ आगे चलकर रुद्ध रहता है अधिकतर उस स्थान पर जहाँ श्वसनी ( Trachea ) का द्विविभजन ( Bifurcation ) होता है। अन्ननलिका का ऊपरी भाग विस्फारित रहता है और अधोभाग सँकरा रहता है। ९०% रोगियों में नलिका का अधोभाग श्वसनी के स्रोत से सम्बद्ध रहता है। इसीलिये अन्तः श्वसन कर्म में आमाशय वायु से भर जाया करता है।

**लक्षण**—शिशु को प्रथम बार पोषण पिलाते समय ही निदान हो जाता है। थोड़ा सा दूध पीने के बाद ही बच्चा खाँसने लगता है, उसकी साँस रुद्ध हो जाती है, झाग मुँह से निकलने लगती है, चेहरा नीला पड़ जाता है, पश्चात् एक वेग से वमन होता है, दौरा समाप्त हो जाता है, ग्रासनलिका का ऊपरी भाग रिक्त हो जाता है, नाक और मुँह दोनों से वमन होता है। रोग का दौरा बार-बार होता है, पेट तीव्र विबंध युक्त होता है, पाखाने में गर्भ-मल ( Meconium ) के अलावे कुछ भी नहीं आता।

आमाशय के भीतर रबर की नलिका प्रवेश कराने से वह ग्रासनलिका में ऊर्ध्व भाग तक सीमित रहकर मुड़ जाया करती है आमाशय तक नहीं पहुँच पाती। जम्बुकीय तैल ( Iodised Oil ) प्रवेश कराके क्ष-किरण चित्र से भी निदान किया जा सकता है।

रोग में मृत्यु अनिवार्य रहती है, प्रथम पक्ष के भीतर ही बच्चे फुफ्फुस शोथ या उपवास ( Starvation ) से मृत्यु की गोद में चले जाते हैं। वक्षीय-शस्त्र कर्म ( Thoracic surgery ) से ग्रासनली स्रोत के सुधार की आशा रहती है।

## हियाटस हर्निया
## ( Hiatus Hernia )

इस दशा में मध्यच्छद ( Diaphragm ) में पाये जानेवाले ग्रासनली द्वार ( Oesophageal opening ) स्वाभाविक से बड़ा होता है—जिससे होकर ग्रास नलिका तथा आमाशय का कुछ भाग ऊपर को निकल जाता है और वक्ष में च्युत होकर पहुँच जाता है। इसी भाग के ऊपर ग्रासनली खुलती है जिससे उसके हार्दिक द्वार ( Cardiac end ) की संवरणी ( Sphincter action ) क्रिया जाती रहती है।

अब इस च्युति या वृद्धि का प्रभाव ऐसा पड़ता है कि जब बच्चा चित लेटता है तो आमाशय का भोजन एवं लवणाम्ल ( Hcl ) ऊपर की ओर उलट कर अन्न नलिका तक आ जाया करता है ( Regurgitate ) इस

आमाशय रस के सम्पर्क में बार-बार आने से ग्रासनलिका का अधोभाग व्रणित ( आमाशय व्रण युक्त ) हो जाता है।

जन्म के कुछ दिनों बाद वमन का होना प्रारम्भ हो जाता है; जो इस रोग में एक प्रमुख लक्षण है—स्रोत के व्रणित होने की वजह से वमन रक्त रंजित होता है, जो मध्यच्छदगत वहिःसरण का द्योतक है। जठरनिर्गसंकीर्णता ( Pyloric stenosis ) में भी वमन होता है; परन्तु वह रक्त-मिश्रित नहीं रहता है। उदर में शूल का होना भी पाया जाता है। भार में वृद्धि संतोष-जनक नहीं होती।

रोग का निदान "बैरियम का आहार" देकर क्ष-किरण चित्रण से स्थिर किया जा सकता है। ग्रासनली दर्शन ( Oesophagoscopic examination ) से भी निदान सम्भव है।

**चिकित्सा**—आमाशय रस के ऊपर की ओर प्रत्यावहन ( Regurgitation ) न हो इसलिए एक विशेष प्रकार के आसन पर जिसे 'ग्रासनली बाक्स' ( Oesophageal Box ) कहते हैं, अर्धोत्तानासन पर लेटाकर दूध पीने को देना चाहिए। भोजन के दो या तीन घण्टे बाद तक, शुरू में बच्चे को रखना चाहिए। पश्चात् वमन के बन्द हो जाने पर क्रमशः बक्स में लेटने का समय कम करते जाना चाहिए। उदाहरण के लिए भोजन के एक घण्टे बाद तक या उससे भी कम। यह क्रम तब तक चालू रखे जब तक कि बच्चा स्वयं इस आसन पर या कुर्सी पर बैठने में समर्थ नहीं हो जाता है।

आमाशय व्रणों में क्षार का सेवन भी उत्तम होता है। इसके ½ चम्मच 'एलूड्राक्स' दिन में एक या दो बार देना चाहिये।

यदि सुधार न हो तो शस्त्र कर्म की शरण लेनी पड़ती है। शस्त्र कर्म के द्वारा आमाशय और अन्न स्रोत के च्युत भाग को स्व-स्थान पर लाना तथा मध्यच्छद द्वार को संकुचित करना पड़ता है।

अन्न नलिका की सहज संकीर्णता ( Steosis congenital )—अन्न स्रोत का ( सँकरापन ) दो प्रकार का होता है—१—स्रोत ( Lumen ) किसी स्थान पर लगभग १½ से०मी० की लम्बाई तक सँकरापन स्रोत के किसी

भी भाग में आ सकता है। २—स्रोत के भीतर एक पतली झिल्ली या पर्दा बनकर फैल जाये जो पूरी तौर से स्रोत को न घेरे बल्कि कुछ भाग खुला रहे। इससे नलिका का मार्ग संकीर्ण हो जाता है। यह भी जन्म-जात विकार ही है जो बहुत ही कम पाया जाता है। नलिका के नीचे वाले भाग के बीच में इस प्रकार की विकृति पैदा होती है।

**लक्षण**—वमन एक प्रमुख लक्षण है जो जन्म से ही या प्रथम वर्ष की आयु में कभी भी पैदा हो सकता है, फिर भी जब बच्चा अर्ध द्रव ( Semi-solid ) भोजन शुरू करता है इस समय व्यक्त होता है। बिना किसी तरह के मिहनत के ही वमन होता है जो प्रतिक्रिया में क्षारीय होता है और उसमें अपचित भोजन और श्लेष्मा गिरता है। अवरोध के ऊपर का भाग फैल जाता है। रोग का दौरा जैसे आता है—वमन एक सप्ताह तक बहुत तेज होता है-जबकि सेवन किया हुआ सब ठोस और द्रव भाग लौट आता है। फिर दो या तीन सप्ताहों तक वमन कम हो जाता है, कभी-कभी हो जाता है खास करके जब बच्चा ठोस आहार लेता है, तो वमन हो जाता है अन्यथा बन्द रहता है। तेज डकारें भी आती हैं। बच्चे को ठोस भोजन के निगलने या उलटने में कठिनाई होती है, द्रव आहार के सेवन में कोई विशेष कठिनाई नहीं पैदा होती है।

विबंध ( पेट का न साफ होना ) प्रायः मिलता है। बार-बार उल्टी ऊपर होने से बच्चे में उपवास के चिह्न मिलते हैं, उसकी ऊँचाई एवं भार पर असर पड़ता है। रोग का निश्चयात्मक निदान 'बेरियम आहार' देकर क्ष-किरण चित्रण से होता है। रोग क्रम और शुभाशुभ-यदि अवरोध के स्थान पर तान्त्वी अवरोध ( Fibrous Stricture ) होकर बड़े सूत्रों का निर्माण हो गया हो, तो रोग घातक होता है। अन्यथा धीरे-धीरे क्रमशः कुछ वर्षों में लक्षण शान्त हो जाते हैं।

**चिकित्सा**—अवरोध की प्रकृति के उपर चिकित्सा निर्भर है। ग्रास नलिका दर्शन से रोग का विनिश्चय करे। यदि कोई पतली झिल्ली अवरोध-कर हेतु हो तो उसको विदीर्ण ( फाड़ दे ) करे। विस्तारक शलाका ( Bou-

gies ) के प्रयोग से अवरोध को दूर किया जा सकता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये इन शलाकाओं के प्रयोग से नलिका की दीवाल के व्रणित होने से उस स्थान पर शोथ, व्रण और व्रणवस्तु का निर्माण होकर क्वचित् और मजबूत गतिरोध के पैदा होने की भी आशंका रहती है। अतएव सबसे उत्तम यह है कि किसी प्रकार की स्थानीय चिकित्सा के फेर में न पड़कर केवल द्रव आहार पर्याप्त मात्रा में देता चले। दूध, शर्बत, दाल, यूष, फलों के रस आदि। आवश्यक हो तो क्षारीय घोल से अन्न नलिका का प्रक्षालन किया जा सकता है। पर्याप्त साहस और धैर्य की आवश्यकता चिकित्सक में होनी चाहिये, यतः कुछ वर्षों में व्याधि धीरे-धीरे दूर हो जाती है। रोग काल-साध्य है।

जब औषध चिकित्सा से कुछ भी लाभ न हो, तो वक्ष-शल्यविद् के द्वारा शस्त्र चिकित्सा की शरण लेनी चाहिये और अन्न स्रोत का अवरोध दूर करना चाहिये।

## अभिहृद् जठराकर्ष
## ( Cardiospasm )

ग्रासनली के अन्त वाले भाग पर जहाँ वह आमाशय में खुलती है, संकोचनी पेशियाँ लगती हैं जो अन्न के उस स्थान पर आने पर फैल जाती हैं और अन्न को आमाशय में पहुँचा देती हैं, पुनः संकोचित हो जाती है जिससे आमाशय का अन्न ऊपर न आ सके। इस प्रकार यह प्राकृत क्रिया जब बिगड़ जाती है और इनमें असमय में आकुञ्चन हो जाता है जिससे अन्न-नलिका के मार्ग से आया हुआ अन्न आमाशय में पहुँच नहीं पाता। इसी अवस्था विशेष को हृद्द्वार का आकुञ्चन कहते हैं। इसकी उत्पत्ति में संकोचनी पेशियों के नियंत्रण करने वाले तंत्रिका-पेशी तन्त्र ( Neuro-Muscular ) की अनियमितता ( Disorder ) हेतु होता है जिसके प्रभाव से या संकोचनी पेशी आक्षेप के साथ बन्द हो जाती है या ढीली ही नहीं हो पाती। कुछ रोगियों में मानसिक कारण प्रधान ( Psycological factor ) होता है। जैसे अपतन्त्रक से पीड़ित बालिकाओं में इस प्रकार की दशा मिलती है।

यह रोग अधिकतर युवावस्था में पाया जाता है—बाल्यावस्था में भी अधिक उमर के बालकों में मिलता है। लक्षण "ग्रासनली की सहज संकीर्णता" जैसे ही रहते हैं। केवल क्ष-किरण चित्रण भर का अन्तर रहता है।

**चिकित्सा**--पारद भरी हुई ग्रासनली विस्फारक शलाका ( Mercury filled oesophageal Bougies ) का प्रतिदिन या एक दिन का अन्तर देकर या सप्ताह में एक दिन का प्रयोग करना चाहिए।

'अक्टील नाइट्राइट' ( Octil nitrite ) का प्रध्मापन ( Inhalation )--तीस सेकेण्ड के अन्दर हृद्द्वार के आकुञ्चन या संकोच को दूर करता है। विस्तारक शलाका के स्थान पर इसका उपयोग अधिक रोगी के मनोकूल होता है। इस औषधि का प्रभाव अस्थायी होता है, तत्काल द्वार का अवरोध दूर हो जाता है, आहार आमाशय में पहुँच जाता है। प्रध्मापक ( Inhaler ) के द्वारा नाक से प्रत्येक भोजन के अनन्तर इसका प्रयोग करना होता है। सहज या जन्मोत्तर कारणों से उत्पन्न तान्तव सन्निरोध में इस प्रधमन से कोई लाभ नहीं होता है; क्योंकि इस अवस्था में उस अवयव में स्थायी स्वरूप का निरोध रहता है। जन्मोत्तर होने वाले निरोध ( Acquired Stricture ) जो किसी क्षोभक या दाहक विष ( Irritant or Caustic poison ) के सेवन के अनन्तर उत्पन्न होते हैं--इस अवस्था में मोटी रबर की विस्फारक शलाकाओं के प्रयोग से तान्तव सन्निरोध ( Fibrous stricture ) का तोड़ना आवश्यक रहता है। केवल प्रधमन से लाभ नहीं होता।

**आयुर्वेदीय**---अपामार्ग-तण्डुल ( बीज ), पिप्पली, विडंग, कटफल का बना नस्य का प्रयोग अस्थायी रूप से संकोच को दूर करके लाभप्रद हो सकता है। इसके अतिरिक्त छर्दि के प्रकरण में लिखी चिकित्सा का योग करके देखना चाहिये। यह रोग बड़ा हठी स्वरूप का है अधिक दिनों तक वमन के चलने से दुर्बलता, शरीर पोषण की कमी, जलनाश तथा शोष प्रभृति उपद्रवों से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

★

# अध्याय १२

## पचन-संस्थान के रोग

**आंत्रस्रोत का सहज अछिद्रण**—जन्मजात या सहज विकारों में आंत्रस्रोत का अछिद्रण ( Congenital Atresia ) आंत्र में किसी भी भाग में या सतह पर हो सकता है। सबसे अधिक ग्रहणी ( Duodenum ) में पाया जाता है। बालक में उग्र स्वरूप का वमन कुछ भोजन के अनन्तर होता है--विबन्ध तेज रहता है। क्ष-किरण चित्रण से निदान और शाल्यिक चिकित्सा ( Surgical treatment ) से लाभ की आशा रहती है।

सहज अछिद्रण की अवस्था, उत्तरान्त्र ( Jejunum ), शेषान्त्र ( Ileum ) या स्थूलान्त्र ( Colon ) में भी हो सकती है। इन अवस्थाओं में बद्धान्त्र ( Intestinal obstruction ) के लक्षण जन्म के दिन से उपस्थित रहते हैं--जैसे वमन प्रथम या द्वितीय दिन से शुरू हो जाता है, कुछ ही दिनों में उदर वायु से आध्मान-युक्त हो जाता है, आंत्रगति का उदर में अनुभव किया जा सकता है, तीव्र विबंध रहता है जिससे बच्चे को पाखाना होता ही नहीं; शरीर का भार गिरता जाता है; दो तीन सप्ताहों में बच्चा काल-कवलित हो जाता है। शाल्यिक चिकित्सा ही जीवन के लिए एकमात्र सहारा रहता है।

सहज अछिद्रण गुदा के सतह पर पैदा हो सकता है जिसके कारण अछिद्र-गुद ( Imperforate annus ) की उपस्थिति उत्पन्न होती है। जन्म से ही मलत्याग का न होना एक प्रधान लक्षण पाया जाता है। चिकित्सा में शास्त्रोपचार से गुदछिद्र का निर्माण करना आवश्यक होता है।

**नाभि के सहज विकार**—नाभिपाक-शिशु के नाभि के ऊपर जन्म के लगभग पाँचवें दिन व्रण की उत्पत्ति हो सकती है, जीवाणु-नाशक या संक्रमण निरोध चूर्णों के अवधूलन ( जिंक आक्साइड, बोरिक एसिड और स्टार्च ) का सम मात्रा में बनाया मिश्रण, सल्फाग्रूफ की औषधियों के चूर्ण या प्रतिजीवी औषधियों के ( Antibiotis के चूर्ण ) पर्याप्त होता है!

**नाभिगत हार्निया** ( Umbelical Hernia )—उदर की दीवाल पूर्णतया बन्द न होने से नाभि के ऊपर एक कोश जिसमें आन्त्र रहती है—निकल जाता है। चिकित्सा में शल्यतन्त्रीय उपचार करना आवश्यक हो जाता है।

**मेकेल का विपुटी** ( Meckel's Diverticulum )—जन्मजात स्थायी विकार का स्वरूप है, जिसमें एक नाड़ी व्रण के द्वारा आन्त्र और नाभि या मूत्राशय और नाभि का सम्बन्ध हो जाता है। मल या मूत्र निकलना नाभि के नाड़ी व्रण से पाया जाता है। चिकित्सा शाल्यिक ( Surgical ) करनी होती है।

**आमाशय के विकार**—तीव्र आमाशय-शोथ ( Acute Gastritis )—अपथ्य सेवन, कच्चे और खट्टे फलों का सेवन, आइसक्रीम प्रभृति ठंडी चीजों के खाने से या धोखे से कोई विषाक्त द्रव्य पी लेने से बच्चों में तीव्र आमाशय शोथ उत्पन्न होता है।

रोग के प्रारम्भ में दो तीन दिनों तक बीच-बीच में वमन का होना एक प्रमुख लक्षण मिलता है। वमन में प्रारम्भ में तो अपच्चित् आहार निकलता है। किन्तु आगे चलकर उसमें आम और किंचित् मात्रा में रक्त भी रहता है। रोग के तीव्र होने पर पानी भी नहीं पचता उल्टी हो जाती है। मूत्र में एसीटोन आता है। साँस से भी ( एसीटोन ) की गन्ध आती है। छोटे बच्चों में आक्षेप कई बार रोग के प्रारम्भ में पाया जाता है। दस्त पतला होता है उसमें अपचित आहार के कण मिले रहते हैं। आमाशय प्रदेश पर दबाने से पीड़ा होती है, वैसे भी बालक को तीव्र उदर-शूल के दौरे आते रहते हैं। जिह्वा मलावृत हो जाती है, भूख नष्ट हो जाती है, साँस से बदबू आती है—मन्द ज्वर हो जाता है।

**चिकित्सा**—ऊर्ध्व वात (डकार) और वमन जब बहुत तीव्र हो तो 'सोडा बाई कार्ब' ( ६० मि० ग्रा०, ५६८ मिनिम्स जल में घोलकर ) के घोल से आमाशय का प्रक्षालन दिन में एक दो बार कर दे। प्रक्षालन के अनन्तर एरण्ड तैल ( १ चाय के चम्मच भर प्रतिवर्ष की आयु के हिसाब से ) देकर

कोष्ठ की शुद्धि करे। ऊर्ध्वाधः शोधन के अनन्तर या रोग के प्रारम्भ से ही बालक को प्रचुर मात्रा में जल, लेमनेड, जौ का यूष ( Barley water ) या लाज मण्ड दे। वमन के बन्द हो जाने के कुछ घण्टों बाद से दूध, दूध-रोटी, पाव रोटी, बिस्कुट एक दो दिनों तक दे। पश्चात् उसको नित्य के आहार पर ले आवे। पीड़ा की अधिकता हो तो—निम्नलिखित मिश्रण को दिन में तीन, चार बार दे—बिस्मथ कार्ब १० ग्रेन (६५० मि०ग्रा०), सोडा बाइकार्ब ५ ग्रेन ( ३२५ मि० ग्रा० ); टिंचर बेलाडोना ३ बूँद, वल्वेरिस क्रीटा एरोमैटिकी २½ ग्रेन ( १६२ मि० ग्रा० ), म्युसिलेजीनिस एकैशिया १५ बूँद एक्वा क्लोरोफार्म ७.१२ मि० ली०।

**आयुर्वेदोपचार**—इस व्याधि को आयुर्वेदीय प्राचीन परिभाषा के अनुसार अम्ल-पित्त कहना चाहिए। वमन को बन्द करने के लिए घरेलू उपचारों में गुडूचीस्वरस ( यदि ताजा गुडूची मिल जाय तो पानी के साथ पीसकर ) १ चम्मच दिन में दो तीन बार देना सद्यः लाभप्रद होता है। बालक को पीने के लिए अजवायन का अर्क, पुदीने का अर्क, सौंफ का अर्क देना चाहिए। यदि सम्भव न हो तो बेल की छाल डालकर उबाला जल या गुडूची छोड़कर उबाला हुआ पानी ठंडा करके घूँट-घूँट करके दे। मयूर पुच्छ भस्म १२५ मि० ग्रा० गुडूची सत्व ½ ग्रा० मिलाकर ऐसी एक मात्रा बनाकर मधु से चटावे या इलायची के चूर्ण और मधु मिलाकर दे। शूल के शमन के लिए महाशंखबटी का प्रयोग ½ गोली करके करे। क्षारों में क्षारराज का उपयोग चीनी के बनाये एक छटाँक शर्बत में १ ग्राम क्षारराज को डालकर नीबू का रस छोड़कर देने से भी लाभ होता है। अम्ल-पित्त के अधिकार के अन्य योगों का प्रयोग भी लाभप्रद रहता है—यदि बच्चा खाने में समर्थ हो तो अविपत्तिकर चूर्ण थोड़ा-थोड़ा खाने को दे। इसमें लवङ्ग पड़ा है जो उत्तम शूल-शामक होता है ( Anodyne ) और निशोथ पड़ा है जिसकी क्रिया से कोष्ठ शुद्धि भी हो जाती है। इस चूर्ण की मात्रा ४ ग्राम तक देनी चाहिए।

**पाच्य व्रण** ( Peptic ulcer )—आमाशय या ग्रहणी के व्रण बालकों में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। अधिकतर ये औपद्रविक स्वरूप के

होते हैं। प्रधान व्याधि के रूप में उण्डुकपुच्छ शोथ ( Acute Appendicitls ), अस्थि मज्जापाक ( Osteomyelitis ), दग्ध व्रण ( Burn ) आदि रोग होते हैं उसी के उपद्रव रूप में बालकों में आमाशय या ग्रहणी के व्रण उत्पन्न हो सकते हैं।

**लक्षण**—रक्तवमन या रक्त मिश्रित पुरीष का त्याग यही निदानकर लक्षण है। उदर में शूल जिसका भोजन के साथ सम्बन्ध रहता है—भोजनकाल में या भोजन के कुछ घण्टों बाद शूल होता है कुछ खाने से या कै हो जाने से शूल शान्त हो जाता है।

**चिकित्सा**—युवावस्था के पाच्यव्रणों के सदृश ही होती है। यदि रक्त की कै होना ही प्रमुख लक्षण मिल रहा हो तो बच्चे को बिस्तर पर लेटाकर रखना उचित है। छोटी मात्रा में अहिफेन का देना भी उत्तम होता है। बरफ चूसने के लिए दिया जा सकता है। धतूर ( Belladona ) के योग भी उत्तम पड़ते हैं। दूध, अण्डा आदि भी दिया जा सकता है। वेदना के शमन के लिये बैरालगान, एवाफोर्टिन, सिबाल्जिन कम्पोजिटम् अथवा एण्ट्रीनील डूप्लेक्स का छोटी मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

**आयुर्वेदोपचार**—आयुर्वेद के निदान के अनुसार यह रोग अन्न द्रव शूल या परिणाम शूल ( Gastric & Duodenal ulcer ) के वर्णन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अतएव इस अधिकार में पठित शास्त्रीय योगों का व्यवहार करना सदैव लाभप्रद रहता है लेखक के अनुभव में मीठा अनार या बेदाना का रस, अन्यान्य फलों के रस ( जैसे अंगूर, सेव, अमरूद, बेर, कैंथ आँवला ) भी उत्तम पड़ते हैं। गर्म करके ठंडा किया दूध और मिश्री का प्रयोग भी उत्तम रहता है। भोजन में अन्नों में चावल न देकर रोटी का ही प्रयोग करना चाहिये। अम्ल पित्त की चिकित्सा में ऊपर बताए योगों का व्यवहार करे। शूल शमन के लिए शंख, शुक्ति, शम्बूक और वराट भस्म का प्रयोग उत्तम होता है। प्रथमतः तो ये क्षारीय द्रव्य हैं। दूसरे चूना के यौगिक, तीसरा यह कि ये जान्तव पदार्थ जीव की हड्डी की राख ( Bone charcol ) हैं। जो स्वतः वायु के शोषक होते हैं। योगों में सूतशेखर रस का उपयोग

३० मि० ग्रा० प्रतिमात्रा और गुडूची सत्व २५० मि० ग्राम, वराट भस्म १२५ मि० ग्राम मिलाकर मधु से चटाने को दे। धात्रीलौह १२५-२५० मि० ग्रा० की मात्रा में घी और मधु के साथ दिन में दो बार दे। धात्र्यारिष्ट भोजन के बाद १ छोटी चम्मच भर दे। यदि रक्तस्राव ही प्रमुख लक्षण हो तो सिद्धामृत योग (दन्तीभस्म, प्रवालभस्म तथा शुद्ध सुवर्ण गैरिक सम मात्रा मिश्रित मात्रा १-३ ग्राम) का प्रयोग तीन बार केले के रस से देने से सद्यः लाभ होता है। लाक्षा का प्रयोग (लाख का चूर्ण) २ ग्राम की मात्रा में मधु से भी सद्यः रक्तस्तंभक होता है। वेदना को कम करने को शंखबटी ½ गोली नीबू के रस के साथ देनी चाहिए।

## मंदाग्नि

## ( Chronic Indigestion )

**अपथ्य सेवन** ( मिथ्या आहार )--बहुत से ऐसे भी आहार होते हैं जो बालक की पचन-शक्ति के अनुकूल नहीं पड़ते, ऐसे अनुचित आहारों या अपथ्यों का सेवन करने वाले बालकों में मन्दाग्नि हो जाती है। अपथ्यों में जैसे श्वेत सारीय या मण्डल आहार ( Starchy food ) आलू, रोटी, केला अधिक मात्रा में सेवन, इन द्रव्यों के ठीक पचन न होने से शरीर में वायु पैदा होती है और बदबूदार पतले दस्त होते हैं। इसी प्रकार कुछ ऐसे भी भोजन हैं जिनमें पचन के अनन्तर बहुत कुछ भाग शेष रह जाता है उदाहरण के लिए सेलुलोज युक्त भोज्य पदार्थ विविध प्रकार के कन्द, शाक सब्जियाँ गाजर, मटर, सेम, कच्चे फल, बादाम, अखरोट, मूँगफली, अंजीर आदि इन आहारों से भी बालकों का पाचन दूषित हो जाता है। क्योंकि ये सभी पदार्थ गुरु और पचने में दुर्जन होते हैं, फलतः मन्दाग्नि के कारण बनते हैं।

**अध्यशन ( अति-आहार )**:--बालक के अभिभावक स्नेहवश नाना प्रकार के उपायों से बालक को अधिक खिला दिया करते हैं। इस प्रकार का अनियमित आहार या अध्यशन भी आगे चलकर बालक में मन्दाग्नि पैदा करता है। बहुत से बच्चों में नियत समय पर न उठना, मल त्याग न करना,

मुँह की सफाई न रखना एवं भोजन का जल्दी-जल्दी ग्रहण करना, इन बुरी आदतों से भी अग्नि मन्द हो जाती है।

सबसे महत्व का कारण अध्यशन है—जिसमें एक बार के खाये अन्न का पूर्ण परिपाक ही नहीं हुआ तब तक दूसरा भोजन दे दिया जाय। दो भोजन कालों के मध्य में भोजन देना ही अध्यशन है। इसमें मन्दाग्नि पैदा होती है।

नासा और गले का पुराना संक्रमण ( Chronic nasopharngeal infection ) नाक और गले के पुराने विकारों में बच्चे दूषित कफ को नासा पश्चिम द्वार से निगल जाया करते हैं यह क्रिया अधिकतर रात्रि में होती है जिससे बच्चे सबेरे उठने के साथ ही श्लेष्मायुक्त वमन करते हैं; यह भी इस रोग का एक हेतु है।

दूध वाले या प्रथम दाँतों के रोग—बालकों में दाँतों के विकार युक्त होने से वे अपने भोजन को पूरी तौर से चबा नहीं सकते और बिना चबाये ही निगल जाते हैं। इससे भी पेट में दर्द और एक प्रकार का पुराना अजीर्ण पैदा होता है। इसी प्रकार बिना दाँत वाले बच्चों में दिया गया अन्नाहार भी अजीर्ण पैदा कर सकता है।

लक्षण—विविध प्रकार के मिलते हैं। डकारों का आना, आमयुक्त वमन का होना। आमाशय प्रदेश में पीड़ा या भारीपन का अनुभव, पाखाने का पतला और बदबूदार और आँवयुक्त होना, निद्रा की कमी; स्वास्थ्य का गिरना, भूख की कमी; अभक्ष्य जैसे कोयला, कागज, मिट्टी आदि खाने की इच्छा भी पाई जाती है।

मल में अपचित मण्ड आता है। उसका वर्ण भूरे या हरे रंग का हो जाता है। अधिक मात्रा में आम निकलता है और उसमें सूत्रकृमि उत्पन्न होकर बच्चे की गुदा में खुजली पैदा करते हैं।

पचन-संस्थान के लक्षणों के अतिरिक्त और भी कई लक्षण अग्निमान्द्य से पीड़ित बच्चों में मिलते हैं। जैसे शाखाओं का अचानक ठण्डा हो जाना या लाल हो जाना या नीला हो जाना, कई बार बालक मूर्च्छित हो जाता है। बहुत

से बालकों में मन्द ज्वर चला करता है। संध्याकाल में हाथ और पैरों में दर्द होना, थकावट का अनुभव होना भी पाया जाता है जो आराम करने पर ठीक हो जाता है।

वातिक लक्षणों में अल्प परिश्रम से थकान, चिड़चिड़ापन, सुस्ती, शिरःशूल निद्रा की कमी, दाँत का कटकटाना, रात में सोते वक्त चौंकना या डरना और शय्यामूत्र प्रभृति लक्षण मिलते हैं।

**चिन्ह**—बच्चे की शारीरिक परीक्षा करते समय उनका चेहरा गिरा हुआ, शरीर दुर्बल, आँखों के चारों ओर कालापन, नीचे वाले पलक के नीचे सूजन, त्वचा रुक्ष या स्निग्ध, केशों की विरलता और शुष्कता, त्वचा पर शीत-पित्त के चिह्न भी मिल सकते हैं। जिह्वा मलावृत्त और दरारयुक्त होती है। दाँत कीड़ें के खाये से दीखते हैं। उदर मृदु, फूला हुआ और स्पर्शनाक्षम होता है। आमाशय प्रदेश में आध्मान अधिक व्यक्त करता है। यकृत् किंचित बढ़ा हुआ मिलता है। मूत्र का वर्ण अधिक गाढ़ा। फास्फेट अधिक आने से चूना जैसा होता है।

**शुभाशुभ**—यह व्याधि बालक के लिए घातक नहीं होती है। अन्ततोगत्वा भविष्य अच्छा ही रहता है। इनमें सन्देह नहीं कि लम्बे समय तक चिकित्सा करनी पड़ती है फिर जाकर अपेक्षित सुधार दिखाई पड़ता है।

**चिकित्सा**—

**सामान्य उपचार**—बालक को नियत समय से भोजन देना चाहिए। भोजन काल में उसको शीघ्रता नहीं करनी चाहिए स्निग्ध भोजन की अपेक्षा रुक्ष भोजन अच्छा रहता है। दो आहार काल के बीच में यदि बालक की इच्छा हो तो उसको कोई पेय दिया जा सकता है, ठोस भोजन नहीं। रात में अधिक देर हो जाने पर खास करके सोने के पहले भोजन नहीं देना चाहिए। प्रतिदिन एक परिमित मात्रा में उसको विश्राम भी देना चाहिए, विश्राम के लिए उसको लेटना चाहिए। पाठशाला जाने वाला लड़का हो तो बिस्तर पर चिकित्सा काल में रखे, उसको पाठशाला में न जाने दे। दाँत, गला और नाक

पर विशेष ध्यान देना चाहिए, यदि इनमें कोई विकृति हो तो उसे भी दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

**आहार**--लघु और सुपाच्य आहार का सेवन कराना पथ्य है। न पचने योग्य दुर्जर और गुरु द्रव्य अपथ्य पड़ते हैं। अतएव ऐसे आहार को बन्द कर देना चाहिए। रोग के उत्पादक हेतुओं का वर्णन करते हुए दुर्जर आहार जो अपथ्य पड़ते हैं उनका उल्लेख हो चुका है उसके विपरीत आहार का सेवन पथ्य होता है। भोजन साधारण और सादा होना चाहिये; कच्ची चीजें खाने को न देकर उबाल कर देना चाहिए। तरह-तरह की चीजें एक ही साथ न पिलाई जायँ। अधिक बार न खिलाकर नियम से समय-समय पर भोजन दिया जाय।

**ओषधियाँ**—ओषधियों में क्षार और तिक्त द्रव्यों का प्रयोग उत्तम होता है। प्रति भोजन के पूर्व निम्नलिखित मिश्रण का देना उत्तम होता है, सोडा-बाई कार्ब ५ ग्रेन ( ·३२५ ग्रा० ), पल्वेरिस रीहाई ½ ग्रेन ( ·०३२ ग्रा० ) टिंचर नक्सवामिका २ बूँद, स्पिरिट क्लोरोफार्म २ बूँद इन्फ्युजन जेनेशियाइ कम्पोजिटी २ ड्राम ( ७·२ मिली० )। उन बच्चों में जिनमें अपचन से वायु और उदर में आध्मान अधिक होता हो उन्हें "टाकाडायस्टेज" जिसमें पेप्सिन और पैंक्रियार्टीन मिला हो ( Take Diastase with Pepsin & Pacrcatine P. D. co ) दें। यदि बालक में रक्ताल्पता हो तो लौह का यौगिक भी दे। आहार की मात्रा के नियन्त्रण के साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि बालक में जीवतिक्ति 'ए' 'डी' और 'सी' की कुछ मात्रा आवश्यकता अनुसार मिलती रही।

**आयुर्वेदोपचार**— अग्निमांद्य की चिकित्सा में अनेक योग शास्त्रों में मिलते हैं। बच्चों के लिए उन पाचन चूर्णों में यमानीषाडव अच्छा पड़ता है। अग्नि-कुमार रस या महाक्रव्याद रस या कुमार कल्याण रस का प्रयोग भी उत्तम है। भोजन के पूर्व डेढ़ ग्राम की मात्रा में हिंग्वष्टक चूर्ण घृत के साथ और भोजन के पश्चात् कुमार्यासव का सेवन करावे। चित्रकादि, लशुनादिबटी या भास्कर लवण भी दिये जा सकते हैं।

# कुक्षिरोग

## ( Coeliac Disease )

शिशुओं में पाई जाने वाली यह एक जीर्ण स्वरूप की व्याधि है। जिसमें प्रधान लक्षण अतिसार मिलता है। बड़ी मात्रा में बदबूदार पतले पाखाने होते हैं जिससे बच्चे का विकास और वृद्धि रुक जाती है। पुरुष बच्चों की अपेक्षा कन्याओं में अधिक होता है।

लक्षण—रोग का प्रारम्भ क्रमशः होता है। बालकों में ६ मास से लेकर २ वर्ष की आयु तक प्रायः होता है जब उनका दूध बन्द करके कई प्रकार का आहार दिया जाता है। रोग के प्रारम्भ में अजीर्ण समझने का भ्रम हो जाता है। परिणाम यह होता है सामान्य पाचन औषधें असफल हो जाती हैं और बाल अत्यन्त कृश हो जाता है। सर्वप्रथम बालक में आहार से अरुचि उत्पन्न होती है जिससे वह अनिच्छा पूर्वक आहार ग्रहण करता है। फिर कै होने लगती है। पतले दस्त होते हैं। बच्चा चिड़चिड़ा हो जाता है—मन्द ज्वर ( ज्वर १–२ डिग्री बढ़ जाता है ) और जीर्ण ज्वर का रूप ले लेता है। रोग के बढ़ जाने पर कृशता एक प्रमुख लक्षण के रूप में पैदा होती है—कृक्षता इतना बढ़ जाती है कि बच्चा अस्थि चर्मावशिष्ट हो जाता है, उदर फूला हुआ और हाथ-पैर लकड़ी जैसे हो जाते हैं। उदर और नितम्ब का मेद सूख जाता है। उदर की आध्मापित दीवालों के नीचे आँतों की गति प्रतीत की जा सकती है। जिह्वा साफ रहती है, उनमें दरारे नहीं पड़तीं। साँस से खट्टी गन्ध आती है। यकृत् आकार में छोटा हो जाता है, उसका स्पर्श नहीं किया जा सकता, जहाँ दूसरे अजीर्णों से यह किंचित् बढ़ा मिलता है।

पेशियों का तान (Tone) कम हो जाता है जिससे उदर, मध्यशरीर और शाखाओं की मांस पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं, सन्धिबन्धन इतने शिथिल पड़ जाते हैं कि बालक बैठने में भी असमर्थ हो जाता है। लौह धातु की कमी से रक्ताल्पता भी हो जाती है।

रोग से पीड़ित बालकों का मल बड़ी मात्रा में, अगठित, पतला, बदबूदार अधिक मात्रा में चरबी युक्त पुरीष ( Typical fatty stool ) का हो जाता है। संख्या में भिन्नता पाई जाती है फिर भी दिन में पाँच या छः बार से अधिक नहीं होते हैं। उसके शरीर का भार गिर जाता है और नितम्ब सूख कर लटक जाता है।

उपद्रव—शोफ ( Oedema ) पैरों के ऊपर या हाथों पर व्यक्त होता है। तदनन्तर सर्वाङ्ग पर फैलता हुआ उदर में जल का संचय होकर जलोदर का रूप ले सकता है। शोफ का कारण रक्तगत प्रोभूजिन ( प्रोटीन ) की कमी होती है। रक्त चित्तिता ( Purpura ) त्वचा पर रक्तस्राव के धब्बे उत्पन्न हो सकते हैं जो उदर के अधो भाग पर, वंक्षण भाग में, ग्रीवा के आधार पर एवं कक्ष में दिखलाई पड़ते हैं। रगड़ के स्थानों पर व्रण पैदा होकर शय्या व्रण ( Bed Sores ) भी उत्पन्न हो सकते हैं। प्रशीताद ( Scurvy ) में मसूड़े से रक्तस्राव भी हो सकता है जो जीवतिक्ति 'सी' के उपयोग से ठीक हो जाता है। रक्तगत चूर्णातु की कमी से अपतानिका ( Tetany ) का उपद्रव हो सकता है। इसके लिए १० बूँद की मात्रा में १०% कैल्शियम ग्लुकोनेट के बने घोल का पेशी से सूचीवेध के द्वारा प्रत्यह करते हुए उपचार करे। इस रोग में फक्क रोग का उपद्रव ( Rickets ) का उपद्रव बाद में उत्पन्न होता है। यह व्याधि जीवतिक्ति 'डी' की कमी की सूचना देती है इसलिए किसी घनीकृत जीवतिक्ति 'डी' के योग का व्यवहार भी करना उत्तम रहता है। हैलिवट आयल प्रतिदिन १० बूँद की मात्रा में देना श्रेयस्कर होता है।

रोगविनिश्चय—

१—'डेक्स्ट्रोक्जाइलोज' टेस्ट—५ ग्राम की मात्रा में दिया जाता है, चौबीस घण्टे के अनन्तर उसकी मूत्र से निकली मात्रा का मापन किया जाता है। स्वस्थ बच्चों में २४ घण्टे में उसका २५% त्यक्त हो जाता है; पर कुक्षि-रोग से पीड़ित बच्चों में उसकी मात्रा इससे कम निकलती है।

२—'बेरियम' का भोजन देकर क्ष-किरण चित्रण से 'बेरियम' का पुञ्जीभूत होना ( Clumping ) दिखाई पड़ती है। जिसके आधार पर रोग का विनिश्चय होता है।

३—आन्त्र की जीव ऊति परीक्षा विधि ( Biopsy ) से तत्रस्थ धातुओं की परीक्षा द्वारा रोग का पक्का पता लगता है।

**विकृति विज्ञान**—रोग की उत्पत्ति में सबसे बड़ा महत्व पचे हुए मेद के शोषण न होने को दिया जाता है। क्योंकि रोग से पीड़ित बालक के पाखानों को सुखाकर देखने से उसमें दो तिहाई हिस्सा मेद का ही ( प्राकृत मल में बालकों में $\frac{1}{3}$ भाग मेद का होता है ) रहता है। मेद के पोषण के अतिरिक्त मुख से दिये ग्लुकोज का भी शोषण पर्याप्त मात्रा में रोग से पीड़ित बच्चों में नहीं होता है।

मेद के शोषण में कमी की व्याख्या के लिए कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं—जैसे वसालसीका-वाहिनी ( Lacteals ) का अवरोध पित्त का अपूर्ण स्राव, आंत्रों का उपसर्ग, जीवतिक्ति 'बी' की कमी आदि, परन्तु उसमें किसी एक के द्वारा सन्तोषजनक समाधान नहीं प्राप्त होता है।

इस रोग में यकृत आकार में छोटा होता है जिसके कारण शर्करेय का वह पर्याप्त मात्रा में संचय नहीं कर पाता फलतः शर्करा के शोषण में भी बाधा होती है।

रोगक्रम तथा साध्यासाध्यता—कुक्षि रोग या बाल ग्रहणी नामक इस व्याधि का क्रम बहुत लम्बी अवधि तक चलता रहता है। मृदु स्वरूप के रोग में साल से २ साल तक लगता है और तीव्र अवस्था में दो से चार साल तक लग सकता है। सात या आठ वर्ष की आयु में बालक प्रायः ठीक हो जाता है। कइयों में युवावस्था में भी कुछ विकार शेष रह जाता है जिससे मेदातिसार पाया जाता है।

बालक के विकास और वृद्धि में बाधा पड़ने के तीन प्रधान कारण होते हैं।

**(१) नये-नये सङ्क्रमण**—'दैवो दुर्बल घातकः' एक तो बच्चा वैसे ही दुर्बल होता है; जब उसमें चिकित्सा से थोड़ा सुधार होने लगता है तब तक

कोई न कोई नया उपसर्ग या व्याधि पैदा हो जाती है। जिससे उसमें अतिसार का पुनरावर्त्तन हो जाता है। फलतः यह अधिकाधिक कमजोर हो जाता है।

(२) रक्ताल्पता--रोग से पीड़ित बालक में रक्ताल्पता होती है जिससे उसका शीघ्र सुधार नहीं हो पाता। ३--सुधार न होने में तीसरी कठिनाई शीघ्रता से बच्चे का प्राकृत आहार पर ले आने की गल्ती से पैदा होती है।

रोग की घातकता अब जैसे-जैसे रोग के विषय में अधिकाधिक जानकारी होती जा रही है कम हो गई है। पहले दस से पन्द्रह प्रतिशत बालक मौत के शिकार होते थे।

**चिकित्सा**—पथ्य व्यवस्था ही रोग की पूरी चिकित्सा है, गेहूँ के आटे में एक विशेष प्रकार का प्रोभूजिन पाया जाता है जिसका नाम 'ग्लुटेन' है। 'ग्लुटेन' सदृश पदार्थ गेहूँ के अतिरिक्त आहार द्रव्यों में भी पाया जाता है। रोग से पीड़ित बालक में यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसका आहार 'ग्लुटेन' रहित हो। संक्षेप में इस प्रोटीन से रहित गेहूँ का आटा खाद्य रूप में दिया जा सकता है।

जब रोग बढ़ी हुई दशा में हो तो प्रारम्भ में उसकी सावधानी के साथ सुश्रूषा अपेक्षित होती है, क्योंकि उसकी पचन शक्ति अत्यन्त क्षीण होती है। कोई भी अन्नाहार उसके लिए उपादेय नहीं होता। इसलिए प्रारम्भ में तो उसको मलाई निकाले दूध के चूर्ण, जल मिश्रित दूध, ग्लुकोज, मिश्री, प्रोसोल ( Prosol True food Ltd ) नामक एक पेटेण्ट दूध जो इसी रोग में व्यवहार के लिए होता है उसके ऊपर या केले आदि आहार पर रखना चाहिए। यदि दस्त बहुत पतले, पानी जैसे हो रहे हों तो "एरोबोन" ( Arobon ) नामक पेक्टीन ( बेल का तत्व ) युक्त योग का प्रयोग करके ठीक करना चाहिये। यदि बालक में रोग के कारण जलाल्पता हो तो शिरा द्वारा द्रव चढ़ाकर उसको ठीक करना चाहिए। जब मल बँधकर आने लगे तो अन्नाहार की जरूरत होती है। इसके लिए ग्लुटेनरहित ही भोजन चाहिए। इस प्रकार का आहार दो वर्ष तक ( रोग पीड़ित बच्चों में ) चलते रहना चाहिए। चिकित्सा

काल में जीवतिक्तियों की पर्याप्त मात्रा भी रोगी को मिलती रहनी चाहिए। एतदर्थ जीवतिक्ति ए० डी० युक्त योगों का उपयोग, जैसे 'रेडियो स्टोलियम' या 'एडेक्सोलिन' का १० बूँद प्रतिदिन देना चाहिये। जीवतिक्ति 'सी' की पूर्ति के लिए २५ मि० ग्रा० की गोलियाँ मुख से प्रतिदिन देना चाहिए।

रक्ताल्पता के लिए लोहे के यौगिकों के साथ ही साथ पालकाम्ल ( Folic acid ) ५ मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में तीन बार करके देना उत्तम होता है।

**आयुर्वेदोपचार**—प्राचीन परिभाषा के अनुसार इस रोग को ग्रहणी रोग के अन्दर समाविष्ट कर सकते हैं। बालकों में ग्रहणी रोग साध्य माना जाता है। अतः इसकी विधिवत् चिकित्सा करते हुए सफलता की आशा रहती है। निम्न-लिखित योग का प्रयोग करना चाहिये।

विजय पर्पटी या सुवर्ण पर्पटी या पंचामृत पर्पटी १२५ मि० ग्रा०
अजीर्ण कंकट १२५ मि० ग्रा०
लायी चूर्ण ३७५ मि० ग्रा०
मिलाकर ३ मात्रा में कर ले पुनः मधु से दिन में तीन बार।

कुटजारिष्ट १—२ चम्मच ( छोटी )
मृत संजीवनी सुरा ½ से १ चम्मच ( छोटी )
पानी समान मात्रा में
मिलाकर भोजन के बाद।

पथ्य में दधि, मट्ठा, घी, दूध, मिश्री, बताशा देना चाहिये। केला, करैला, कोहड़ा, तरबूज, खेखसा आदि नहीं देना चाहिये। कच्ची चीजों का देना बन्द करा देना चाहिये। उबाले हुए भोजन जैसे चावल, दाल, रोटी आदि का सेवन कराना चाहिये। शाक तरकारी का सेवन बन्द कर देना चाहिये। फोलिक एसिड कम्पाउण्ड ( Folic Acid Compound T. C. F. ) का पेशी द्वारा सूचीवेध इन औषधियों को अधिक गुणवान् बना देता है। मात्रा ½ सी० सी० से १ सी० सी० पेशी द्वारा प्रतिदिन लगातार बारह दिनों तक। बेल का

सेवन भी उत्तम है। कच्चे बेल को आग में भुनकर या पानी में उबालकर उसमें सोंठ का चूर्ण ½ ग्रा० और पुराना गुड़ मिलाकर दिन में दो बार देना उत्तम रहता है। बेल का मुरब्बा भी दिया जा सकता है।

## कोष्ठबद्धता या विबंध

## ( Constipation )

हेतु—समय पर मलत्याग के लिए जाने की आदत नहीं डालने या मल के आये वेग का धारण करने से विबंध या कब्ज बाल्यावस्था में पैदा होता है। बाल्यावस्था में बिगड़ी आदतों का असर युवावस्था में भी पाया जाता है। युवावस्था में पाये जानेवाला विबंध अधिकतर बाल्यावस्था के अनियम के कारण ही होता है। पाठशाला में जाने वाले बच्चों में शारीरिक परिश्रम खेल-कूद आवश्यक होता है—इससे उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है, पेट भी साफ होता रहता है। यदि इस आयु के बच्चों में परीक्षा या छात्रवृत्ति का प्रलोभन पैदा हो जाय तो ठीक समय से खेलना-कूदना बन्द कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका समय से मलत्याग नहीं होता और भावी जीवन में विबंध के शिकार हो जाते हैं।

धात्री के दूध पर पलने वाले बच्चों में धात्री का भोजन यदि दोषपूर्ण हो तो वे कोष्ठबद्धता से युक्त हो जाते हैं। यदि बालक स्वतन्त्र पोषण पर रहता हो तो वह भी आहार के दोष से विबंध से पीड़ित हो सकता है। ऐसा आहार जिसके पचने के बाद आहारावशेष ( Residue ) होवे ही नहीं, जैसे दूध की अतिमात्रा या ऐसा आहार जिसमें पचने के बाद अत्यधिक मात्रा में अन्नावशेष पैदा होता हो जैसे कच्चे फल; जड़वाली तरकारियाँ, मूँगफली आदि दोनों ही प्रकार के आहार बालक में विबंध के कारण बनते हैं। प्रथम अति स्निग्ध होकर दूसरे अति रुक्ष होने से विबंधकर होते हैं।

बालकों में स्थूलान्त्र युवावस्था की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है। कई बार वह अपने ही ऊपर मुड़ जाता है और विबंध या कब्ज का हेतु बनता है।

गुदा स्थान के विदार ( fissures ) भी विबंध पैदा कर सकते हैं—मलत्याग में पीड़ा होती है, बच्चा मलत्याग करना ही नहीं चाहता। कई बार बच्चे अमरूद खाते समय उसका बीज बहुत मात्रा में खा लेते हैं जिससे मल गाँठदार हो जाता है। उसका त्याग करने में श्लेष्मल कला में रगड़ पैदा होने से पीड़ा होती है और विबंध पैदा हो जाता है।

गुदा का आकर्ष (anal spasm) या गुदाद्वार की संकीर्णता (stenosis) भी विबंध का कारण है।

**प्रभाव**—विबंध के कुप्रभाव बहुत तरह के हो सकते हैं। भूख कम हो जाती है। त्वचा की अवस्था और चिकनी प्रतीत होती है, जिह्वा मलावृत हो जाती है। पोषण का पर्याप्त मात्रा न मिलने से भार क्षय होता है। मन्द ज्वर ( तापक्रम १ या दो-दो अंश बढ़ा हुआ ) चलता है, यदि उसका उपचार नहीं हुआ तो क्षय में परिणत हो सकता है। इसके अतिरिक्त कई प्रकार के मानसिक लक्षण जैसे सुस्ती, चित्त की उदासी, शिरःशूल, अनिद्रा, रात में सोये में चौंकना, शय्यामूत्र और क्वचित् आक्षेप का आना भी पाया जाता है।

यदि विबंध लम्बे समय से चल रहा हो तो उदर का स्पर्श करते हुए दक्षिण जघन खात में, नाभि के आसपास, छोटी-छोटी गाँठों का या स्थूलांत्र के अधोभाग में एक बड़े पिण्ड का अनुभव किया जा सकता है। मलाशय और गुद नलिका भरी और खुली हुई मिलती है—गुदा की संकोचनी क्रिया भी नष्ट हो जाती है—जिससे बदबूदार पाखाना स्वयमेव निकलता रहता है। मृदु-रेचक या वस्ति के प्रयोग से कोष्ठ को रिक्त किया जा सकता है।

**चिकित्सा—**

बच्चे का मलत्याग के लिये प्रतिदिन नियत समय से जाना एवं तन्निमित्त उसको शिक्षित करना आवश्यक होता है। खुले स्थान में शुद्ध हवा और सूर्य प्रकाश में उसके खेलने की व्यवस्था करनी चाहिये। यदि उदर में आध्मान रहता तो उसके उदर पर तेल की मालिस करनी चाहिये, इससे उदर की पेशियाँ मजबूत बनती हैं।

आहार में इस प्रकार के पोषण जो कुछ मृदुरेचक पड़ते हों, देना आवश्यक है जैसे अंजीर, गुलकन्द, पपीता और उष्ण जल।

**ओषधियाँ**—ओषधियों में एरण्ड तैल का व्यवहार बहुत होता है, परन्तु यह दस्त कराने के बाद पुनः विबंध करता है—इसलिए इसका न प्रयोग करना ही उत्तम है। सामुद्रेचन का (मैगनेशियम सल्फेट या सोडियम सल्फेट) जो मल में जल की मात्रा को बढ़ाकर रेचन करते हैं—प्रयोग अच्छा होता है। प्रातःकाल में ½ या १ चाय के चम्मच भर देना चाहिये। 'मिल्क आफ मैग्नेशिया' इसी तरह की ओषधि है जो कुछ बड़े उमर के बच्चों में हितकर होती है।

काष्ठौषधियों के रेचक जैसे सनाय, कैस्केरा, कुमारीघन ( Aloes ) भी उत्तम है। अंजीर का शर्बत ( Syrup of figs ) भी अच्छा पड़ता है। बच्चों के जीर्ण विबंध में निम्नलिखित मिश्रण का प्रयोग बड़ा ही श्रेयस्कर माना जाता है—टिंचर नक्सवामिका १ बूँद, टिंचर जिंजीबेरिस २ बूँद, एक्सट्रैक्ट हायोसाइमस ⅛ ग्रेन, एलोज ⅒ ग्रेन, सीरपसेनी १५ बूँद, एक्वाएर्नाथी १ ड्राम। भोजन के बाद १ चाय के चम्मच भर दे।

रासायनिक रेचनों में 'कन्फेक्शन आफ सल्फर' ( Confection of Sulphur ) १ चाय चम्मच भर, रात में सोते समय देने से सूखा और सख्त मल शीघ्रता से चिकना होकर निकलता है। "लिक्विड पैराफिन" १ चाय चम्मच भर दिन में दो या तीन बार देने से यही कार्य होता है 'लिक्विड पैराफीन' में ¼ ग्रेन की मात्रा में 'फेनाफ्थैलीन' मिलाकर देने से और बढ़िया कार्य होता है।

यदि मलाशय मल से भरा हुआ हो तो गुदवर्त्ति ( Suppository ) या वस्ति ( Enemata ) का प्रयोग करे। इसके लिए सर्वप्रथम गुदा से एक या दो औंस की मात्रा में गर्म किया हुआ जैतून का तेल ( Olive oil ) भर दे। इससे मल की गाँठ चिकनी हो जाती हैं, पश्चात् १ घण्टे बाद गर्म जल या लवण विलयन की वस्ति देकर स्थूलांत्र का प्रक्षालन करे। बालकों में नित्य बस्ति का प्रयोग न करे। विबंध अगर हल्के किस्म का है तो ग्लिसरीन या

साबुन ( Glycerine or soap ) की बनी वर्तिका ( बच्चों के माप की ) गुदा से प्रयोग लाभप्रद होता है।

**अन्यच**—शिशुओं में रेचन के लिए शुद्ध कंकुष्ठ का प्रयोग बड़ा ही उत्तम होता है १२५ मि० ग्रा० की मात्रा में घूँटी देने से या तो वमन हो जाता है या पच गया हो तो पेट साफ हो जाता है। ऐसे बच्चों में जो ज्वर, कास-श्वास आदि से पीड़ित हों तो प्रयोग करना चाहिये। हर्रे की घूँटी भी अच्छी पड़ती है। छोटे शिशुओं में इसका प्रयोग लाभप्रद रहता है। पानी के साथ घिसकर उसका घिसारा दूध में घोलकर दे। कई बार कब्ज और आध्मान, नाभि में कच्ची हींग का लेप कर देने से शिशु का दस्त साफ हो जाता और आध्मान कम हो जाता है। यदि बालक स्तनपायी हो तो बच्चे को स्वतन्त्रतया औषध न देकर केवल माता के पथ्यादि की व्यवस्था और उपचार करने से ही बालक ठीक हो जाता है। यदि विबंध रहे तो माता को यष्ट्यादि चूर्ण ( Pulv. Glycerrhyge ) या पंचसकार या षट्सकार चूर्ण देने से ही बालक का भी रेचन हो जाता है। बालक में अमल्ताश की गुद्दी से पकाया दूध या गुलकन्द या मुलैठी का प्रयाग भी लाभप्रद होता है।

## हर्शस्प्रङ्गका रोग ( स्थूलांत्र विस्फार )
## ( Hirshsprung's Disease )

इस व्याधि में बालक में तीव्र विबंध और उदर का आध्मान पाया जाता है। आध्मान का कारण बृहदंत्र की अतिवृद्धि ( Hypertrophy ) एवं विस्फार ( Dialatation ) होता है। यह रोग अत्यन्त छोटी आयु में और क्वचित् जन्म से ही मिल सकता है। पाखाना बच्चे को सप्ताह में एक दिन या क्वचित् तीन-चार सप्ताह तक नहीं होता। इससे आंत्र में सड़ान पैदा होती है, पेट फूलता है और कठिन लम्बे पाखाने या क्वचित् बदबूदार पतले दस्त भी हो जाते हैं। दूषित संचित मल का विषशोषित होता रहता है, बच्चे का बल और भार कम हो जाता है। वह दुर्बल हो जाता है। क्वचित् नीलिमा भी उसके चेहरे पर व्यक्त रहती है। भूख में कमी और साँस में बदबू पाई जाती है। उदर में

मन्द-मन्द पीड़ा होती रहती है। उदर की दीवाल का स्पर्श करने से स्थूलांत्र के गेड्डुलियों को हाथ से प्रतीत किया जा सकता है। अधरा महाशिरा पर दबाव देने से उदर की शिरायें विस्तृत हो जाती हैं, क्वचित् पैरों के ऊपर शोथ भी व्यक्त हो जाता है।

चिकित्सा—क्ष-किरण चित्रण से रोग का निदान करके शल्यकर्म के द्वारा उपचार करते हुए व्याधि में लाभ होता है। शल्यकर्म में मलाशय और स्थूलांत्र-वलय के मध्य पाये जानेवाले सँकरे भाग को काटकर पृथक् कर देते हैं, पुनः मलाशय और स्थूलांत्र का संयोजन ( Colostomy or Recto Sigmoidectomy ) कर दिया जाता है।

## तीव्र प्रवाहिका या सव्रण स्थूलांत्रपाक
## ( Acute ulcerative colitis or Dysentery )

बालक में किसी भी आयु में यह रोग हो सकता है। हेतु रूप में अपथ्य सेवन या जीवाणुओं का उपसर्ग पाया जाता है। पाखाने की जाँच से उपसर्ग पैदा करने वाले स्थूलांत्र दण्डाणु ( Bascilus coli ), गुच्छाकार गोलाणु ( Streptococi ) या प्रवाहिका के दण्डाणु ( Dysenteric Bascili ) आदि मिलते हैं। प्रवाहिका के दण्डाणुओं में फ्लेक्सनर या सोने के दण्डाणु विशेषतः भाग लेते हैं।

रोग का आक्रमण तीव्र और शीघ्रता से होता है। ज्वर ( तापक्रम ३ या ४ अंश बढ़ा हुआ ) हो जाता है, उदर शूल होता है। दस्त पतले होने लगते हैं उनकी संख्या दिन भर में बारह या उससे भी अधिक हो सकती है। दस्त में प्रारम्भ में मल का भाग आता है, परन्तु आगे चलकर आँव, रक्त या पूय मात्र ही आने लगता है। मृदु रोग में लक्षण तीन-चार दिनों में शान्त हो जाता है, परन्तु कहीं आक्रमण तीव्र स्वरूप का हुआ तो बालक का स्वास्थ्य बहुत गिर जाता है, जलाल्पता पैदा होती है, दुर्बलता बढ़ती है, क्वचित् प्रलाप भी होने लगता है। उदर में बाईं ओर स्थूलांत्र के भाग पर दबाने से पीड़ा होती है—

शरीर का ताप १०३° या १०४° फे० हो जाता है। आंत्र योजनी की ग्रन्थियाँ ( Mesentric glands ) भी सूज जाती हैं।

**चिकित्सा**—बालक को शैय्या पर रखकर पूर्ण विश्राम करावे। पथ्य में उसको केवल द्रवाहार दे। जल, अर्क, जौ का मण्ड ( Barley water ), लेमनेड, दूध, आरारोट के बिस्कुट, मांस रस, बेल का शर्बत, कच्चे बेल का मुरब्बा आदि दे। सेव को काटकर टुकड़े करके या उसका रस निकाल दिन में चार बार देने से बड़ा लाभ होता है। चाय और दूध भी दिया जा सकता है। जलाल्पता विद्यमान हो तो अधस्त्वक् मार्ग से या शिरा द्वारा लवण-विलयन दे।

'सल्फाग्वैनेडीन' तथा 'सक्सिनील सल्फाथायाजोल' का उपयोग उत्तम होता है। 'क्लोरम्फेनिकाल' ( Chloramphenicol ) का भी देना सन्तोष-जनक होता है। 'कौलीन' ( Kaolin ) १ चाय चम्मच भर दिन में तीन बार दे। 'क्लोरस्ट्रेप' या 'एण्ट्रोस्ट्रेप' का उपयोग तीव्रावस्था में लाभप्रद रहता है।

## जीर्ण प्रवाहिका

## ( Chronic ulcerative colitis )

बालकों में इस प्रकार का रोग प्रायः बहुत कम पाया जाता है। लक्षण प्रायः तीव्र जैसे ही होते हैं। उदर में बार-बार शूल का पाया जाना एक प्रमुख लक्षण है। क्ष-किरण चित्रण तथा स्थूलान्त्र वलय दर्शक यन्त्र ( Sigmoido-scopy ) से रोग के निदान में सहायता मिलती है। रोग कई मासों तक चलता रहता है और क्षीणता के कारण मृत्यु की भी सम्भावना रहती है।

**चिकित्सा**—

पूर्ण विश्राम, आहार में दूध, अण्डे, दूध से निर्मित आहार, मांस रस, सेव का अधिक सेवन कराना चाहिए। अतिसार को कम करने के लिए अहिफेन का सेवन कराना भी उत्तम होता है। स्थूलान्त्र प्रक्षालन के लिए 'फ्लैविन घोल' ( १ : ५००० ) शक्ति का बनाकर प्रयोग कराना चाहिए। यदि रक्तस्राव बहुत हो तो प्रक्षालन 'सिल्वर नाइट्रेट' के घोल से १ : २००० शक्ति के बने )

किया जा सकता है। बालक की शक्ति बनाये रखने तथा रक्ताल्पता से बचाने के लिए शिरा द्वारा रक्त का निःक्षेप ( Blood Transfusion ) विशिष्ट विधियों का अनुसरण करते हुए किया जा सकता है। औषध के रूप में तीव्र प्रवाहिका में बतलाये योगों का ही उपयोग करना चाहिये। औषध चिकित्सा से निराशा प्रतीत हो तो शल्य कर्मीय उपचार ( Appendicostomy and ileostomy ) करने से लाभ हो सकता है।

**आयुर्वेदीय उपचार**—कर्पूरवटी अथवा अगस्तिसूत राज का प्रयोग मात्रा ६०-१२५ मि० ग्रा० बड़ा ही उत्तम होता है। यह एक अहिफेन ( अफीम ) का यौगिक है। नव तथा जीर्ण प्रवाहिका दोनों में लाभप्रद होता है। विशेषतः तीव्र प्रवाहिका में।

**उण्डुकपुच्छ शोथ ( Appendicitis )**—बालकों में यह रोग बहुलता से मिलता है। किसी आयु में उत्पन्न हो सकता है। फिर भी शैशवावस्था में विशेषतः तीन वर्ष से कम की आयु में प्रायः नहीं होता।

रोग का दौरा अचानक होता है, प्रधान कष्ट उदरशूल का रहता है, शूल भी तीव्र प्रकृति ( Colic ) का और प्रारम्भ में नाभि के समीप में प्रतीत होता है। तत्पश्चात् वमन होने लगता है क्वचित् पतले दस्त भी। थोड़े काल के बाद ज्वर हो जाता है, तापक्रम तीन या चार अंश बढ़ जाता है। नाड़ी तीव्र, गति-संख्या में १३० प्रति मिनट हो जाती है। बालक की भूख नष्ट हो जाती है, यदि बालक अपने पीड़ा का स्थान बतलाने में समर्थ हो तो वह पीड़ा का स्थान, उदर पर दक्षिण जघन खात में ( Right ilitoac fossa ) बतलाता है।

उदर को ध्यानपूर्वक देखने से उसकी दीवाल में श्वसन के साथ होने वाली गति कम दिखाई पड़ती है। स्पर्श करने पर उदर की दीवाल की पेशियाँ विशेषतः दाहिने ओर की उदर दण्डिका के नीचे का आधा भाग कड़ा ( Rigid ) प्रतीत होता है। नाभि तथा दाहिने तरफ की जघनास्थि के पूर्व जघन कंटक ( Right anterior Iliac spine ) मध्य में स्पर्शनाक्षमता

( दबाने से दर्द ) पाई जाती है। जब विद्रधि बन जाती है तब दाहिनी ओर के जघन खात ( Iliacfossa ) में अर्थात् उण्डुक पुच्छ के समीप एक स्पर्शनाक्षम पिण्ड ( Tender Mass ) पाया जाता है।

उण्डुकपुच्छ ( Appendix ) की स्थिति के अनुसार लक्षण एवं चिह्न भी भिन्न-भिन्न मिलते हैं। यदि शोथयुक्त यह अवयव जब श्रोणिगुहा में लटकने लगता है तब मलाशय ( Rectum ) के सम्पर्क में रहने से पतले अतिसार होने लगते हैं, यदि वस्ति या मूत्राशय के सम्पर्क में आता है तब रोगी में बहुमूत्रता पाई जाती है। दक्षिण जघन खात के ऊपर वाली जघन प्रदेश और कटि की पेशियों में (Ilio-psoas) में पीड़नाक्षमता अधिक रहती है। जिसकी वजह से दाहिनी ओर का कटिप्रान्त सदा ही संकुचित दशा में मिलता है।

उण्डुकपुच्छ शोथ में सबसे महत्व का उपद्रव छिद्रण ( Perforation ) मिलता है। जिससे उदरावरण-शोफ उत्पन्न हो जाता है। दस्त कराने के लिए तेज दवाओं का उपयोग या रोगी के निदान का गरज से किया कड़ा स्पर्श ( Plpation ), इस उपद्रव की उत्पत्ति में कारण बनता है, जो रोग को और अधिक बढ़ा देता है। फिर इस शोथयुक्त अवयव के फट जाने से उपसर्ग का प्रसार उदरावरण में हो जाता है जिसके फलस्वरूप तीव्र उदरावरण शोथ ( Peritonitis ) पैदा हो जाता है। इस अवस्था में बालक की हालत बिगड़ जाती है, नाड़ी की गति बढ़ जाती है, शरीर का तापक्रम गिर जाता है, वमन होने लगता है, पूरा उदर कड़ा हो जाता है, परन्तु छेद हो जाने से पीड़ा अचानक कम हो जाती है।

**रोग विनिश्चय**—रोग का निदान करते समय इसका विभेद पैत्तिक वमन ( Bilious Vomiting ) या चक्रिक वमन ( Cyclic Vomiting ) से करना चाहिए। जो प्रारम्भिक लक्षणों के आधार पर सम्भव होता है। उण्डुकपुच्छ शोथ में पीड़ा का पाया जाना सर्वप्रथम लक्षण है।

यदि उण्डुकपुच्छ श्रोणि गुहा में स्थित हो और अतिसार भी मिलता हो तो रोग का विभेद न्यूमोनिया के जीवाणु से होने वाली उदरावरण शोथ के साथ

भी करना आवश्यक होता है। इसमें पूरे उदर पर स्पर्शनाक्षमता रहती है, केवल दक्षिण जघन खात तक ही सीमित नहीं रहती है।

इसी तरह वृक्क गोणिका शोथ ( Pyelitis ) तथा परिवृक्क विद्रधि ( Perinephric Abscess ), दाहिनी ओर की फुफ्फुसावृत्त शोथ ( Pleurisy ) तथा फुफ्फुस शोथ ( Pneumonia ) तथा तीव्र तुण्डिका शोथ ( Acute follicular Tonsilitis ) से भी रोग का विभेद करना आवश्यक होता है।

**शुभाशुभ**—जितनी शीघ्रता से रोग का निदान और तद्नुकूल उपचार की व्यवस्था की जाती है उतना ही भविष्य अच्छा रहता है। रोग के उपसर्ग का प्रसार उदरावरण तक होने के पूर्व ही यदि उण्डुकपुच्छ को काटकर पृथक् किया जा सके तो मृत्यु की सम्भावना बहुत कम हो जाती है।

**चिकित्सा**--

शस्त्रकर्म से ठीक होनेवाली व्याधि है।

पुनरावर्त्तनयुक्त उण्डुकपुच्छ शोथ ( Recurrent Appendicitis )—उण्डुकपुच्छ शोथ का जीर्ण प्रकार देखने को नहीं मिलता है, फिर भी व्याधि का ऐसा प्रकार देखने को मिलता है जिसमें कुछ काल का व्यवधान होकर पुनः पुनः रोग का दौरा होता रहे। ये दौरे प्रारम्भ में तो बड़े हल्के होते हैं—बालक को पूर्ण विश्राम, जघन-खात का स्वेदन तथा शोथ शामक उपचारों के प्रयोग से दो-तीन दिनों में ठीक हो जाया करते हैं, परन्तु कई बार इतने तीव्र होते हैं कि एकमात्र शाल्यकर्मीय उपचार के अलावे कोई भी मार्ग शेष नहीं रहता।

## तीव्र आंत्रात्रप्रवेश
## ( Acute Intussusception )

**लक्षण**—बालकों में ६ मास में २ वर्ष की आयु तक होने वाले रोगों में यह एक प्रधान रोग है। रोग का आक्रमण अचानक होता है, उदर में पीड़ा का होना एक प्रमुख लक्षण है। पेट में दर्द दौरे जैसा होता है--प्रारम्भ में

दौरे का अन्तर आधे घण्टे का रहता है जैसे-जैसे रोग बढ़ता चलता है, अन्तर छोटा होता चलता है। यहाँ तक कि मिनट-मिनट पर शूल के दौरे आने लगते हैं। दौरे के शुरू होने के कुछ ही देर बाद आँव और रक्त मिश्रित पतले दस्त होने लगते हैं जो संख्या में दो चार होते हैं। आन्त्र के अधोभाग के रिक्त हो जाने पर पुनः बालक में विबंध पैदा हो जाता है, जिससे पाखाने की मात्रा कम हो जाती है। दौरे के प्रारम्भ में वमन भी हो सकता है, परन्तु हमेशा नहीं रहता है। शरीर का तापक्रम प्राकृत से कुछ बढ़ा हुआ या प्राकृत से कम भी हो सकता है।

दौरे के समय में जब तीव्र शूल होता है, बालक अपने दोनों घुटनों को सिकोड़ कर रोता और चिल्लाता है, फिर आकुञ्चन के दूर हो जाने पर अर्थात् दौरे शान्त हो जाने पर वह शान्त हो जाता है। बच्चे का चेहरा फीका पड़ जाता है। उदर का स्पर्श करते हुए विशेषतः स्थूलांत्र ( Line of the Colon ) की दिशा में किसी एक स्थान पर एक उभार प्रतीत होता है। उदर का स्पर्शन दौरों के मध्य में करना चाहिये जबकि बालक रोता न हो और उसको उदर की दीवाल शिथिल हो। उभार गोस्तनाकार (Sausageshaped) होता है, जो प्रारम्भ में मृदु और आगे चलकर यदि उपचार नहीं हुआ तो दो-तीन दिनों में बहुत कड़ा बन जाता है। इस दशा में बालक में विबंध बहुत हो जाता है और लगातार वमन भी होने लगता है।

गुदा में अंगुलि डालकर बालक की परीक्षा करनी चाहिये। यदि आन्त्र के अनुप्रवेश मलाशय ( Rectum ) तक चला आया हो, तो अंगुलि के अग्र से स्रोत के भोतर एक पिण्ड का अनुभव किया जा सकता है साथ ही मलाशय की दीवाल तथा अंतः प्रविष्ट आन्त्र के दीवाल के बीच में एक खाई ( Sulcus ) भी प्रतीत की जा सकती है। गुदा की परीक्षा करते समय एक रबर की अंगुलो त्राणक ( Fingerstall ) पहन लेना चाहिये। अंगुलि को बाहर निकालने पर उसके अग्र के ऊपर का भाग कई बार रक्त से रंजित दिखलाई पड़ता है। क्ष-किरण चित्रण तीव्र अवस्था के निदान में सहायक नहीं होता। इसकी उपयोगिता जीर्णावस्था के रोग के निश्चय करने में पाई जाती है।

**रोग विनिश्चय**—**हेनाक का रक्तचित्तिता** (Henoch's Purpura)–इसमें भी शूल और गुदा से रक्तस्राव होता है। परन्तु स्थूलांत्र के अवरोही भाग ( Decending Colon ) तथा मलाशय ( Rectum ) की दिशा में कोई उभार या पिण्ड नहीं पाया जाता। साथ ही त्वचा के ऊपर भी रक्तचित्तिता जन्य के स्फोटादि के निकलने का वृत्त पाया जाता है। शाखा और मुख पर शोथ भी उपस्थित मिलता है।

**तीव्र-स्थूलांत्र शोथ** ( Acute Colitis )—में भी उदरशूल और रक्तातिसार पाया जाता है—परन्तु इसका दौरा अचानक नहीं होता जैसा कि आंत्रात्रप्रवेश में।

शुभाशुभ--रोग का ठीक निदान जितनी शीघ्रता से होता है, उतनी ही शीघ्र लाभ की सम्भावना रहती है। रोग का निदान विलम्ब से अर्थात् तीन-चार दिनों के बाद होने से शस्त्रकर्म के द्वारा आंत्रों के अनुप्रवेश को ठीक करना कठिन हो जाता है; क्योंकि विलम्ब होने पर कोथ ( Gangrene ) का उपद्रव हो जाता है और उस दशा में सड़े हुए भाग को काटकर निकालना आवश्यक हो जाता है। बालक की हालत भी खतरनाक हो जाती है।

**चिकित्सा**—

**शस्त्रकर्म**—रोग का निदान होते ही शस्त्रकर्मीय उपचार से ठीक करे।

## जीर्ण आंत्रात्र प्रवेश

## ( Chronic Intussception )

तीव्र प्रकार की अपेक्षा कम पाया जाता है। उदर में शूल का पुनः-पुनः दौरा होता है, साथ में वमन भी पाया जाता है। रक्त का पाखानों के जरिये आना कम पाया जाता है। अनुप्रविष्ट आंत्र का रक्तसंचार ठीक रहता है, आंत्र का स्रोत पर्याप्त खुला रहता है जिससे सेवन किये आहार का गुजरना भी सम्भव रहता है, हर रोज थोड़ी मात्रा में पाखाना भी होता है। कुछ सप्ताहों तक यह रोग चल सकता है, जिससे बच्चे का भार क्रमशः कम हो जाता है।

सावधानीपूर्वक बालक की परीक्षा करते ; ए रोग का निश्चय किया जाता है। इस रोग में दो विशिष्ट चिह्न मिलते हैं--१--स्थूलांत्र की दिशा में (Sausage shaped tumour ) उभार का पाया जाना जो कभी शिथिल और कभी कड़ा प्रतीत होता है। २--छोटी-छोटी आंत्र गतियों की तरंगों का अनुभव जो स्थूलांत्र पर प्रतीत होती हैं और अवरोध के स्थल पर या उभार के पास आकर बन्द हो जाती हैं।

**विनिश्चय**--'बेरियम पेय' की वस्ति देकर क्ष-किरण चित्रण से रोग का निश्चय किया जाता है।

**चिकित्सा**—शल्यतंत्रीय।

## आंत्र सम्मूर्छन या वाल्वुलस
## ( Volvulus )

बालकों में आंत्रावरोध ( Obstruction ) पैदा करने वाला यह एक प्रमुख कारण है। आँतों के मुड़ जाने या घुमाव से यह अवस्था उत्पन्न हाती है। आँत अपनी लम्ब अक्ष ( लम्बाई में ) या आंत्र संयोजनी ( Mesenteries ) के अक्ष पर गोलाई में मुड़कर ऐंठ जाती है। कई सहज विकारों के कारण जैसे आंत्र संयोजनी के साथ ठीक लगाव न होने से जन्म से ही आँत में मरोड़ होकर सम्मूर्छन की अवस्था पैदा हो जाती है।

**लक्षण**—तीव्र बद्धगुदोदर ( Acute Intestinal abstruction ) के होते हैं। तीव्र उदरशूल होता है, बालक जोर-जोर से रोता है और अपने ही ऊपर शूल की तीव्रता की वजह से मुड़ जाया करता है। वमन प्रारम्भ से ही होता और सतत बना रहता है। तीव्र विबंध पाया जाता है। क्वचित् प्रारम्भ में एक दो पतले दस्त भी हो सकते हैं उदर की परीक्षा करने पर वह कड़ा प्रतीत होता है और आंत्र सम्मूर्छन के स्थान पर स्पर्शनाक्षमता ( छूने या दबाने से दर्द होना ) पाई जाती है। शरीर का तापक्रम बढ़ जाता है और मूत्र से किट्ट का त्याग ( Ketone bodies in the urine ) बहुत अधिक

होने लगता है। यदि स्थिति में सुधार नहीं हुआ तो उदरावरण शोथ ( Peritonitis ) पैदा हो जाता है।

**निदान**—आंत्र सम्मूर्छन का निदान बिना उदर के शस्त्रकर्म के द्वारा खोले कठिन होता है आंत्र सम्मूर्छन कई बार स्वयमेव भी ठीक हो जाता है और बार-बार उसके दौरे होते रहते हैं जिससे चाक्रिक वमन से उसका विभेद करना भी आवश्यक है।

**शुभाशुभ**—शीघ्रता से शस्त्रकर्म के द्वारा उपचार से बचने की आशा रहती है अन्यथा इस रोग में बालकों की मृत्यु प्रायः ८० प्रतिशत हो जाती है।

**चिकित्सा**—

तत्काल शस्त्रकर्म की सहायता से आंत्र सम्मूर्छन को ठीक करना ही एकमात्र उपचार है।

## गुद-भ्रंश

## ( Rectal prolapse )

बालकों में प्रथम या द्वितीय वर्ष की आयु में यह रोग बहुत देखने को मिलता है। इसकी उत्पत्ति में ऐसे रोग जिनमें कुन्थन पाया जाता है, भाग लेते हैं जैसे, प्रवाहिका, अतिसार, मलाशय के पोलीपस ( Polypus ) विबंध आदि। बहुत से ऐसे रोग जिनमें बालक को मलत्याग करते समय जोर-जोर से प्रवाहण ( काँखने ) की आवश्यकता पड़ती है जैसे—निरुद्ध प्रकश ( Phimosis ), सूत्रकृमि ( Threand worms ) आदि।

इन कारणों के अतिरिक्त बालकों की दुर्बलता विशेषतः उनके पेशीतान ( Muscle tone ) की कमी भी गुदभ्रंश पैदा करने में बहुत सहायक होती है।

प्रवाहणातिसाराभ्यांनिर्गच्छेद्‌गुदंवहिः
रुक्ष दुर्बल देहस्य गुदभ्रंशं तमादिशेत्। ( सु० क्षुद्ररोग )

**लक्षण**—बच्चे के मलत्याग के अनन्तर उसकी गुदा से श्लेष्मल कला बाहर आती हुई दिखाई पड़ती है जो वर्ण में लाल और शोथयुक्त रहती है और

स्पर्श करने से उससे रक्तस्राव होता है। पाखाना भी रक्त-मिश्रित होता है। गुदा से गिरे हुए भाग को अन्दर की ओर दबाकर आसानी से उसको अपने स्थान पर प्रविष्ट किया जा सकता है, परन्तु वह पुनः-पुनः बाहर निकल आया करता है। गुदा के अन्दर में अँगुली डालकर अनुभव करने से गुद-संकोचनी पेशी का ( Tone of sphincter ) तान नष्ट हुआ-सा प्रतीत होता है। रोग का निश्चय रोग-वृत्त तथा प्रत्यक्ष दर्शन और स्थानिक परीक्षा से किया जा सकता है। कई बार इस रोग का विभेद आंत्र सम्मूर्छन से भी करना आवश्यक होता है।

**चिकित्सा—**

गुद-भ्रंश में भ्रंशित भाग को रुई के फाये और ठण्डे जल से हल्के हाथों से पोंछकर अन्दर की ओर प्रविष्ट करे। पुनरावर्त्तन को रोकने के लिये मुलायम रुई की गद्दी बनाकर गुदा के छिद्र पर रखकर एक पट्टी के जरिये या पट्टी से, लँगोट से या स्ट्रैप ( Strapped ) के द्वारा स्थिर कर देना चाहिये। यदि बच्चा सहयोग करे तो उसको किसी एक करवट पर ही टट्टी करावे। अगर बच्चे में विबंध हो उसका भी उपचार करे। गुरु और दुर्जर भोजन खाने में न दे। आंत्रों में स्नेहन पैदा करने के लिए लिक्विड पैराफिन दे। आंत्र की पेशियों को बल देने के लिए अल्प मात्रा में कुपीलु ( स्ट्रिकनीन ) दे इसके लिए 'इस्टनसीरप' नामक योग का ५ बूँद का देना पर्याप्त होता है। इसी मात्रा में पानी में मिलाकर दिन में तीन बार तक दिया जा सकता है। इन उपचारों के एक मास तक चलाते रहने से प्रायः बच्चे ठीक हो जाते हैं। अधिक उग्र चिकित्सा जैसे मद्य का (Alcohol) गुदा के धातुओं में सूचीवेध द्वारा प्रविष्ट करना पीड़ाकर और अनावश्यक होता है। जब औषध चिकित्सा से लाभ न हो तो शल्यतंत्रीय उपचार के द्वारा सुधार की व्यवस्था करनी चाहिये।

**आयुर्वेदीय उपचार**--प्राचीन ग्रन्थों में मूषिक तैल या छुछुन्दरी तैल का पाठ आता है। इसमें तिल तैल में आंत्र निकाले चूहे का पाक कर लिया जाता है। उस तैल का स्थानिक लेप एक उत्तम स्कंदन योग है। ( Sclerosing fluid ) होता है आँतों के स्नेहन और पचन शक्ति को ठीक करने के

लिये साथ ही आंत्र का पेशियों के बल ( tone ) को वढ़ाने के लिये चांगेरी-घृत का प्रयोग भी बड़ा उत्तम पाया गया है। शीघ्रता से रोग में सुधार होता है। रोग का कारण अगर जीर्ण प्रवाहिका या कृमि रोग जान पड़े तो उसके अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिए।

## पालिप तथा अर्श

पालिप ( Rectal Polyp )—बालकों में प्रायः पाया जाता है। मटर के परिमाण की ये गाँठें होती हैं और मलाशय की पश्चाद् भाग की दीवाल से वृन्त ( Pedicle ) के द्वार जुड़ी रहती हैं कई बार ये संख्या में अनेक भी होती हैं जिसे बहुपोलीपता ( Polyposis ) कहते हैं। इसमें प्रधान लक्षण पाखाने के साथ लाल चमकता हुआ रक्त का गिरना पाया जाता है। अंगुलि परीक्षा या स्थूलांत्रवलय दर्शक ( Sigmoidoscoce ) यन्त्र से रोग का विनिश्चय किया जा सकता है। चिकित्सा-शल्यकर्म से गाठों को काटकर पृथक करनी है।

अर्श ( Piles )—बालकों में बहुत विरल है। जीर्ण विबंध के साथ सम्बद्ध रहता है। इसमें कोई विशेष लक्षण नहीं मिलते हैं। कई बार मलत्याग करते समय बच्चे को किंचित् पीड़ा होती है या कभी-कभी पाखाने के साथ रक्त की किंचित् मात्रा में आना पाया जाता है। चिकित्सा में विबंध को दूर करना साथ ही संकोचक लेपों का स्थानिक ( Astringent ointment ) उपयोग पर्याप्त होता है। शल्यतन्त्रीय उपचार की आवश्यकता नहीं रहती है।

आयुर्वेदीय उपचार—दोनों अवस्थाओं में 'कासीसाद्य तैल' का स्थानिक प्रयोग उत्तम पाया गया है। 'अर्शोघ्नीवटी' का सेवन प्रातः सायं करावे। रात में सोते वक्त यष्ट्यादि चूर्ण २ ग्राम ( Pulv. Glycerrhyza ) दूध के साथ दे। खाने में मुनक्का, अंजीर और गुलकंद और गूलर अधिक दे।

## गुद-विदार

कठिन गाँठदार मल के निकलने से गुदा की श्लेष्मलकला छिल जाती है और उसमें बारीक दरारें पड़ जाती हैं। ये दरारें इतनी महीन होती हैं कि

जब तक गुदवलियों को पृथक् करके न देखें, दिखलाई भी नहीं पड़तीं। लम्बी रेखा के आकार के व्रण होते हैं, मलत्याग करते समय भयंकर पीड़ा होती है जिससे बच्चा मलत्याग ही नहीं करता फलतः विबंध बढ़ता चलता है।

**चिकित्सा—**

मल को ढीला करने के लिए 'लिक्विड पैराफीन' पीने को देना चाहिये। गुदनलिका को किसी संज्ञाहर द्रव्य के मलहम से ( २% Novocanine ) लेप कर देना चाहिये। पश्चात् दिन में एक या दो बार 'सिल्वर नाइट्रेट' के घोल की फुरैरी को व्रण स्थान पर लगाना चाहिये।

## वंक्षणीय आंत्रवृद्धि
## ( Inguinal Hernia )

बालकों में पाया जाने वाला यह एक आम विकार है। स्त्री बच्चों की अपेक्षा पुरुष बच्चों में अधिक ( १ : ८ ) मिलता है। लगभग $\frac{1}{6}$ आंत्रवृद्धि उभय पार्श्वीय ( दोनों पार्श्व की ) पाई जाती है। रोग की उत्पत्ति में बहुत से कारण भाग लेते हैं। अन्तस्थ औदरीय मुद्रिका द्वार ( Internal Abdominalring ) की जन्मजात कमजोरी एक प्रधान हेतु है जो रोगोत्पादन में भाग लेता है इस मुद्रिका की दुर्बलता प्रारम्भ से ही रहती है फलतः कोई भी कारण जो उस स्थान में हलचल पैदा करने वाला उपस्थित हुआ तो आंत्र का भाग उस द्वार से बाहर आ जाता है जैसे अचानक या लगातार होने वाली खाँसी का दौरा, मूत्र स्रोत का सँकरा होना ( Pinhole Meatus ) लगातार जोर-जोर से रोना या चिल्लाना, वमन या विबंध। वृद्धि या तो वंक्षण तक ही सीमित रह सकती है या फलकोश ( Scrotum ) तक आ सकती है। बड़ी आसानी से दबा कर गड़गड़ाहट ( Gurgling ) के साथ अन्दर की ओर प्रविष्ट की जा सकती है। आंत्रवृद्धि का निश्चय करते समय कोषीय मल-वृद्धि ( Encysted Hydrocele ) का भी ध्यान रखना चाहिये और वृद्धि का विभेद इस रोग से करने के पश्चात् स्थिर निदान पर आना चाहिये।

प्रथम वर्ष की आयु तक आंत्रवृद्धि स्वयमेव ठीक हो जाती है, केवल उसके लिए एक यथोचित पेटी ( truss ) की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके लिए घोड़े के नाल के आकार के बने रबर की पेटी ( Horse shoe shaped truss ) सर्वोत्तम होती है। शस्त्रकर्म के लिये शीघ्रता नहीं करनी चाहिए क्योंकि इन पेटियों या बन्धनों के प्रयोग से ही कुछ मासों में बच्चे की आंत्र-वृद्धि स्वयमेव ठीक हो जाती है। यदि कभी वृद्धिशोथ युक्त हो जाय और अन्दर में प्रविष्ट न हो सके, बालक में पूर्णतया विवन्ध हो जाय, कै होने लगे तो ऐसा समझना चाहिए कि वृद्धि अवरुद्ध ( Strangulated ) हो गई फिर तत्काल शस्त्रकर्म के द्वारा उसका उपचार करना चाहिए।

## नाभिगत वृद्धि

## ( Umbelical Hernia )

नाभि के व्रण वस्तु ( Scar ) के कमजोर बनने की वजह से शिशुओं में यह विकार बहुत पाया जाता है। इस तरह पूर्व हेतु के विद्यमान रहने पर कोई भी कारण जो उदर के अन्तस्थ भाग के पीड़न को बढ़ाता है, रोग की उत्पत्ति में सहायक होता है। जैसे विवन्ध, कुकास ( Whooping cough ) जोर-जोर से रोना आदि। यह विकार दोनों लिङ्ग के बच्चों में समानभाव से पैदा होता है। बड़ी आसानी से दबाकर अन्दर की ओर प्रविष्ट किया जा सकता है। उदर की दीवाल में उस स्थान की पेशियों में कुछ-न-कुछ अन्तराल (sap) पाया जाता है।

यह वृद्धि एक से तीन वर्ष की आयु तक स्वयमेव ठीक हो जाती है, इसलिए शल्यतंत्रीय उपचार के लिए पर्याप्त समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए साथ ही बालक के बल बढ़ाने वाले उपचार जैसे अण्डा, मक्खन, टमाटर प्रभृति भोजन वल्य औषधों की व्यवस्था करनी चाहिए। नाभि के क्षेत्र पर फलालेन की एक गद्दी रखकर बन्धनों से स्थिर कर देना ( Strap ) चाहिए।

यदि उपर्युक्त उपचारों के बावजूद भी वृद्धि में सुधार न हो तो शल्यतन्त्र की शरण लेनी चाहिए ( Sturgical Treatment ) एवं शल्योपचार से सुधार की व्यवस्था करनी चाहिए।

## उदरावरण शोथ
## ( Peritonitis )

उत्पादक जीवणुओं के भेद से कई प्रकार के उदरावरण शोथ के प्रसंग ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं जैसे १—वात गोलाणु ( Pneumococcal ), २—माला गोलाणु ( Streptococcal ), ३—पूयमेहज (Gonococcal)। इनमें वात गोलाणु ( Pneumococcal ), सर्वाधिक पाया जाता है ! जब से चिकित्सा में शल्य और प्रतिजीवी औषधों का ( Sulpha and antibiotics ) प्रयोग बहुलता से होने लगा है। इस प्रकार के उपसर्ग से होने वाले उदरावरण शोथ कम होने लगते हैं। लक्षण और चिकित्सा में इन विविध प्रकारों में बहुत कुछ साम्य है।

वातिक उदरावरण शोथ ( Pneumococcal Peritontis ), स्वतन्त्र तथा औपद्रविक दोनों प्रकार का हो सकता है। स्वतन्त्र प्रकार आमतौर से कन्याओं में होता है उसका प्रारम्भ श्रोणि के भाग में होता है। औपद्रविक प्रकार में व्याधि का या उपसर्ग का प्रथम स्थान फुफ्फुसावरण ( Pleura ) हृदयावरण ( Pericardium ) या मस्तिष्कावरण ( Meninges ) होता है पुनः उपसर्ग का प्रसार उदरावरण में होकर उदरावरण शोथ उपद्रव रूप में उत्पन्न होता है।

लक्षण—रोग का प्रारम्भ तीव्र स्वरूप का होता है। तीव्र उदर शूल होता है। उदर के अधोभाग में फोड़ा एक स्थान पर सीमित हो जाती है। शरीर का तापक्रम १०३° तक बढ़ जाता है। दूसरा प्रमुख लक्षण अतिसार मिलता है जो प्रायः ६० प्रतिशत बालकों में पाया जाता है। अन्य प्रकार के उदरावरण शोथ में विवन्ध पाया जाता है। ओठ पर परिसर्प ( Herpes ) या ओठ पर फुन्सियों का निकलना पाया जाता है। रक्त से श्वेत कोषाणुओं की संख्या बीस हजार या इससे भी अधिक हो जाती है। उदर की दीवाल कड़ी पड़ जाती है, उदर आध्मान युक्त ( फूल जाना ) हो जाता है और उसमें स्वतन्त्र जल का भी संचय ( Free fluid ) मिल सकता है। विषमयता के चिह्न उपस्थित रहते हैं बालक बेचैन हो जाता है। उसमें प्रलाप होने लगते हैं दो-

तीन दिनों के पश्चात् पूयोत्पत्ति होकर विद्रधि बन जाती है जो सामान्यतया श्रोणि में सीमित हो जाती है।

चिकित्सा—

'पेनिसिलीन' एवं बृहत्तर क्षेत्र के प्रतिजीवी टेट्रासायक्लीन और सल्फा वर्ग की औषधों का पूर्ण मात्रा में उपयोग करे। यदि पूय का संचय एक स्थान पर सीमित होकर विद्रधि का रूप ले तो उसका निर्हरण शल्यतंत्रीय चिकित्सा से करे।

**सामान्य चिकित्सा** - बालक को अर्द्धोत्तानासन (Fowler's position) लेटाकर रखना चाहिए। मुख से थोड़ा-थोड़ा जल पिलाना चाहिए, अन्य मार्गों से भी जल दिया जा सकता है। सामान्य लवण विलयन का अधस्त्वक् या शिरा मार्ग से प्रयोग करना चाहिए। उदर का स्वेदन करना भी आवश्यक होता है—पीड़ा के शमन के लिए अल्प मात्रा में अहिफेन भी दिया जा सकता है।

## कृमि रोग
## ( Intesinal Worms )

**आक्सीयूरिवर्मिकुलैरिस या सूत्रकृमि** ( Thread worms of oxyuris Vermicularis )—शिशुओं में पायी जाने वाली यह एक बहुलता से मिलने वाली कृमियाँ हैं। जो वर्ण में सफेद कपड़े के सूत सदृश छोटे-छोटे आकार की ½ से १ से० मी० लम्बाई की पुरुष कृमि तथा दुगुने लम्बाई की स्त्री कृमि होती है। इन कृमियों का निवास उण्डुक तथा उण्डुकपुच्छ ( Caecum, appendix ) में रहता है। इन कृमियों की संख्या बहुत अधिक होती है और बड़ी हठीली होती हैं। स्त्री कृमि के द्वारा इनका प्रसार होता है—ये पाखाने के जरिये निकल कर परिगुद ( Peri anal ) एवं गुद समीपवर्त्ती क्षेत्र में पहुँच जाती हैं अथवा उस स्थान के वस्त्र के सम्पर्क में आ जाती हैं। यहाँ पर आकर वे एकत्रित होती हैं और मरने के पूर्व वहाँ पर अपने अण्डों को छोड़ जाती हैं जो संख्या में १० हजार तक पहुँच जाते हैं।

अण्डों के इकट्ठे होने की क्रिया अधिकतर रात्रि में होती है और उस समय गुदा और गुदा के समीपवर्ती क्षेत्र में तेज खुजली पैदा होती है।

इस खुजली की शान्ति के लिए बालक अपनी अँगुलियों से उस स्थान को खुजलाता है, खुजलाने के साथ उसकी अँगुली और नख में बहुत अण्डे और कृमि आ जाते हैं; जो भोजन के साथ या अँगुली के चूसने से सीधे मुख के अन्दर पहुँचकर पुनः उपसृष्ट करते हैं। इस प्रकार के पुनरुपसर्ग का चक्र चलता रहता है—फलतः कृमियों का पूर्णतया दूर करना कठिन हो जाता है।

एक बालक के रोगयुक्त हो जाने पर दूसरे बालक भी उन कृमियों के अण्डों द्वारा उपसृष्ट हो जाते हैं जिससे परिवार के अथवा रोगग्रस्त बालक के सम्पर्क में आनेवाले सभी बच्चे कृमियों से पीड़ित हो सकते हैं। कृमियों के अण्डों में हवा के द्वारा भी वहन होकर ( Air-borne ) प्रसार होता है।

**लक्षण**—सूत्र कृमियों में बहुत प्रकार के लक्षण मिलते हैं, तथापि कई विशिष्ट लक्षण होते हैं, जैसे—गुदकण्डु गुदा के क्षेत्र में खुजली का होना। यह लक्षण दिन भर मिल सकता है, परन्तु विशेषतया रात्रि में जब बच्चा सोने लगता है तब अधिक व्यक्त होता है। उसकी नींद उचट जाती है, खुजली से वह बेचैन हो जाता है। कन्याओं में यह कण्डु भग-प्रदेश ( Vulva ) तक फैल जाता है और खुजली की वजह से उस स्थान का शोथ ( Vulvitis ) भग-शोथ हो जाता है शय्या-मूत्र या निद्रा में मूत्रत्याग भी पाया जाता है। सूत्र कृमियों के कारण कई बार उण्डुक पुच्छ-शूल ( appendicular colic ) भी पाया जाता है, जिसका बार-बार दौरा होने से शस्त्रकर्म की आवश्यकता हो सकती है। इस अवस्था में उण्डुकपुच्छ शोथ युक्त मिलता है और उसके भीतरी सतह पर श्लेष्मा एकत्रित हो जाती है, जिसमें सूत्रकृमियाँ लिप्त रहती हैं।

इन लक्षणों के अलावे कई अन्य भी लक्षणों को इन कृमियों से उत्पन्न हुआ माना जाता है। जैसे—भूख की कमी, सुस्ती, सिरदर्द, दाँतों का काटना, रात में चौंकना एवं आक्षेप आदि।

**चिकित्सा—**

अजीर्ण को ठीक करना, प्रतिदिन उचित मात्रा में व्यायाम, नियमित आहारादि की व्यवस्था और पर्याप्त विश्राम प्रभृति बातों का ध्यान रखे। इन आहार-विहार सम्बन्धी उपचारों का कृमियों को निर्मूल करने में बहुत हाथ है।

१. **कृमिघ्न औषधियों में**—जेन्शियन वायलेट ( Gentian Violet ) लाभप्रद सिद्ध होता है। ½ ग्रेन के कैप्स्युल बने मिलते हैं इसकी मात्रा बालक की आयु के अनुसार एक से ६ कैपस्युल क. प्रतिदिन होती है। अर्थात् एक वर्ष की आयु तक एक कैपस्युल प्रतिदिन, २ वर्ष की आयु में दो, इसी प्रकार आयु के प्रतिवर्ष के हिसाब से एक-एक बढ़ाते हुए ६ वर्ष की आयु तक ६ कैपस्युल तक प्रतिदिन देने का विधान है। कुल एक सप्ताह तक ऐसी मात्रा देकर दवा को बन्द कर देना चाहिये। पुनः आवश्यकता प्रतीत होने पर कुछ दिनों का अन्तर देकर चालू किया जा सकता है।

२. **सैण्टोनीन** ( Santonin )—१ से २ ग्रेन ( '०६५-'१३ ग्राम ) की मात्रा में लगातार तीन दिनों तक देना भी उत्तम है। पन्द्रह दिनों के अन्तर से अगर जरूरी हो तो फिर दिया जा सकता है।

३. **डाइफेनान** ( Oxylan or Diphenan )—भी बहुधा लाभप्रद पाया गया है। इसकी ७½ ग्रेन की मात्रा की गोलियाँ बनी रहती हैं। ½ गोली की मात्रा में सुबह और शाम एक सप्ताह तक देना होता है। फिर देने की आवश्यकता हुई तो पन्द्रह दिनों के अनन्तर पुनः चालू किया जा सकता है।

४. **आस्थापन** ( Enemata )—रात में सोते वक्त लवण जल की आस्थापन वस्ति १ पिण्ट ( ५६८ मि० ली० ) जल में १ बड़े चम्मच भर नमक छोड़कर बनाया जल की देना भी एक प्रसिद्ध चिकित्सा है, परन्तु उतनी लाभप्रद नहीं होती। आमतौर से वस्ति के द्वारा दी जानेवाली पानी की मात्रा कुल पाँच से छः औंस तक की होती है--परन्तु यदि मात्रा १६ से बीस औंस ( ४५०-५६८ मि० ली० ) तक कर दी जाय तो उससे स्थूलांत्र का प्रक्षालन सम्भव है। वस्ति का नित्य प्रयोग क्वचित् हानिप्रद भी हो सकता है। अतः

इसका उपयोग कभी-कभी करना अधिक लाभप्रद हो सकता है इससे स्थूलांत्र में स्थित कृमियों का निर्हरण हो जाता है।

५. पुनरुपसर्ग ( Re-infection ) —से बालक को बचाना भी आवश्यक होता है। इसके लिए बालक को पूरे पैर का पायजामा पहनाना चाहिये। खुजलाते समय उसकी अँगुली और नख दूषित न हों एतदर्थ उसके हाथों में दस्ताने पहना देना चाहिये। इन दस्तानों के प्रतिदिन प्रातःकाल में उबाल कर शुद्ध कर लेना चाहिये। भोजन के पूर्व उसके हाथों को भलीभाँति प्रक्षालन कर लेना भी आवश्यक है गुदा की खुजली को कम करने के लिए उस स्थान पर पारद मलहम ( Murcury ointment )—का लेप भी उत्तम पाया गया है—सोते समय करना चाहिये। इससे कृमि गुदा के बाहर नहीं आते।

६. पिप्रॆजीन ( Piperazine ) — इस औषधि के कई पेटेण्ट योग जैसे 'हेल्मासीड', 'एण्टीपार', सिरपवर्मीजाइन' आदि का भा उपयोग उत्तम होता है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा—काम्पिल्लिक चूर्ण (कबीले का चूर्ण ) मात्रा ½–१ ग्राम रात में सोते वक्त गुड़ के साथ खिलाना भी बड़ा उत्तम होता है। लगातार एक सप्ताह तक देकर फिर दो दिनों का व्यवधान दे फिर एक सप्ताह तक चलावे। इस दवा के दो तीन बार के क्रम से पर्याप्त लाभ देखा जाता है। वायविडङ्ग का ½ से २ ग्राम तक गुड़ या मधु से देना अथवा वायविडङ्ग का काढ़ा बनाकर उसकी वस्ति देकर गुदा का प्रक्षालन भी उत्तम रहता है।

## प्रतोद-कृमि

## ( Whip Worm )

सूत्रकृमियों के साथ ही कई बार इन कृमियों का उपसर्ग भी आमतौर से पाँच वर्ष से अधिक वय के बच्चों में पाया जाता है। पुरुष औसतन ३०–४५ मि० मी० और स्त्री कृमि ३५–५० मि० मी० लम्बी होती हैं। इनकी उपस्थिति से बालकों में उदर के अधोभाग में दाहिनी तरफ वेदना, अरुचि, दौर्बल्य, पाण्डुता, अतिसार, रक्तमिश्रित मलत्याग अथवा गुदभ्रन्श पाया जाता है।

चिकित्सा में निरोध वस्ति ( Retention Enema ) जिसमें 'हेक्सिल रीसार्सिनाल' ( Hexy resorcinol ) २ प्रतिशत का घोल रहता है, प्रशस्त माना गया है।

इसके अलावे 'डायथियाजैनीन ( Diathiazanine ) का मुख से सेवन लाभप्रद रहता है। इसकी दैनिक मात्रा ४५ मि० ग्रा०/प्रति किलोग्राम शरीर भार के अनुसार देनी चाहिये। आमतौर से अधिकतम मात्रा ६०० मि० ग्रा० प्रतिदिन की होती है जिसका तीन मात्रा विभजन करके दिन में तीन बार आठ-आठ घंटे पर देना चाहिये। पूरी चिकित्सा ५ ६ दिनों तक चलाकर बन्द कर देनी चाहिये।

## गण्डूपद या केंचुआ
## ( Round worms )

सूत्र कृमियों की अपेक्षा ये कम मिलने वाली कृमियाँ हैं। ये देखने में केचुओं जैसे दिखलाई पढ़ती हैं। इनमें पुरुष कृमि औसतन १५ से० मी० लम्बी ३-६ मि० मी० चौड़ी और पुरुष कृमि औसतन २५ से० मी० लम्बी एवं ३-६ मि० मी० चौड़ी होती है। बालक के आन्त्र में आमतौर से दो या तीन कृमि होते हैं जिनके अण्डे बहुत संख्या में पाखाने से बाहर आते हैं। कई बार आंत्रगत कृमियों की संख्या बीस से तीस तक और क्वचित् सौ या उससे भी अधिक हो जाती है।

वास्तव में इन कृमियों की उपस्थिति में कुछ भी लक्षण व्यक्त नहीं होते हैं; जब पाखाने के जरिये एकाध निकलते हैं तो उसी से रोग का निश्चय किया जाता है। जब ये कृमि अपने आंत्र के आवास को छोड़ कर बढ़ते हैं तो बहुत प्रकार के लक्षण पैदा कर सकते हैं जैसे अमाशय में आकर वमन, मिचली पित्ताशय नलिका में जाकर पित्ताशय 'नलिका' अवरोध ( Blockage of Bileduct )। वमन के द्वारा जीवित कृमियों का वमन भी होता है—मल से भी जीवित कृमि निकल सकते हैं। कई बार आन्त्र में कई कृमियाँ इकट्ठी होकर आपस में मिलकर रस्सी के आकार में होकर आंत्र स्रोत का अवरोध

पैदा करके बालक की भयंकर स्थिति पैदा कर देती हैं। इस अवस्था में लक्षण वद्धांत्र के मिलते हैं। वमन, तीव्र उदर शूल, विबंध, आध्मान अवरोध के स्थान पर उभार और पीड़ा आदि पाई जाती है।

आंत्र में भरे हुए कृमियों के पड़े रहने से बालक में आक्षेप ( Convulsions ) आने लगते हैं जो कृमियों के बाहर निकल जाने पर स्वयमेव शान्त भी हो जाते हैं।

**चिकित्सा**—विशिष्ट औषधि सैण्टोनीन है १-२ ग्रेन की मात्रा में लगातार तीन रात्रि तक दें। एक सप्ताह का अन्तर देकर पुनः दिया जा सकता है। अन्य पेटेण्ट योगों में शर्बत के रूप में 'एण्टीपार' 'हेल्मासीड' आदि योग उत्तम मिलते हैं।

**आयुर्वेदीय**—केंचुएँ के उपसर्ग में कृमिकालानल रस अच्छा कार्य करता है। १ रत्ती की मात्रा में मधु से दिन में तीन बार देना चाहिये। दाडिम बीज ( अनारदाने ) या पेंठे का बीज भी कृमिघ्न होता है। कृमि की चिकित्सा करते हुए बालक में दही और नया गुड़ का खिलाना पूर्णतया बन्द कर देना चाहिये। कच्ची चीजों को भी खाने का निषेध कर देना चाहिए। वायविडङ्ग को दूध में पकाकर दूध के पिलाने की व्यवस्था करनी चाहिये। अजवायन, पलास बीज, पारसीक यमानी, ( खुरासानी अजवायन ) आदि का स्वतन्त्रतया पुराने गुड़ के साथ मिलाकर देना चाहिए। दो योग जो सामान्यतया सभी प्रकार के कृमि रोग में लाभप्रद होते हैं प्रयोग करना चाहिए।

१—कृमि मुद्गररस १२५ मि०ग्रा० की एक मात्रा प्रातः सायं मधु से।

२—पलाशबीजादि चूर्ण ( पलाशबीज, इन्द्र जौ, वायविडङ्ग, नीम की छाल और चिरायता सम भाग में लेकर बनाया कपड़छान चूर्ण ) ½ से १ ग्राम रात्रि में सोते वक्त पुराने गुड़ के साथ।

३—पाचन चूर्ण २ ग्राम की मात्रा में दिन में दो बार भोजन के बाद।

# अंकुश कृमि
## ( Hook Worms )

उष्णकटिबन्ध के देशों में इस कृमि का उपसर्ग खाली पैर चलने वाले व्यक्तियों में किसी भी वय में हो सकता है। ये श्वेत एवं गन्दे भूरे रंग की कृमियाँ जिनकी औसत लम्बाई ७-१३ मि० मी० और चौड़ाई ०.३-०.६ मि० मी० होती है। पुरुष कृमि स्त्री कृमि से छोटे होते हैं। युवक कृमि पक्काशय या क्षुद्रान्त्र के श्लैष्मिक कला से चिपके रहते हैं। स्त्री अंकुश कृमि कई सहस्र अण्डों का प्रतिदिन जन्म देती है जो पुरीष के साथ निकलते रहते हैं। आर्द्र वातावरण में ये कृमि बढ़ते हैं और चार दिनों में लार्वा का रूप ले लेते हैं। ये लार्वी पैर के तलवे से अक्षत चमड़े को छेदकर भीतर घुस जाते हैं। फिर वहाँ लसीका वाहिनी, रक्तवाहिनी के मार्ग से होते हुए फुफ्फुस में चले जाते हैं। पुनः वहाँ से फुफ्फुस कोशिकावों, श्वास प्रणाली से होते हुए, ट्रेकिया और एपिग्लाटिस को पार कर पचन संस्थान में पहुँच जाते हैं। ५ सप्ताह में ये लार्वी युवक हो जाते हैं। फिर आन्त्र के श्लेष्मल कला में अपने अंकुशों के द्वारा चिपक कर अपनी चूषण प्रक्रिया से रोगी का रक्त-नाश करते हैं।

**लक्षण**—इस कृमि के संक्रमण क्रमशः बढ़ती हुई रक्ताल्पता मिलती है। आगे चलकर अत्यधिक पांडुता रोगी में आ जाती है। इसके परिणाम स्वरूप दुर्बलता, श्वासकृच्छ्र, धड़कन, पेट में दर्द, अरुचि, रक्त में लौह एवं हीमोग्लोबिन की कमी उत्पन्न होती है।

**विनिश्चय**--पुरीष की परीक्षा से संभव रहता है।

**चिकित्सा**—कृमियों का शरीर से निकालना तथा रक्त का संबर्द्धन दो ही सिद्धान्त हैं। कृमियों के निष्कासन के लिये "टेट्राक्लोरेथेलीन" ( .२-.३ सी० सी० ) हेक्सिल रीसार्सिनाल, कार्बन टेट्राक्लोरायड, एवं चैनापोडियम का तेल प्रसिद्ध ओषधियाँ परन्तु बच्चों में अनुकूल नहीं पड़ती हैं। अधुना "डिकैरिस" अथवा 'एल्कोपार' दो योग चल रहे हैं वय का विचार करके थोड़ी मात्रा में इनमें से किसी एक का प्रयोग करना चाहिये ये ओषधियाँ यकृत के लिये विषाक्त होती हैं अस्तु इनकी एक मात्रा देने के तीन सप्ताह

के अन्तर पुनः देना चाहिये। एक से तीन बार के प्रयोग से प्रायः कृमियाँ गिर जाती हैं।

रक्त बढ़ाने के लिये पर्याप्त मात्रा में रोगी के लिये पर्याप्त पोषण, प्रोटीन, लौह, यकृत सत्व, विटामीन बी कम्प्लेक्स देना चाहिए। कई पेटेन्ट योग नियोफेरिलेक्स, टोनोफेरान पेडियाट्रिक्स, विट्कोफाल का शर्बत रूप में सेवन कराना लाभप्रद रहता है।

## स्फीतकृमि
## ( Tape worm )

बालकों में इन कृमियों का उपसर्ग कम होता है। कच्चे मांस का उपयोग रोगोत्पादन में कारण बनता है। इस मांस रस के द्वारा कृमियों के अन्डे बालक के आँतों में चले जाते हैं। पूर्ण बढ़ी हुई कृमि लगभग ३ मीटर या अधिक लम्बाई की होती है। दो जातियाँ ( Tenia solium and Tenia saginata ) होती हैं इनका विभेद उनके सिरों को देखकर किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के कृमियों के सिर के ऊपर चार शोषक ( Suckers ) और चौबीस छोटे-छोटे अंकुश रहते हैं। दूसरे वर्ग के कृमियों के सिर पर केवल चार शोषक पाये जाते हैं। सिर का पहचानना बहुत आवश्यक होता है, क्योंकि जब तक ये सिर नहीं निकल जाते इनके निकालने की चिकित्सा चालू रखनी होती है।

स्फीतकृमियों में नियमतः कोई लक्षण नहीं मिलता। पाखाने में कृमियों के देह खंड के टुकड़े ( Strips of ripe proglottides ) जो लम्बाई में कुछ इञ्चों से लेकर कई फीट तक के होते हैं, निकलते पाये जाते हैं। कई बार इन कृमियों की उपस्थिति भी मिलती है।

**चिकित्सा—**

इन कृमियों के सिरों का निकाल देना आवश्यक होता है। इस कार्य के लिये चिकित्सा काल में बच्चों को पूर्ण विश्राम बिस्तर पर रख कर करना चाहिये, दो दिनों तक केवल द्रव आहार देना चाहिये। दूसरे दिन रेचन के लिए एरण्ड तैल देना चाहिए तीसरे दिन प्रातः काल में कुछ खाने के पूर्व

खाली पेट पर "फिलिक्स मास" नामक औषधि का द्रव सत्व ( Liquid extract ) देना चाहिए इसके देने का उत्तम तरीका १५ बूँद की मात्रा में कैपस्युल में भर कर देना है। हर पन्द्रह मिनट पर १ कैपस्युल देते हुए कुल चार तक देने पड़ते हैं। कैपस्युल के निगलने में कठिनाई जान पड़े तो, दूध या सन्तरे के रस में १५ बूँद छोड़कर उसी प्रकार पिलाया जा सकता है। औषधि के देने के एक घंटे बाद सामुद्र चन ( Saline purge ) दे। पश्चात दो घंटे के भोजन दे।

## जियार्डिया इण्टेस्टाइनेलिस या आविक-कृमि
## ( Lambliais Lamblia or giardia Intestinalis )

क्षुद्रांतों में रहने वाले एक प्रकार के 'प्रोटोजवा' हैं—जिनके पुटी ( Cyst ) मल से निकलते पाये जाते हैं। इस अवस्था में कोई खास लक्षण नहीं पैदा होता है। फिर भी इनके संक्रमणों में बार-बार अतिसार, प्रवाहिका अजीर्ण, आँव गिरने का वृत्त पाया जाता है। रोग बरसों तक चल सकता है।

चिकित्सा में एटेब्रिन या मेपाक्रीन के प्रयोग उत्तम पाया गया है। तीन से पाँच दिनों तक करना चाहिए। एटेब्रिन के प्रयोग विधि निम्नलिखित हैं— एटेब्रिन ( Atebrin ) ·०१ ग्राम की गोलियाँ बनी आती हैं मात्रा में—२ वर्ष से नीचे की आयु ¼ गोली दिन में दो बार, २ से ६ वर्ष की आयु में ½ गोली दिन में दो बार, ६ से ९ वर्ष की आयु में ½ गोली दिन में तीन बार ६ से १२ वर्ष की आयु में १ गोली दिन में दो बार देना होता है। अधुना, 'फ्लैजिल' नामक पेटेण्ट औषध भी उपलब्ध है उसका मात्रा से प्रयोग लाभप्रद पाया जाता है।

'फूरोक्सोन' ५ मि०ग्रा०/प्रति किलोग्राम शरीर भार के अनुसार चौबीस घंटे में बड़ा लाभप्रद औषधि है।

'फ्लैजील' ( मेट्रोनिडैजोल )—चार से आठ वर्ष के वय के बालकों में २५० मि०ग्रा० की मात्रा में दिन में दो बार। अधिक वय के बालकों में दिन में तीन बार। इसी मात्रा में युवकों में। कुल ५ दिनों तक प्रयोग करना उत्तम लाभ दिखलाता है और निरापद है।

## औदरीय क्षय
## ( Abdominal T. B. )

इस वर्ग के भीतर आंत्र, आंत्र-योजनी की ग्रन्थियों का क्षय तथा उदरावरण का क्षय इन तीन विकारों का समावेश किया जाता है।

**उपसर्ग का मार्ग**—आंत्रक्षय की उत्पत्ति में मानव ( Human ) या गो ( Bovine ) दोनों प्रकार के क्षय के जीवाणु भाग लेते हैं। गो प्रकार के क्षयदण्डाणु दूध के द्वारा आंत्र में पहुँच कर रोग पैदा करते हैं। मानव प्रकार के द्वारा क्षय-पीड़ित व्यक्ति के सम्पर्क में रहने से मुख द्वारा गले से होते हुए क्षय के दण्डाणु आंत्र में पहुँच जाते हैं अथवा यदि बालक में फुफ्फुस क्षय उपस्थिति हो तो थूक द्वारा निगले जाकर वे क्षय के दण्डाणु आंत्र में क्षय की उत्पत्ति करते हैं।

**विकृति विज्ञान**--आंत्र-क्षय ( Tuberculour entetitis )--क्षय से दण्डाणुओं ( T. B. Bascillus ) आंत्र की श्लेष्मल कला में छेद कर पहुँच जाते हैं। क्षुद्रांत्रों के अधोभाग और उण्डुक ( Ileum & caecum ) की श्लेष्मल कला में व्रणों की उत्पत्ति होती है। लसीका वाहिनियों की दिशा का अनुसरण करते हुए व्रण आंत्र की गोलाई में फैलते हैं। इन व्रणों की संख्या तथा परिमाण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। तीव्र अवस्थाओं में श्लेष्मल कला का बहुत-सा भाग झर जाता है।

**आंत्र संयोजनी का क्षय** ( Tabese Mesentrica ) दाहिनी ओर की जघन खात की लसीका ग्रन्थि अर्थात् आंत्र संयोजनी ( Mesentry ) के अधोभाग की ग्रन्थियाँ सर्व प्रथम प्रभावित होती हैं जो जघन ( Ilium )के अधोभाग से सम्बद्ध रहती हैं। ग्रन्थि एक या बहुत-सी एक ही साथ विकार युक्त हो सकती हैं। सर्व प्रथम इन गाँठों में किलाटी भाव ( Caseation ) शुरू होता है, पश्चात् गाँठों के भीतर तान्त्वी भाव ( Fibrosis ) होती है। पुनः चूर्णातुभरण ( Carcification ) होता है वे कड़ी हो जाती हैं और क्ष-करण के द्वारा चित्र लेकर इनकी उपस्थिति देखी जा सकती है। कई बार

वे ग्रन्थियाँ अपने समीप वाली आंत्र की गेडुलियों ( Coils ) के साथ संसक्त ( Adhesion ) हो जाती हैं--आंत्रों के संमूर्छन (Kinking) पैदा होने से तीव्र आंत्रावरोध के लक्षण उत्पन्न होते (acute Intestinal obstructon) हैं। आंत्रावरोध आंशिक या पूर्ण स्वरूप का हो सकता है। कभी ऐसा भी होता है कि ये विकारयुक्त ग्रन्थियाँ पिघलकर द्रवीभूत ( Liquify ) हो जाती हैं और अपना द्रव उदरावरण ( Peritoneum ) में रिक्त करती हैं जिससे उदरावरण का क्षयज-शोथ ( T. B. Peritonitis ) पैदा हो जाता है। यदि संसक्ति द्वारा उदरावरण घिर गई हो तो पूरी उदरावरण में शोथ न पैदा होकर एक सीमित क्षेत्र में इस शोथ की उत्पत्ति होती है या विद्रधि बनती है। यदि क्षयजन्य विष का सम्पर्क रक्त-वह स्रोत से हुआ तो उसके परिणामस्वरूप अन्य स्थानों में क्षय की उत्पत्ति हो सकती है।

उदरावरण शोथ ( Peritonitis )--उदरावरण की गुहा में क्षय का उपसर्ग होकर वहाँ पर श्यामक ग्रन्थियाँ ( Miliary Tubercles ) बनती हैं वहाँ पर इनके परिणाम स्वरूप द्रव का संचय ( Fluid effusion ) होता है। यह द्रव स्वच्छ सूखे तृण के वर्ण का ( Straw Coloured ) एवं जीवाणु रहित होता है और उदरावरण में संचित होकर जलोदर का रूप ले लेता है।

दूसरे रोगियों में इस प्रकार जल का संचय न होकर आंत्र की गेंडुलियाँ आपस में ससक्त हो जाती ( चिपक जाती ) है और आंत्र सम्मिलन ( Matted Intestine ) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। आंत्र के बलय एक दूसरे से चिपक जाते हैं।

**लक्षण**—आंत्रक्षय, आंत्रयोजनीक्षय तथा उदरावरण का क्षय का पृथक्-पृथक् वर्णन केवल समझाने की सुविधा के लिए किया जाता है; वास्तव में ये एक ही औदारिक क्षय की विभिन्न अवस्थायें हैं। लक्षणों का वर्णन भी इसी निमित्त तीन पृथक्-पृथक् रोगों के रूप में नीचे दिया जा रहा है।

**आंत्रक्षय**—अतिसार एक प्रमुख लक्षण है। अतिसार तीव्र स्वरूप का नहीं होता; परन्तु हठीला अवश्य होता है जो चिकित्सा की व्यवस्था होने

पर भी ठीक नहीं होता और पुनः-पुनः आवर्तित होता रहता है। मल पतला, किंचित् बदबूदार, अपचितमण्डयुक्त, आम मिश्रित और किंचित् रक्त मिश्रित होता है तथा अणुवीक्षणात्मक परीक्षा से उसमें क्षय के दण्डाणु मिल सकते हैं। बालक नाभि के पास पेट में दर्द होने की तकलीफ बतलाता है, दिनोदिन दुर्बल होता चलता है, ज्वर होने लगता है तापक्रम प्राकृत से ३ या ४ अंश बढ़ जाता है, स्वेद होता है। उदर का स्पर्श करने से वह कुछ स्पर्शनाक्षम होता है, उदर की पेशियाँ कड़ी पड़ जाती हैं, दाहिनी ओर के जघन खात में आंत्र योजनी में गाँठों का अनुभव किया जा सकता है।

**आंत्रयोजनीक्षय**—लक्षण अव्यक्त रहते हैं। तीव्र स्वरूप का उदरशूल होता है, भूख कम हो जाती है, थोड़े परिश्रम से ही अधिक थकान का अनुभव बालक करता है। बालक का भार या तो स्थिर रहता है या क्रमशः गिरने लगता है। अतिसार के दौरे आते हैं, पुनः विबन्ध हो जाता है। इस प्रकार विबन्ध और अतिसार पर्यायक्रम से चलता है। मल बड़ी मात्रा में बदबूदार और चर्बीयुक्त होता है।

उदर का स्पर्श करने से कोई विशेष बात नहीं मिलती है, फिर भी उदर के पश्चात् दीवाल पर गाँठों का अनुभव किया जा सकता है जो विशेषतः दक्षिण जघन-खात ( Illiacfossa right ) में प्राप्त होती हैं। आंत्र में पड़ी हुई मल की गाँठों की शंका होने पर दस्त की दवा या वस्ति देकर कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिए। पश्चात् रोग का निश्चय करना चाहिये।

आंत्र के गेंडुलियों के आपस में संसक्त होने से तीव्र ऊदरशूल के लक्षण पैदा होते हैं; वे आंत्र के आंशिक अवरोध सदृश ( Partial obstruction ) होते हैं। शूल के दौरे लगभग एक पक्ष के अन्तर से होते हैं। दौरे के समय में पेट फूल जाता है ( आध्मान ), मल बँधकर रुक जाता है और कै होने लगती है।

**क्षयज उदरावरण-शोथ**—रोग का प्रारम्भ गुप्त स्वरूप का होता है। प्रारम्भ में बालक में कुछ उदर की तकलीफ, रक्ताल्पता, अतिसार और भारक्षय

पाया जाता है। पश्चात् रोग का व्यक्त स्वरूप देखने को मिलता है। रोग के दो प्रकार मिलते हैं १. जलोदरीय प्रकार २. संधानीय प्रकार।

**जलोदरीय प्रकार** ( Ascitic variety )—प्रारम्भ से ही उदर की क्रमशः वृद्धि होने लगती है। मन्द ज्वर ( प्राकृत २ या ३ अंश अधिक ) चलने लगता है। धीरे-धीरे उदरावरण के दोनों स्तरों के भीतर जल का संचय होने लगता है। उदर के दोनों पार्श्व निकल जाते हैं—उदर के ताड़न करने पर मन्द ध्वनि मिलती है। इस प्रकार जल संचय सम्पूर्ण उदर पर हो सकता है। कई बार यह सार्वत्रिक न होकर एक स्थानीय सीमित क्षेत्र में भी होता है। सीमित या आंशिक जलोदर उस अवस्था में होता है जब कि उदरावरण के दोनों स्तर संसक्त हो गये हों। यदि रोगी की क्षुधा ठीक हो, उसका पोषण भी उचित रहे ता द्रव का शोषण हो जाता है। कई बार द्रव का शोषण शीघ्रता से होता है और उदरावरण के दोनों स्तर चिपक कर संधानीय प्रकार का रूप ले लेते हैं।

**संधानीय प्रकार** ( Plastic Variety )—यही प्रकार अधिक देखने को मिलता है। बच्चा इस रोग से पीड़ित होकर अत्यन्त दुःखी दीखता है। क्षुधा कम हो जाती है, वमन बहुधा होता है, दस्त पतले होने लगते हैं, ज्वर १०२° फे० या अधिक हो जाता है, मांसक्षय, भारक्षय, स्वेद आदि क्षय के लक्षण एवं चिह्न मिलते हैं। सम्पूर्ण शरीर कृश और उदर फूला हुआ ( म्लानं तथान्तेषु च मध्य शूनम् ) दिखाई पड़ता है।

उदर का स्पर्श करने में उसमें एक विशेष प्रकार का अनुभव होता है; जिसे अंग्रेजी में 'डोईफीलिंग' ( Doughy ) कहते हैं। उदर की दीवाल कड़ी नहीं होती है फिर भी उसमें एक प्रकार का भारीपन प्रतीत होता है जैसे कपास की रुई भरी हो। ऐसे उदर में कई बार क्षययुक्त वपा ( Tuberculous omentum ) हृदाधारिक प्रदेश में ( Epigastrium ) एक कड़े अर्बुद ( Sausage shaped ) का स्वरूप धारण कर लेता है। कई बार वह यकृत के समान बन जाता है और निदान में भ्रम पैदा करता है। आंत्र उदर की दीवाल से चिपक जाती है, आंत्र आपस में संसक्त होकर एक पिण्ड (Mass)

का रूप धारण कर लेती है। उदरावृत्ति के दोनों स्तर भी आपस में चिपक जाते हैं, फलतः उनके भीतर द्रव संचय नहीं होता, फलतः जलोदर भी नहीं मिलता। कई बार उदर में नाभि के पास विद्रधि बनती है जो फटकर बाहर बहने लगती है। उससे किलाट सदृश स्राव (Caseous matter) निकलता है। कई बार यह विद्रधि नाड़ी व्रण या भगन्दर का रूप भी ले लेती है।

**रोग विनिश्चय**—१. लक्षणों के आधार पर। २. पुरीष की परीक्षा उसमें क्षय के दण्डाणुओं की उपस्थिति। ३. क्ष-किरण चित्रण से आंत्रनिबंधिनी में गाँठों का दिखलाई पड़ना। ४. ट्युबरकुलीन परीक्षा भी निदान में सहायक होती है। ५. शोणित कायाणुओं की अवसादन गति (Sedimentation rate of R. B. C.)।

निम्नलिखित रोगों से विभेद कर लेना भी आवश्यक होता है। जैसे-- अनुचित आहार से उत्पन्न या पुराने अजीर्ण से उत्पन्न अतिसार तथा बलक्षय।

कुक्षिरोग (Coeliac Disease)—इसमें उदर मृदु एवं स्पर्शन योग्य रहता है, जबकि क्षयज उदरावरण में उसका विशेष प्रकार का स्पर्शानुभव (तूलानुभव Doughy) और क्षयज ग्रन्थियों की प्रतीति होगी। चाक्रिकवमन (Cyclic Vomiting) से विभेद करना कई बार आवश्यक होता है। विशेषतः जब आंत्रावरोध के लक्षण औदरिक क्षय में उपस्थित (Regional Ileitis) जिसमें आंत्र का भाग स्थूल और कड़ा पड़ जाता है, कई बार संसक्ति और भगन्दर भी बन जाता है--इस रोग से भी क्षयज आंत्र विकारों का विभेद आवश्यक हो जाता है।

**शुभाशुभ**—बालक की आयु एवं प्रकार के अनुसार औदरिक क्षय की साध्यसाध्यता भिन्न-भिन्न होती है। प्रथम दो या तीन वर्ष की आयु में रोग का बड़ा घातक स्वरूप रहता है। यदि औदरिक क्षय के साथ ही साथ अन्य अंगों में भी क्षय का चिह्न (जैसे फुफ्फुस में) उपस्थित रहे तो स्थिति और भी गम्भीर हो जाती है।

आंत्र योजनी के क्षय में साध्यता अच्छी रहती है। सावधानी के साथ लम्बे अर्से तक बच्चे का उपचार किया जाय तो धीरे-धीरे कुछ मासों या वर्षों में गाँठों का शमन हो जाता है। रक्तस्रोत से क्षय का उपसर्ग सम्पूर्ण शरीर में पहुँचे तो स्थिति चिन्ताजनक अवश्य हो जाती है, परन्तु ऐसा होता भी छोटी आयु में कम ही है।

यदि बालक में क्षयज उदरावरण-शोफ हो जाय तो उसमें जलोदरीय प्रकार में संधानीय प्रकार की अपेक्षा रोग की साध्यता अधिक रहती है।

**चिकित्सा--**

विश्राम, ताजा हवा, सूर्य प्रकाश और खुला वायुमण्डल रोग से पीड़ित बालकों के लिए आवश्यक होता है। यदि सम्भव हो तो उसे किसी समुद्र के किनारे या पर्वतीय क्षेत्र में रखने की व्यवस्था करे। बालक को पीठ के बल बिस्तर पर लेटाकर पूर्ण-विश्राम कराना चाहिये। जब तक ज्वर पूर्णतया उतर न जाय बालक को विश्राम ही करना चाहिये। साथ ही जब तक उसकी रक्त की दशा सुधर नहीं जाती उसकी दुर्बलता नहीं दूर होती, पूर्ण विश्राम करना उत्तम होता है।

बालक का आहार सदा पर्याप्त मात्रा में पोषण का ध्यान रखते हुए देना चाहिए। दुर्जर अन्न या न पचन वाले अन्नों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसकी पाचन-शक्ति का विचार करते हुये सुपाच्य अन्न की व्यवस्था करनी चाहिये। यदि अतिसार हो तो मेदयुक्त पदार्थ नहीं देना चाहिए। दूध भी मलाई निकाल कर देना चाहिए ( Skimmed milk ), ताजा उबाला हुआ दूध, दूध का खीर, मक्खन, अण्डे, छोटी मछली, मांस रस, बकरी का दूध, उबाले हुए आलू, हरे साग, पके हुए फल, सूखे मेवे, की व्यवस्था करनी चाहिए।

चूर्णातु ( Calcification ) की पूर्ति के लिए "कैल्शियम ग्लुकोनेट" १० ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार देना चाहिए। इसके अतिरिक्त कई प्रकार के रूप में बने योग मिलते हैं, ( जैसे—Syrup of Calcium Lactophosphate or Syrup of calcium Hypophosphate ),

इनका भी प्रयोग उत्तम होता है। मात्रा एक चाय चम्मच भर दिन पूर्ति में तीन बार। इन ओषधियों के अतिरिक्त ( Cod liver oil ) काड मछली के यकृत की वसा का भी उपयोग या जीवतिक्ति "डी" की के लिए कई पेटेण्ट योग बाजार में मिलते हैं जैसे--एडेक्सोलिन ( Adexolin ) तथा रेडियोस्टोलियम ( Radiostoleum ), १० बूँद की मात्रा में प्रतिदिन देना चाहिए।

स्ट्रेप्टोमायसिन का पेशी द्वारा सूचीवेध से देना भी उत्तम पाया गया है। इसकी मात्रा ०·०२ ग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार के ऊपर, प्रति बारह घण्टे के अन्तर से दो मास तक चलाना चाहिये। 'आइसोनियाजिड' (Isoniazid ) गोलियों का प्रयोग मुख से १० मिली ग्राम की मात्रा में प्रति पौण्ड शरीर भार पर या २० मिली ग्राम प्रति कि० ग्रा० भार पर प्रतिदिन, देने से भी पर्याप्त लाभ होता है। इसके अतिरिक्त P. A. S. २०० मि० ग्राम प्रति कि० ग्रा० भार प्रतिदिन देना चाहिये।

**आयुर्वेदोपचार**—लाक्षादि, महालाक्षादि या चन्दनवला लाक्षादि तैल का अभ्यंग हल्के हाथों से करना बड़ा उत्तम है। मुख से सेवन के लिए मुक्ता पञ्चामृत, प्रवाल पञ्चामृत या केवल शम्बूक भस्म का प्रयोग ½ रत्ती से १ रत्ती की मात्रा में मक्खन के साथ या घृत और चीनी के साथ दिन में तीन बार करना उत्तम पाया गया है। शम्बूक ( घोंघे ) के मांस का शोरबा बनाकर पिलाना भी उत्तम रहता है। यदि बालक में ग्रहणी या अतिसार एक प्रमुख लक्षण हो तो बकरी के दूध पर रखकर सुवर्ण पर्पटी का ½ रत्ती की मात्रा में मधु से दिन में तीन बार सेवन कराने से लाभ होता है। सुधाष्टक योग का ( फक्क रोगाध्याय का ) उपयोग भी उत्तम रहता है।

## यकृत के रोग

यकृत के कई कार्य हैं। इनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं। (१) 'ग्लायकोजेन' का संचय, ( २ ) रक्त निर्माण ( Haematopolesis ) ( ३ ) 'प्रोथैम्बीन' और 'फायब्रोनोजेन' का निर्माण ( ४ ) मेद का पाचन ( Matabolism )

(५) प्रोटीन का पाचन (६) निर्विषीकरण ( Detoxication ) तथा ( ७ ) पित्त का उत्सर्जन ( Excretion )। फलतः यकृत् में होनेवाली व्याधियाँ प्रभावित करने वाली क्रियाओं के अनुसार विविध प्रकार के लक्षणों को उत्पन्न कर सकती हैं।

बाल्यावस्था में यकृत् के कोषाणु अपरिपक्व ( Immature ) होते हैं, साथ ही उनमें पुनर्जनन ( Regeneration ) की क्षमता भी नहीं रहती है। फलतः इस आयु के यकृद्विकार भी कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य हो जाते हैं।

**अन्तः संचरण** ( Infiltration )—यकृत में शैशवास्था में कई प्रकार के रोग हो सकते हैं। उदाहरणार्थ 'ग्लायकोजेन', 'लिप्वाड्स' तथा 'एमाइलाड' के रोग। इनका वर्णन उन प्रसंगों में किया जावेगा। यहाँ पर मेदान्तः संचरण ( Fatty in filtration ) दिया जा रहा है। यकृत् में मेद का अन्तः संचरण नामक विकार शिशुओं में प्रायः मिलता है। यह आमतौर के उपवास, उपसर्ग और विष के प्रभाव से होता है। इस अवस्था में यकृत् के कोषाणु निष्क्रिय ( Neutral ) मेद के कणों से भर जाते हैं। यकृत् बढ़ा हुआ और मृदु रहता है और कोई लक्षण नहीं मिलता है। चिकित्सा कारण के अनुसार करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यकृद्दाल्युदर ( Cirrhosis of liver (a) infantile, (b) Biliary, (c) Portal, (d) Due to lenticular degeneration ), औपसर्गिक यकृच्छोथ ( Infective Hepatitis ), रक्तस्रावी कामला ( Weil's Disease ), तीव्र पीत यकृच्छोष ( Acute yellow atrophy of the liver ), यकृत् विद्रधि ( Liver Abscess ) तथा बहु विध जन्मजात कुनिर्मितियाँ ( Malformations ) प्रभृति रोग भी यकृत में हो सकते हैं। इनमें प्रमुखतया मिलने वाले शैशवीय यकृद्रोगों का आख्यान एकैकशः किया जा रहा है।

**कामला**—ये कई प्रकार बालकों में देखने को मिलते हैं। इनमें भिन्नता रोगोत्पादक कारणों के अनुसार होती है जैसे १—नवजात ( Newborn ) या शिशु का कामला। २—सामान्य या स्वाभाविक कामला ( Physiological Jaundice ), ३—उपसर्गज कामला ( Infetive Jaundice ), ४—

पारिवारिक कामला ( Familial Jaundic )। इनका प्रसंग विभिन्न अध्यायों में आया है। यहाँ पर केवल पित्त नलिका के सहज लोप ( Congenital obliteration of Bile duct ) से उत्पन्न कामला का वर्णन ही लक्ष्य है।

पित्त-नलिका के सहज अवरोध से उत्पन्न कामला—जन्म के सातवें या दसवें दिन कामला का प्रारम्भ होता है, क्रमशः कामला गहरी होती जाती है और कई मासों तक यह क्रम चलता रहता है।

**लक्षण**—बालक का पाखाना मिट्टी के रंग का ( Clay coloured ), मूत्र गाढ़ा-पीला, यकृत क्रमशः बढ़ता जाता है और कड़ा हो जाता है, प्लीहा आकार में बढ़ जाती एवं स्पर्शलभ्य हो जाती है और बढ़कर नाभि तक चली जाती है। त्वचा, आमाशय एवं आंत्र से रक्त-स्राव हो सकता है। क्रमशः बालक क्षीण हो जाता है, आगे जाकर संन्यस्त ( Comatose ) हो जाता है और तीन से आठ मास की आयु के भीतर मर जाता है।

**विकृति-विज्ञान**—यकृत आकार में बढ़ जाता है और उसका वर्ण पित्त से गाढ़ा रञ्जित हो जाता है। इसमें यत्र-तत्र कणदार क्षेत्र ( Granular surfaces ) मिलते हैं जो सूत्रों से अनुस्यूत (Granular surfaces with fine white scars ) रहते हैं। पित्त की छोटी नलिकाओं के स्रोत रुद्ध हो जाते हैं और उनके स्थान पर भी तान्त्वी-भाव ( Fibrous tissuss ) मिलते हैं। यकृत के कोषाणुओं के ऊपर पित्त लवणों का संचय पाया जाता है। पित्ताशय सिकुड़ कर छोटा हो जाता है उसका पहचानना भी कठिन होता है। इस प्रकार पित्ताशय में बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों ही भाग में विकृति हो जाती है।

**चिकित्सा**—रोग घातक स्वरूप का होता है। पारद के यौगिकों का प्रयोग मुग्ध रस ( Hydrag Creta ) $\frac{1}{4}$ ग्रेन की मात्रा में दिन में दो बार देकर देखना चाहिये। यदि रोग के हेतु रूप में पित्त, नलिका का दबाव कारण हो तो शस्त्र कर्म की सहायता से अवरोध-कर ( दबाव पैदा करनेवाले ) कारणों को दूर करने से लाभ की कुछ आशा रहती है।

## उपसर्गज यकृच्छोथ ( अभिष्यंदी कामला )

## ( Infective Hepatitis or Catarrhal Jaundice )

शिशुओं में इस प्रकार की कामला बहुत होती है। अधिकतर चार से दस वर्ष की आयु में होती है। दोनों लिङ्ग के बच्चों में समान भाव से मिलती है। अधिक शीत ऋतुओं में यह रोग पाया जाता है। रोग की उत्पत्ति में निःस्यंदी विषाणु ( Filterable Virus ) भाग लेते हैं। ये विषाणु रोग से पीड़ित बालक के मल और मूत्र से निकलते हैं क्वचित् रक्तवारि ( Serum ) में भी इनकी उपस्थिति पाई जाती है। रोग का प्रसार बालक में बिन्दूत्क्षेप ( Droplet ) के द्वारा थूक से या मक्खियों के द्वारा दूषित मल से पेय आदि के दूषित होने से होता है। रोग का संचय काल कुछ दिनों से लेकर तीन से पाँच सप्ताहों तक मिलता है। रोग मरक के रूप में स्कूल या परिवार में फैलता है।

**लक्षण**—रोग के पूर्व-रूप में कुछ पचन सम्बन्धी विकार पाया जाता है। फिर कुछ ही दिनों के अनन्तर कामला उत्पन्न हो जाती है। बालक की भूख जाती रहती है, उसकी अन्न-पान में अरुचि हो जाती है, जिह्वा मलावृत और दरारयुक्त हो जाती है। मन्द ज्वर हो जाता है। उदर में हल्की पीड़ा और वमन भी होता है। पेट नहीं साफ होता—विबन्ध हो जाता है। क्वचित् रोग के प्रारम्भ में एक दो दिनों तक पतले दस्त भी हो सकते हैं। तीन या चार दिनों में ज्वर कम हो जाता है। मल का वर्ण मिट्टी के रंग का ( Clay coloured ) हो जाता है। ( तिल पिष्टानिभं वर्चः )। कामला में पीलापन पहले नेत्र के श्वेत भाग पर व्यक्त होता है पश्चात् त्वचा भी पीली पड़ जाती है। मूत्र पित्त के कारण हल्दी के रंग का हो जाता है, उसका दाग कपड़े के ऊपर पड़ने लगता है ( हारिद्र मूत्रं त्वङ्नखाननः )। नाड़ी की गति मन्द पड़ जाती है और त्वचा पर खुजली होती है। यकृत आकार में दो या तीन अंगुल बढ़ जाता है और स्पर्शनाक्षम ( Tender ) हो जाता है। कई बार प्लीहा भी बढ़कर स्पर्श-लभ्य हो जाती है; परन्तु सदा नहीं। रक्त में ( Bilirubin ) की

मात्रा प्राकृत से दस गुनी अधिक हो जाती है। 'वाण्डेनवर्ग' की परीक्षा से उभय विधि प्रतिक्रिया ( Biphasic reaction ) अस्त्यात्मक पाई जाती है।

**वैकृतिकी** – यकृत का वेध करके उस स्थान के धातुओं की परीक्षा करने से कई परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं। यकृत कोषाणु शोथ और रक्ताधिक्ययुक्त मिलते हैं। यकृत के उपखण्डों ( Lobules ) के केन्द्रों में परिगलन ( Zonal necrosis ) भी पाई जाती है। इस विकृति का अधिकांश में सुधार हो जाता है और उपखण्ड अपनी प्राकृत दशा में आ जाते हैं।

**रोग-क्रम एवं साध्यसाध्यता**—रोगी की आकृति प्रायः अच्छी रहती है। एक सप्ताह के पश्चात् रोग में सुधार दिखलाई पड़ता है और दो या तीन सप्ताहों में बालक स्वस्थ हो जाता है। यकृत परिमाण में संकुचित होने लगता, पीलापन अधिक गाढ़ा होता चलता हैं, बालक सुस्त होता जाता है और कुछ ही दिनों में यकृत के परिगलन ( Necrosis os the Liver ) के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। कई बार यकृत का तान्तव भाव ( Fibrosis ) होता और उसमें बार-बार कामला का दौरा होने लगता है इससे यकृत का बहुत सा भाग नष्ट हो जाता है और अन्त में परिणाम घातक होता है।

**चिकित्सा** – कामला का कितना भी मृदु प्रकार का क्यों न हो बिस्तर पर लेटाकर पूर्ण विश्राम देना आवश्यक होता है। 'प्रोटीन' एवं 'कार्बोहाइड्रेट' प्रचुर मात्रा में देना चाहिए। पोषण के लिए 'लेमनेड' या बार्ली का यूष, मिश्री या ग्लूकोज मिलाकर पर्याप्त मीठा करके देना चाहिए। जब तक बालक कामला के चिन्हों से पूर्णतया मुक्त न हो जाय उसे चर्बीयुक्त पदार्थ खाने को न दें। बेंगर के फूड का प्रयोग, मलाई निकाला दूध, फलों के रस ( नीबू, संतरा, मोसम्मी ) फलों के मुरब्बे दिए जा सकते हैं। जब भूख अच्छी तरह से लगे तो कार्बोहाइड्रेट की प्रचुर मात्रा, मधु, फल, मुरब्बे, पावरोटी आदि देने चाहिए।

ओषधियों में रेचन के लिये कैलोमल ( $\frac{1}{2}$ ग्रेन ) दिन में तीन बार सोडाबाईकार्ब मिलाकर अथवा मैगनेशियम सल्फेट देना चाहिए। यकृत कोषा-

णुओं की रक्षा के लिए 'मेथियोनि', 'कैसीन', जीवतिक्ति बी का सम्पूर्ण उपयोग करना चाहिए।

आयुर्वेदीय—बालकों में कामला रोग में गुडूची सत्व १७५ मि०ग्रा० और शंख भस्म ६२ मि० ग्रा० मिलाकर दिन में तीन बार दे। पेट की सफाई के लिए अमल्ताश, मुनक्का, गुलकन्द, किशमिश का प्रयोग करे या मृदु रेचक ओषधियों में यष्टयादि चूर्ण का प्रयोग करे। नवायसलौह का ६२ मि० ग्रा० की मात्रा में सुबह शाम हल्दी के चूर्ण या दारुहल्दी के चूर्ण के साथ प्रयोग लाभप्रद सिद्ध होता है। धात्र्यरिष्ट का प्रयोग भी उत्तम है। पुनर्नवा के ताजे रस का प्रयोग, मिश्री का अधिक मात्रा में शर्बत बनाकर प्रयोग, फलों के ताजे रस, मूली, मूँग की दाल, पुराना चावल, पपीते, करैले और परवल के शाक का उपयोग उत्तम होता है। योगों में फलत्रिकादिकषाय-हरड़, बहेरा, आँवला, गिलोय, अडूसा, कुटकी, चिरायता और नीम की छाल सममात्रा में लेकर पानी में खौलाकर काढ़ा बनाकर देना लाभप्रद पाया गया है। मात्रा-१-२ चम्मच।

## तीव्र पीत यकृत-शोष

## ( Acute yellow atrophy of the liver )

बाल्यावस्था में विरलता से मिलने वाला रोग है। रोग का प्रारम्भ उपसर्ग से उत्पन्न यकृच्छोथ के सदृश ही होता है। रोग का प्रारम्भ कभी फिरंग की चिकित्सा करते हुए संखिया के अतिशय प्रयोग से या क्लोरोफार्म की विषाक्तता के परिणामस्वरूप भी होता है। कई बार फासफोरस की विषाक्तता में भी यह रोग पैदा होता है।

लक्षण—प्रारम्भिक लक्षण संक्रमण जन्य यकृत-शोथ के सदृश ही मिलते हैं। आगे चलकर कामला अधिक गहरी हो जाती है, आमाशय, आंत्र एवं त्वचा से रक्तस्राव होने लगता है। मूत्र कम मात्रा में आता है और उसका वर्ण अत्यधिक मात्रा में पित्त के उत्सर्जित होने से अत्यन्त गाढ़ा-पीला हो जाता है। मूत्र में शुक्लि ( Albumin ) आती है। यकृत आकार में छोटा होता चलता है, शीघ्र ही वह इतना छोटा हो जाता है कि उसका स्पर्श करना भी

कठिन हो जाता है, यकृत की मन्दता का क्षेत्र घटता हुआ या दो पर्शुकान्तरीय क्षेत्र तक सीमित हो जाता है अथवा क्वचित् पूर्णतया लुप्त हो जाता है।

जब ज्वर उतर कर प्राकृत से भी कम हो जाता है उस समय रोगी में विषमयता बड़ी तीव्र स्वरूप की हो जाती है। पित्त विषमयता ( Cholacmia ) कहते हैं। रोगी में वातिक लक्षण प्रमुख हो जाते हैं कुछ ही दिनों में बालक पूर्णतया बेहोश होकर संन्यस्त हो जाता है और बीच-बीच में आक्षेप आते हैं।

**वैकृतिकी**—मृत्यूत्तर परीक्षा से यकृत बहुत सिकुड़ा हुआ ( Shrunken and soft ) और मृदु दीखता है। उसके ऊपर का सम्पुट ( Capsule ) झुर्रीदार हो जाता है। काट कर देखने से उस पर लाल और पीले क्षेत्र दिखलाई पड़ते हैं। लाल क्षेत्रों में यकृत के कोषाणुओं का मेद का व्यपजनन ( Fatty degeneration ) पाया जाता है और पीले क्षेत्रों के यकृत के सार ऊतक ( Parenchyma ) का नाश तथा रक्तस्राव पाया जाता है।

शुभाशुभ—तीव्र स्वरूप का रोग सदैव घातक होता है। रोग मृदु स्वरूप का हुआ तो कई सप्ताहों में सुधार की कुछ आशा रहती है।

**चिकित्सा**—यदि रोग का निदान प्रारम्भ में ही हो जाय तो शिरावेध, ( Venesection ) उत्तम रहता है। परन्तु आगे चलकर शिरा द्वारा सतत विन्दु पद्धति ( Continuous drip ) से लवण विलयन + ५ प्रतिशत ग्लुकोज + २½ प्रतिशत कैसीन हाइड्रोलाइसेट ( Casen hydrolysate ) देना चाहिए। इस चिकित्सा को कई दिनों तक चलाते रहना चाहिये।

## बालयकृद्दाल्युदर

## ( Indian childhood cirhosis )

बाल्यावस्था में यकृत का बढ़ना कई कारणों से पाया जाता है। यकृत के धातुओं के नाश करने वाले बहुत से कारण हो सकते हैं। जीर्ण कालीन मदात्यय के कारण बड़ी उमर के आदमियों को यकृद्दाल्युदर होता है; परन्तु बच्चों में ऐसा प्रायः नहीं होता। पित्त नलिका में अवरोध पैदा करने वाले

कारण जैसे पित्ताश्मरी का स्रोत में अँटकना या अग्न्याशय के सिर पर किसी अर्बुद की उपस्थिति इन कारणों से भी यकृत की वृद्धि होती है। बालकों में ये कारण मिल सकते हैं। बाल यकृद्दाल्युदर भी कई प्रकार के होते हैं। यथा—

१—**पित्तवाहिनी निरोध जन्य** ( Biliary )—इस रोग में कामला पाई जाती है।

२—**'पोर्टल' संवहन निरोध जन्य** ( Portal )--यह शोथ एवं जलोदर के उपद्रव से युक्त होता है।

३—**यकृत तथा 'लेण्टी कुलर' कोशिका के व्यपजनन से** (Wilson's disease )--इनमें 'पोर्टल' अवरोध के साथ 'आधारीय गण्डिका ( Basal ganglia ) का भी अपचय होता है। इसमें वात-लक्षण, मस्तिष्क दौर्बल्य ( Mental retardation ) तथा आकर्ष ( Torsion Spasm ) आदि प्रमुखतया मिलते हैं।

इस रोग में यकृत के प्राकृत कोषाणु नष्ट हो जाते हैं और उनके स्थान पर सूत्र बन जाते हैं। इन सूत्रों का बनना विकार के ऊपर आश्रित रहता है। जितनी ही संख्या में कोषाणु नष्ट होंगे उसी अनुपात में उनके स्थान प सूत्र या तन्तु ( Fibrosis ) भी होंगे। इस प्रकार यकृत के सारऊतक के ( Parenchyma ) कोथ युक्त हो जाते हैं और उनके स्थान पर खर स्पर्श अनियमित आकार की व्रणवस्तु ( Scarring ) बनती है। बहु खण्डीय यकृद्दाल्युदर ( Multi Lobular cirrhosis ) इनके बीच-बीच में अविकृत या स्वस्थ यकृत कोषाओं के टापू मिलते हैं जिनमें वृद्धि होकर गाँठदार रचना यकृत की ( Nodular Cirrhosis ) हो जाती है। कई बार ये परिवर्तन संक्रमणी यकृत शोथ ( Infective Hepatitis ) के परिणाम स्वरूप भी होते हैं।

कई बार सहज परिस्थितियों में ( Congenital Hepatitis ) के कारण भी इस प्रकार के परिवर्तन यकृत में पाये जाते हैं। उस दशा में परिवार की भावी सन्तानें रोग से प्रभावित होती हैं। सम्भवतः गर्भावस्था में ही माता के शरीर से कुछ इस प्रकार के विष गर्भ में संचरित हो जाते हैं जो उस अवस्था में ही यकृत को दूषित कर देते हैं। बहुत संभव है कि पति-पत्नी के गण-नाड़ी

दोष (Rhesus incompatibility) कुछ परिवारों में रोगोत्पादन में सहायक होते हों। यह भी संभव है कि पोषण सम्बन्धी दोष जिनमें कुछ पोषक तत्त्वों की कमी पड़ती है, लम्बे समय तक बने रह कर रोगोत्पादन में भाग लेते हों। दूसरी तरफ यकृत में अधिक विस्तृत तान्त्वी भाव ( Fibrosis ) होने से यकृत स्पर्श में कड़ा, कणदार, बृहद् परिणाम का और पित्तरंजित पाया जाता है। सम्भव है इस दशा के पैदा करने में सहज विकार पित्तनलिका का जन्मजात ( Congenital obliteration ) हेतु होता हो।

**लक्षण** यह रोग बालकों में १-२ वर्ष की आयु में अधिकतर मिलता है। इसमें बालक की वृद्धि रुक जाती है। उसका कद नाटा हो जाता है। शारीरिक विकास के रुद्ध होने पर भी मानसिक विकास ठीक रहता है। उदर बढ़ता है। उसके दाहिने भाग में यकृत की वृद्धि मिलती है जो स्पर्श में कड़ा होता है परन्तु उसमें स्पर्शनाक्षमता ( दबाने पर दर्द ) नहीं रहता। कई बार प्लीहा भी बढ़ती है। उदर के ऊपर की शिरायें फूल जाती हैं और स्पष्टतया दिखलाई पड़ने लगती हैं। इस रोग के उपद्रव रूप में कामला और जलोदर पैदा होता है। ये दोनों उपद्रव घातक स्वरूप के होते हैं, रोग असाध्य हो जाता है। पित्तमयता से बालक की मृत्यु होती है। चिकित्सा लाक्षणिक होती है।

**चिकित्सा**—इस रोग में पथ्य के रूप में बालक को अधिक मात्रा में कार्बोहाइड्रेटयुक्त आहार अधिक मात्रा में देना चाहिये, उससे कम मात्रा में वसायुक्त आहार देना चाहिये। रोगी को प्रारम्भिक अवस्था में प्रोटीनयुक्त आहार पर्याप्त देना हितकर है; परन्तु जब यकृत क्रिया विकृत हो जावे तो प्रोटीन की मात्रा वाले भोजन में कमी कर देती है। जीवतिक्ति सी एवं बी का प्रचुर सेवन कराना चाहिये। गोमूत्र का सेवन लाभप्रद रहता है—१ चम्मच की मात्रा में दिन में तीन बार। कालमेघ या यवतिक्ता का प्रयोग ताजे स्वरस के रूप में या लिक्विड एक्सट्रैक्ट कालमेघ के रूप में १० से २० बूँद की मात्रा में करे। फलों के रस, टमाटर, पपीता, करैला और परवल का भी प्रयोग करना चाहिए। अमृतारिष्ट या कुमार्यासव का उपयोग भी भोजन के उपरान्त

१ चम्मच की मात्रा में करना चाहिए। रसौषधों में लोकनाथ रस या यकृदरि लौह के योग बड़े उत्तम पाये जाते हैं। मात्रा ६२ से १२५ मि० ग्रा०। शरपुंखा के रस और मधु से। बालक के अभ्यंग के लिए महाबला तैल देना चाहिए। कच्चे यकृत ( भेड़ या बकरी का ) का कीमा बनाकर या उसको उबाल कर स्वरस निकाल कर टमाटर या सन्तरे के रस में देना चाहिए। पेटेण्ट योगों में 'एमाइनोजाइम', 'डेल्फिकाल', 'विटामिन बी कम्प्लेक्स' जिसमें 'मेथियोनीन', 'मियोनीन', 'इनासिटाल' मिले हुए हों, देना चाहिए। शरपुंखा का उपयोग चूर्ण, स्वरस या क्वाथ के रूप में करने से उत्तम लाभ पाया जाता है। इसके लिवफिफ्टी टू ( हिमालय ) तथा लिवोमिन ( चरक ) तथा लिवोटोन ( ई० आई० पी० ) का सेवन भी लाभप्रद रहता है।

## यकृत के अन्य रोग

बहुत से अन्य यकृत के रोगों का भी उल्लेख ग्रन्थों में पाया जाता है जैसे फिरगंज यकृद्दाल्युदर ( Syphilitic Cirrhosis ), यकृत का मेदव्यपजनन ( Fatty degenaration ), यकृत का क्षय ( T. B. of Liver ) अर्बुद एवं पुटीविकार (हाइडेटिड सीस्ट)। परन्तु ये सभी रोग विरलता से मिलते हैं। साथ ही इनकी चिकित्सा उपर्युक्त विधि के अनुसार ही की जाती है। अतएव इनका नामोल्लेख मात्र ही करके सन्तोष करना पड़ रहा है, क्योंकि कई बार तो इन व्याधियों का निदान भी जीवितावस्था में करना कठिन होता है। यकृद्दाल्युदर के निदान में इन रोगों से विभेद करने की आवश्यकता पड़ती है।

यकृत में मेद का व्यपजनन करने वाले एक और रोग का वर्णन आधुनिक बाल-रोगों की पुस्तकों में पाया जाता है, जिसे क्वाशियोर्कर कहते हैं।

**क्वाशियोर्कर ( Kwaseiorkor )**—अफ्रीका में घाना और गोल्ड कोस्ट के देशों में यह रोग १ वर्ष से ५ वर्ष तक की आयु के बालकों में बहुलता से पाया जाता है अधुना संसार के उष्ण कटिबन्ध के बहुत देशों में विस्तृत रूप से उपलब्ध हो रहा है। यह रोग उन बच्चों में होता है जिनके प्रधान भोजन में उत्तम प्रोटीन का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त और बहुत

प्रकार के प्रोटीन एवं जीवनीय द्रव्यों की कमी भोजन में पाई जाने से, जिनमें 'मे।थयोनीन' की अल्पता मुख्य स्थान रखती है, यह व्याधि होती है। माता के स्तन पर पलने वाले शिशुओं में, दूसरी संतान हो जाने से प्रथम का स्तनपान छूट जाता है। अब इस बालक को निरामिष भोजन पर रखकर पालने से उसमें 'प्रोटीन' की कमी एवं तज्जन्य पोषण की कमी से इस रोग के होने की संभावना अधिक रहती है।

**लक्षण तथा चिन्ह**—त्वचा की आभा नष्ट हो जाती है पेशियों का शोष होकर शरीर कृश हो जाता है। अतिसार से बच्चा और क्षीण हो जाता है। उसका स्वाभाविक रंग बदल जाता है। केशों के रंग बदल जाते हैं, वे रेशम जैसे भूरे या लाल हो जाते हैं। शाखा एवं मुख पर शोफ हो जाता है। बालक का विकास रुक जाता है।

कई प्रकार की त्वचा के विकार हो जाते हैं--शाखा एवं मध्य शरीर पर चमड़ा मोटा होकर गज चर्म ( Elephant skin ) या छिपकली जैसे चर्म ( Lizard skin ) हो जाता है। पचन-संस्थान भी प्रभावित होता है—अरुचि, पचन दोष, और दुर्बलता आ जाती है। यकृत में मेद का व्यपजनन ( Fatty degeneration ) हो जाता है। रक्ताल्पता आमतौर से मिलती है। मूत्र में 'शुक्लि' ( Albumin ) भी मिल सकती है।

उत्तम चिकित्सा के अभाव में मृत्यु अनिवार्य है। लम्बे समय तक उपचार से सुधार की भी सम्भावना रहती है। पथ्य में 'प्रोटीन' सेवन की प्रचुर व्यवस्था करनी चाहिए। यह प्रोटीन सुपाच्य भी होना चाहिये। इसके लिये 'स्किम्ड' दूध उत्तम रहता है। आवश्यकतानुसार रक्त-भरण ( Bloop transfusion ) भी करना चाहिए।

★

# अध्याय १३

## गला, नाक और कान के रोग

कंठशालूक ( Simple Hypertrophy of the Adenoids )—कई बार यह रोग जन्म से होता है जिससे बच्चे की नाक से घुरघुर की आवाज़ होती है और मुँह खोलकर साँस लेता है। नासा में एक प्रकार के अवरोध का अनुभव करता है। इस कठिनाई के कारण माता के स्तन पीने में बालक को कठिनाई होती है। फलतः भ्रमवश लोग यह समझने लगते हैं कि बालक को माता का दूध ठीक नहीं पड़ रहा है और उसके मातृ स्तन्य का पीना बन्द करा दिया जाता है। मुँह से साँस लेने की वजह से बालक की जीभ सूख जाती है और उसको मुखपाक हो जाता है, नासावरोध के कारण फुफ्फुस का पूरा विस्फार भी नहीं हो पाता है। कई बार चेहरे पर श्यावता भी पायी जाती है।

रोग का निदान करते समय फिरंग रोग का भी ध्यान रखना चाहिये क्योंकि फिरंग के उपद्रव स्वरूप में कण्ठशालूक प्रायः पाया जाता है।

चिकित्सा—शस्त्र कर्म के द्वारा शालूक का निर्हरण करना चाहिये।

## तीव्र तुण्डिका शोथ

## ( Acute Tonsillitis )

हैतुकी—यह रोग सभी आयु के बच्चों में प्रायः पाया जाता है। अधिकतर आर्द्र एवं शीत ऋतुओं में मिलता है। ऋतु में सहसा परिवर्तन होने से रोग के अधिक होने की सम्भावना रहती है। गले की खराबी प्रायः संक्रामक स्वरूप की होती है और पाठशाला एवं छात्रावास में फैलकर मरक ( Epidemic ) का रूप ग्रहण कर लेती है। साथ ही एक बार किसी बालक का गला खराब हुआ तो वह बार-बार, वर्ष में कई बार पीड़ित हो जाया करता है। विकारी गोलाणुओं में रक्तस्रावी मालाकार गोलाणु ( Haemolytic

streptococcus ) रोगोत्पादन में सबसे अधिक भाग लेता है। इसके अतिरिक्त अन्य जीवाणु ( Pneumostaphylo Cocci, B. Influenza तथा रोहिणी का जीवाणु ) भी रोग उत्पादन में कारण भूत होते हैं।

**लक्षण**—रोग का प्रारम्भ कई बार वमन से होता है। दूसरी तकलीफ निगलने में कठिनाई भी पैदा होती है। गला रक्ताधिक्य युक्त होकर भीतर से देखे जाने पर चमकता हुआ और रक्ताधिक्य युक्त मिलता है। हनु ( जबड़े ) के नीचे की लसीका ग्रन्थियाँ शोथ युक्त हो जाती हैं। रोगी में ज्वर हो जाता है।

**अति तीव्र प्रकार** ( Follicular Tonsillitis )—तुण्डिका शोथ का तीव्रतम प्रकार है। रोग का आक्रमण अचानक होता है। वमन आमतौर से सर्व प्रथम पाया जाता है। ज्वर होता है। तापक्रम १०३° से १०४° फे० तक हो जाता है। जीभ मलावृत और दरारयुक्त हो जाती है, साँस से बदबू आने लगती है। ग्रीवा के हिलाने में भी बालक को दर्द होता है, फलतः वह ग्रीवा को स्थिर करके रखता है। कुछ ही घण्टों में बालक सुस्त हो जाता है, कई बार प्रलाप होने लगता है। मूत्र त्याग की मात्रा कम हो जाती है उसका वर्ण गाढ़ा पड़ जाता है। उसमें शुक्लि (Albumin) भी आने लगता है। विबंध हो जाता है क्वचित् अतिसार भी पाया जाता है। गले की परीक्षा करने पर गले की श्लेष्मलकला लाल रंग की सूजी हुई, तुण्डिका शोथ युक्त और रक्तवर्ण की एवं उसके ऊपर पूय या पीले रंग का मोती जैसा संचय दिखलाई पड़ता है। कई बार इस पूय के संचय का रूप एक झिल्ली जैसा हो जाता है जिससे निदान में शंका होती है और रोहिणी ( Diphtheria ) का भ्रम होने लगता है। तुण्डिका से सम्बद्ध लसीका ग्रन्थियाँ बढ़ती हैं और बाहर से गले में हनु के नीचे दिखलाई पड़ने लगती हैं अथवा स्पर्श के द्वारा उनकी प्रतीति की जा सकती है। परिणाम में ये कबूतर के अण्डे के समान हो जाती हैं। यदि रोग में कोई अन्य उपद्रव नहीं हुआ तो ७२ घण्टे के बाद स्वेद के साथ ज्वर उतर जाता है।

इस प्रकार तुण्डिका में आगे चलकर पूयोत्पत्ति होती है, यदि पूय का निकलना सम्भव नहीं हुआ तो तुण्डिका के भीतर पूय भर जाता है। रोग का क्रम लम्बा हो जाता है, ग्रीवा की ग्रन्थियाँ भी शीघ्रता से उपशमित नहीं होतीं और लम्बे अर्से तक बनी रहती हैं। परिणामस्वरूप तुण्डिका विद्रधि, मध्यकर्ण शोथ ( Otitis Media ), ग्रीवा की ग्रन्थियों में पूयोत्पत्ति प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ विशेषज्ञों के विचार से तीव्र तुण्डिका शोथ में अगर ज्वर ७२ घण्टे में नहीं उतर जाता तो निश्चित रूप से कोई न कोई उपद्रव चालू हो गया है, ऐसा समझना चाहिये।

**उपद्रव**—तुण्डिका-शोथ में निम्नलिखित उपद्रवों का होना संभव है। जैसे, परितुण्डिका विद्रधि ( Quinsy ), गल पश्चविद्रधि ( Reteropharyngeal abscess ) मध्यकर्ण शोथ, गले की लसीका ग्रन्थियों का पाक ( Suppurative cervical adenitis ), तीव्र श्वसन संस्थान का शोथ ( Acute Pulmonary Inflammation ) तथा पूतिमयता ( Septicaemia ), दूसरे वर्ग के उपद्रवों में आमवातज संधिवात ( Rheumatic Polyarthritis ), आमवातज हृच्छोथ ( Rheumatic Carditis ), रक्तचित्तिता ( Purpura ) तथा त्वचा पर विस्फोटों का निकलना ( Erythematous rashes )।

**चिकित्सा**—रोगी बालक को शय्या के ऊपर लेटाकर पूर्ण विश्राम करावे। उसे पृथक करके किसी एक कमरे में रखे जहाँ पर दूसरे बालकों का प्रवेश न होवे। आहार में उसके लिए द्रव भोजन और फलों के रस के अलावे कुछ न दे। जब तक गले में पीड़ा रहे उसका स्वेदन ( सेंक ) भी उत्तम होता है। पीड़ा के शान्त होते ही स्वेदन भी बन्द कर देना चाहिये क्योंकि अधिक स्वेदन से गले की फूली हुई लसीका ग्रन्थियों में पूयोत्पत्ति का भय रहता है।

ओषधियों में आयु के अनुसार पूर्ण मात्रा में शुल्वावर्ग की ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। 'पेनिसिलिन' भी उसी प्रकार लाभप्रद होता है। 'पेनिसिलिन' के बार-बार के सूचीवेध बालक के लिए कष्टप्रद होते हैं। 'पेनिसिलिन' 'लाजेन्जेज' का उपयोग विशेष लाभदायक नहीं होता है; अतएव

'पेनिसिलिन' के मुख से दिये जाने वाले योगों का प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए क्रिस्टापेन ४ ( ग्लैक्सो ) या "पेण्टिड" ( ५ लाख इकाई प्रति-मात्रा ) का उपयोग करे। इनमें प्रथम वाला योग तो गोलियों के रूप में मिलता है और दूसरा वाला योग गोली एवं पेय के रूप में। दूसरे वाले योग का १ चम्मच ( Tea Spoonful ) ३ लाख यूनिट की शक्ति का होता है। १ चम्मच भर दिन में चार बार प्रति ६ घण्टे पर देते रहना चाहिए। यदि रोग की स्थिति बहुत खतरनाक हो तो प्रारम्भ में सूचीवेध से 'पेनिसिलिन' देकर पश्चात् मुख से दिये जाने वाले योग की व्यवस्था करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार बृहत्तर क्षेत्र के प्रतिजीवी ओषधियों का जैसे 'मिस्टेक्लिन वी' बालकोपयोगी का व्यवहार भी लाभप्रद रहता है।

स्थानिक चिकित्सा के रूप यदि बच्चा बड़ी उमर का हो और कवल ( Gargle ) कर सकता हो तो नमक और फिटकिरी को गुनगुने जल में छोड़कर कुल्ली करे। गले के अन्दर लेप की व्यवस्था अच्छी रहती है। यदि शिरःशूल बहुत अधिक हो तो पीड़ाशमन के लिए एस्प्रिन ५ ग्रेन की मात्रा में दिया जा सकता है। एक सामान्य मात्रा एस्प्रिन ५ ग्रेन + कैफीन साइट्रास २ ग्रेन + फेनासिटीन १ ग्रेन मिलाकर एक मात्रा दी जा सकती है। बालक की आयु के अनुसार मात्रा आधी या तिहाई भी की जा सकती है।

गले के बाहर वाली लसीका ग्रन्थियों में पाक होकर पूयोत्पत्ति हो जाय तो उसका भेदन करके पूय का निर्हरण करे। अन्य उपद्रवों का यथाविधि उपचार करे। शुल्वोषधियों और पेनिसिलिन एवं प्रतिजीवी योगों के प्रयोग से विविध उपद्रवों की संभावना आज के युग में बहुत कम हो गई है, फिर भी यदि उत्पन्न हो जायँ तो उनका उपचार तद् तद् अधिकारों में वर्णित विधियों के अनुसार करे।

**परितुण्डिका विद्रधि**—( Peritonsilar abscess or Quinsy )—तुण्डिका के ऊपर अधिकतर एक पार्श्व में पूय का संग्रह होकर उभार या सूजन पैदा होती है जिससे मृदु तालु उभर जाती है—गलशुण्डी ( Uvula ) स्थानान्तरित हो जाती है। उच्च तापक्रम का ज्वर हो जाता है जो लगातार

कई दिनों तक चलता रहता है। चिकित्सा में शाल्यतंत्रीय उपचार भेदन और पूय का निर्हरण करना आवश्यक होता है। इस रोग का पुनरावर्त्तन भी देखा जाता है—इसलिये विद्रधि के रोपण के अनन्तर तुण्डिका (Tonsil) का ही शस्त्रकर्म से निर्हरण करा देना सबसे उत्तम होता है।

**गल पश्चविद्रधि** (Retropharyngeal abscess)—तुण्डिका के तीव्र शोथ के परिणाम स्वरूप कम आयु के बच्चों में इस प्रकार की गल विद्रधि तथा अधिक उमर के बालकों पर परितुण्डिका विद्रधि ( Quinsy ) पैदा होती है। गलविद्रधि में निम्नलिखित लक्षण एवं चिह्न मिलते हैं। ज्वर, तीव्र वमन, खाने में अनिच्छा, चिड़चिड़ापन, बोलने में असमर्थता, निगलने और साँस लेने में कठिनाई, श्वास की गति बढ़ी हुई, श्वासावरोध, चेहरे पर नीलिमा, चेहरा फूला हुआ, हनु के नीचे की गाँठें फूली हुई और स्पर्शनाक्षम (Tenderness ) पाई जाती हैं। रोग की निश्चिति के लिए सावधानीपूर्वक बालक की जीभ के ऊपर से अपनी तर्जनी अँगुली के अग्रभाग को ले जाना चाहिये और गले के पीछे की दीवाल पर स्पर्श करके एक मृदु पिलपिली सूजन प्रतीत की जा सकती है। चिकित्सा में भेदन और पूय का निर्हरण आवश्यक होता है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि बालक को ऐसी स्थिति में रखा जाय ताकि वह पूय को श्वसन मार्ग में न निगल जाये।

## तुण्डिका और कण्ठ शालूक का जीर्ण संक्रमण
## ( Chronic infection of Tonsil & adenoids )

तीव्र स्वरूप के पाक के बार-बार होने के फलस्वरूप इन अवयवों का जीर्ण शोथ पैदा होता है। इस प्रकार का जीर्ण उपसर्ग प्रायः सभी आयु में मिलता है; फिर भी दो वर्ष से अधिक उम्र वाले बालकों में ज्यादातर पाया जाता है। लक्षण दो प्रकार के होते हैं—१—स्थानिक २—सार्वदैहिक।

**स्थानिक लक्षण**—शालूक की अति पुष्टि ( Hypertrophy ) के कारण बालक को एक विशेष प्रकार की आकृति हो जाती है। वह कुछ मन्द या सुस्त दिखलाई पड़ता है, उसकी नासिकायें ( नथुने ) छोटे दीखते हैं, नासा पुट

अन्दर की ओर दबे हुए मिलते हैं, मुख निरन्तर खुला रहता है, तालु सँकरे और कुछ ऊपर को उठा मिलता है। उच्चारण सानुनासिक ( नाक से ) होता है, सोने में नाक के बजने का वृत्त मिलता है। केवल तुण्डिका ( Tonsils ) की वृद्धि हो तो स्थानिक लक्षण कोई भी नहीं मिलता, कई बार वमन का होना या भोजन में अरुचि पाई जाती है।

परन्तु तुण्डिका वृद्धि किसी उपसर्ग के कारण उत्पन्न हुई हो तो नासा से स्राव या कर्णस्राव पाया जाता है। जबड़े के कोण पर गले के भीतर तुण्डिका की वृद्धि होती है अतएव उसके सम्बन्ध में पाई जानेवाली गले की सभी लसीका ग्रन्थियाँ बढ़ी मिलती हैं। मुख से दुर्गन्ध भी आती है।

**सार्वदैहिक लक्षण**—कमजोर स्वास्थ्य, कुछ रक्ताल्पता, गले में लसीका ग्रन्थियों की माला, क्वचित् बगल, ( axilla ) की ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई, प्लीहा स्पर्शलभ्य, ज्वर या तापक्रम कुछ बढ़ा हुआ, मूत्र में किंचित् मात्रा में शुक्लि ( Albumin ) का मिलना, श्लेष्मल-पूयाभ ( Mucopus ) स्राव के बार-बार निकलते रहने से आमाशय और आंत्र का उपसृष्ट होकर पचन दोष, क्षुधा की कमी, प्रातःकालीन वमन, मल में अपचित मण्ड और आम ( Excess of mucous ), कभी-कभी तीव्र उदरशूल और वमन के दौरे, नाभि के पास स्पर्शनाक्षमता जिससे उण्डुकपुच्छ शोथ ( Appendicitis ) का भ्रम हो जावे और गले की परीक्षा से जीर्ण तुण्डिका शोथ हेतु प्रतीत हो तो इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं।

तुण्डिका और शालूक के जीर्ण शोथ के फलस्वरूप वक्ष की बनावट में भी दोष आता है। साथ ही श्वसनी के उपसृष्ट हो जाने से श्वनीशोथ ( Bronchitis or Trachiatis ) हो जाता है जिससे खाँसी की तकलीफ हमेशा बनी रहती है। यदि उपसर्ग का प्रसार और अन्दर की ओर हुआ तो श्वसनी फुफ्फुस शोथ ( Bracho-pneumonia ) भी हो सकता है। कई बार तमकश्वास ( Asthmatic Bronchitis ) के लक्षण जिसमें साँस का फूलना प्रमुख लक्षण है, उत्पन्न हो सकता है।

गले की पुरानी खराबियों की वजह से कई प्रकार के वातिक या मस्तिष्क सम्बन्धी भी लक्षण पैदा होते हैं। बड़ी उम्र के बालकों में मस्तक में पीड़ा ( Frontal headache ), चक्कर आना एवं बेहोशी मिल सकती है। श्वसनमार्ग के अवरोध के कारण निद्रा की कमी, बेचैनी, सोने में चौंकना, शयन काल में अचानक नींद का टूट जाना, रात में अचानक श्वासावरोध ( Nocturnal Croup ), शय्या मूत्र तथा अपस्मार जैसे आक्षेपों का आना भी मिल सकता है।

**चिकित्सा**—जीर्ण तुण्डिका शोथ और कंठशालूक में औषध चिकित्सा असंतोषजनक रहती है। क्योंकि इन अवयवों में बार-बार शोथ और पाक होने के परिणामस्वरूप-व्रण-वस्तु या तन्तवीभाव ( Fibrosis ) हो जाता है जिससे सम्पूर्ण अवयव इस सूत्र जाल में तान्तव धातु के द्वारा आवृत हो जाता है। कोई भी दवा इन अवयवों के सम्पर्क में नहीं आ सकती इसलिए औषध द्वारा चिकित्सा अकिञ्चित्कर होती है।

अतः इस अवस्था में शल्यतंत्रीय उपचार ही एक मात्र आधार रहता है। शस्त्र-कर्म के द्वारा इनका ( Enlarged Tonsil & Adenoide ) पूर्णतया निर्हरण ( Enucleation ) करना चाहिए। यदि निर्हरण संभव नहीं हुआ तो यह विकार पूतिकेन्द्र का कार्य करता है और शरीर के किसी अन्य भाग में कोई न कोई उपद्रव पैदा करता है। जैसे आमवात या पूतिमयता ( Rheumatism or Septicaemia )। कई बार शस्त्र-कर्म के अनन्तर भी तत्स्थानगत दोषों के निगल जाने से भी कई उपद्रव ( जैसे—Broncho Pneumonia, Pulmonary Abscess Haemorrhagic nephritis ) हो सकते हैं।

**आयुर्वेदोपचार**—जीर्ण तुण्डिका शोथ की अवस्था में एक बाह्य लेप बड़ा उत्तम पाया गया है। इसका स्थानिक लेप गले में बाहर की ओर जबड़े के नीचे किंचित् गर्म करके करना चाहिए। शहतूत की पत्ती, अरहर की पत्ती, अंधाहुली ( अधोपुष्पी ) और काली मिर्च। खाने में मधुयष्टि चूर्ण का प्रयोग लाभप्रद है। चित्रक-हरीतकी की मात्रा ३-६ ग्राम दिन में दो बार गर्म दूध या

जल से देना भी उत्तम रहता है। इस योग का उपयोग जीर्ण प्रतिश्याय, टांसिल, एडोनायडस तथा गले की पुरानी बीमारियों में उत्तम होता है।

**आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से—**

नासा के रोग—नासिका में कई रोग बालकों में मिल सकते हैं—यथा १. नासा द्वार का जन्मजात एक पार्श्वीय या उभय पार्श्वीय अवरोध। इसमें शिशुओं को साँस के आवागमन में कठिनाई होती है। चिकित्सा शल्यकर्मीय होती है। २. प्रतिश्याय ३. नासिका गत रोहिणी रोग ( डिप्थीरिया ) ४. नासागत शल्य ( विजातीय द्रव्य ) ५. तीव्र या जीर्ण नासिका कला शोथ ६. नासा-विवरशोथ तथा ७. नासागत रक्तपित्त। इनमें कुछ महत्व के रोगों की चर्चा नीचे की जा रही है :—

**नासा से रक्तस्राव नासागत रक्त-पित्त** ( Epistaxis )—बड़ी उम्र के बालकों में पाया जाने वाला यह एक आम रोग है। हेतु-अनेक हैं जैसे—अभिघात, स्थानिक उपसर्ग ( जैसे प्रतिश्याय, जीर्ण प्रतिश्याय रोमान्तिका ), सार्वदैहिक रोग [ जैसे रक्तचित्तिता ( Purpura ), ] अभ्यास या आदत जैसे नाक का कुरेदना, आंत्रिक ज्वर पूर्व रूप में भी नासा से रक्तस्राव पाया जाता है। आमवातिक हृद्रोग तथा अपूर्ण विश्राम। बार-बार नाक से होनेवाला रक्तस्राव कई बार नासा पुट के विकारों में भी होता है।

कई बालकों में नासागत रक्तस्राव रात में सोने में होता है जिसको वे निगलते चले जाते हैं। प्रातःकाल सोकर उठने पर आमाशय में इकट्ठा हुआ रक्त कै के द्वारा निकलता है। अतः रक्त वमन का वृत्त बालकों में मिले तो सदैव उसके नासा और गले की परीक्षा करनी चाहिए।

**चिकित्सा**—नासागत रक्तस्राव स्वयमेव बन्द हो जाता है। आमतौर से रक्तस्राव एक ही नासा छिद्र से होता है। इसलिए उस तरफ के नासा छिद्र को दबाना चाहिए। कुछ ही मिनटों में रक्तस्राव बन्द हो जाता है। यदि रक्त-स्राव का होना जारी रहे, तो नासारन्ध्र में एड्रीनैलीन की वर्ति ( एड्रीनैलीन १ : १००० शक्ति के घोल में वर्ति को भिगोकर ) को भर देना चाहिए अथवा

रिबन गाज को लिक्विडपैराफीन या वेसलिन से तरकर भरना चाहिए। रक्तस्राव के अधिक तेज होने पर रक्त स्तंभक लसीका ( Haemostatic serumlike Coagulin Ciba ) या 'क्लाडेन' का सूचीवेध करना चाहिए। साथ ही जीवतिक्ति 'सी' 'के' एवं कैल्शियम लैक्टेट का प्रयोग करना चाहिए। यदि रक्तस्राव नासा पुट ( Septum ) के किसी अर्बुद के कारण हो तो दाहकर्म ( Couterization ) के द्वारा उसको ठीक करना चाहिए। स्पीप्टोसिड या स्टीप्टोविट नामक योग का उपयोग भी लाभप्रद रहता है।

**आयुर्वेदोपचार**--दूर्वास्वरस-हरी या सफेद दूब के रस का नाक से देना या दूर्वाद्य घृत का नस्य भी सद्यः रक्तस्तंभक होता है। इस प्रकार के रक्तस्राव में कच्चे या सूखे आँवले को पीसकर उसका सिर के ऊपर लेप करना भी रक्तस्राव को बन्द करता है। इन बालकों का चिकित्सा में पित्त शामक उपचार करना चाहिए। प्रायः यह रोग ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में पाया जाता है, बालक को पर्याप्त मात्रा में सुलाने की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि रात्रि में निद्रा के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाता हो तो उसके लिए दिन में सोने की व्यवस्था करनी चाहिए। खाने में उसे गुलकन्द, मुनक्का, किशमिश, मिश्री, शर्बत आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। रात में सोते वक्त एक मृदु रेचक जैसे यष्ट्यादि चूर्ण २ ग्राम की मात्रा में अवश्य देना चाहिए। कोष्ठ शुद्धि हो जाने से बार-बार होनेवाला नासागत रक्तस्राव बन्द हो जाता है। औषध के रूप में खाने के लिए प्रवाल पिष्टि १२५ मि० ग्राम और गुडूची सत्व १ ग्रा० मिलाकर सुबह-शाम दिन में दो बार घी और चीनी के साथ देना चाहिये।

## तीव्र प्रतिश्याय (तीव्र नासाकलाशोथ-तीव्रस्रावी नासाशोथ)
## ( Acute catarrhal Rhnitis )

बालकों में जुकाम का होना एक मामूली घटना है। इतनी बहुलता से यह रोग मिलता है कि इसका निदान करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। बालकों में सबसे बड़ी तकलीफ साँस में रुकावट की होती है। यदि रोग में

शीघ्रता से सुधार नहीं हुआ तो मुँह खोलकर साँस लेने की आदत बच्चों में पड़ जाती है। साथ ही शालूक ( Adenoids ) के भी स्थायी रूप में बढ़ जाने की संभावना रहती है। श्रुतिसुरंगा ( Eustachian ) के छोटे होने से नासा के उपसर्ग का प्रसार आसानी से मध्यकर्ण तक पहुँच जाता है फिर यदि इसका समय से उपचार नहीं हुआ तो उपसर्ग और ऊपर में पहुँच कर शंखकूट ( Mastoid ) को प्रभावित करके स्थायी कर्णस्राव (कान का बहना) पैदा करता है। इसके अतिरिक्त नासा के सरल मार्ग से ऊपर को फैलता हुआ वायु विवरों ( Nasal Sinuses ) को प्रभावित कर सकता है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि बालकों का प्रतिश्याय बहुधा रोमान्तिका ( Measles ) के पूर्व रूप में भी होता है। अतएव तत्-सम्बन्धी इतिहास तथा विस्फोटों ( Rashes ) के लिये विचार करना अपेक्षित रहता है।

**चिकित्सा**—बालक को पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। पाठशाला जाने वाले बालकों को पाठशाला में जाना बन्द कर देना चाहिये, क्योंकि इससे न केवल रोग दीर्घ काल तक चलता रहेगा, अपितु दूसरे सहपाठी भी प्रभावित हो सकते हैं। स्थानिक उपचार के रूप में निम्नलिखित परिषेक (Syray) का व्यवहार करना चाहिये–मेन्थल ½ ग्रेन, यूकेलिप्टस तैल २ बूँद और लिक्विड पैराफिन १ औंस। सामान्य लवण विलयन १% शक्ति के 'एफेड्रीन' घोल का नासा छिद्रों से २ बूँद छोड़ना प्रत्येक भोजन के पूर्व लाभप्रद होता है।

**आयुर्वेदीय**—खाने के लिये श्रृङ्गभस्म ६२ मि० ग्रा० और शुद्ध नौसादर १२५ मि० ग्रा० एक में मिलाकर दिन में तीन या चार बार गर्म जल में घोलकर घूँटी जैसे दिया जा सकता है।

## जीर्ण प्रतिश्याय या जीर्णस्रावी नासाशोथ
## ( Chronic Catarrhal Rhinitis )

प्रतिश्याय के बार-बार दौरे होते रहने से शालूक बढ़ जाते हैं, नासा विवर ( Sinuses ) दूषित हो जाते हैं जिसके परिणाम स्वरूप नाक के दोनों

छिद्रों से गाढ़ा श्लेष्मल पूयाभ स्राव बालकों में पाया जाता है। इस अवस्था विशेष को जीर्ण प्रतिश्याय का जीर्णस्रावी नासापाक कहा जाता है। यदि नासा के एक छेद से स्राव हो तो किसी शल्य के ( Foreign body ) कारण अवरोध का होना हेतु होता है। इस दशा में नाक से रक्त मिश्रित आस्राव भी आ सकता है। रोहिणी ( Diphtheria ) में भी रक्तरंजित आस्राव नाक में पाया जाता है। इस स्राव की परीक्षा करने से हेतुभूत जीवाणु का पता लगाया जा सकता है। नासार्श बालकों में बहुत कम होता है। होता भी हैं तो नासाविवरों के उपसर्ग के परिणामस्वरूप। इस दशा में भ्रंशथु ( नासा से गाढ़ा स्राव ) मिल सकता है।

**चिकित्सा**—कारणों के अनुरूप की जाती है। यदि तुण्डिका या शालूक ( Tonsil & Adenoid ) के परिणामस्वरूप या किसी शल्य या नासार्श के परिणामस्वरूप यह स्थिति हो तो इनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये शल्यतंत्रीय उपचार की आवश्यकता पड़ती है। यदि नासा विवर के उपसर्ग से यह स्थिति हो तो बालक को पौष्टिक आहार तथा शुद्ध और ताजा हवा की व्यवस्था करनी चाहिये। साथ ही और भी स्वास्थ्यवर्धक आहार-विहार की व्यवस्था करनी चाहिये। स्थानिक चिकित्सा के लिए, नासा के प्रक्षालन के लिए, क्षारीय जल ( सोडाबाई कार्ब २० ग्रेन, जल १ औंस ) की नासा वस्ति देना चाहिये। यह क्रिया बड़ी उम्र के बच्चों में ही सम्भव है। छोटी आयु के बच्चों में लवण विलयन में बने 'एफेड्रीन' के घोल का ही बूँद-बूँद कर के नासा छिद्रों में छोड़ना एक मात्र उपाय रहता है। इससे उनका नासानाह दूर होता है और वे स्वतन्त्रतापूर्वक साँस लेने में समर्थ हो जाते हैं।

**आयुर्वेदीय**—चित्रक-हरीतकी का प्रयोग लाभप्रद पाया गया है। यह एक प्रकार का अवलेह है जिसको २ ग्रा० से ६ ग्रा० तक की मात्रा में खिलाकर ऊपर से गर्म दूध या जल पिलाना होता है। 'महालक्ष्मी विलास रस' ६२ मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में दो बार तथा चित्रकादि बटी १ गोली दिन में दो

बार का भी उपयोग उत्तम है। व्याघ्री तैल [ तिल तैल २४० ग्राम कल्कार्थ कंटकारी पंचांग, दन्तीमूल, बच, सहिजन की छाल, तुलसी, त्रिकटु और सेंधा नमक मिश्रित ६० ग्राम, जल १ किलो। यथाविधि पकाकर बना तेल ] का नाक के छेदों में एक या दो बूँद छोड़ना भी लाभप्रद होता है।

## आगन्तुक प्रतिश्याय या प्रत्यूर्जताजन्य नासाशोथ या तृण ज्वर

## ( Allergic Rhinitis or hay Fever )

किसी विजातीय प्रोभूजिन ( Protein ) के परिणामस्वरूप जो नाक से गन्ध लेने के रूप में या सूँघ लिये जाते हैं इस प्रकार का आगन्तुक प्रतिश्याय होता है। अधिकतर हवा के जरिये आए हुए तृण या घासों, फूलों के परागों ( Pollens ) के नासा के द्वारा सम्पर्क में आने या सूँघ लिये जाने पर नासा की कला को वे असह्य हो जाते हैं, फलस्वरूप वहाँ पर रक्ताधिक्य प्रभृति शोथ के लक्षण पैदा होकर प्रतिश्याय हो जाता है। इसीलिये उन्हें अनूर्जता जन्य प्रतिश्याय कहते हैं। इस प्रकार के प्रतिश्याय प्रायः ऋतु परिवर्तन काल में बहुत देखने को मिलते हैं। कई बार ये प्रतिश्याय मौसमी न होकर साल भर किसी भी ऋतु में मिल सकते हैं। रोग का दौरा अचानक बिना किसी ज्ञात कारण के ही हो जाता है।

आज के युग में अनूर्जता या असह्यता पैदा करने वाले प्रोभूजिनों के ऊपर बहुत बड़ा अनुसंधान हो चुका है। इस विभिन्न प्रोभूजिनों का त्वचा के सम्पर्क में ले आकर परीक्षा करना तथा कारणभूत विशिष्ट प्रोभूजिनों का पता लगाकर तदनुरूप चिकित्सा की व्यवस्था करना बहुत प्रचलित हो गया है। ( देखें Test for Skin, testing by C. L. Bencard & Co. Ltd. ) कई बार घर की धूल, फेस पाउडर, घोड़े की सफाई से उड़ी धूल, बिस्तर और तकिये की रूई, पालतू जानवरों के बाल आदि आमतौर से इस प्रकार के आगन्तुक प्रतिश्याय पैदा करने के हेतुभूत हो जाते हैं।

आगन्तुक प्रतिश्याय में छींकों का आना, जलीय आस्राव, नासा में रुकावट का अनुभव, तमक श्वास जैसे श्वास का कष्ट होता है एवं नाक की श्लेष्मल कला शोथ और रक्ताधिक्य युक्त हो जाती है।

**चिकित्सा**—बालक को शान्त वातावरण में घर के भीतर रखे। त्वचा की परीक्षा द्वारा विशिष्ट प्रोभूजिन का जो रोग की उत्पत्ति में भाग लेता है, पता लगावे। उसके सूचीवेध के द्वारा विधिपूर्वक उसको सहनशील बना दे। परन्तु इस चिकित्सा क्रम को जब तक बच्चा बड़ा न हो जाय अर्थात् सात या आठ साल की आयु का न हो जाय नहीं करना चाहिये।

इस अवस्था में एक तैलीय परिषेक ( Oil spray ) सामान्य तथा बड़ा उत्तम पाया गया है—इसमें निम्नलिखित ओषधियों का मिश्रण है—पाइन का तेल ( Pine Oil ) २ बूँद, यूकेलिप्टस का तेल २ बूँद, एफेड्रीन ३ ग्रेन और लिक्विड पैराफीन एक औंस। छोटे शिशुओं में १ बूँद की मात्रा में दोनों नासा छिद्रों में सुबह-शाम छोड़े। 'एफेड्रीन' का मुख से सेवन के लिए सोते समय देना भी उत्तम है। $\frac{१}{८}$ ग्रेन ४ वर्ष की आयु तक पश्चात् $\frac{१}{४}$ ग्रेन की मात्रा में बड़ी आयु के बच्चों में कई सप्ताहों तक, इस क्रम को चलाते रहना चाहिये।

बहुत से प्रत्यूर्जताहर ( Anti histaminic drugs ) के पेटेण्ट योग आज-कल विभिन्न कम्पनियों के द्वारा निर्मित होकर आने लगे हैं। इनमें ( देखें लेखक कृत पेटेण्ट प्रेस्काइबर ) किसी एक का प्रयोग भी लाभप्रद होता है। 'बेनेड्रील' शर्बत के रूप $\frac{१}{२}$ चम्मच दिन में तीन बार दें। 'एन्थीसन' १ ग्राम दिन में एक या दो बार दिया जा सकता है। नाक में छोड़ने वाले कई पेटेण्ट योग आते हैं। इनमें 'एण्ड्रीन ड्राप' एवं ओट्रीविन ड्राप' के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

**आयुर्वेदीय**—'हरिद्राखण्ड' का सेवन उत्तम रहता है। चित्रक 'हरीतकी' का प्रयोग भी उत्तम है। रसौषधों में रस सिन्दूर ३० मि० ग्रा० प्रवाल भस्म ६० मि० ग्रा० तथा श्रृङ्ग भस्म १२५ मि० ग्रा० का मिश्रण दिन में दो या तीन बार देना चाहिए। नाक से 'व्याघ्री तैल' का १-२ बूँद छोड़ना लाभप्रद

रहता है। साधारण स्वास्थ्य को बढ़ाने के लिए च्यवनप्राश का सेवन १ तोला ( १२ ग्राम ) की मात्रा में दूध के साथ नित्य कई मासों तक कराना चाहिये।

## नासा से सम्बन्धित विकारों का शोथ

### नासा-विवर शोथ ( Sinusitis )

तीव्र विवर शोथ ( Acute sinusitis )—यह विकार शिशुओं में प्रायः बहुत कम देखने को मिलता है। तीव्र प्रकार में ज्वर, नाक के ऊपर वाले भाग का शोथ होता है और नेत्रगुहा ( Orbit ) शोथयुक्त हो जाती है—चिकित्सा में प्रतिजीवी योगों ( Antibiotics ) का प्रयोग उत्तम होता है। जीर्ण विवर शोथ ( Chronic Sinusitis )—यह बालकों में आमतौर से पाया जाने वाला रोग है। विकार दोनों पार्श्व का होता है। विकार से मार्ग रुद्ध नहीं होता। छींकें और गाढ़ा स्राव नाक से आता रहता है। इस रोग से पीड़ित बालकों में खाँसी भी रहती है। जीर्ण विवर शोथ के साथ-साथ उपद्रव रूप में जीर्ण कास फुफ्फुस का तान्वी भाव ( Fibrosis ) तथा श्वसनिका विस्फार ( Bronchioectasis ) भी उपद्रव स्वरूप पाया जाता है। गाढ़ा श्लेष्म पूयाभ ( Thick Mucopus ) स्राव नाक से भी होता है जिससे नासा में अवरोध का अनुभव बालक करता है। नासा के पश्चात् भाग से स्राव होकर शालूक को भी सूजन और वृद्धियुक्त कर देता है। रोग से पीड़ित बालक की बुद्धि भी मन्द पड़ जाती है, उसकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है। उसका शरीर भी दुर्बल रहता है। शिरःशूल, कर्णस्राव या वाधिर्य आ जाता है।

**निदान**—जीर्ण कालीन नासा से गाढ़ा स्राव, नासा की श्लेष्मल कला मोटी और रक्ताधिक्ययुक्त ( Congested ) नासा के पश्चात् भाग से भी कफ का स्राव प्रभृति लक्षण रोग के निदान करने में सहायक होते हैं। क्ष-किरण चित्रण से निदान को स्थिर किया जा सकता है।

**चिकित्सा**—साधारण स्वास्थ्य बढ़ाने की ओर चिकित्सक का लक्ष्य होना चाहिए इसलिए नाक की सफाई पौष्टिक आहार, पूर्ण विश्राम, स्वच्छ हवा, प्रकाश, स्थान-परिवर्त्तन ( समुद्र के किनारे ) प्रभृति बातें आवश्यक होती हैं।

यदि विवरों में पाक होकर पूयोत्पत्ति हो गई हो तो स्थानिक उपचार भी सार्वदैहिक उपचारों के साथ ही साथ आवश्यक होता है। सामान्य लवण विलयन में बने 'एफेड्रीन' के घोल की बूँदों का छोड़ना या क्षारीयजल से भी प्रक्षालन करना चाहिए।

यदि विवर संक्रमित हो गये हों और स्वास्थ्यवर्धक आहार-विहार से कोई लाभ न प्रतीत हो रहा हो तो शाल्यिक उपचार की शरण लेनी पड़ती है। नासा-विवर के द्वार का वेध ( Pnucture of the antrum or sinus ) करके पुनः उसके प्रक्षालन की व्यवस्था करनी चाहिये। इसमें भी लाभ न हो तो शस्त्रकर्म के द्वारा विवरों के आवरक कला ( Lining membrane ) को काटकर पृथक् करे, पश्चात् प्रतिजीवी ( Antibiotic ) तथा शुल्वावर्ग ( Sulpha drugs ) की औषधों के घोल का स्थानिक प्रयोग करे। इस चिकित्सा से उत्तम लाभ होता है। इन औषधियों के सेवन से भी पर्याप्त लाभ होता है। कुछ विद्वानों के विचार से 'डायथर्मी' की चिकित्सा भी उत्तम होती है।

**आयुर्वेदीय**—बढ़िया जमी हुई दधि, गुड़ और मरिच के साथ प्रचुर मात्रा में पिलाना उत्तम होता है। औषध सिद्ध घृतों का ( जैसे मयूर घृत या कुरंग घृत या छागालाद्य घृत ) का या केवल शुद्ध गो घृत का पिलाना बड़ा उत्तम पाया गया है। सभी प्रकार के नासा-सम्बन्धी जीर्ण रोगों में इनका उपयोग लाभप्रद होता है। षडविन्दु घृत, षडविन्दु तैल या अणु तैल का नासा से प्रक्षेप करना भी उत्तम है। रस के योगों में निम्नलिखित मिश्रण बड़ी उम्र के बच्चों में लाभप्रद होता है।

महालक्ष्मी विलास रस ४० मि० ग्रा०।
शिलाजत्वादि लौह ४० मि० ग्रा०।
सितोपलादि चूर्ण १ ग्राम

ऐसी एक मात्रा दिन में तीन बार घी और मधु से।

चित्रकादि बटी का भोजनोत्तर १ गोली देना भी उत्तम है।

अवलेहों में चित्रक हरीतकी, अगस्त्य हरीतकी या च्यवनप्राश का प्रयोग भी उत्तम होता है। नासा रोगों में प्रणायाम ( श्वासोच्छ्वास का व्यायाम करना उत्तम है।

## कान के रोग

**तीव्र मध्य कर्ण-शोथ** ( Acute otitis media )—बाल्यावस्था में पाया जाने वाला एक आम रोग है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्रतिश्याय के उपद्रव रूप में यह पैदा होता है। जुकाम या प्रतिश्याय बच्चों में मिलनेवाला आम रोग है, फलतः यह रोग भी बहुतायत से मिलता है।

**लक्षण**—कान में दर्द, बुखार, कान में बहरापन आदि मिलता है। छोटे शिशु अपनी कान की तकलीफ नहीं बतला सकते। वह अपने सिर का इधर-उधर चलाता है, बेचैन रहता है और रात में जोर-जोर से चिल्लाकर रोता है। कई बालकों में कर्ण पाक के कारण वमन और अतिसार भी होते पाया जाता है। जब कान से मवाद दिखलाई पड़ती है, जिससे और पीड़ा किंचित् कम हो जाती है। कर्णमूल ( Mastoid ) के ऊपर किंचित् स्पर्शना-क्षमता पाई जाती है। पटह ( Drum ) की दशा में परिवर्तन पाया जाता है। वह कुछ लाल और उभरा प्रतीत होता है।

**चिकित्सा**—तीव्रावस्था की चिकित्सा में सल्फा तथा 'प्रतिजीवी' योगों का प्रयोग उत्तम होता है। साथ ही नासा की भी चिकित्सा करते रहना चाहिये। बालक को पीठ के बल चित लिटाकर नाक के द्वारा १½% एफेड्रीन' का १% 'अर्जिरोल' का लवण विलयन में बनाए हुए घोल की बूँदें छोड़नी चाहिए। यदि पटह ( Drum ) उभरा हुआ प्रतीत हो तो उसके स्वयमेव विदीर्ण होने के पूर्व ही एक छोटा-सा भेदन कर देना चाहिए। इससे पूय का स्राव हो जाता है और पीड़ा कम हो जाती है।

यदि कान से पूय आ रही हो तो स्थानिक स्वच्छता के लिए उसका प्रक्षालन आवश्यक होता है—विशेष प्रकार की रबर की पिचकारी से धोकर

सबसे अच्छी और सुरक्षित ( Rat tailed Rubber Syringe ) होती है। रुई में सुखाकर एक दो बूँद 'रेक्टीफायड स्पिरिट' की छोड़नी चाहिए। पीड़ा को कम करने के लिए 'ग्लिसरीन और कार्बोलिक एसिड' के योग का फाया कान में रखा जाता है। कान के बाहर से स्वेदन भी पीड़ा को कम करता है।

"प्रतिजीवी" और 'शुल्वा' के बहुत से योग कानों में डालने के लिए ( मध्यकर्ण शोथ की चिकित्सा में ) व्यवहृत होते हैं परन्तु वे उतने लाभप्रद नहीं होते। इनके स्थानिक प्रयोगों की अपेक्षा सार्वदैहिक उपयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होता है।

**उपद्रव**—मध्यकर्ण-शोथ में उपसर्ग का ऊपर की ओर प्रसार होकर कर्णमूल शोथ ( Mastoiditis ) होने की सम्भावना रहती है। प्रतिजीवी योगों ( Antibiotics ) की व्यवस्था करनी चाहिए। कई बार मस्तिष्कावरण शोथ ( Meningitis ) या तत्स्थान गत विद्रधि आदि की भी सम्भावना रहती है। उपचार में शुल्वा और प्रतिजीवी दोनों की ही व्यवस्था करनी चाहिये।

**आयुर्वेदोपचार**—कान की पीड़ा के शमन के लिए 'कर्ण बिंदु तैल' का निक्षेप लाक्षणिक शान्ति देता है। मदार की पकी हुई पत्ती के दोनों ओर घी चुपड़ कर आग पर तपाकर निकला हुआ गुनगुना रस कानों में छोड़ने से पीड़ा तत्काल शान्त होती है। न शान्त हो तो वेदनाहर योग जैसे 'सेरिडान' 'कोडो पाइरिन' की गोलियों का आधी या चौथाई मात्रा में सेवन करावे।

## जीर्ण कर्णस्राव
## ( Chronic Otorrhoea )

तीव्र मध्यकर्ण पाक ( A. Otitis Media ) के परिणामस्वरूप यह रोग होता है। कई बार क्षयज कर्णमूलशोथ ( Mastoiditis ) के परिणामस्वरूप भी चलता रहता है। हर हालत में कर्ण-पाक का समुचित उपचार हो जाय तो रोग की सम्भावना कम रहती है।

यदि मध्यकर्ण-पाक के कारण स्राव होने लगे और वह लम्बी अवधि तक अर्थात् तीन चार सप्ताहों तक चलता रहे और चिकित्सा से लाभ पर्याप्त न दिखलाई पड़े तो असफलता के कारण पर विचार करना चाहिए। पटह का पूर्णतया छिद्रण ( Perforation ) होना आवश्यक है ताकि पूय का पूर्णतया निर्हरण हो सके। यदि तुण्डिका या शालूक के कारण स्रावकाल बढ़ता प्रतीत हो तो उनके भी निकालने की व्यवस्था करे। क्ष-किरण चित्रण में नासाविकारों की परीक्षा करे। यदि उस स्थान का विकार पाया जाय तो यथोचित उपचार करे। जब नासा और गला विकारहीन जान पड़े और केवल कान का ही विकार स्पष्टतया प्रतीत हो जिसके कारण स्राव चल रहा हो तो निम्नलिखित उपचारों की व्यवस्था करे, प्रतिजीवी और शुल्व योगों का सेवन, स्थानिक शोधन सम्बन्धी उपचार। यदि कर्णमूल का शोथ चल रहा हो और उसके कारण स्राव नहीं बन्द हो रहा हो तो एक लघु शस्त्रकर्म ( Health's Operation ) के द्वारा उसको ठीक करे। यदि कर्णस्राव बहुत लम्बी अवधि का मासों या वर्षों का हो तो उस अवस्था में पटह ( Durm ) तथा कर्णास्थियाँ ( Ossicles ) नष्ट हो गई रहती हैं, रोगी में बहरापन भी हो जाता है। इसके निर्मूलन के लिए शस्त्रकर्म ( Radical operation ) के द्वारा एकमात्र उपचार करना आवश्यक हो जाता है। यदि कर्णस्राव के हेतु रूप में क्षयज ( Mastoiditis Tuberculous ) शंखकूट शोथ पाया जाय तो उसके लिए सार्वदैहिक क्षयोपचार के साथ 'स्ट्रेप्टोमाइसिन' का तथा अन्य क्षयघ्न ( Antitubercular treatment ) औषधियों का भो चिकित्सा में उपयोग करना चाहिए। सुधार न होने पर शस्त्रकर्म की शरण लेनी चाहिए।

**आयुर्वेदोपचार**—शुद्ध फिटकरी का महीन चूर्ण कान में छोड़ना उत्तम होता है। पीने के लिये बल्य योग जैसे 'काडलिवर आयल' के योग देना चाहिये। मीठा खाना बन्द करा देना चाहिए, 'कर्णस्रावारि तैल' या 'अपामार्ग क्षार तैल' कानों में छोड़ना चाहिए। शम्बूक तैल ( सरसों के तेल में एक घोंघा डालकर पकाया तैल ) को कान में छोड़ना भी उत्तम रहता है। जलकुम्भी तैल—सरसों का तैल आधा कि० जलकुम्भी का रस १ कि० और जलकुम्भी

की चटनी ( कल्क ) २५० ग्राम डालकर मन्द आँच पर तेल को पकाकर तेल को छानकर शीशी में भर ले। कर्णस्राव में इसकी बूँदों के छोड़ने से अच्छा लाभ होता है।

## बालकों में वाधिर्य
## ( Deafness )

कई प्रकार का हो सकता है। १. श्रुति सुरंगा या यूस्टेचियननलिका ( Eustachian tube ) के अवरोध में प्रतिश्याय आदि के कारण अल्पकालीन वाधिर्य पाया जाता है। २. मध्यकर्णपाक में नियमतः पाया जाता है। ३. सहज दोष के कारण जैसे अन्तःकर्ण के अवयवों का जिसके द्वारा श्रवण का कार्य होता है—न निर्मित होना। इसमें बाधिर्य स्थायी होता है; बालक प्रायः गूँगे होते हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय तो चिकित्सा के द्वारा ठीक हो जाते हैं, परन्तु तृतीय प्रकार असाध्य होता है।

**आयुर्वेदीय**—भोजन में घृत का प्रयोग, घृत का पान, ब्रह्मचर्य, कम बोलना प्रभृति कर्म वाधिर्य में लाभप्रद है। कान में छोड़ने के लिए विल्व तैल का प्रयोग ठीक रहता है।

*

# अध्याय १४

## श्वसन-संस्थान के रोग

**बालकों में स्वर-यंत्र के रोग**—अंग्रेजी में क्रूप ( Croup ) शब्द का व्यवहार जन-साधारण की भाषा में विविध स्वर-यंत्रों के विकारों ( Affections of uhe larynx in children ) के लिए होते हैं। जिसमें कबूतर के कूंजन या कौवे के को-को सदृश शब्द साँस के साथ होता है। स्वर-यंत्र के कई प्रकार के विकार बालकों में मिलते हैं जैसे **सहज स्वर-यंत्र** संकोच ( Congenital Laryngal Stridor ), तीव्र स्वर यंत्र शोथ ( Acute laryngitis )—इनमें प्रथम में जन्म से ही स्वरयंत्र का स्रोत संकीर्ण रहता है। इस संकीर्णता ( Stenosis ) का प्रभाव ऐसा पड़ता है कि जब बच्चा साँस ऊपर की ओर खींचता ( उच्छ्वास ) है तो उसके साथ एक प्रकार का कूजन या घुर-घुर शब्द होता है ( Stridulous sound )। इसका प्रारम्भ जन्म के साथ ही या जन्म के एक दो सप्ताह के भीतर होता है। रात और दिन दोनों समय साँस लेने में सुनाई पड़ता है। कई बार यह संकोच इतना अधिक मिलता है कि फुफ्फुसों में हीन मात्रा में वायु के पहुँचने से मध्य पर्शुका ( Xiphisternum ) तथा अधोपर्शुकायें ऊपर की ओर खिंच जाती हैं। यदि अवरोध मामूली दरजे का हुआ तो शब्द केवल लम्बे श्वसन में ही सुनाई पड़ता है। जन्म के साथ मिलने वाला कूजन कई बार बालग्रन्थि या थाइमस ( Thymus ) की वृद्धि के कारण भी पाया जाता है।

रोग प्रायः अच्छा हो जाता है। कूजन ( Stridor ) धीरे-धीरे कम होता हुआ अन्त में प्रथम वर्ष की आयु पूरी होने के साथ सर्वथा लुप्त हो जाता है, क्वचित् दूसरे या तीसरे वर्ष की आयु तक भी कूजन का यह विकार बना रह सकता है। सबसे बड़ा खतरा उस समय उपस्थित होता है जब कि

बालक किसी श्वसन-संस्थान के रोग ( जैसे फुफ्फुस शोथ या श्वसनीशोथ ) से पीड़ित हो जाता है। उस हालत में बालक की हालत इस विकार की उपस्थिति में बदतर हो जाती है। फिर भी रोग के बारे में अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि बालक की वृद्धि के साथ इन अवयवों के आकार में भी वृद्धि हो जाती है और क्रमशः सुधार होते हुए विकार स्वयमेव दूर हो जाता है। स्वरयंत्र की संकीर्णता दूर होकर प्राकृत अवस्था आ जाती है।

**चिकित्सा—**

इस सहज विकृति के ऊपर चिकित्सा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि सुधार के लिये काल अपेक्षित है। फिर भी कास, प्रतिश्याय, फुफ्फुस शोथ और श्वसनक आदि उपद्रव न हो; अगर हों भी तो शीघ्र ठीक हो जाया करें, इस बात को ध्यान में रख कर चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है। कई बार तो स्वरयंत्र के अवरोध के साथ तीव्र स्वरयंत्र शोथ ( Laryngit s ) का उपद्रव होकर स्थिति सांघातिक हो जाती है और श्वास प्रणाल भेदन ( Tracheotomy ) नामक शल्य कर्म की आवश्यकता पड़ती है।

**तीव्र स्वरयंत्र शोथ** ( Acute Larypgitis ), नासाग्रसनिका (Nasopharynx) के होने वाले रोगों में उपद्रव स्वरूप होता है। यह रोमान्तिका की प्रारम्भिक अवस्था में भी पाया जाता है और कुकास ( Whooping Cough ) के भी प्रारम्भिक दिनों में मिलता है। आगन्तुक कारणों में क्षोभक वाष्प के मुखद्वारा खिंच जाने पर यह व्याधि होती है।

**लक्षण—**गले की आवाज का भारी या पूर्णतया बन्द हो जाना पाया जाता है। ज्वर तीन से चार अंश तक बढ़ जाता है। बाल्यावस्था के स्वरयंत्र शोथ में अवरोध के लक्षण बहुत जल्दी व्यक्त होते हैं। जिससे श्यावता ( Cynosis ) भी पाई जाती है, क्योंकि इस अवस्था में स्वरयंत्र में सूजन होती है जिसके परिणाम स्वरूप श्वसन-संस्थान के ऊपरी भाग सँकरे हो जाते हैं जिससे वायु का प्रवेश फुफ्फुसों में नहीं हो पाता। दो-तीन दिनों में स्थिति में पुनः सुधार होने लगता है।

**निदान**—रोग का निश्चय करते समय इसका विभेद स्वरयंत्र के रोहिणी ( Diptheria ) से करना आवश्यक होता है। रोमान्तिका में मुख में 'कापलिक के चिन्ह' उपस्थित मिलेंगे।

**चिकित्सा**—

जब तक ज्वर न दूर हो जावे, रोगी को पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। बाहर से गले का सेंक करे। यदि खाँसी कष्टकर हो तो मुँह खोलकर वाष्प पान (Steam inhalation) उत्तम पाया जाता है। इसमें एक केटली में जल भरकर उसमें 'फ्रायर्स बालसम' ( Friar's Balsam ) छोड़कर आग पर चढ़ाकर वाष्पपान की विधि है। ( मात्रा १ चम्मच १ पिण्ट जल में घोल कर ) खाँसी के आराम के लिए इस मिश्रण को दे--सिरप सोला २½ बूँद सिरप टोलू २½ बूँद, सिरप प्रूनी वरजीनैनी २½ बूँद, टिंचर कैम्फर कम्पोजिटी २½ बूँद, ग्लिसरीन १० बूँद, एक्वा कैम्फोरी १ ड्राम। सल्फा पेनिसिलिन अथवा वृहत्तर क्षेत्र के प्रतिजीवी ओषधियों का भी यथावश्यक प्रयोग करना चाहिए।

## तीव्र स्वरयंत्र-श्वास प्रणाल-श्वसनिका शोथ
## ( Acute Laryngo-Tracheo-Bronchitis )

रोग का प्रारम्भ मामूली गले के खराश के रूप स्वरयंत्र में होता है और शीघ्रता से फैलता हुआ सम्पूर्ण श्लेष्मल कला का जो श्वास प्रणाल (Trachea) या श्वसनिका ( Bronchus ) को आच्छादित करती है, शोथयुक्त हो जाती है। लक्षण भयंकर उत्पन्न होते हैं। बालक में स्वरयंत्र का अवरोध हो जाता है। चेहरे पर श्यावता आ जाती है। श्वासकृच्छ्र भयंकर स्वरूप का होता है जिससे बच्चा व्याकुल होकर छटपट करता मिलता है। रोग के निदान में कठिनाई उपस्थित होती है, रोहिणी ( Dlptheria ) से विभेद करना कठिन हो जाता है। यदि इस प्रकार की शंका उत्पन्न हो और निराकरण न हो सके तो अन्य चिकित्सा के साथ ही 'एण्टिडिफ्थिरिटिक सीरम' का भी एक या दो सूचीवेध करके देख लेना चाहिये। अथवा यदि संभव हो तो

गले से रुई के फाहे से वहाँ का स्राव लेकर उसका सम्बर्धन ( Culture ) करके रोग का विनिश्चय कर लेना चाहिये।

चिकित्सा में बालक के लिए 'प्राणवायु' ( Oxygen ) के देने की आवश्यकता पड़ती है। कफ के निःसारण के लिए, आर्द्र वायु मण्डल में रखना आवश्यक होता है। वृहत्तर क्षेत्र के प्रतिजीवियों ( Broad antibiotics ) का प्रयोग करना चाहिए, जैसे 'टेट्रासायक्लिन' 'सुब्रामायसिन' 'टेरामायसिन' 'अल्सायक्लिन' आदि। ३० मि० ग्रा० की मात्रा प्रति पौण्ड भार के ऊपर प्रतिदिन दे। प्रति ६ घण्टे पर औषध का प्रयोग प्रारम्भ करना चाहिये। श्वासावरोध वहुत खतरनाक हो तो श्वास प्रणालभेदन ( Tracheomy ) करे। 'एट्रोपीन' तथा 'बेलाडोना' का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

अन्य भी कई इस प्रकार के स्वरयंत्र के रोग हो सकते हैं जैसे १--रोहिणी जन्य (Diptheritic)। २--फिरंगज ( Syphilitic ) ३--कूजन (Laryngismus Stridulus ,--जो फक्क रोग का एक प्रारम्भिक चिन्ह है जिसमें वातिक कारणों से आक्षेप आकर थोड़ी देर के लिए कंठद्वार ( Glottis ) बन्द हो जाता है। अन्तःश्वसन तथा वहिश्वसन आवाज के साथ होता है और उसमें कूजन मिलता है। पूरा दौरा कुछ सेकेण्डों तक रहता है, दिन में कई बार हो सकता है। फक्क-निरोधी चिकित्सा से शीघ्र लाभ हो सकता है। फलतः एक साध्य स्वरूप का रोग है। ४--स्वरयंत्र रोग का आकर्ष ( Laryngeal spasm ) - शिशुओं में जन्म के प्रारम्भिक सप्ताह में पाया जाता है। दौरे के काल में श्वास का अवरोध हो जताा है। उस समय गले में बाहर से उष्ण उपचार करने से लाभ होता है। ऐसा रोग अजीर्ण के कारण और कई बार जिह्वा निबंधिनी ( Freanum of the tongue ) की दीर्घता के कारण भी होता है। जिससे जीभ पीछे को गिरकर श्वास मार्ग का अवरोध कर देती है। ५--स्वरयंत्र का अंकुरार्बुद (Laryngeal Papilloma )--इनके कारण भी शिशुओं की आवाज में भारीपन, गले में खराश, स्वरोपघात, श्वासावरोध, श्यावता और साँस का फूलना आदि

लक्षण पाये जाते हैं। स्वरयंत्रान्तः दर्शक ( Laryngoscope ) से देखकर निदान करना होता है। चिकित्सा में प्रगति न होने पर शाल्यतंत्रीय में उपचार अर्थात् अर्बुद का निर्हरण आवश्यक होता है। ६—कूजन ( Laryngitis stridulosa ) यह विकार केवल बाल्यावस्था में ही पाया जाता है। रात में बालक की नींद अचानक टूट जाती है, स्वरयंत्र का आकर्ष या संकोच हो जाता है जिससे उसको साँस लेने में कठिनाई होती है, घुर-घुर शब्द होने लगता है। यह रोग दो से दस वर्ष की आयु में होता है, फिर भी तीन से ६ वर्ष की आयु में अधिकतर पाया जाता है। रोगोत्पादन में रात्रि का गरिष्ठ भोजन प्रायः हेतु होता है। इस विकार का दौरा लगभग एक घण्टे में शान्त हो जाता है, बालक सोये से जगकर बैठ जाता है, श्वासकष्ट के कारण बेचैन हो जाता है, चेहरा काला पड़ जाता है, दौरे के शान्त होने पर पुनः सो जाता है। प्रातःकाल में ठीक जगता है, दिन भर ठीक रहता है अचानक रात में दौरा होता है। दौरा कुछ रात्रियों तक लगातार चल सकता है, या कभी-कभी एक दो मास का अन्तर भी पड़ सकता है। चिकित्सा—दौरे के समय में स्वरयंत्र के स्वेदन के लिये या गले को आराम देने के लिए गले पर बाहर से उष्ण स्वेद या फलालैन के टुकड़े को गर्म करके सेंकना चाहिये और पीने के लिये उष्ण पेय ( चाय, काफी, गर्म जल, गर्म दूध ) देना चाहिए। रात्रि का भोजन सुपाच्य बहुत हल्का देना चाहिये। रात में दस बजे के बाद कुछ भी आहार या पेय नहीं देना चाहिए। आवश्यक हो तो गर्म जल देना चाहिये। यदि तुण्डिका बढ़ी हुई मिले तो उसका उपचार करना चाहिये। सोते समय संशामक औषधियाँ जैसे पाँच वर्ष के बच्चे के लिए क्लोरल ३ ग्रेन, ल्युमिनाल आधा ग्रेन, फेनाजोन ( Phenazone 5 grain ) ५ ग्रेन की मात्रा में देना चाहिये। ७—शल्य ( Foreign body )—बालकों में हरेक चीज को मुख में डाल कर चूसने की बुरी आदत पाई जाती है, इस अभ्यास के कारण उनके श्वसन-संस्थान में शल्य का चला जाना भी आसान रहता है। स्वरयंत्र में गया हुआ शल्य तेज खाँसी पैदा करता है, साँस रुद्ध होती जाती है, चेहरा काला पड़ जाता है। यदि शल्य बढ़ा हुआ तो हवा के मार्ग को रुद्ध कर

श्वासावरोध पैदा करके सद्यः प्राणघातक सिद्ध होता है। उससे रक्षा का एक मात्र उपाय श्वास प्रणाल-वेध ( Tracheotoma ) रह जाता है। इस शल्य की दशा में कूजन या शब्द इतना ऊँचा पैदा होता है कि कमरे के बाहर से भी सुनाई देता है। अन्तः दर्शक यंत्र की ( Endoscope ) सहायता से अथवा क्ष-किरण चित्र के द्वारा शल्य का निदान करके किसी विशेषज्ञ के द्वारा उसके निर्हरण की व्यवस्था शीघ्र करानी चाहिए।

## तीव्र-श्वसनिका शोथ

## ( Bronchitis Acute )

बालकों का शरीर ही कफ धातु प्रधान होता है, थोड़े व्यतिक्रम से ही उनको खाँसी सम्बन्धी रोग हो सकते हैं। "प्रतिश्यायादथो कासः" नाक और गले में सर्वप्रथम संक्रमण पहुँचता है, पुनः वह उपसर्ग फैलता हुआ श्वासप्रणाल ( Trachea ) तथा श्वसनिका ( Bronchus ) तक फैल जाता है। फलतः श्वसनिका की श्लेष्मलकला प्रभावित होती है। उसमें रक्ताधिक्य और शोथ हो जाता है जिसे श्वासनिकाशोथ कहते हैं। वात श्लैष्मिक ज्वर ( Influenza ), रोमान्तिका ( Measles ), कुकास ( Whooping Cough ) के साथ सदैव श्वसनिका शोथ पाया जाता है। सहज हृद्रोग तथा फक्क से पीड़ित बालकों में श्वसनिका शोथ पाया जाता है—क्योंकि इन बच्चों की रोग निवारक क्षमता कम होती है। जिससे जीवाणुओं के संक्रमण से रक्षा नहीं हो पाती है और वे रोग के शिकार हो जाया करते हैं।

लक्षण—रोग का सबसे प्रमुख लक्षण ज्वर के साथ खाँसी है--जो सम्पूर्ण दिन एवं रात बनी रहती है। उरोस्थि ( Sturnum ) के नीचे कुछ पीड़ा होती है। कफ जो प्रारम्भ में शुष्क होता है थोड़े दिनों में ही आर्द्र और स्निग्ध हो जाता है--फिर भी बालकों में कफ गिरता नहीं, क्योंकि वे निगल जाते हैं।

अंगुलि-ताड़न के द्वारा कुछ विशेष उपलब्धि नहीं होती, परन्तु श्रवण यंत्र की सहायता से फुफ्फुस क्षेत्र पर असंख्य वैकारिक ध्वनियाँ ( Adventitous Sounds ) मिलती हैं। फुफ्फुस के ऊपरी भाग में ध्वनि शुष्क

Dry & Sibilent ) मिलती हैं परन्तु अधोभाग या आधार के ऊपर आर्द्र ध्वनि ( Moist sounds ) पाये जाते हैं। जब फुफ्फुस का क्षेत्र निपातित ( Collapsed ) हो जाता है तो आर्द्र ध्वनि ( Broncho Clicking ) स्वरूप की मिलती है और फुफ्फुस शोथ ( Pneumonia ) से भेद करना भी कठिन होता है। यही कारण है कि छोटे शिशुओं में वक्ष-परीक्षा से फुफ्फुस शोथ ( Pneumonia ) और श्वसनिका शोथ ( Bronchitis ) का भेद करना कठिन होता है। श्यामक क्षय ( Miliary T. B. ) तथा तमक ( Asthma ) में श्वसनिका शोथ सदृश ही चिह्न वक्षपरीक्षा में मिलते हैं।

अन्य लक्षणों के आधार पर ही भेद करना सम्भव होता है।

**रोगक्रम तथा साध्यासाध्यता**—साधारणतया श्वसनी-शोथ का रोग एक सप्ताह या दस दिन में ठीक हो जाता है, परन्तु यदि श्वसनी फुफ्फुस शोथ ( Broncho-Pneumonia ) का उपद्रव हो जाय तो रोग कठिन हो जाता है, बालक की जितनी ही छोटी उमर होती है, रोग उतना ही खतरनाक होता है, अथवा अगर उसका शरीर अपक्व प्रसव ( Premature infants ), फक्क रोग या हृद्रोग से दुर्बल हो तो रोग की भयंकरता बढ़ जाती है।

**चिकित्सा**—

बालक को गर्म कमरे में रखे, जिसमें ताजा हवा की व्यवस्था रहे। उसके शरीर को कपड़े में आवृत रखे, परन्तु कपड़े ढीले हों। उसका आहार द्रव-प्राय ( Fluid ) होना चाहिये। दूध और फलों के रस पर रखे। ऊपरी दूध पर पलनेवाले बच्चों को उनके दूध में अधिक मात्रा में जल मिलाकर, हल्का करके और उबाल कर दे।

छोटे बालकों में वक्ष के ऊपर उत्तेजक द्रव्यों की मालिश उत्तम रहती है। एतदर्थ सुबह-शाम उनके वक्ष पर सामने, पार्श्व और पीठ की ओर उत्तेजक तैल या घृतों की मालिश करनी चाहिये। जैसे, कैम्फोरेटेड आयल-सरसों तैल या पुराने घृत में कपूर डालकर मालिश करना घरेलू उपचार है। तथा लिनिमेण्ट टेरेबिन्थ ( Lin. Terebinth )—बहुत उग्र उपचार जैसे ज्यादा सेंक, गर्म

दवाओं को पीसकर उसकी पुल्टिस या प्लास्टर वगैरह अनावश्यक है। क्योंकि छोटे शिशुओं में इनके दबाव से और श्वासकृच्छ्र होने की सम्भावना रहती है।

आज के युग में व्यवहृत होनेवाली ओषधियाँ जैसे शुल्वावर्ग की ओषधियाँ प्रतिजीवी तथा वृहत्तर क्षेत्र के प्रतिजीवी ( Broad antibioties ) जैसे पेनिसिलिन, टेट्रासायक्लिन आदि का योग पूर्णतया सफल होते हैं। अगर खाँसी बड़ी तीव्र हो संशामक मिश्रण जिसका उल्लेख तीव्र स्वरयंत्र-शोथ के अध्याय में बतलाया गया है, दिया जा सकता है।

बालक के रोगमुक्त होने के अनन्तर उसकी जलवायु परिवर्तन के विचार से समुद्र के किनारे या शहर से दूर देहात में भेजना उत्तम रहता है। सामान्य स्वास्थ्य की वृद्धि तथा रोग के रोकने की शारीरिक क्षमता बढ़ाने के पौष्टिक योगों को जैसे 'पेडिक ड्राप्स' तथा 'मल्टी-विटामिन ड्राप्स' का मात्रा से सेवन शिशु के लिए हितकर होता है।

**आयुर्वेदोपचार**—दोष दृष्ट्या यह रोग श्लैष्मिक ज्वर का एक प्रकार है। इसमें पंचगुण तैल या पुराने गोघृत का सीने के ऊपर मालिश अच्छी रहती है। इसमें महीन पिसा हुआ सेंधा नमक और कपूर मिला लिया जाये तो अधिक लाभ होता है। ज्वरार्यभ्र को ६० से १२५ मि० ग्रा० की मात्रा में, यवक्षार ६० से १२५ मि० ग्रा० तक प्रति मात्रा में मिलाकर दिन में तीन चार बार प्रयोग करने से उत्तम लाभ ज्वर और कास की दृष्टि से देखा जाता है। छाती की सेंक के लिए सरसों के तेल की खली या खोवे को कपड़े में बाँध कर पोटली बनाकर गर्म करके सेंक करना भी उत्तम पाया गया है। श्वास के वेग को कम करने के लिए श्वसनी विस्फारक ( Bronchodilators ) जैसे एफेड्रीन, एमिलोफायलिन या ड्यूराफिलिन आदि ओषधियों की मात्रा से सेवन के लिये देना चाहिये।

**जीर्ण कास या जीर्ण श्वसनी शोथ** ( Chronic Bronchitis )—यह भी बाल्यावस्था का एक आम रोग है। अस्वस्थ तुण्डिका एवं शालूक, जीर्णनासा विवरशोथ; जीर्ण कास का प्रधान हेतु बनता है। कई बार औपसर्गिक

ज्वरों के परिणामस्वरूप जैसे रोमान्तिका, कुकास तथा क्षय के फलस्वरूप भी यह रोग मिलता है।

**लक्षण**—जाड़े की ऋतु में प्रायः जीर्ण कास पाया जाता है। खाँसी सूखी या गीली दोनों प्रकार की हो सकती है। एक जिसमें कफ गिरे दूसरे जिसमें कफ बिल्कुल न गिरे। खाँसी का वेग रात्रि में और प्रातःकाल में जब बालक सोकर उठता है विशेष रहता है, ज्वर भी मिल सकता है जो विशेषतः संध्या-काल में होता है। कई बार साँस का फूलना पाया जाता है।

वक्ष की परीक्षा करने से वक्ष प्रसार ( Expansion ) कम मिलता है, श्वसन कर्कश ( Harsh ) पाया जाता है और दोनों फुफ्फुस के क्षेत्र शुष्क तथा आर्द्र शब्दों से ( Dry and moist sound ) भरे मिलते हैं—जिसका श्रवण यन्त्र ( Stethescope ) की सहायता से सुनना आसान रहता है। रोग के अधिक दिनों तक चलते रहने से बालक के भार में भारी कमी आ जाती है।

**चिकित्सा**—

तीव्रता को कम करने के लिए तीव्रावस्था में बतलाये गये उपचार करे। पश्चात् बालक का बल बढ़ाने का ध्यान रखे। एतदर्थ उसको पौष्टिक आहार जिसमें पर्याप्त मात्रा में जान्तव स्नेह ( Animal fat ), घी, मक्खन, अण्डे और दूध देना चाहिये। काड यकृत् वसा ( Cod liver oil ) को स्वतन्त्र रूप में या उसके बने योगों का एक छोटी चम्मच भर कर दिन में तीन बार देना चाहिए। जलवायु का परिवर्तन समुद्र तटवर्ती देशों में या दूर देहात में करना भी बालक के वक्ष में उत्तम रहता है।

**आयुर्वेदीय**—सितोपलादि या तालीशादि चूर्ण १ से २ ग्राम तक मधु के साथ दे। इसी में यमानीषाडव भी मिला ले तो उत्तम रहता है। ताड़ का रस जीर्णकास में उत्तम कार्य करता है—पर्याप्त मात्रा में इसका प्रयोग करना चाहिये। तालमिश्री या बढ़िया मिश्री या बताशे का सेवन बालक को करना भी उत्तम रहता है। ताजा मलाई या दूध की साढ़ी भी उत्तम रहती है। निम्न-लिखित मिश्रण के सेवन से लाभ भी होता है—चंद्रामृत या शृङ्गाराभ्र ६०

मि० ग्रा०, यवक्षार ६० मि० ग्रा०, श्वास कुठार ६० मि० ग्रा०; तालीशादि चूर्ण २ ग्राम मिलाकर मधु में कई बार दे। 'अगस्त्यहरीतकी' 'वासावलेह' 'च्यवनप्राश' प्रभृति पाकों का लम्बे समय तक सेवन कराना चाहिये। सुवर्ण के यौगिकों में 'श्वासकासचिन्तामणि रस' का प्रयोग करे। ६० मि० ग्रा० की मात्रा में अदरक, पान, तुलसी के रस और मधु के अनुपान से।

## तमक श्वास
## ( Asthma )

बालकों में मिलने वाला तमक श्वास भी एक प्रमुख रोग है। समुत्थान भेद से यह दो प्रकार का होता है।

**प्रथम प्रकार**—इसमें रोग का दौरा अचानक होता है, प्रायः रात्रि में शुरू होता है, जिसमें प्रारम्भ में साँस का फूलना एवं पसली का चलना पाया जाता है। दौरा एक या दो घण्टे और क्वचित् डेढ़ या दो दिनों तक चलता रहता है पश्चात् शीघ्र शान्त भी हो जाता है। दौरे के दूसरे दिन बालक पूर्णतया स्वस्थ हो जाता है। इसे बोल-चाल में हब्बा, डब्बा या पसली चलना आदि नामों से पुकारा जाता है।

**दूसरा प्रकार**—इसमें रोग का प्रारम्भ जुकाम या प्रतिश्याय से होता है। सर्वप्रथम श्वसन संस्थान के ऊपरी भाग संक्रमित होता है। चौबीस घण्टे के अनन्तर उपसर्ग नीचे की ओर जाकर वक्ष को भी प्रभावित करता है। जिससे श्वसनिका शोथ पैदा होता है। आगे चलकर श्वसनिकाओं में आकर्ष पैदा होकर साँस फूलने की तकलीफ शुरू हो जाती है। रोग श्वास का रूप लेता है। इसको साकर्ष श्वसनिका शोथ ( Spasmodic Bronchitis ) कहते हैं। यह रोग कई दिनों या सप्ताहों तक चलता रहता है। प्रथम वर्ग में श्वास ही प्रधान व्याधि है. दूसरे में कास के अनन्तर श्वास पैदा होता है। अतएव प्रथम वर्ग की संज्ञा तमक श्वास और दूसरे वर्ग की संज्ञा तमकीय कास या श्वसनीशोथ ( Asthmatic Bronchitis ) दी जाती है। इनका विशद वर्णन स्वतन्त्र या दो वर्गों में नीचे प्रस्तुत किया जा सकता है।

## आकर्ष जन्य श्वास या तमक श्वास
## ( Spasmodic Asthma )

हैतुकी--१. रोग की उत्पत्ति में ( Heredity ) वंश का बहुत बड़ा हाथ रहता है, बालक के माता-पिता या परिवार में प्रत्यूर्जताजन्य ( Allergic Condition ) व्याधियों के जैसे अर्धावभेदक, विचर्चिका ( Eczyme ), तमकश्वास ( Asthma ), तृष्णा ज्वर ( Hayfever ) एवं शीतपित्त ( Urticaria ) होने का वृत्त पाया जाता है।

२. आकर्ष जन्य श्वास के पैदा करने में अधिक महत्व का कारण बालक की प्रत्यूर्जता-असह्यता या अति संवेदन शीलता ( Allergy or Hyper sensitivity ) होती है; जो किसी विजातीय द्रव्य (Foreign substance) के सम्पर्क में आने से उत्पन्न हो जाती है। ये विजातीय द्रव्य नियमतः विभिन्न प्रोभूजिन ( Protens ) के स्वरूप के ही होते हैं—जो नाक के द्वारा सूँघे जाकर या भोजन के द्वारा निगले जाकर शरीर के सम्पर्क में आते हैं और प्रत्यूर्जताजन्य श्वास पैदा करते हैं।

गंधग्राह्य ( Inhalants ) घोड़े के बाल की धूलिकी, तकिया की रुई आदि की गन्ध, मुख में लगाने वाले चूर्ण की धूल, तृण और फूल के पराग, घोड़े, कुत्ते, बिल्ली, चूहे की गन्ध आदि नासिका के द्वारा पहुँच कर श्वास उत्पन्न करते हैं।

आहार-ग्राह्य ( Ingestants )—दूध, अण्डे, मछली, गेहूँ, मांस तथा माता के आहार के प्रोटीन मुखद्वारा शरीर में पहुँचकर असह्य हो जाते हैं और बालक की साँस फूलने लगती है।

३. पचन सम्बन्धी दोष के कारण विशेषतः अध्यशन से खास करके सोते समय अधिक मात्रा में भोजन देना भी रोग के पैदा करने में सहायक होता है।

४. मेद या चरबी का पचन ठीक प्रकार से न होना भी हेतु रूप में पाया जाता है। रोग में पीड़ित बालकों में मेद की मात्रा कम करके 'कार्बोहाइड्रेट' की मात्रा बढ़ानी चाहिए। इसके लिये 'ग्लूकोज' पर्याप्त देने से लाभ होता है।

५. जलवायु और ऋतु का भी प्रभाव रोगात्पादन पर पड़ता है।

**वैकृतिकी**—दौरे के समय में सादी पेशियों ( Plain Muscles ) का संकोच तथा श्वासनलिका के श्लेष्मल कला में सूजन पाई जाती है जिससे स्रोत और सँकरा हो जाता है। रक्त परीक्षा में कुछ उषसि प्रियता ( Eosinophilia ) पाई जाती है।

**लक्षण** - रोग का अचानक दौरा होता है, अल्पकाल तक रहता है, शीघ्रता से सुधार होता है, ज्वर प्रायः नहीं होता है। रोग का दौरा रात के समय में आता है, बालक बिस्तर पर बैठ जाता है। चेहरा काला पड़ जाता है। पसीना आने लगता है। अंतः स्वसन ( Inspiration ) छोटा और वहिःश्वसन ( Expiration ) लम्बा और एक कराह के साथ होता है। दौरा दो या तीन घण्टे में चला जाता है। कभी-कभी एक या दो दिनों तक चल सकता है। बालक दौरे के बाद स्वस्थ हो जाता है। कई बार थोड़ी-थोड़ी खाँसी शेष रह जाती है। दौरे के समय वक्ष की परीक्षा करने पर दोनों फुफ्फुस पूर्णतया फैले हुए ( Full expansion ) मिलते हैं। अंगुलिताड़न से अति निनादित ( Hypsrresonant on purcussion ) मिलते हैं, अतः श्वसन छोटा और वहिःश्वसन लम्बा पाया जाता है। दोनों फुफ्फुस क्षेत्र में उच्च स्वर की शुष्क ध्वनि और सीटी बजाने की-सी आवाज ( Sibili & whistling ) पाई जाती है। वायु कोषों की विस्तृति फुफ्फुस के कुछ भागों पर मिलती है। यदि रोग का दौरा बार-बार होता रहा तो वायुकोषों की विस्तृति एक स्थायी विकार के रूप में आ जाती है। उस अवस्था में रोग की असाध्यता भी आ जाती है जिससे बालक में थोड़ी खाँसी और साँस फूलने की तकलीफ सदैव बनी रह जाती है। यदि वातस्फीति ( Emphesema ) की दशा में सुधार शीघ्रता से हो गया तो बालक पूर्णतया स्वस्थ हो जाता है।

**चिकित्सा**—

दौरे के काल में बालक को बैठाकर जिस स्थिति में उसे आराम मिले रखना चाहिए। ताजी हवा उसको मिलती रहे, एतदर्थ कमरे की खिड़की को खोलकर रखना चाहिये। साथ ही ठंडक से रक्षा के लिये उसके शरीर को वस्त्र और ओढ़ने से आवृत करके रखना चाहिये। उत्तम लाभप्रद ओषधि 'एड्रे-

नैलीन' पड़ती है १ : १००० के अनुपात में बने इस ओषधि के घोल का ३ से ५ बूँद तक अधत्वक् सूचीवेध के द्वारा दे। आवश्यकता होने पर १ घण्टे के अनन्तर पुनः दे। इससे दौरा शान्त हो जाता है।

दौरे के पार हो जाने के बाद रोगोत्पादक हेतु के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए जिससे भविष्य में पुनः दौरा न हो। यदि विजातीय प्रोटीन ( Foreing Protein ) हेतु प्रतीत हों तो उनका ज्ञान त्वक्-परीक्षा की विशेष विधियों का अनुसरण करते हुए करे। पुनः जिन चीजों से बालक की अति संवेदना या असह्यता प्रतीत हो उसका दूरीकरण करे। कई बार घर की धूल, बालक की शय्या आदि भी प्रत्यूर्जता ( Allergy ) पैदा करते हैं, अतएव बालक के सम्पर्क से इन चीजों को पृथक् करे। नये बिस्तर और तकिये की व्यवस्था करे। बहुत प्रकार की शाक तरकारी के छिलके, अचारों के मसाले भी प्रत्यूर्जता पैदा करते हैं। अतः इनका भी ध्यान रखे। आहार विशेष के कारण असह्यता हो तो उसकी मात्रा कम कर दे, और क्रमशः बढ़ाते हुए उनको बर्दाश्त के लायक बना दे।

यदि अधिक उत्तेजना या अति परिश्रम से रोग बढ़ता हो तो इसकी मात्रा भी कम कर देनी चाहिये। आहार सुपाच्य, स्वादिष्ट और पोषक होना चाहिये। भोजन में मेद की मात्रा कम करे, ग्लुकोज या मिश्री अधिक दे।

**औषध**—एक विश्वसनीय ओषधि सोम का क्षार तत्व ( Ephedrine Hydrochloride ) है जो चीन देशीय वनस्पति "माह्वांग" से निकाला हुआ एक क्षारतत्व ( Alkaloid ) है। गोली के रूप में बने इसके योग मिलते हैं। आयु के अनुसार $\frac{1}{8}$ ग्रेन से $\frac{1}{2}$ ग्रेन तक की मात्रा में केवल रात में सोते वक्त एक मात्रा देनी चाहिये। दिन में देने में बालक सुस्त और सोया-सोया सा लगता है। कुछ बच्चों में 'एफेड्रीन' ठीक नहीं पड़ती, उनमें इनके कारण अनिद्रा, रात में चौंकना आदि शुरू हो जाता है। इनमें एफे-ड्रीन के स्थान पर प्रत्यूर्जताहर अन्य योग जैसे 'बेनेड्रील', 'फोरेस्टाल', 'कार्टिसोन' आयु के अनुसार देना चाहिये और भी बहुत से प्रत्यूर्जताहर

( Anti histaminic ) पेटेण्ट योग विभिन्न औषधि-निर्माताओं से बने आते हैं उनका प्रयोग मात्रानुसार किया जा सकता है ।

दौरे के काल में सूचीवेध के द्वारा 'एड्रेनैलीन इन आयल' या 'एमीनोफायलीन' का भी प्रयोग किया जा सकता है। इसके अलावे निम्नलिखित मिश्रण भी लाभप्रद होता है—पोटाश आयोडायड १ ग्रेन, टिंचर स्ट्रेमोनाइ-६ बूँद, टिंचर कैम्फोरी कम्पोजिटी १० बूँद, सिरप सिम्प्लिसिस १० बूँद, एक्वाक्लोरोफार्मी १ ड्राम। १ छोटी चम्मच से दिन में कई बार चार-चार घण्टे के अन्तर से देना चाहिये ।

## तमकीय कास या तमकीय श्वसनिका शोथ
## ( Asthamatic Bronchits )

हैतुकी—इनमें कुलवृत्त ( Family History ) का कोई महत्व नहीं है। शीत और आर्द्र ऋतु ( वर्षा या दुर्दिन ) में यह रोग अधिक होता है। श्वास के पूर्व किसी न किसी एक निम्नलिखित रोग के होने का पूर्ववृत्त पाया जाता है, जैसे—रोमान्तिका, कुकास, श्लैष्मिक ज्वर ( Influenza ) श्वसनी फुफ्फुस शोथ ( Broncho Pnenmonia ) संभवतः इन रोगों के परिणाम-स्वरूप फुफ्फुस पर कुछ इस प्रकार का परिवर्तन जैसे तान्त्वीभाव ( Fibrosis ) होता है जिसके फलस्वरूप तमकीय श्वसनिका शोथ नामक व्याधि पैदा हो जाती है। इसी प्रकार बार-बार मिलनेवाली गले की खराबी ( Septic throat ) से भी जिसमें अस्वस्थ तुण्डिका, बढ़ी हुई ग्रीवा की ग्रन्थि या नासाशोथ आदि कारण होते हैं--इनका भी प्रभाव रोगोत्पत्ति में पड़ता है। नासा-विवर ( Sinus ) के विकार भी रोगोत्पादक होते हैं।

लक्षण--रोग का दौरा प्रतिश्याय से प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम गले में खराश और तेज जुकाम होता है, नाक से पानी आना शुरू होता है। एक दो दिनों में संक्रमग नीचे की ओर बढ़कर वक्ष को प्रभावित करता है। जिसस श्वसनिका-शोथ ( Bonchitis ) पैदा होकर खाँसी तेज हो जाती है। पश्चात् दमा जैसे—साँस फूलने की तकलीफ होने लगती है और रोग

तमक श्वास का रूप ले लेता है। सामान्य खाँसी से इनमें विशेषता श्वास-कृच्छ्र और श्यावता ( Cynosis ) की होती है। अन्तः श्वसन और वहिः श्वसन दोनों कष्ट और कराह के साथ होने लगते हैं। श्रवण यंत्र से सुनने पर फुफ्फुस क्षेत्र में सम्पूर्ण भाग पर आर्द्र ध्वनि ( Moist Sound ) पायी जाती हैं। रोग का आक्रमण कई दिनों तक क्वचित् दो या तीन सप्ताहों तक चलता रहता है। साथ में ज्वर भी रहता है। आगे चलकर इन बालकों में भी संवेदन शीलता या सूक्ष्म ग्रहिता ( Sensitivity ) बढ़ती है —घर की धूल, बिस्तर की धूल तथा अन्य मानसिक उत्तेजनाओं का प्रभाव रोग पर पड़ता है और श्वासकृच्छ्र अधिक होने लगता है। बालक कमजोर हो जाता है, उसके वक्ष की आकृति भी यदि रोग का बार-बार दौरा होता रहा तो बिगड़ जाता है।

चिकित्सा—

तीव्र श्वसनिका-शोथ सदृश चिकित्सा करनी पड़ती है विशेषता उसमें आकर्ष हर (Anti spasmodic Drugs) औषधों की होती है जिनका योग करना श्वास में आराम पहुँचाने के लिए आवश्यक होता है। बालक को बिस्तर पर लेटाकर पूर्ण विश्राम की व्यवस्था करनी चाहिये। उसके कमरे के वातावरण को आर्द्र करने के लिए फ्रायर्स बालसम ( Frair's Balsam ) को किसी पानी से भरे बर्तन में खौलाकर एक ओर रख देना चाहिये ताकि इसके वाष्प से कमरा आर्द्र हो जाय। इनका बड़ा ही संशामक प्रभाव बालक की खाँसी के ऊपर पड़ता है। नासा से स्राव बहुत अधिक हो रहा हो और बालक को नासानाह का अनुभव हो रहा हो तो 'एण्ड्रीन' या 'बेञ्जीड्रीन' इन हेलर के सुँघाने से थोड़ी देर के लिए शान्ति मिलती है। शुल्वयोग ( सल्फामेजाथीन, सल्फाडायाजीन ) तथा 'पेनिसिलिन' जी ( जल में विद्राव्य Aqous सर्वोत्तम होता है ) का उपयोग उत्तम रहता है।

दौरे के बीत जाने पर पुनः रोग का दौरा न हो इसके लिए प्रयास करना चाहिये। अगर तुण्डिका, शालूक या नासा विवर के विकार हेतु प्रतीत हों तो उनको दूर करना चाहिये। स्वीय या परकीय ( Autogenous or Stock

Vaccines ) का प्रयोग भी लाभप्रद होता है। परकीय से स्वकीय प्रकार का अधिक उत्तम होता है। स्वकीय वैक्सीन रोगी बालक के थूक या गले के कफ से बनाया जाता है। फलतः अधिक लाभप्रद होता है।

दौरे के काल में श्वासकष्ट के शमन के लिए पूर्वकथित तमक रोग में जो 'पोटैशियम आयोडाइड', 'स्ट्रेमोनियम' प्रभृति औषधों का मिश्रण बतलाया गया है, इसमें दिया जा सकता है।

यदि रोगी के संरक्षक जलवायु के परिवर्तन कराने में समर्थ हों तो उसे समुद्र के किनारे कुछ दिनों तक बसने की सलाह देनी चाहिये।

**आयुर्वेदोपचार**—ऊपर में बालकों में पाये जाने वाले श्वासरोग के दो वर्गों का उल्लेख हो चुका है। वास्तव में ये दोनों ही तमक श्वास के ही भेद हैं। इसके प्राण और उदान वायु का दोष पाया जाता है। अतएव इन दोनों का अनुलोमन आवश्यक होता है। दूसरा दोष कफ की शुष्कता का होता है। कफ की शुष्कता को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय तथा उसके गीले हो जाने पर बाहर निकालने की उत्तम विधि "श्लेष्मणः क्षपणंयत्स्यान्नच वात प्रकोपणम्।" श्लेष्मा को तो काट कर फेंक दें परन्तु वायु को कुपित न होने दे। ऐसा होना चाहिये। इसके लिए मिश्री या बताशे का चाशनी या मधु का प्रयोग उत्तम होता है। यदि बालक खा सके तो खाने को दे अन्यथा उबाले पानी में शर्बत बनाकर दे। शर्बत एजाज, शहतूत, लिसोढ़ा और अडूसा भी यही कार्य करता है। कंटकारी का प्रयोग भी इसी उद्देश्य का साधक होता है। यवक्षार की अल्पमात्रा में ६० से १२५ मि० ग्रा० मधु के साथ देनी चाहिये। शुद्ध टंकण का इसी मात्रा में प्रयोग करना भी लाभप्रद होता है। इसके अतिरिक्त औषध आहार एवं विहार जो कफ एवं वायु के शामक हों और वातानुलोमक हों उनका सेवन भी करना चाहिये। 'यत्किंचित् कफ वातघ्न मुष्णंवातानुलोमनम्' वमन एक सर्वोपरि उपचार बालकों के यावतीय श्वास और कास रोग में पाया जाता है। मदन फल की घूँटी प्रथम वर्ष में अच्छा लाभ दिखलाती है। शुद्ध कंकुष्ठ या उशारे रेवन्द भी या तो वमन के द्वारा कफ को निकालकर स्रोतस को शुद्ध करके तत्काल आराम देता है—मात्रा ६०

से १२५ मि० ग्रा० यदि वमन नहीं हुआ तो पाखाने के द्वारा कफ को निकाल कर लाभ पहुँचाता है। यदि खाँसी और ज्वर प्रमुख व्याधि के रूप में मिलें तो चंद्रामृत रस नामक योग का प्रयोग बड़ा उत्तम होता है। चूर्णों में तालीशादि चूर्ण भी उत्तम पाया गया है। दौरे के समय में कमरे में गंध द्रव्यों का धूपन, लोहबान, राल, गुग्गुल; सर्षप, जेवायन, देवदारु आदि भी लाभप्रद होते हैं। निम्नलिखित योग भो उत्तम पाया गया है।

शिलाजत्वादिलौह ६० मि० ग्रा०, शृंगाराभ्र ६० मि० ग्रा०, श्वासकुठार ३० मि० ग्रा०, यवक्षार ६० मि० ग्रा०, तालीशादी चूर्ण १ ग्रा०।

मिलाकर एक मात्रा। ऐसी दिन में चार बार ऊपर बतलाये गये शर्बतों के साथ एक मास तक प्रयोग करा लेने पर रोग का बार-बार होने का क्रम नष्ट हो जाता है। इसी के साथ में 'कोलायडल कैल्शियम' या 'कैल्शियम आस्टेलीन' का सूचीवेध या मुख से सेवन योग्य शर्बत के रूप में उपयोग भी लाभप्रद रहता है।

## फुफ्फुस शोथ

### ( **Pneumonia** )

### खण्डीय ( Lobar )

**लक्षण**--खण्डीय फुफ्फुस-शोथ सभी उमर में मिल सकता है और बालकों में अधिकतर मिलता रहता है। इसमें भी विकृति ( Pathology ) उसी प्रकार मिलती है जैसी युवकों में परन्तु प्रकार तथा उपद्रव अनेक हो सकते हैं।

रोग का आक्रमण सहसा होता है। कई बार एक दो दिन पूर्व खाँसी मिल सकती है। रोग के प्रारम्भ में वमन का होना एक प्रमुख लक्षण रहता है। वमन और ज्वर ( उच्चतापक्रम ) दो ही रोगों में जैसे उग्र तुण्डिका शोथ ( Follicular Tonsilitis ) तथा फुफ्फुस शोथ के निदानकर लक्षण के रूप में मिलता है। ज्वर १०३ से १०४ फ़े० हो जाता है, बालक सुस्त पड़ जाता है। रोग की प्रगति के साथ आगे चलकर प्रलाप होने लगता है। कई बार जाड़े या कम्प का अनुभव या आक्षेप भी आने लगते हैं। उदर में विबंध पाया

जाता है यद्यपि कुछ शिशुओं में प्रारम्भ में अतिसार भी मिल सकता है। ज्वर के बढ़ने के साथ नाड़ी और श्वास की गति भी बढ़ जाती है। इनका आपसी सम्बन्ध भी बिगड़ जाता है। अर्थात् जहाँ ४ नाड़ी पर एक श्वास होता है वहाँ पर उसका अनुपात ३ : १ या २ : १ हो जाता है। श्वास की गति मिनट ६० से ८० तक हो जाती है। यदि बालक बोलने में समर्थ हुआ तो वह वक्ष या कंधे पर पीड़ा की तकलीफ बतलाता है। फुफ्फुस के अधोखण्ड विकार-ग्रस्त होने पर पीड़ा उदर में बतलाता है। छोटे बच्चों में पीड़ा का ज्ञान उनकी बेचैनी, मुखाकृति, रोने आदि के द्वारा अनुमान से सम्भव रहता है।

बालक की आकृति से निदान करने में सहायता मिलती है। उनका चेहरा और आँखें चढ़ी हुई लाल रंग की मिलती हैं। त्वचा रूखी और उष्ण रहती है। विकारग्रस्त फुफ्फुस की ओर ओष्ठ पर मुख पाक ( Herpes ) मिल सकता है। खाँसी कम आती है, साँस अधिक फूलती है। अतः श्वसन में विशेष कष्ट होता है। हरेक साँस के साथ नाक के नथुने चौड़े होते रहते हैं। बालकों में कफ नहीं निकलता क्योंकि वे कफ को निगल जाया करते हैं।

अचिकित्सित रोगियों में ज्वर संतत स्वरूप का १०३° से १०४° फे० तक सदा बना रहता है पुनः दारुण मोक्ष (crisis) के साथ तीसरे, पाँचवें या नवें दिन तक उतरता है। श्रवण यंत्र से वक्ष की परीक्षा करने पर विकृत भाग की गति कम पाई जाती है, वायु का प्रवेश ( air entry ) भी कम पाया जाता है। अंगुलिताडन से वह क्षेत्र मंद ध्वनि युक्त पाया जाता है। इस मंद क्षेत्र पर नलिकाकृति श्वसन ध्वनि ( Tubular Breathing ) पाई जाती है। आर्द्र ध्वनि ( Crenitation ) प्रायः नहीं सुनाई पड़ती। लम्बी और गहरी साँस लेने पर कई बार मिल जाती है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि खण्डीय फुफ्फुस पाक में सम्पूर्ण फुफ्फुस विकृत नहीं होता केवल उसका एक छोटा सा क्षेत्र प्रभावित होता है फलतः बिना सावधानी पूर्वक पूरी परीक्षा किये उस छोटे से क्षेत्र का पता लगाना भी कठिन होता है।

रक्त परीक्षा में श्वेत कोशिकाओं की और बहुकेन्द्रिय श्वेत कोशिकाओं की वृद्धि ( Polymorph leucoytosis ) पाई जाती है। श्वेत कोशिकाओं की

संख्या तीन हजार अधिक प्रति सी० सी० और ७० से ८० प्रतिशत तक बहु-केन्द्रियों की वृद्धि मिलती है।

**प्रकार**-- ( Varieties )—गुह्य --( Abortive )--ज्वर का मोक्ष तीसरे दिन या पूर्व ही हो जाता है, घनता ( Consolidation ) का चिन्ह कठिनाई से प्राप्त होता है।

**शीर्षीय**—( Apical )--दाहिने फुफ्फुस का ऊपरी भाग प्रभावित होता है। बेचैनी, प्रलाप प्रभृति वातिक लक्षण उग्र होते हैं। मस्तिष्कावरण शोथ सदृश लक्षण पैदा होते हैं। रोग के विनिश्चय में भी कठिनाई होती है।

**केन्द्रीय** ( Central )—इसमें घनता का क्षेत्र हाइलम में ( Hilum of the Lung ) सीमित रहता है। आस-पास में फुफ्फुस के स्वस्थ धातु पाये जाते हैं। वक्ष की परीक्षा से घनता के क्षेत्र का पता लगाना कठिन होता है। फलतः निदान में भी कठिनाई होती है। लक्षणों के आधार पर ही निदान सम्भव है।

**सर्पण-शील फुफ्फुस शोथ** ( Pneumonia Migrans )—इसमें फुफ्फुस के एक खण्ड के बाद दूसरा खण्ड ( Lobe ) घन (Conolidated) होता चलता है। इस प्रकार सम्पूर्ण फुफ्फुस या दोनों फुफ्फुस विकारग्रस्त होकर घनता को प्राप्त कर जाते हैं। ज्वर या तो सतत बना रहता है या बीच-बीच में उतरता या चढ़ता रहता है। कई बार ज्वर निरन्तर तीन या चार सप्ताह तक बना रहता है। इस व्याधि में सबसे अधिक शुभ लक्षण शीघ्रता के साथ शमन ( Resolntion ) का मिलता है—जिसमें प्रथम प्रभावित भागों की क्रमशः स्वस्थता आती जाती है और विकार अन्यान्य खण्डों की ओर अग्रसर होता चलता है।

**उपद्रव**—अतः पूयता ( Empyema ) फुफ्फुसावृत्ति में पूय का संचय होना। मध्यकर्ण शोथ ( Otitis Media ) जिसके परिणामस्वरूप मस्तिष्कावरण शोथ ( Meningitis ) हो सकता है। सपूय हृदयावरण शोथ (Suppurative Pericarditis ), सपूय संधि शोथ ( Suppurative Arthri-

tis ), उदरावरण शोथ ( Peritonitis ) तथा तीव्र वृक्क शोथ ( Acute Nephritis ) ।

चिकित्सा—

बालक को गर्म कमरे में जिसका तापक्रम ६२ फे० हो, रखना चाहिए। शुद्ध वायु की प्राप्ति के लिए खिड़की को खोलकर रखना चाहिए। ठण्ड, बादल एवं वर्षा के काल में बालक के कमरे में धूप रहित अँगीठी जलाकर रखना चाहिये। बालक का शरीर हल्के और ढीले कपड़े से आवृत करके रखना चाहिये।

आहार में द्रव-भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये। गर्म दूध, पाव रोटी, फलों के रस और पर्याप्त जल देकर तृषा को शान्त करना चाहिये। उबाल कर रखा हुआ जल उत्तम रहता है। यदि छाती की पीड़ा के कारण बच्चा बेचैन रहता हो तो अलसी की पुल्टिस ( Linseed poulitce ) सीने पर बाँधनी चाहिये। इसके प्रभाव से वेदना कम होती है।

औषधों में शुल्वावर्ग के योग, पेनिसिलिन तथा अन्त वृहत्तर चेत्र ( Broad Spectrum ) के प्रतिजीवी द्रव्य ( Antibiotics ) लाभप्रद होते हैं।

परम ज्वर ( Hyperpyrexia ) होने पर यदि तापक्रम १०४½° फे० से ऊपर जाय तो शीतोपचार से सिर पर बर्फ या ठंडे जल की पट्टी, बर्फ की थैली, शरीर का गुनगुने जल में तौलिया भिंगोकर परिमार्जन ( Sponging ) से एक या दो अंश कम करने की व्यवस्था करनी चाहिये।

इस रोग में निद्रा एक आवश्यक वस्तु है। गुनगुने जल में तौलिया भिंगोकर परिमार्जन करने से निद्रा प्रचुर आती है। यदि इस क्रिया से निद्रा के लाने में सफलता न मिले तो क्लोरल १ ग्रेन की मात्रा में ( प्रति वर्ष की आयु पर १ ग्रेन की मात्रा में ) रात में देना चाहिये।

यदि बालक अत्यन्त क्षीण न हो तो उनके हृदय की दशा में पर्याप्त सुधार, शिरावेध से एक दो औंस रक्त निकालने से पाया जाता है, जबकि श्वासकृच्छ्र और श्यावता बढ़ती जा रही हो, नाड़ी की गति तीव्र और क्षीण

होती जा रही हो, हृच्छन्द भी यदि सुनाई पड़ रहा हो तो हृद्य और श्वासोत्तेजक औषध का विधान करना पड़ता है। इस विधान की अपेक्षा अधिक लाभ कई बार १ से २ औंस तक रक्त का विस्रावण ( Venesection ) करा देने से होता है। प्राणवायु या आक्सीजेन ( Oxygen ) के प्रयोग की भी कई बार आवश्यकता पड़ती है।

**आयुर्वेदोपचार**—यह श्लेष्मोल्वण त्रिदोषज ज्वर की अवस्था है। सन्निपातिक ज्वर की चिकित्सा की व्यवस्था लाभप्रद होती है। उत्तम योग ज्वरार्यभ्र रस का प्रयोग है। ६० मि० ग्रा० की मात्रा में आर्द्रक स्वरस या कच्चे पान के रस ( ५ बूँद प्रत्येक ) और मधु के अनुपान से देना चाहिये। यदि ज्वर अधिक हो तो गुडूची सत्व ½ ग्रा० तक मिलाकर मधु से देना चाहिये। ज्वर की उच्चता कम हो जाती है। यदि ज्वर अधिक हो तो मकरध्वज अथवा रस सिन्दूर ३० मि० ग्रा०, शृंग भस्म १२५ मि० ग्रा० और गुडूची सत्व ½ ग्राम मिलाकर मधु से दिन में तीन या चार बार देना चाहिये। ताजा गुडूची के रस और मधु से भी इस योग को दिया जा सकता है।

## श्वसनी फुफ्फुस शोथ
## ( Broncho-Pneumonia )

**हैतुकी**—बालकों में प्रथम दो वर्ष की आयु में बहुत अधिकता से मिलने वाला यह रोग है। जितनी ही छोटी उमर में रोग होता है उतनी ही अधिक घातक भी होता है। यह प्रायः शीत ऋतु या दुर्दिन में होता है। रोग के उभड़ने के पूर्व नाक और गले का उपसर्ग पाया जाता है। जिन बच्चों का स्वास्थ्य अतिसार या बाल-शोष ( सुखण्डी Marasmus ) से गिरा हुआ रहता है उनमें प्रायः यह रोग होता है। रोमान्तिका और कुकास ( Whooping cough ) के उपद्रव रूप में भी रोग पैदा होता है। एवं घातक भी होता है। फक्क के पीड़ित बच्चों में भी रोग के उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है।

**वैकारिकी**—युवक सदृश ही फुफ्फुस के अंतस्थ भाग का शोथ पाया जाता है। फुफ्फुस के पृष्ठ पर स्लेट के रंग के निपात ( Collapse ) के

चिह्न उपस्थित मिलते हैं। बहुतों में घनता के ( Consolidation ) साथ-साथ भूरे, पीले या किंचित् लाल रंग के क्षेत्र मिलते हैं। यत्र-तत्र छोटे-छोटे वायु कोष विस्फार ( Emphysema ) के क्षेत्र भी मिलते हैं। घनता के क्षेत्र कई बार इतने छोटे-छोटे होते हैं कि उनका विनिश्चय स्पर्शन ताडन और श्रवण के द्वारा करना कठिन होता है। कई बार ये घनता के क्षेत्र आपस में एक दूसरे से मिलते हुए बृहद् आकार भी धारण कर लेते हैं जिससे पूरा का पूरा फुफ्फुस खण्ड की घनता हो जाती है।

**लक्षण**-- रोग का प्रारम्भ खाँसी से होता है। दो दिनों के बाद उसमें ज्वर तीव्र हो जाता है श्वास कष्ट बढ़ जाता है। जिससे बालक का चेहरा व्याकुल दिखलाई पड़ता है, नेत्र मन्द पड़ जाते हैं, जिह्वा सूखी और चेहरा पीला पड़ जाता है। बालक चिड़चिड़ा और क्रोधी हो जाता है। चिकित्सक को श्रवणयंत्र से पराक्षा भी नहीं करने देता अर्थात् उसके फुफ्फुस के ऊपर रखते ही हाथ से पकड़ कर दूर करना चाहता है।

खंडीय फुफ्फुस शोथ ( Lobar pneumonia ) से इस अवस्था में लक्षण अधिक तीव्र स्वरूप के मिलते हैं। श्वास की गति बहुत बढ़ जाती है अर्थात् १०० प्रति मिनट तक हो जाती है। तापक्रम $१००^0$ से $१०३^0$ के बीच चढ़ता उतरता रहता है और दारुण मोक्ष से न उतर कर क्रमशः उतरता ( Lysis ) है। रोग का क्रम तीन से चार सप्ताहों तक चल सकता है। तब ज्वर शान्त होता है। फुफ्फुस शोथ की अपेक्षा नाड़ी की गति भी इसमें अधिक तेज पाई जाती है। छोटे शिशुओं में अवसन्नता ( Exhaustion ) चिह्न बहुत जल्दी प्रकट होते हैं।

श्रवणयंत्र से फुफ्फुस की परीक्षा करते हुए दोनों फुफ्फुसों के आधार पर कर्कश श्वसन ( Harsh Breathing ) पाया जाता है। बच्चा जब साँस लेता है ( अन्तः श्वसन में ) आर्द्र ध्वनि की कर्कराहट ( Carckling crepitation ) पाई जाती है। कई बार सम्पूर्ण फुफ्फुस क्षेत्र पर उच्चस्वर की आर्द्र ध्वनि ( Coarse rales ) पायी जाती है। जब बालक गहरी साँस लेता है तब नलिकाकृति श्वसनध्वनि ( Tubular breath sound ) भी

मिल सकती है। साँस और नाड़ी की नियमितता जाती रहती है, साँस भिन्न प्रकार की ( चेन स्टोक Cheyne stokes ) हो जाता है। कई बार साँस पूर्णतया रुद्ध हो जाता है जिससे बच्चा काला पड़ जाता है। हृदय की गति मन्द और नाड़ी अस्पष्ट हो जाती है उसका अनुभव नहीं हो पाता है। पुनः एक दो लम्बे उछ्वास के बाद साँस चलने लगती है। यह एक बड़ी सांघातिक स्थिति है कुछ ही घण्टों में बालक मर जाता है। क्ष-किरण चित्रण से फुफ्फुस के घन भाग पर अपारदर्शक चिह्न ( Opaque Moting ) पाई जाती है।

उपद्रव--अंतःपूयता, अतिसार, मध्य कर्णशोथ, मस्तिष्कावरण शोथ, शिरागत रक्त घनास्रता ( Thrombosis ) मस्तिष्क एवं वृक्क की शिराओं में अधिक मिलता है।

**निदान**--बालक में जो देखने से गम्भीर स्थिति में ज्वराक्रान्त, तेज श्वास एवं नाडी युक्त रहता है और उसके एक या दोनों फुफ्फुसों के क्षेत्र पर आर्द्र करकराहट मिलती है। यदि बालक इन कष्टों से पीड़ित दिखलाई पड़े तो श्वसनी फुफ्फुस पाक ( Broncho Peneumonia ) का निदान आसान हो जाता है, सामान्य श्वसनिका शोथ ( Bronchitis ) तथा श्वसनी फुफ्फुस शोथ से भेद करना आवश्यक है। वास्तव में प्रथम में रोग के आक्रमण, लक्षण तथा चिन्ह मृदु स्वरूप के होते हैं जब कि दूसरे में गम्भीर स्वरूप के खण्डीय फुफ्फुस पाक से भी विभेद करना अपेक्षित रहता है। इसमें रोग का आक्रमण वमन या आक्षेप के साथ पाया जाता है। तथा प्रायः पूर्णरूपेण स्वस्थ बच्चों में सहसा हो जाता है जो इस खण्डीय पाक का एक विशिष्ट चिन्ह है। दूसरी तरफ श्वसनी फुफ्फुस शोथ ( Broncho-Pneumonia ) में दौरा का धीरे-धीरे, प्रारम्भ में प्रतिश्याय और कास के साथ शुरू होना पाया जाता है और पूर्व में किसी रोग के कारण दुर्बल हुए बच्चों में ही प्रायः होता है—इसका स्वरूप भी अधिक गम्भीर और अवसाद के लक्षणों से युक्त पाया जाता है। श्वसनी फुफ्फुस शोथ का पार्थक्य, क्षय ( T. B. of lung ) से भी करना उचित प्रतीत होता है। इसका शंका उपस्थित होने पर वृत्त लेना आवश्यक है। बालक में किसी क्षय-पीड़ित रोगी के साथ सम्पर्क का वृत्त मिलता

है। साथ ही क्षय रोग की विशिष्ट-परीक्षा ( Tuberculin skin test ) अस्त्यात्मक ( Positive ) पायी जाती है।

साध्यासाध्यता--श्वसनी-फुफ्फुस शोथ ( Broncho-Pneumonia ) सदा ही एक गम्भीर स्वरूप का रोग होता है। विशेषतः छोटी आयु के शिशुओं में। यदि कहीं फक्क, हृद्रोग, औपसर्गिक ज्वर के साथ हुआ हो तो असाध्यता अधिक बढ़ती है। बालक के पूर्णतया स्वस्थ होने में कई सप्ताह लग जाते हैं। सुधार होने पर भी फुफ्फुस के तान्त्वीभाव ( Fibrosis ) या श्वासनलिका विस्तृति ( Bronchiolectasis ) की कुछ न कुछ स्थाई विकार शेष रह जाता है।

चिकित्सा—

खण्डीय फुफ्फुस शोथ सदृश ही चिकित्सा की जाती है। रोग से पीड़ित बालक के लिए स्वच्छ, ताजा और प्रचुर हवा की व्यवस्था होनी चाहिये, साथ ही उसको शीत से रक्षा भी आवश्यक है। पुल्टिस और प्लास्टर का छाती पर लगाना भी इस दशा में अच्छा नहीं रहता क्योंकि इनके भार से अधिक श्वासकृच्छ्र होने की सम्भावना रहती है। भोजन सुपाच्य, द्रवप्राय और पौष्टिक होना चाहिये। शिशुओं में माता का दूध या सूखे दूध का चूर्ण जिनकी आधी मलाई निकाल ली गई हो ( Half cream dried milk ) ठीक पड़ता है। बड़ी उमर के बालकों में झोल, रस्सा, शोरवा, पके हुए अण्डे और दूध का घोल, माँस या अण्डे का हलुवा, गर्म किया गाढ़ा दूध प्रभृति आहार देना उत्तम रहता है।

शुल्व, ( Sulpha ) तथा 'पेनिसिलिन' के प्रयोग निःसंदेह मूल्यवान हैं। 'पेनिसिलिन' दस हजार यूनिट की मात्रा में पेशी द्वारा प्रति पौण्ड शरीर भार के ऊपर प्रतिदिन प्रति आठ घंटे पर देना चाहिये। अर्थात् यदि बालक का भार दस पौण्ड हो तो उसे १ लाख यूनिट की मात्रा में प्रति आठ घंटे पर सूचीवेध किया जा सकता है। सूचीवेध के लिए जल विद्राव्य ( Aquous Peniciline ) का उपयोग उत्तम रहता है; क्योंकि प्रोकेन

'पेनिसिलिन' के उपयोग से कई बार 'प्रोकेन' नामक द्रव्य की प्रतिक्रिया स्वरूप रोगी का श्वास-कृच्छ्र आदि बढ़ जाती है।

शुल्व वर्ग की ओषधियों का भी मात्रावत् प्रयोग बड़ा लाभप्रद पाया जाता है। यदि रोग में रोमान्तिका या कुकास का उपद्रव भी चल रहा हो तो 'रेक्लोर', 'मिस्टेक्लि वी वालकोपयोगी' या 'टेट्रासायक्लीन' का उपयोग अधिक लाभप्रद होता है।

बालक के हृदय की निगरानी सावधानी पूर्वक करनी चाहिये। अर्थाद् यदि नाड़ी की गति बढ़ी हुई, श्यावता, यकृत की बुद्धि आदि उपद्रव होने लगे तो हृद्य योग (टिंचर डिजिटैलिस २ से ३ बूँद की मात्रा में) दे। शिरा से एक या दो औंस रक्त का निकलना ( शिरावेध ) भी इस दशा में लाभप्रद होता है।

प्राणवायु ( Oxygen ) का देना भी उत्तम होता है। उत्तेजक ( Stimulants ) का उपयोग भी उत्तम होता है इसके लिए 'उष्णसर्षप' जल स्नान ( १ औंस सरसों १ गैलन जल तापक्रम १०० फे० ) बतलाया जाता है। स्नान के अनन्तर बालक को कम्बल में लपेट कर रखना चाहिये। यदि साँस उथली और अनियमित चलने लगे और ऐसा प्रतीत हो श्वसन संस्थान का निपात ( Failure ) हो रहा है तो 'कोरामिन' ०.५ सी० सी० की मात्रा में पेशी द्वारा देना चाहिये।

रोग में सुधार होने के अनन्तर बालक को स्वच्छ वायु में रखना चाहिये। यदि सम्भव हो तो उसको सामुद्रिक तट या देहात में जल परिवर्त्तन के लिए भेजना चाहिये। खुली हवा में कुछ प्राणायाम का ( Brea-thing Exercise ) की भी व्यवस्था उसके लिये करनी चाहिये।

**आयुर्वेदीय**—प्राचीन निदान के अनुसार श्वसनी फुफ्फुस शोथ भी एक प्रकार से वात श्लेष्मोल्वण सन्निपात की अवस्था है। चिकित्सा में फुफ्फुस शोथ में व्यवस्था किये गये योगों से ही पर्याप्त लाभ होता है। यदि वायु के लक्षण प्रलाप, मूर्च्छा, आक्षेप और अधिक रहें तो बृहत् वात-चिन्तामणि रस का प्रयोग ६० मि० ग्रा० की मात्रा में तीन घण्टे के अन्तर से करने से तीन चार मात्रा में ही लाभ दिखाई पड़ता है। कफ के उपद्रव प्रबल रहे तो

मकरध्वज या चंद्रोदय रस सिंदूर में ही किसी एक योग का ३० मि० ग्रा० की मात्रा में ताजी गुडूची के रस और मधु से देना चाहिए। तीन-चार मात्राओं के प्रयोग से ही उत्तम लाभ होता है। फुफ्फुस शोथ तथा श्वसनी फुफ्फुस शोथ दोनों अवस्थाओं में गुडूची का प्रयोग किसी ओषधि के अनुपान रूप में या स्वतन्त्रतया मधु के साथ देने से सद्यः लाभ होता है। यदि ताजा गुडूची प्राप्य न हो तो उसके काढ़े का प्रयोग करना चाहिये। ये ओषधियाँ हृद्य एवं श्वसनोत्तेजक, निद्राकर और वायुशमक होती हैं। यदि क्वचित् स्वेदाधिक्य प्रभृति उपद्रव हों तो बृहत् कस्तूरी भैरव का प्रयोग इसी अनुपान से करना चाहिये। कफ को आर्द्र करने के लिए छाती पर पुराना घृत, सैन्धव और कपूर की मालिश या पंचगुण तैल की मालिस या किलाट स्वेद ( खोवे की पोटली बनाकर तवे पर गर्म करके उससे छाती पर सेंक करना ) लाभप्रद होता है। अनुपान के रूप में अदरक, पान एवं तुलसी का रस और मधु भी दिया जा सकता है।

## फुफ्फुस का तान्वीभाव तथा श्वसनिका विस्फार
## ( Pulmonary Fibrosis and Bronchiolectasis )

वैकारिक या लाक्षणिक दृष्टि से दोनों अवस्थायें परस्पर में सम्बद्ध हैं। क्योंकि दोनों अवस्थाओं तान्त्वी भाव ( Fiborsis ) फुफ्फुस में पाया जाता है और लाक्षणिक दृष्टि से दोनों का पृथक करना भी कठिन होता है।

श्वसनी फुफ्फुस शोथ के उपद्रव में या उसी के परिणामस्वरूप फुफ्फुस में शोथ के शमन हो जाने पर, मृदु तन्तु ( young fibres ) उस स्थान पर बनते हैं जो आगे चल कर स्थायी व्रण-वस्तु ( Permanent scarring ) का रूप धारण करके कठिन तन्तुओं में परिणित हो जाते हैं। इसी अवस्था विशेष को फुफ्फुस का तान्त्वी भाव ( Pulmonary fibrosis ) कहा जाता है।

दूसरी अवस्था अर्थात् श्वासनलिका विस्तृति भी श्वसनी फुफ्फुस पाक के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न होती हैं। जब श्वसनी या श्वसनिकाओं की दीवाल

में शोथ पैदा होता है। ( Inflammation of Bronchial walls ) जो श्वसनी फुफ्फुस शोथ एक प्रमुख लक्षण है; तो उनकी दीवालें कमजोर हो जाती हैं। उन दीवालों में दृढ़ता लाने के लिए प्रकृति सूत्रों का निर्माण करती है—जिससे इनका लचकीलापन जाता रहता है और वे कड़ी एवं संकुचित हो जाती हैं उनका आकार भी बिगड़ जाता है। ऐसी अवस्था किसी शल्य के श्वसनी के अन्दर पहुँचने अथवा जीर्ण श्वसनिका शोथ ( Chronic Bronchitis ) में अथवा अन्तः पूयता ( Empyema ) के परिणामस्वरूप भी उत्पन्न हो सकती है।

**लक्षण**—बड़ों के समान ही फुफ्फुसीय तान्त्वीभाव तथा श्वत्स नलिका विस्तृति में समान ही लक्षण मिलते हैं। खाँसी का पाया जाना एक प्रमुख लक्षण है जो क्वचित् आकर्ष के स्वरूप का ( Spasmodic ) होता है, जो कुकास ( कूकर खाँसी ) जैसे प्रतीत होता है। श्वास नलिका की विस्तृति के कारण उत्पन्न गड्ढे के खाली रहने पर या कफ निगल जाने से खाँसी सूखी रहती है। जब उस गड्ढे में कफ इकठा होने पर खाँसी आती है तो वह प्रचुर मात्रा में गीली अर्थात कफ के साथ आती है। ऐसी खाँसी सोते समय रात में या बालक के सोकर उठने के समय प्रातःकाल में आती है। कफ प्रायः गन्ध रहित रहता है, परन्तु जब गड्ढों में कोई पूयजनक उपसर्ग पहुँच जाता है तो वह अत्यधिक बदबूदार हो जाता है और रक्त रंजित भी हो सकता है। परिश्रम करने पर दम या साँस का फूलना प्रायः पाया जाता है। कफ के बार-बार निगल जाने से बालक का पचन दूषित हो जाता है उसकी क्षुधा कम हो जाती है। रोग पीड़ित बालक की वृद्धि भी रुक जाती है, उसकी कद नाटी हो जाती है भार औसत से कम हो जाता है। मंद ज्वर ( ९९° ) तक रहता है। बीच-बीच में ज्वर का वेग प्रबल हो जाता है उस समय फुफ्कुस में भी शोथ के चिन्ह उपस्थित हो जाते हैं, पुनः कुछ दिनों के अनन्तर वह मंद-ज्वर का रूप ले लेता है। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में श्यावता, अंगुल्यग्र ( अंगुलि और अंगूष्ठ के अंतिम या अगले पोरवों

की सूजन ) या अंगुष्ठ शोथयुक्त मिलते हैं। इस अवस्था को मुद्‌गरण ( Clubbing ) कहते हैं।

वक्ष की परीक्षा से मृदु रोग में कोई भी चिन्ह नहीं मिलता है, परन्तु नियमतः विकृत पार्श्व की ओर की छाती चपटी पाई जाती है उसके फैलने में भी कमी पाई जाती है, हृदयाग्र का शब्द विकृति पार्श्व की ओर स्थानान्तरित मिलता है। श्वास प्रणाल ( Trachea ) में भी कुछ स्थान च्युति मिलती है। फुफ्फुस में पाये जाने वाले शब्द श्वसनिका के खाली या कफ से भरे रहने के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप के होते हैं। यदि वे स्थान रिक्त हैं तो अंगुलिताडन पर क्षेत्र निनादित या अतिनादित ( Resonant or Hyper resonant ) मिलता है। वाचिक लहरियाँ नलिकाकृति ( Tubular ) मिलती हैं, यदि स्थान स्राव से भरे हों तो अंगुलिताडन से क्षेत्र की मंदता और श्रवण यंत्र से ( Stethescope ) से आर्द्र ध्वनि ( Moist sounds ) पाई जाती है। यद्यपि फुफ्फुस का कोई भी भाग विकार से प्रभावित हो सकता है; फिर भी दाहिने की अपेक्षा बायाँ फुफ्फुस और अन्य भागों की अपेक्षा आधार, अधिकतर विकारग्रस्त होते देखा जाता है।

क्ष-किरण चित्र से विकारयुक्त स्थल पर गहरी छाया ( Heavy Shadow ) पाई जाती है। क्ष-किरण दर्शन ( Sereen ) से प्रभावित पार्श्व की गतिक्रम होती पाई जाती है, मध्यच्छदा की दिशा भी अनियमित मिलती है, लम्बी गहरी साँस खींचने पर विकृत भाग की ओर मध्यच्छदा (Diaphragm) की अनियमितता स्पष्ट हो जाती है।

'लिप्वायडल' का अंतःसंचरण करके क्ष-किरण की सहायता से श्वसनी वृत्त ( Bronchial tree ) का चित्र लेकर देखने से रोग का निश्चय किया जा सकता है।

**साध्यासाध्यता**—फुफ्फुस तान्वीभाव ( Pulmonary Fibrosis ) तथा श्वसनिका विस्फार ( Branchiolecatsis ) दोनों ही रोग बड़ी लम्बी अवधि (वर्षों) तक चलते रहते हैं। बीच-बीच में रोग में लक्षणों की अचानक वृद्धि हो जाती है। ज्वर तेज होता है तथा नयी घनता के क्षेत्र बढ़ जाता है। इस दौरे

के काल में परीक्षा करते हुए फुफ्फुस शोथ का भ्रम हो सकता है; परन्तु यह दौरा तीन दिनों में जाता रहता है ज्वर भी उतर जाता है। इस प्रकार के दौरे रोग में देर-देर से बीच-बीच में होते रहते हैं।

यह रोग असाध्य है। मृदु स्वरूप का नया रोग तो अच्छा हो जाता है, परन्तु बढ़ा हुआ रोग प्रायः अच्छा नहीं होता और बालक की मृत्यु जीर्ण विषमयता के परिणामस्वरूप या श्वसनीशोथ या शिरोगुहा की विद्रधि ( Intacranial Abseess ) के उपद्रव रूप में पैदा होने से होती है।

चिकित्सा—

ताजा हवा, सामुद्रिक तट का वास, अल्प व्यायाम, पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी चाहिए। आसन ( Postural Drainage ) फुफ्फुस और श्वासनलिका में संचित हुए कफ के निकलने के लिए—चारपाई का पैताना १५ इञ्च ऊँचा कर देना चाहिये, बालक को स्वस्थ पार्श्व पर लेटाना चाहिए जिससे विकारयुक्त पार्श्व ऊपर पड़े। दिन में दो बार सुबह-शाम कुछ देर के लिए इस प्रकार के आसान पर लेटाने से खाँसी आती है और कफ निकल जाता है।

औषध के रूप में 'क्रियोजोट' ( Creosote ) $\frac{1}{2}$ बूँद, पोटाश आयोडायड १ ग्रेन + १ चम्मच माल्ट में मिलाकर दिन में तीन बार दे। शल्यतंत्रीय उपचार ( Surgical Treatment ) के रूप में निम्नलिखित शस्त्रकर्मों में जो आवश्यक और उचित प्रयोग हो, करना चाहिए।

मध्यच्छद तंत्रिका मंथन—( Phrenic Evlusion ) वक्षसंधान ( Thoracoplasty ), खण्डछेदन ( Lobectomy ) तथा फुफ्फुसच्छेदन ( Pneumonectomy )।

आयुर्वेदोपचार—जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है रोग असाध्य स्वरूप का है। औषध-चिकित्सा से विशेष लाभ नहीं होता, फलतः शाल्यतंत्र की शरण लेनी पड़ती है। औषध रूप में कफचिन्तामणि रस ६० मि० ग्रा० दिन में तीन या चार बार आर्द्रक श्वरस और मधु से लेने पर लाभ होते देखा गया है। साथ ही पौष्टिक-आहार-विहार एवं औषध का च्यवनप्राश, अश्व-

गंधादिघृत, द्राक्षारिष्ट एवं चन्द्रप्रभावटी का सेवन भी कराना चाहिये। इस रोग में औषध द्वारा केवल लाक्षणिक चिकित्सा करना ही सम्भव रहता है।

## फुफ्फुस विद्रधि
## ( Lung Abscess )

हेतु—१. पूति की दशा जैसे अस्थिमज्जनाक ( Ostomyelitis ) के परिणामस्वरूप बहुत-सी छोटी विद्रधियाँ फुफ्फुस में उत्पन्न हो सकती हैं। २. फुफ्फुस शोथ ( खण्डीय Lobar Pneumonia ) तथा श्वसनी फुफ्फुस-शोथ ( Broncho-Pneumonia ) के उपद्रव रूप में भी फुफ्फुस में विद्रधि बन सकती है। ३. श्वसनी ( Bronchus ) में शल्य की उपस्थिति। ४. नासा और गले के शस्त्र कर्म जैसे तुण्डिका छेदन ( Tousillectomy ) में दूषित धातुओं के श्वसनी प्रचूषण ( Aspiration ) के कारण भी विद्रधि उत्पन्न हो सकती है। ५. अंतः पूयता ( Empyema ) के निदान के लिये सूचीवेध करने के फलस्वरूप भी विद्रधि फुफ्फुस में बनती है।

लक्षण - अन्तः पूयता सदृश लक्षण पाये जाते हैं, अनियमित ज्वर कास, स्वेद तथा भार-क्षय आदि। विद्रधि के स्वयमेव विदीर्ण हो जाने से अत्यधिक परिमाण में पूयस्राव कफ के द्वारा होना पाया जाता है।

चिकित्सा—विद्रधि का निदान होने पर उसे स्वयं विदीर्ण होने की प्रतीक्षा न करते हुए शस्त्रक्रिया के द्वारा उसका भेदन और पूय का निर्हरण करना चाहिये। साधारण स्वास्थ्य वर्द्धक, वल्य एवं पौष्टिक पोषण एवं ओषधियों का सेवन करना चाहिये। साथ में 'एण्टीबायटिक' ओषधियों का प्रयोग भी चलाना चाहिये।

उपद्रव—फुफ्फुस का कोथ ( Cangrene of the lungs ) इसमें बालक के साँस से विशिष्ट प्रकार की बदबू ( Gangrenous acridsmell ) आती है—कफ के गाढ़े भूरे रंग का, रक्त रंजित, पूय युक्त, सड़े हुए सूत्र सदृश फुफ्फुस तन्तुओं के साथ आता है। प्रलेपक स्वरूप का ज्वर ( शाम को ज्वर होना प्रातःकाल में पसीना देकर नित्य उतर जाना ), नाड़ी की गति तीव्र, अवसाद ( Depression ) होकर कुछ ही दिनों में मृत्यु हो जाती है।

## अंतः पूयता
## ( Empyema )

**हेतु**—खण्डीय फुफ्फुस पाक ( Lobar Pneumonia ) के परिणाम-स्वरूप अधिकांश ( ७५% ) यह रोग मिलता है। इस अवस्था में उत्पादक जीवाणु ( Pneumococcus ) रहता है। श्वसनीय फुफ्फुस शोथ के परिणामस्वरूप मिलने वाले अन्तःपूयता में उत्पादक जीवाणु के रूप में प्रायः मालागोलाणु ( Streptococcus ) पाया जाता है। स्तवकगोलाणु ( Staphylococcus ) के उपसर्ग से भी रोग होता है जो प्रायः घातक होता है।

**लक्षण**—बाल्यावस्था के प्रारम्भिक दिनों में यह रोग अधिकतर मिलता है। फुफ्फुस के आवरणों के बीच द्रव ( Effusion ) की मात्रा के अनुसार लक्षणों में भी विविधता पाई जाती है। रोग से पीड़ित बालकों में फुफ्फुस शोथ का इतिवृत्त मिलता है। खाँसी, भार का कम होना, दिनोंदिन क्षीण होना तथा श्वासकृच्छ्र विशेषतः जब स्वस्थ पार्श्व पर बालक लेटता है। इस श्वासकृच्छ्र के कारण बालक या तो एक करवट पर लेटा रहता है या बैठे रहने पर ही उसको आराम मिलता है। खाँसी बार बार आती है जो प्रायः सूखी रहती है। पीड़ा विभिन्न स्वरूप की मिलती है—द्रव के अधिक संचय होने पर उसके भार से पीड़ा की अपेक्षा बेचैनी अधिक पाई जाती है। ज्वर भी कई प्रकार का पाया जाता है, फिर भी ९९ से १०१° फे० के बीच पाया जाता है। कई बार ज्वर १०४° फे० तक पहुँच सकता है।

अन्तः पूयता के निदान में बालक की आकृति का बड़ा महत्व है, चेहरा फीका, मटमैला हो जाता है। स्वेद बहुत आता है, फिर भी त्वचा रुक्ष मिलती है। बालक दिनों-दिन क्षीण होता चलता है। दो तीन दिनों में अंगुली के अग्र भाग का फूलना शुरू हो जाता है। सर्व प्रथम नख के नीचे का भाग फूलता है।

वक्ष की परीक्षा करते हुए निम्नलिखित चिन्ह इस रोग में पाये जाते हैं। विकृत पार्श्व में गति कम पाई जाती है और यदि द्रव का संचय बहुत अधिक

हुआ तो पशु'काओं के बीच के स्थान ( Inter Costal spaces ) उभरे हुए मिलते हैं। हृदयाग्र अपने स्थान से नीचे की ओर पाया जाता है। हृदय के साथ ही साथ श्वास प्रणाल ( Trachea ) भी अपने स्थान से च्युत हो जाती है। अंगुलि ताड़न से विकृत पार्श्व तक पत्थर जैसे मन्दध्वनि ( Stony dullness ) पाई जाती है। परन्तु इस क्षेत्र के ऊपर अर्थात् द्रव संचय के ऊपर के भाग में निनादित ध्वनि ( Tympanitic ) मिलती है। श्रवणयन्त्र से सुनने पर कुछ भाग में श्वसन ध्वनि ( Breath Sounds ) नहीं सुनाई पड़ती। परन्तु द्रव संचय के ऊपरी भाग में नलिकाकृति ध्वनि ( Tubular Sounds ) मिलती है। यदि बालक रोता हो तो उस समय श्रवण यन्त्र से सुनने पर जहाँ पर द्रव का संचय है वहाँ पर ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती है। परन्तु द्रव संचय के ऊपरी भाग में यह आवाज काफी ऊँची सुनाई पड़ती है। क्ष-किरण चित्रण से पूय संचय के भाग पर अपारदर्शक छाया पाई जाती है ( Opaque shadow ) रक्त परीक्षा के द्वारा श्वेत कोषाणुओं की संख्या ( W. B. C. Count ) पच्चीस हजार तक हो जाती है और बहु केन्द्रीय कण ( Polymorphs ) अस्सी प्रतिशत तक हो जाती हैं।

**रोग विनिश्चय**—निम्नलिखित रोगों से इसका विभेद करना आवश्यक होता है। (१) फुफ्फुस शोथ, (२) फुफ्फुस विद्रधि, (३) खण्डीय फुफ्फुस शोथ (४) फुफ्फुस घन शोथ तथा फुफ्फुस निपात ( Lung Collapse ) इसके अनन्तर दूसरी आवश्यक द्रव संचय के विभेद की उपस्थित होती है। इकट्ठा हुआ द्रव जल के स्वरूप का है या पूय के स्वरूप का ?

इसका अन्तिम निर्णय पूय के अन्वेषण के लिए वक्ष में सूचीवेध करके द्रव को निकाल कर देखने से किया जा सकता है। सूई के डालने का स्थान जहाँ पर अधिकतर मंदता का क्षेत्र मिले, होना चाहिए। सामान्यतया अंसास्थि के अधोकोण पर ( Inferior angle of the scapula ) आठवीं या नवीं पशु'कान्तरीय स्थान ( VIII or IX space ) पर वेध किया जाता है। आमतौर से सूई के प्रवेश के पूर्व उस स्थान का संज्ञाहरण पर्याप्त होता है; परन्तु कई बार सार्वदैहिक संज्ञाहरण की भी जरूरत पड़ती है।

अन्वेषणार्थ सूचीवेध के असम्यक् प्रयोग से निम्नलिखित दोष उत्पन्न हो सकते हैं—वातोरस ( Pneumo-thorax ), फुफ्फुस-विद्रधि, शल्यतंत्रीय वातस्फीति ( Surgical Emphysema ), वक्ष की दीवाल का ऊतक शोथ ( Cellulitis ) ।

**साध्यासाध्यता**—छोटे शिशुओं में रोग बड़ा घातक होता है फलतः छोटी उमर के बालकों में मृत्यु संख्या भी अधिक रहती है। यदि चिकित्सा समय से न हो तो जीवाणु रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं और जीवाणुमयता ( Septicaemin ) पैदा करते हैं। कई बार पूयोरस विदीर्ण होकर अपने स्राव को श्वसनी के द्वारा बाहर निकालता है, जिसमें प्रचुर पूय निकलती है। कई बार पूय फुफ्फुसावृत्ति से आगे बढ़कर ऊपर में दो पर्शुकाओं के बीच में आ जाता है उद्भेदी अन्तःपूयता ( Empyma Necessitans )। कई बार पूय का शोषण होकर उस स्थान पर तान्त्वी भाव ( Fibrosis ) पैदा हो जाती है। कई बार इस रोग के परिणामस्वरूप शरीर अन्य अयवयों में भी विद्रधि बन सकती है—जैसे, मस्तिष्क, उदरावृत्ति, हृदयावृत्ति या संधियों में।

**चिकित्सा**--

शुल्वा, पेनिसिलिन तथा अन्य बृहत्तरक्षेत्र के प्रतिजीवी योग ( Sulpha and Antibiotics ) आज के युग में सर्वोत्तम इस रोग की चिकित्सा में माने जाते हैं। पूय की मात्रा अधिक होने पर सूई के द्वारा उसका आचूषण करना चाहिये, पुनः उस स्थान में प्रतिजीवी योग के घोल सूई के द्वारा ही भर देना चाहिए। इसके लिए 'पेनिसिलिन तथा स्ट्रेप्टोमायसिन' का घोल उत्तम रहता है। पुनः स्वच्छ वायु, पौष्टिक भोजन, प्राणायाम प्रभृति श्वसन सम्बन्धी व्यायाम, जलवायु परिवर्त्तन, सामुद्रिक हवा आदि की व्यवस्था करे।

## वातक्षय या वातोरस

## ( Peneumo-thorax )

बाल्यावस्था में विरलता से मिलने वाला यह एक रोग है। फुफ्फुस के क्षय में किलाटीभाव का क्षेत्र ( Caseous area ) के टूटने से फुफ्फुसावरण

का सम्पर्क जारी होता है, हवा भर जाती है। कई बार **फुफ्फुसावरण** में जल के साथ ही साथ वायु भी भरी मिलती है। यह भी क्षय रोग में ही पाया जाता है। कभी-कभी तेज कास के दौरे की वजह से जैसे कुकास या श्वसनी फुफ्फुस शोथ के उपद्रवस्वरूप में फुफ्फुस कोशों का विदार होकर भी वायु फुफ्फुसावरण में भर जाती है। पूय के अन्वेषणार्थ प्रविष्ट की गई सूई के फलस्वरूप फुफ्फुसावरण में हवा भर कर वातोरस का रूप लेती है। किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण भी वातोरस उत्पन्न हो सकता है! श्वसनमार्ग के अवरोध, संक्रमण या जन्मजात विकार के कारण भी बालकों में स्वयंजात वातोरस (Spontaneous Pneumothorax) पैदा हो जाता है।

**लक्षण**—श्यावता ( Cynosis ) तथा क्रमशः बढ़ती हुई साँस लेने की कठिनाई श्वासकृच्छ्र ( Dyspnoea ) एवं बेचैनी।

**चिकित्सा—**

पूर्ण विश्राम। संशामक योग। वायु का क्रमशः बाहर निकालना। चिकित्सा में किसी विशेषज्ञ ( शल्यविद् ) की आवश्यकता पड़ती है।

## वक्ष के आभ्यन्तरीय अंगों के क्षय

**मध्यावकाश ग्रन्थि क्षय** ( T. B. of Mediastinal glands )-सूची और कर्कश ( Harsh ) खाँसी, जिसके दौरे से आते हैं, एक महत्व का लक्षण है। खाँसी से कफ या थूक बिल्कुल नहीं आता है। आमाशय प्रक्षालन से प्राप्त द्रव्य में क्वचित् क्षय के दण्डाणुओं की उपस्थिति पाई जाती है, संभवतः थोड़ा बहुत थूक इन बालकों में खाँसी से निकलता हो और निगल लिया जाता हो। साथ ही रोग से पीड़ित बालकों में भार की वृद्धि का न होना, क्षुधानाश, चिड़चिड़ापन तथा मन्द एवं अनियमित ज्वर ( ९० से १००$^{0}$ के भीतर ) का वृत्त पाया जाता है। प्रथम डेढ़ वर्ष की आयु तक बालक के वक्ष का आकार छोटा होता है, उसकी समाई भी कम होती है, मध्यावकाशीय ग्रन्थियाँ ( Mediastinal glands ) की वृद्धि में श्वास प्रणाल ( Trachea & Bronchus ) एवं श्वसनी के ऊपर उनकी गाँठों का भार पड़ता

है, जिससे खाँसते समय धात्वीय या पित्तल के बजाने जैसी ( Metallic or Brassy ) आवाज पैदा होती है। कई बार इन गाँठों के दबाव से फुफ्फुस के किसी एक भाग का निपात ( Collapse ) भी सम्भव रहता है। कई बार वायु की रुकावट से फुफ्फुस के वायु कोषों की स्थायी विस्तृति भी किसी एक भाग की वातस्फीति ( Emphysema ) हो सकती है।

वक्ष की परीक्षा करते हुए निम्नलिखित विवरण प्राप्त होते हैं—

**दर्शन**–प्रथम एवं पर्शुकान्तरीय स्थान में विस्फारित शिरायें दिखलायी पड़ती हैं। कई बार तो इस प्रकार की व्यक्त शिरायें जन्म से ही मिलती हैं।

**अंगुलिताड़न या श्रवण**—उरोस्थिमुष्टि ( Manubrium ) के नीचे या समीप में ताड़न ( बायें हाथ की अँगुलियों को फैलाकर दाहिने हाथ की बीच वाली अँगुली से ठोकने पर ) करने से ध्वनि की मन्दता मिलती है। अंसास्थि और पृष्ठ वंश के मध्य क्षेत्र में भी ध्वनि की मन्दता मिलती है। ऐसी ध्वनि उस स्थान की ग्रन्थियों की वृद्धि के कारण या उस स्थान के फुफ्फुस के भाग के निपात ( Collepse ) के कारण होती है। दाहिनी ओर अक्षकास्थि के भीतरी प्रान्त ( Inner end ) पर एक सांकोचिक मर्मर ( Systolic murmur ) पाया जाता है, जो पतले और दुबले बालकों में स्पष्ट सुनाई देता है। फुफ्फुस मूल ( Root of the lung ) में आर्द्र कर्कराहट (Crepitation) सुनाई पड़ती है। फुफ्फुस में गर्त्त या गड्ढा ( Cavity ) बन जाने पर गीली खाँसी, अनियमित ज्वर, भार-क्षय अधिक स्पष्ट हो जाता है।

**ध्वनि**—वक्षीय कशेरुक कंटकों ( Thoracic Spine ) के ऊपर श्वसन की ध्वनि विशिष्ट ( Whispering Petroliquy ) स्वरूप की स्वस्थावस्था में दूसरे वक्षीय कशेरुक कंटक ( 2nd thoracic Spine ) तक सुनाई देती है, क्योंकि इसी स्थान पर श्वासप्रणाल ( Trachea ) का विभाजन होता है; परन्तु इस रोग की अवस्था में वह आवाज और नीचे तक अर्थात् चौथे या पाँचवें कशेरुक तक सुनाई देती है। यह ध्वनि सब समय नहीं मिलती है, परन्तु यदि मिले तो रोग के निदान में सहायक होती है। फुफ्फुस के कुछ भाग के निपात ( Collapse ) हो जाने पर उस स्थान पर

ठोंकने से मन्दध्वनि मिलती है साथ ही उस क्षेत्र की श्वसनिकाओं के रुद्ध हो जाने से वायु का प्रवेश ( Air entry ) भी कम हो जाती है। अतः श्वसन ध्वनि ( Breath Sound ) कमजोर मिलती है ! इस प्रकार का क्षेत्र प्रायः कक्षा या किसी अक्षकास्थि के नीचे पीछे के कशेरुक कंटकों के समीप या आगे की ओर दाहिने और मध्य फुफ्फुस खण्ड पर पाया जाता है।

यदि श्वसनिका के अवरुद्ध होने से वातस्फीति ( Emphysema ) पैदा हुई तो ताड़न से उस क्षेत्र पर मन्द ध्वनि मिलेगी और श्वसन की ध्वनि कमजोर या अनुपस्थिति मिलेगी। यदि कहीं घनता पैदा हुई तो खण्डीय फुफ्फुस शोथ ( Lobar Pneumonia ) सदृश चिन्ह मिलते हैं। उस क्षेत्र पर ताड़न करने से मन्द ध्वनि एवं ट्यु बुलर ब्रीदिङ्ग पाई जाती है। ज्वर भी हो जाता है, स्वास्थ्य की प्राप्ति कई मासों में होती है।

क्ष-किरण चित्रण से गाँठों की अपारदर्शक छाया चित्र में पाई जाती है। जिससे निदान में बड़ी सहायता मिलती है। मध्याकाशीय ग्रन्थियाँ कई अन्य कारणों से भी बढ़ी मिल सकती हैं जैसे रोमान्तिका, कुकास, आमवातिक हृद्रोग श्वसनी फुफ्फुस शोथ में सदा तथा कुछ लसीका धातु से निकलने वाले अर्बुद जातीय रोग जैसे ( Lymphadenoma, lypmhosarcomoa ) क्षय पीड़ित रोगी के सम्पर्क में रहने का इतिहास भी रोग के निदान में सहायक होता है। खाँसी का गुप्त रूप में पैदा होकर महीनों तक चलते रहना इस रोग का परिचायक होता है। 'ट्यूबरकुलीन' परीक्षा के द्वारा भी रोग के विनिश्चय में सहायता मिलती है।

**क्षयज श्वसनी फुफ्फुस शोथ** ( Tuberculous Broncho pneumonia )—सामान्य श्वसनी फुफ्फुस शोथ से क्षयज प्रकार का विभेद करना भी कठिन होता है, चिकित्सा क्षयघ्न की जाती है। कई बार यह रोग फुफ्फुस क्षय के स्वरूप ( Pulmonary tuberculosis type ) का पाया जाता है। अधिकतर फुफ्फुस का ऊपर वाला खण्ड ( Upperlobe ) प्रभावित पाया जाता है। रक्तष्ठीवन ( Haemoptysis ) नहीं मिलता

फिर भी फुफ्फुस में गर्त्त ( cavity ) पाई जाती है। आमतौर से रोग बड़े वेग से बढ़ता है और बालक शोष से पीड़ित होकर मर जाता है। इन बच्चों का थूक दण्डाणुओं ( T. B. ) के लिए अस्त्यात्मक ( Positive ) पाया जाता है और बड़ा ही संक्रामक होता है। जो बालक सम्पर्क में आते हैं वे रोग से प्रभावित हो जाते हैं। चिकित्सा में युवक के क्षय के समान ही उपचार करना पड़ता है।

**फुपफुस का कंगुयक्ष्मा** ( Miliary T. B. of the lungs )—सार्वदैहिक क्षय के परिणामस्वरूप तथा उदर या छाती के किसी क्षय पीड़ित केन्द्र के विष का रक्त में संचार होकर रोग का प्रादुर्भाव होता है। सामान्य लक्षणों में बलक्षय, भारक्षय, हृदय गति की तीव्रता, प्रलेपक ज्वर या उच्च तापक्रम ( High swinging temperature ), बार-बार होने वाली उसकी खाँसी, कुछ श्यावता, श्वसन की गति तेज, श्रवण यंत्र से फुफ्फुसों पर यत्र-तत्र ( बिखरे हुए ) आर्द्र ध्वनि ( crepitaions ) लाक्षणिक निदानों के अतिरिक्त क्ष-किरण चित्रण से बर्फ के गिरने जैसी आभा का दृश्य ( Snow Storm appearance ) फुस्फुस क्षेत्र में मिलता है। नेत्र की परीक्षा करने से बुध्न ( Fundus ) के ऊपर एक सफेद दाग पाया जाता है।

**चिकित्सा—**

"स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट" का ( 'एम्बीस्ट्रीन स्क्वीब ) २५-५० मि० ग्रा० प्रतिकिलोग्राम भार के अनुसार प्रतिदिन सूचीवेध। "पैराएमिनो सैलिसिलिक एसिड" ( P, A. S. ) ( ५-२० मि० ग्रा० की मात्रा में ) प्रतिदिन आयु के अनुसार। तथा 'आयसोनियाजीड' ( ५-१० मि० ग्रा० प्रति किलोग्राम शरीर भार पर प्रतिदिन ) का प्रयोग मुख द्वारा करना चाहिये। इस चिकित्सा क्रम को तीन से छः मास तक चलाने से पर्याप्त लाभ होता है। इसके अतिरिक्त स्वच्छ वायु, सूर्य प्रकाश तथा बलवर्द्धक योगों की व्यवस्था करनी चाहिये। कैल्शियम, लौह तथा विटामिन ए और डी की पर्याप्त मात्रा देनी चाहिये। 'शार्कोफेराल', 'पल्मोकाड' या 'फेरेडाल' प्रभृति पेटेण्ट योगों का बल्यरूप में प्रयोग किया जा सकता है।

जीर्ण कंगुयक्ष्मा ( Chronic miliary T. B. ) यह भी इस रोग का एक प्रकार है। जिसमें रोग-क्रम बड़ा लम्बा होता है और बालकों में प्रायः घातक होता है।

## क्षयज फुफ्फुसावरण शोथ
## ( Pleurisy )

रोग के दो प्रकार होते हैं--१. शुष्क तथा २. सद्रव।

शुष्क ( Dry ) प्रकार का तो निदान भी जीवितावस्था में बालकों में करना कठिन होता है, परन्तु सद्रव ( with pleural effusion ) प्रकार का जिसमें फुफ्फुसावरण के दोनों स्तरों के बीच पाये जाने वाले अवकाश में द्रव का संचय होता है, जिससे रोग का निदान सरलता से करना भी सम्भव रहता है। यदि इस द्रव की परीक्षा की जाय तो द्रव जल सदृश स्वच्छ सूखे तृण के वर्ण ( Straw coloured ) और लसीका केशिकीय प्रतिक्रिया ( Lymphocytic Reaction ) की मिलती है। इस द्रव में क्षय के दण्डाणुओं की उपस्थिति नहीं रहती, परन्तु यदि इस द्रव को किसी पालतू चूहे में सूचीवेध के द्वारा प्रवेश कराया जाय तो उसमें क्षय रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

इस रोग की उत्पत्ति अधिकतर बड़ी आयु के बच्चों में होती है। साढ़े तीन वर्ष से कम की उमर में प्रायः नहीं होता है और एक औसत आयु साढ़े छः वर्ष की मानी जाती है।

रोग का आक्रमण प्रायः तीव्र स्वरूप होता है। छाती के किसी पार्श्व में वेदना, ज्वर तीन या चार अंश तक बढ़ा हुआ, ज्वर का दो या तीन सप्ताह में शमन, कई बार रोगारम्भ गुह्य प्रकार का होता है और बालक में श्वासकृच्छ्र साँस लेने में पीड़ा, छोटी-छोटी साँसों का आना और उसकी संख्या का क्रमशः बढ़ना मात्र ही लक्षण उत्पन्न होता है। सूखी खाँसी का पाया जाना भी रोग का एक प्रमुख लक्षण है, खाँसी के साथ रोगी की वेदना अधिक हो जाती है। अन्त में जाकर फुफ्फुसावरण के भीतर द्रव का संचय हो जाता है।

युवकों के सदृश ही चिह्न रोग से पीड़ित बालकों में पाये जाते हैं। विकृत पार्श्व की गति कम हो जाती है, अंगुलि ताड़न से उस क्षेत्र पर ध्वनि मन्द पड़ जाती है, श्रवण यंत्र से श्वसन ध्वनि का भी इस क्षेत्र पर अभाव या मन्दता पाई जाती है। द्रवसंचय के ऊपर में ताड़न की ध्वनि निनादित ( Tympanic ) और साँस की आवाज नलिकाकृति ( Tubular ) पायी जाती है। हृदय और मध्यावकाशीय भाग ( Mediastnum ) दूसरे पार्श्व की ओर अपसारित ( Displaced ) हो जाते हैं जिससे स्वस्थ फुफ्फुस के आधार पर भी एक त्रिभुजाकार मन्दता का क्षेत्र गोरोक्को त्रिकोण ( Groc-cos-triangle ) मिल सकता है।

शुभाशुभ--क्षयज फुफ्फुसावरण-शोथ से पीड़ित बालक देखने में अधिक दुर्बल नहीं दिखलाई पड़ते। बिस्तर के ऊपर पूर्ण विश्राम करते हुए उनका ज्वर धीरे-धीरे उतर जाता है। केवल मात्र द्रव का संचय फुफ्फुसावरण में होता है जो लगभग छः सप्ताह या कुछ अधिक समय में धीरे-धीरे शोषित हो जाता है। रोग मुक्तावस्था में दुर्बलता लम्बे समय तक चलती रहती है। इन बालकों की बीच-बीच में फुफ्फुसों की परीक्षा करते हुए इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये कि रोग अग्रसर तो नहीं हो रहा है। क्योंकि बाद की उमर में जाकर इन बालकों में फुफ्फुसक्षय ( Lung T. B. ) की सम्भावना रहती है।

चिकित्सा—

पूर्ण विश्राम तथा ताजा वायु की व्यवस्था आवश्यक है। रोगी की चिकित्सा में खुले वातावरण में रखना चाहिए। जब ज्वर रहे लघु, सुपाच्य और द्रवप्राय आहार जैसे फल, दूध, बिस्कुट आदि पर रखे, परन्तु ज्वर मुक्तावस्था में अण्डा, दूध, काडयकृत—वसा प्रभृति पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी चाहिए। जीर्ण ज्वर की अवस्था में भी ऐसे पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी चाहिए।

फुफ्फुसावरण में द्रव-संचय के लिए बन्द चिकित्सा ही सर्वोत्तम होती है, परन्तु यदि संचित द्रव की मात्रा बहुत अधिक हो और उसके कारण श्वास-कृच्छ्र अत्यधिक रहे, हृदय अधिक अपसारित ज्ञात हो, हृदय के ऊपर द्रव

संचय का पीडन होने से श्यावता ( Cynosis ), हृद्द्रव ( हृदय की धड़कन ज्यादा हो ) तो सूचीवेध के द्वारा द्रव का निर्हरण ( Aspiration ) करना आवश्यक हो जाता है।

रोगी को एक मास तक पूर्णतया बिस्तर पर सुलाकर रखना चाहिए। जब तक उसके द्रव संचय के चिह्न पूर्णतया दूर हो जायँ, रक्तकणों की अवसादन गति ( Blood sedimentation ) प्राकृतिक ( Normal ) हो जाय तो उसको समुद्र तटवर्ती स्थान के जलवायु में रखकर पौष्टिक आहारादि की व्यवस्था करनी चाहिए।

**शारीरिक भार**—१ माह के अन्तर से लेते रहना चाहिये।

**ओषधियाँ**—तीव्रावस्था में पीड़ा और खाँसी को कम करने के लिए संग्रामक औषधियों का प्रयोग करे। प्रधान चिकित्सा के रूप में 'प्रोकेन पेनिसिलिन' और 'स्ट्रेप्टोमाइसिन'। ४ लाख ½ ग्राम ) के योग का परिस्रुत जल में घोल कर आधी मात्रा में लगातार दस दिनों तक चलाता रहे। आजकल बच्चों के लिये छोटी मात्रा में निर्मित 'प्रोकेन पेनिसिलिन' एवं 'स्ट्रेप्टोमायसिन' के पेडियाट्रिक याग भी बनने लगे हैं। इनका भी प्रयोग किया जा सकता है।

सेवनाथ क्षय रोग नाशक विशिष्ट औषधियों का जैसे 'स्ट्रेप्टोमायसीन 'पैराएमिनों सैलिसिलिक एसिड' 'आयसोनियाजीड' ( Isoniazid ) का उपयोग बहुत लाभप्रद रहता है। भोजन के बाद काड या शार्क या हैलिवट यकृत वसा का प्रयोग १ छोटी चम्मच भर दिन में दो या तीन बार करे। कोष्ठशुद्धि होती रहे इसका भी ध्यान रखे। छाती पर मालिश के लिये 'आयोडेक्स' या 'जोडोल' की मालिश करे। साथ में पौष्टिक आहार की व्यवस्था करे। लौह का योग ( Iron Tonic ) जैसे 'सायब्रोन' ( Sybron ) पेय का भी प्रयोग करे। सुधा की पूर्ति के सीरप कैलसाई हैक्टोफास्फैटिस (Syrup Calcli Lactophophatis ) का प्रयोग १ चम्मच दिन में तीन बार करे।

**आयुर्वेदोपचार**-महालक्ष्मी विलास रस ६० मि० ग्रा० की मात्रा में पान के रस और मधु से दिन में चार बार देना बड़ा उत्तम पाया गया है। एक लेप का

प्रयोग छाती पर करने से बड़ा उत्तम लाभ देखा गया है—भुना हुआ चावल, बकरी की मींगी, सोंठ, कूठ, देवदारु इन द्रव्यों को लेकर धतूर की पत्ती के रस में पीसकर लेप करने से पीड़ा का शमन और द्रव का शोषण होता है।

'म्यूनोमाइसिन' या 'अम्नामाइसिन' का जिसमें प्रोकेन पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन तथा ओम्नाडीन तीनों ही मिला रहता है, सूचीवेध द्वारा ऊपर लिखी मात्रा में ही प्रयोग करना बड़ा लाभप्रद पाया जाता है। शरीर में लाक्षादि, महालाक्षादि अथवा चन्दनादि या चन्दन वाला लाक्षादि तैल का अभ्यंग सदैव वक्षगत क्षय रोग में करना चाहिए। च्यवनप्राश का सेवन, ताड़ के ताजे रस का सेवन बालशोष की चिकित्सा में बतलाये योगों का सेवन कराते रहना चाहिए। क्षयघ्न औषध में निम्नलिखित मिश्रण का प्रयोग भी लाभप्रद है। वसन्त मालती ६० मि० ग्रा०, शिलाजत्वादि लौह १२० मि० ग्रा०, प्रवाल भस्म १२० मि० ग्रा०/ श्रृङ्गभस्म १२० मि० ग्रा०, गुडचीसत्व ½ ग्राम और सितोपलादिचूर्ण ३ ग्राम। सबको पीसकर ३ मात्रा में करके मधु से दिन में तीन बार देना चाहिए। यथावश्यक एक या दो मास तक लगातार सेवन कराना चाहिये।

**वक्ष-गत-क्षय के विनिश्चय के साधन—**

१—अधिष्ठान भेद से प्राप्त होने वाले विभिन्न लक्षण तथा चिन्ह। २—ट्यूबरकूलीन-परीक्षा विधि से त्वचा की प्रतिक्रिया देखना। ३—थूक या कफ में दण्डाणुओं ( T. B. Bascili ) की उपस्थिति। ४—बालक प्रायः थूक को निगल जाया करते हैं—वे बाहर फेंकने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए उनके गले के पश्चात् भाग पर रुई का फाया रखकर ( उनके खाँसते समय ) उस थूक की परीक्षा करना। ५—यह उतनी सन्तोषजनक विधि नहीं है। अतः प्रातः काल में उनके पर्याप्त खाँसने के बाद आमाशय का प्रक्षालन पर आमाशय गत द्रव्य का संग्रह करके उसकी परीक्षा के द्वारा क्षय के दण्डाणुओं की उपस्थिति मिल सकती है। ६—प्रक्षालन से प्राप्त आमाशय द्रव्य का चूहे ( Guinea Pig ) के गात्र में सूचीवेध करके कुछ सप्ताहों के अनन्तर उनको क्षय से पीड़ित देखना।—रोग से पीड़ित बालक के पुरीष ( पाखाने की

जाँच ) की परीक्षा क्षय के दण्डाणुओं की उपस्थिति के लिये करना। ८— रक्त की अवसादन की गति की परीक्षा (Blood sedimentation Rate)। से अवसादन गति बढ़ी मिलती है। ९—क्ष-किरण चित्रण ( X-Ray )। १०— ट्यूबरकूलीन टेस्ट।

वक्षगत क्षय का शुभाशुभ—तीन वर्ष से कम आयु के बालकों में होने वाला वक्ष का क्षय सदा घातक ही होता है, परन्तु पाँच वर्ष या ऊपर की आयु में पाया जाने वाला क्षय उतना घातक नहीं रहता, क्योंकि इन बालकों में निजी रोग क्षमता उत्पन्न होने लगती है। रोगी के ज्वर, नाड़ी, की गति तथा रक्त कणों की अवसादन गति पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। यदि बालक के भार का बढ़ना, मन्द ज्वर का न रहना, नाड़ी की गति का आयु के अनुसार प्राकृत आना, रक्तावसादन की गति का प्राकृत आना ( स्वस्थावस्था में बालकों में अवसादन की गति १० प्रति घंटे होती है, क्षय की अवस्था में बहुत अधिक हो जाती है ) यदि पाया जाय तो भविष्य अच्छा है। जब तक इस प्रकार के सुधार न होने लगें, बालक को बिस्तर पर लेटाकर पूर्ण विश्राम देना आवश्यक होता है।

रोग निवारण ( Prevention )—यदि बालक के परिवार में उसके संरक्षक, माता-पिता या सम्बन्धी फुफ्फुस क्षय से पीड़ित हों तो उनके सम्पर्क से बालक को पूर्णतया पृथक करके रखना चाहिये।

बालकों में रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ही निदान हो जाय तो उन्हें रोगमुक्त किया जा सकता है। दो चिन्ह प्रारम्भिक अवस्था के सूचक बालकों में प्रायः दिखलाई पड़ते, नेत्र में एक विशेष प्रकार का अभिष्यंद ( Phlyect-cnular Conjunctivitis ) जिसमें नेत्र के कोण लाल हो जाते हैं उसमें सरसों के बराबर के आकार की एक फुन्सी जैसी मिलती है। त्वचा पर एक विशेष प्रकार के धब्बे या चकत्ते ( Erythema nodosum ) पाये जाते हैं। वास्तव में दोनों लक्षण के क्षय के पूर्व रूप में ही उत्पन्न होते हैं। यदि इसी समय प्रतिकार किया जाय तो रोग सदा के लिए निर्मूल हो सकता है।

बालकों को क्षय रोग भविष्य में न हो इसके लिए एक विशेष प्रकार की बी० सी० जी० वैक्सीन ( B. C. G. Vaccine ) यूरोप और अमेरिका में प्रायोगिक दृष्टि से चलती रही, जिसका भारतवर्ष में भी प्रयोग हुआ है; परन्तु पूर्ण सफलता रोग निवारण में भी अभी नहीं प्राप्त हुई है। तथापि रोग-निवारण में इसका एक महत्व का स्थान है।

**ट्यूबरकुलीन परीक्षा तथा बी० सी० जी०**—मानवीय ( Human ) अथवा गव्य ( गाय से Bovine ) क्षय के कीटाणुओं से उपसृष्ट बालकों में कुछ ओषधियों के त्वचा में सूई के द्वारा देने से त्वचा में उसकी प्रतिक्रिया पाई जाती है। यह प्रतिक्रिया बालक के संक्रमित होने के छः सप्ताह के भीतर अस्त्यात्मक मिलती और स्थायी रूप से बनी रहती है। यद्यपि व्यक्ति के भेद से प्रतिक्रिया में भी भिन्नता पाई जाती है। रोग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भी प्रतिक्रिया का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का मिलता है। त्वचा की सूक्ष्मग्राहिता ( Sensitivity ) के ज्ञान के लिये 'ओल्ड ट्यूबरकुलीन' ( O. T. ) या 'प्यूरिफायड प्रोटीन डेरिवेटिम' ( P. P. D. ) का प्रयोग त्वचा में सूचीवेध के द्वारा किया जाता है। संवेदनशीलता देखने के लिए कई विधियाँ शोधकों ने निकाली हैं। जैसे "मैण्टकिस" 'हूफ' की परीक्षा-विधि, 'ट्यूबरकुलीन जेलीटेस्ट' तथा 'वोल्मर पैच टेस्ट'। इन विविध विधियों से औषधि का त्वचा में प्रवेश होने से विविध प्रकार की त्वचा की प्रतिक्रिया ( लालिमा, पिडिकोत्पत्ति या चकत्ते का बनाना ) के द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि बालक को पूर्व से क्षय रोग का उपसर्ग हो चुका है और उसी के परिणामस्वरूप यह प्रतिक्रिया हो रही है।

शिशुओं में क्षय रोग के विनिश्चय के लिए सबसे मूल्यवान परीक्षा 'ट्यूबरकुलीन' टेस्ट है। इसकी मात्रा १ मि० ग्रा० ओल्ड ट्यूबरकुलीन अथवा १० टी० यू० पी० पी० डी० की होती है। ट्यूबरकुलीन परीक्षा में का प्रारम्भ बहुत अल्प मात्रा में करनी चाहिए यदि अल्प मात्रा की कोई प्रतिक्रिया न हो तभी बड़ी मात्रा में करनी चाहिए। परन्तु उपर्युक्त मात्रा से अधिक नहीं होना चाहिए।

ट्यूबरकुलीन टेस्ट के तीन प्रकार हैं। त्वक् पूर्व ( Precutaneous ), त्वग् गत ( Cutaneous ) तथा त्वग्मध्य ( Intracutaneous. )

**त्वक् पूर्व विधि**—मल्हम या पैच परीक्षा। पहले चर्म क इथर से साफ कर लेते हैं। सबसे उत्तम स्थान छाती के बीच में उरोस्थि ( स्टर्नम ) के बीच में पाया जाने वाला चर्म का भाग है। ट्यूबरकुलीन मल्हम की अल्प मात्रा १ चावल के परिमाण में लेकर उस स्थान के चमड़े पर रगड़ते हैं या प्लास्टर के रूप में चिपका देते हैं ( पैचटेस्ट )। चर्म को चौबीस घण्टे तक धोया नहीं जाता है। चार से सात दिनों के अनन्तर अध्ययन करते हैं। यदि लिप्त चर्म पर लाल रंग के दाने उत्पन्न होते हैं तो प्रतिक्रिया को अस्त्यात्मक ( Positive ) मानते हैं यदि परीक्षा नास्त्यात्मक है तो कोई भी दाना नहीं निकलता है।

**त्वग गत विधि** (प्रिकेट्स स्कैरीफिकेशन टेस्ट)—गाढ़े ओल्ड ट्यूबरकुलीन की १ बूँद बाहु के शीघ्रता से सूखनेवाली सतह पर छोड़ते हैं। पहले चर्म के इस भाग को इथर से सफाई करके पश्चात् बूँद को छोड़ना चाहिये। फिर प्रिकेट बोरर ट्यूबरकुलीन ड्राप के नीचे पिरोते हैं पुनः बूँद के केन्द्र पर। बोरिंग की क्रिया इतने हल्के हाथ से करनी चाहिए कि रक्त न आवे। अब ट्यूबरकुलीन बूँद सूखने के लिए छोड़ देना चाहिए। उसके ऊपर कोई आवरण नहीं देना चाहिए। ४८ घण्टों के बाद अध्ययन करना होता है। यदि ३ मि० मी० के क्षेत्र में लाल रंग के दाने उत्पन्न होते हैं तो परीक्षा अस्त्यात्मक मानी जाती है; अन्यथा नास्त्यात्मक।

हीफ की बहु वेधन-परीक्षा विधि—यह परीक्षा एक खज से करनी होती है जिसके ऊपर छः सूइयाँ लगी रहती है। गाढ़े ओल्ड ट्यूबरकुलीन (पी.पी.डी.) के चर्म के ऊपर फैला देते हैं। इसके ऊपर मशीन को रखकर उसके कैच को ढीला कर देते हैं जिससे सूइयाँ चमड़े में १-२ मि० मी० गहराई में चुभ जाती हैं। यदि अड़तालीस घण्टे में लाल दाने उत्पन्न होते हैं तो परीक्षा के अस्त्यात्यक मानते हैं।

**त्वग् मध्य विधि**—इस परीक्षाविधि में कुछ अभ्यास की अपेक्षा रहती है। यदि सूचीवेध सम्यक् नया हुआ है सूचीवेध के स्थान पर सफेद चकत्ता उभड़ा मिलेगा। अग्रबाहु के बाहरी अस्थि के चर्म पर परीक्षा करना उत्तम स्थान है। इसमें चमड़े को थोड़ा ऊँचा उठाकर एक महीन सूई का प्रवेश कराते हैं। इस सूई को चमड़े के अन्दर ही पड़े रहने देते हैं। फिर ट्यूबरकुलीन सोल्यूशन को उसी सूई से भर देते हैं। मात्रा ०·१ सी. सी. रहती है और ट्यूबरकुलीन सोल्यूशन में या तो ओ. टी. या पी. पी. डी. रहता है। ओ. टी. की मात्रा ०·०१, ०·१ एवं १ मि० ग्रा० की रहती है और पी.पी.डी. की १ से ५ टी. यू. ए. की रहती है। प्रतिक्रिया को तब तक अस्त्यात्मक नहीं माना जाता है जब तक तीसरे दिन कम से कम १० मि. मी. व्यास के चकत्ते उस पूरित क्षेत्र पर न बनें।

ट्यूबरकुलीन परीक्षा अस्त्यात्मक होना यह बतलाता है कि बालक में क्षयरोग का संक्रमण पहले से उपस्थित है अथवा इसमें बी. सी. जी. वैक्सीन दिया जा चुका है। पूर्णतया नास्त्यात्मक परीक्षा यह बतलाती है कि बालक क्षयरोग के संक्रमण से पूर्णतया मुक्त है। हालांकि कई परिस्थितियों में बालक क्षयोपसृष्ट होने पर भी परीक्षा नास्त्यात्मक मिल सकती है। यथा—(१) संक्रमण के संचयकाल में (२) ट्यूबरकुलर मेनीन्जाइटिस अथवा कंगुक्षय के परवर्त्ती अवस्था में (३) रोमान्तिका से पीडित बालकों में (४) वैयक्तिक विशेषताओं से ट्यूबरकुलीन परीक्षा अज्ञात कारणों से कुछ बालकों में यह परीक्षा नास्त्यात्मक मिलती है।

चूँकि क्षय रोग बहुत व्यापक हो गया है इसलिये इसके संक्रमण से आजीवन बच कर रह जाना बड़ा ही कठिन है। बचाव का एक ही मार्ग है व्याधि-क्षमता ( Immunity ) का होना। रोग निवारण की मामूली शक्ति तो अपने आप ही पैदा हो जाती है; परन्तु यह संक्रमण की तीव्रता, पोषणाभाव तथा आहार विहार के समुचित न रहने से टूट जाती है और व्यक्ति रोग से आक्रान्त हो जाता है। बालकों में युवकों की अपेक्षा व्याधि क्षमता अधिक कमजोर होती है, फलतः इनको क्षयी माता-पिता के सम्पर्क से रोग के उपसृष्ट

होने की सम्भावना भी अधिक रहती है, इसलिये इन बच्चों का क्षयी माता या पिता से जन्म से पृथक् रखकर पालन पोषण करना श्रेयस्कर रहता है।

**कृत्रिम व्याधि क्षमता** ( Artificial Immunity )—स्कैण्डनेविया आदि देशों में इस कृत्रिम विधि से क्षय रोग को रोकने में बड़ी सफलता मिली है। भारत में भी इसका प्रयोग बहुत हो चुका है और आज भी चल रहा है। बहुलता से प्रयुक्त होनेवाली विधि "बेसिलस कालयेट ग्वेरिन" ( B. C. G. ) का टीका यह एक प्रकार के गव्य क्षय-कीटाणुओं ( Bovine T. B. ) के सम्वर्धन और संस्कार से प्राप्त होने वाला 'वैक्सीन' है। इसका मुख से प्रयोग न करके त्वचा के मध्य में ( Intradermal ) सूचीवेध से १ सी० सी० की मात्रा में किया जाता है। इस सूचीवेध के अनन्तर त्वचा में स्थानिक ( Appearance of nodule ) छोटी गाँठ का निकलना पाया जाता है, जिससे प्रयोग की सफलता का अनुमान किया जाता है। सफल प्रयोग से क्षय रोग निवारक क्षमता चिरस्थायी आती है।

काल्मेट तथा ग्वेरिन नामक वैज्ञानिक बी. सी. जी. वैक्सीन प्रथम खोज की थी। आज कल इसका निर्माण मद्रास, बैंकाक और बाण्डुंग में हो रहा है। बी. सी. जी. के सूचीवेध के अनन्तर जो त्वचा के मध्य में दिया जाता है कुछ ही सप्ताहों में सूई की जगह पर एक छोटी गिल्टी सी बन जाती है। कई बार उस क्षेत्र की लसीका ग्रन्थि भी बढ़ जाती है। धीरे-धीरे यह गिल्टी और उसके ऊपर की फुन्सी उपशमित हो जाती है और उस स्थान पर एक छोटा व्रणवस्तु रह जाता है। अपवाद रूप में वैक्सीन की सामान्य मात्रा ही असाधारण प्रतिक्रिया पैदा करती है और सूचीवेध के स्थान बड़ा फोड़ा हो जाता है। यह स्थानिक विक्षति भी स्वयमेव कुछ महीनों में शान्त हो जाती है।

ट्यूबरकुलीन परीक्षा जिन बालकों में अस्त्यात्मक होती है उनमें पहले से ही विशिष्ट प्राप्त क्षमता रहती है अस्तु इन रोगियों में बी. सी. जी. के प्रयोग से किसी लाभ की आशा नहीं रहती है। प्रत्युत इनमें बी. सी. जी. के प्रयोग तीव्र प्रतिक्रिया की भी सम्भावना रहती है। अस्तु जहाँ पर ट्यूबरकुलीन परीक्षा नास्त्यात्मक हो उन्हीं बालकों में बी. सी. जी. का प्रयोग लाभप्रद रहता है।

इस टीके का प्रयोग नवजातों, शिशुओं, बालकों तथा अधिक वय के बालकों में अर्थात् सभी उम्र के बालकों में किया जा सकता है। बी. सी. जी. से उत्पन्न व्याधि क्षमता में विविधता पाई जाती है। कई बार इससे १ वर्ष के लिये और कई बार १० वर्ष तक के लिए क्षमता उत्पन्न होती है। नवजात शिशुओं में बी. सी. जी. का टीका लग जाने पर उनकी पाठशाला जाने की आयु तक क्षमता बनी रहती है। ऐसा ६०% बालकों में देखा गया है।

क्षय रोग निरोधक अन्तराष्ट्रीय इकाई की अधुना सीधे बी. सी. जी. टीका देने की राय देने लगा है। उसके नवीन शोधों के अनुसार किसी प्रकार पूर्व की परीक्षा 'प्री ट्यूबरकुलीन' परीक्षा की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जन-समूह में टीका लगाने में व्यक्ति को कई बार चिकित्सक के समक्ष आना पड़ता है बाद में टीका की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसलिये अनावश्यक दौड़-धूप की परेशानियों से बचने के लिये सीधे टीका देने की विधि सम्यक् प्रतीत होती है।

★

# अध्याय १५

## हृदय के रोग

वैकारिकी ( Pathological ) हृदय की गति, शब्द, ताल, लक्षण तथा चिन्हों के जानने के पहले, यह भी आवश्यक है कि उसके प्राकृतिक रूप का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय। बालकों में युवकों की अपेक्षा कुछ एक विशेषतायें पाई जाती हैं। उनकी इस सम्बन्ध में जानकारी आवश्यक है।

प्राकृतिक गति (Normal Rate)—नाड़ी तथा हृदय की गति बालकों में प्रथम वर्ष की आयु में १०० प्रति मिनट होती है। आगे चलकर तीसरे या चौथे वर्ष की आयु में वह ८० से ९० तक प्रति मिनट पाई जाती है। पुनः दूसरे दाँतों के जन्म के बाद से लेकर युवावस्था तक वह ७० से ८० प्रति मिनट तक हो जाती है। नाड़ी की गति का नियंत्रण तंत्रिका तंत्र ( Nervouscontrol ) से होता है फलतः कई बार वातिक प्रकृति के बालकों में उनके शरीर की परीक्षा करते हुए भय से कई बार सहसा बढ़ जाती है और वह १४० या उससे अधिक प्रति मिनट तक हो सकती है।

हृदयाग्र तथा उसका स्पंदन ( Apex beat )—बालकों में युवकों की अपेक्षा इसमें भी विशेषता पाई जाती है। हृदयाग्र के स्पंदन का स्थान युवकों की अपेक्षा कुछ ऊँचाई पर अर्थात् चतुर्थ पर्शुकान्तरीय स्थान पर बाईं ओर की स्तन रेखा के समीप भीतर की ओर पाया जाता है। हृदय के पूर्णतया स्थिर होने से बालक के बायें करवट लेटने से वह ( हृदयाग्र स्थान ) स्तन रेखा के कुछ बाहर भी मिल सकता है। अंगुलिताड़न से स्वाभाविक हृद्मन्दता का क्षेत्र बाईं ओर की स्तन रेखा से दाहिनी ओर उरोस्थि ( Sternum ) के दाहिने किनारे तक मिल सकता है।

हृद् शब्द ( Heart sound )—इसमें कुछ विशेषतायें मिलती हैं। फुफ्फुस क्षेत्र का द्वितीय शब्द ( Pulmonary second sound ) वृहद्

धमनी के द्वितीय शब्द ( Aortic second sound ) से अधिक ऊँचा मिलता है, ऐसी स्थिति दस वर्ष की आयु तक रहती है। इसके पश्चात् से युवावस्था पर्यन्त ये दोनों शब्द समान ऊँचाई के मिलते हैं। युवावस्था के पश्चात् वृहद् धमनी का शब्द फुफ्फुस शब्द से ऊँचा पाया जाता है। हृदयाग्र के स्थान पर कई बालकों में एक तीसरा शब्द ( विस्फार Diastole में ) भी सुनाई पड़ता है, जो स्वाभाविक ही होता है और किसी विकार का सूचक नहीं रहता।

**रक्त-दाब** ( Blood Pressure )—युवकों की अपेक्षा बालकों में रक्त-दाब कम पाया जाता है। आय की वृद्धि के साथ सांकोचिक रक्त-दाब बढ़ता जाता है वैस्फारिक रक्त-दाब में बहुत कम अन्तर आता है। ऊर्ध्व शाखा की अपेक्षा अधोशाखा में दाब अधिक ( २० मि० मी० पारद ) रहता है। सांकोचिक ७० मि० मी० पारद जन्म के बाद और युवावस्था में पहुँच कर १०० मि० मि० पारद तक रहता है। वैस्फारिक ५० से ७० मि० मि० पारद के बीच रहता है।

**लक्षण**—( मूर्च्छा—Fainting ) वाल्यावस्था में अचानक बेहोश या मूर्छित होने का वृत्त प्रायः पाठशाला के छात्रों में मिलता है। अधिकतर लोगों को हृदय के विकार की शंका होती है, परन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। वाल्यावस्था की मूर्च्छा हमेशा हृदय के अतिरिक्त किसी दूसरे अवयव के विकार से होती है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि युवकों में पाई जाने वाली हृद्रोग जन्य मूर्च्छा दो कारणों से मिलती है, वृहद् धमनी की फिरंग जन्य विकृति या आमवातज हृद्रोग से द्विकपर्दी कपाट ( Mitral valve ) की खराबी से ये दोनों परिस्थितियाँ वाल्यावस्था में प्रायः संभव नहीं हैं।

सुस्ती, जल्दी थकावट का आना, हृदय क्षेत्र की पीड़ा ( Precordial pain )—ये लक्षण हृदय के आंगिक विकार में हो सकते हैं और नहीं भी मिलते। हृदय के विकार में सबसे अधिक महत्व के लक्षण साँस का फूलन ( Breathlessness ), श्यावता ( होठों और चेहरे का कालापन) (Cyanosis ) आमवात से पीड़ित होने के इतिहास आदि हैं।

**चिन्ह**—हृदय की गति का तेज होना ( Tachycardia ) यदि वास्तव में किसी हृदय के विकार के कारण होता है तो उसके साथ हृदय की मन्दता का क्षेत्र ( Area of cardiac dullness ) बढ़ा हुआ मिलेगा। प्रथम शब्द में कुछ परिवर्त्तन मिलेगा जो पेशीगत दुर्बलता का द्योतक है। परन्तु दौरे के स्वरूप में हृदय गति का बीच-बीच में तेज हो जाना वातिक कारणों ( Nervous origin ) से होता है। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि सोने और जगने में भी हृदय गति का अन्तर होता है। जाग्रतावस्था में सोने की अपेक्षा हृदय की गति १० प्रति मिनट बढ़ी हुई मिलती है।

**ध्वनि** ( Bruits )—हृदय के द्वारों पर उत्पन्न होने वाला मर्मर शब्द भी दो प्रकार का होता है। एक तो क्रिया सम्बन्धी ( Functional ), दूसरा अंग विकार से उत्पन्न। यदि मर्मर केवल सांकोचिक हो तो अधिकतर स्वाभाविक या क्रिया सम्बन्धी होता है, परन्तु उसकी उपस्थिति संकोच और विस्फार दोनों कालों में पाई जाय तो वह निश्चित रूप से वैकारिक होता है।

इसी तरह सांकोचिक शब्द यदि लघु, मृदु और द्वित्व युक्त दो बार लगातार ( Reduplicated ) हो तो वैकारिक नहीं होता, परन्तु विस्फार के काल का द्वित्व हमेशा किसी विकार की सूचना देता है। बालकों में आमवातज हृदय के रोग में द्विकपर्दीकपाट के विकार में अग्र पर इस प्रकार का शब्द उत्पन्न होता है।

**ताल** ( Rhythm ) **का दोष**—१-बालकों में अन्तः श्वसन ( Expiration ) में हृद्गति का बढ़ना और वहिःश्वसन ( Expiration ) कम होना प्रायः पाया जाता है, विकार की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है।

**२-अतिरिक्त प्रकुञ्चन** ( Extra systole )-हर तीन या चार स्पंदनों के बाद एक बार सांकोचिक स्पन्दन अधिक हो जाता है जो विश्राम काल में मिलता है; परन्तु परिश्रम के समय नहीं मिलता है। यह अवस्था निश्चित रूप से कुछ विकार की सूचना देती है आमवातज हृद्रोग की तीव्रावस्था के

शान्त हो जाने के पश्चात् प्रायः इस प्रकार का अतिरिक्त स्पंदन पाया जाता है। इसमें भी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं रहती।

३—धड़कन के दौरे ( हृद्द्रव Paroxymal Tachycardia )—यह तकलीफ बाल्यावस्था में कम पाई जाती है; फिर भी किसी भी आयु में हो सकती है। इसके उत्पादन में हेतु हृदय की मांसपेशी की दुर्बलता होती है अथवा हृदय का जन्मजात विकार। इस रोग का दौरा जैसे होता है, अचानक हृदय की चाल बढ़ जाती है और दो चार बार प्रति मिनट तक हो जाती है। जो कुछ मिनटों से घण्टों या कुछ दिनों तक रह सकती है। दौरे के काल में बालक श्वासकृच्छ्र से युक्त, श्रान्त और श्यावता से युक्त हो जाता है। चिकित्सा में बालक को अधिक परिश्रम, उत्तेजना, अजीर्ण आदि से बचाना चाहिए। यदि दौरा बार-बार आने लगे तो उसे निद्राकर या संशामक ( Bromides ) का प्रयोग करें। 'डायगोक्सिन' की प्रथम मात्रा ०·१२५ मि० ग्रा० देकर पश्चात् प्रति आठ घण्टे पर ०·०२५ मि० ग्रा० की मात्रा मुख से दे। कई बार 'स्ट्रोफैन्थीन' की $\frac{१}{२००}$ ग्रेन की मात्रा में शिरा द्वारा देने से ही पर्याप्त लाभ होता है। इसके अतिरिक्त 'क्विनीडिन' मुख से ( १$\frac{१}{२}$ से ३ ग्रेन की मात्रा कुल चौबीस घण्टे में ) देने से भी पर्याप्त लाभ होता है। अधुना शिरा द्वारा 'प्रोकेनामाइड' ५०—१०० मि० ग्रा० की मात्रा में अथवा 'लिण्डोकेन' १—३ मि० ग्रा०।प्रति किलो ग्रा० भार के हिसाब से १ मात्रा देने से पर्याप्त लाभ होता है।

**आयुर्वेदोपचार**—चन्द्रोदय $\frac{१}{२}$ रत्ती की मात्रा में पुनर्नवा स्वरस या गुडूची स्वरस और मधु के अनुपान से देने से लाभ होता है। हृदय की धड़कन बहुत परेशान करे तो अर्जुन की छाल से पकाया दूध या शालपर्णी से पकाया दूध मिश्री डाल कर पीने को दे। वरुण चूर्ण या कषाय का उपयोग भी वातिक हृद्रोग में लाभप्रद होता है। यह उत्तम संशामक योग है। सभी प्रकार की हृदय की अताल या अनियमितता में लाभप्रद होता है। कोष्ठ विबंधयुक्त हो तो मृदु रेचन एवं वातानुलोमक 'हिंग्वादिबटी' का यथावश्यक उपयोग करना चाहिये।

**सहज या जन्मजात हृद्रोग** ( Congenital Heart Disease )—कई प्रकार के हो सकते हैं। मामूली से लेकर भयंकर स्वरूप के प्राण घातक तक। इनके पैदा होने में कई कारण भाग लेते हैं—

१—हृदय के अवयवों का ( किसी हिस्से ) प्राकृत विकास न होना।

२—हृदय कपाटों का मुख बन्द होना ( Atresia ) या संकुचित होना जैसे हृदय के फुफ्फुस की संकीर्णता ( Stenosis of Pulmonary valve ) या द्विकपर्दीकपाट द्वार की संकीर्णता ( Mitral Stenosis )।

३—वैकासिक दोष ( Developmental Anomalies ) जैसे कपाटों के पर्दों के दोष के दोष आदि। जैसे निलय के पर्दों के दोष धमनीगत पर्दों के दोष, खुले डक्टस आर्टेरियोसिस इन तीन प्रमुख दोषों के कारण पचास प्रतिशत सहज हृद्रोग के बच्चे मिलते हैं।

**लक्षण**— विकारों के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। श्यावता (Cyanosis )—एक महत्व का चिह्न है। यह भी कई कोटि का मिलता है। हाथ पैर एवं शरीर के खुले भागों पर श्यावता सबसे अधिक मिलती है। नेत्र के श्वेत भाग में शिराओं का ( Purplish colour ) का जाल, मुख की श्लेष्मल कला पके बेर के रंग की हो जाती है। शाखा ( हाथ पैर ) ठंडे और ढीले पाये जाते हैं। श्यावता के साथ ही साथ रक्तगत लालकणिकाओं ( R. B. C. ) की संख्या भी बढ़कर सत्तर लाख से एक करोड़ तक पहुँच जाती है। शोणवर्तुलि ( Hb ) की भी प्रतिशत मात्रा बढ़ती हुई ११ से १२% प्रतिग्राम तक हो जाती है।

**अँगुली के पोरवों की सूजन** ( Clubbing of the finger )—यह सूजन अंगुलियों के मृदु भाग तक ही सीमित रहती है क्वचित् अधिक गहराई तक पहुँचकर जीर्ण रोगियों में अस्थ्यावरण से नई अस्थि का रूप धारण करके चौड़ी होकर स्थायी विकार का रूप धारण करती है। इस अवस्था को मुद्गरण कहते हैं।

**श्वास कृच्छ**—( Shortness of Breath )—साँस का छोटा होना यह भी एक प्रमुख लक्षण के रूप में इस रोग में पाया जाता है। मामूली

परिश्रम से भी साँस फूलने लगती है। कई बार श्वासकृच्छ्र का दौरा आता है, बालक मूर्च्छित हो जाता है और उसमें आक्षेप आने लगते हैं। कइ बार ठंडे पानी से स्नान कराने से हालत अधिक सांघातिक हो जाती है। यदि इस प्रकार के दौरे बार-बार आवें तो निस्सन्देह रोग घातक होता है। इन बालकों में ठंडे जल से पोंछना बन्द कराके केवल तैल की मालिश और गर्म जल में भिगोयी तौलिये को निचोड़ कर उससे शरीर का परिमार्जन कराना चाहिए।

**वक्षस्तोद या उरःशूल**—कुछ बालकों में दौरे के साथ-साथ पीड़ा भी पाई जाती है। जिसका अन्दाज न बोलने वाले बच्चों में उनके क्रंदन से और बोलने वाले बच्चों में उनके बतलाने से लगाया जा सकता है।

**कास**—सहज हृद्रोग में खाँसी भी प्रायः मिलती है। दोनों फुफ्फुस रक्ताधिक्य युक्त पाये जाते हैं। यह रक्ताभिसरण दो कारणों से होता है—रक्त की पूर्ण मात्रा की पहुँच न होना या हृदय क्षेत्र में अधिक विस्तृत होने से फुफ्फुस के फैलने के लिए पूरी जगह का न मिलना।

**पूर्ण पोषण में बाधा**—सहज हृद्रोग से पीड़ित बालकों का पोषण बढ़िया नहीं हो पाता। इससे उनके शरीर दुर्बल रहते हैं और उनकी मानसिक तीव्रता भी कम होती है। ऐसा माना जाता है कि अगर किसी बच्चे का पोषण पूर्ण हो रहा है, फिर भी उसकी वृद्धि पर्याप्त नहीं हो रही है तो वह संभवतः सहज हृद्रोग से पीड़ित है।

**शारीरिक चिन्ह** ( Physical sings )—वक्ष में दर्शन ( Inspection ) से कोई विशेष बात नहीं मिलती। फिर भी शिशुओं में पशुका की उपास्थियाँ एवं उरोस्थि ( Costal cartilages, Sternum ) पर्याप्त मुलायम होती है। फलतः हृदय के बढ़ने से आगे को निकल सकती है। साथ ही हृदय के विस्तृत होने से फुफ्फुस का आधार भी निपतित ( Collapsed ) हो जाता है, जिससे छाती के पार्श्व की दीवाल भी श्वसन के समय में अन्दर की ओर धँस जाती है।

अंगुलिताड़न ( Percussion )—अंगुलियों के जरिये हल्की ठोंक से

हृदय के बढ़े हुए परिमाण का ज्ञान किया जा सकता है। स्पर्श से ( Palpation ) एक प्रकार के कम्प ( Thrill ) का अनुभव किया जा सकता है।

श्रवण ( Auscultation )—अधिकतर बालक रोगियों में प्राकुञ्चनिक मर्मर पाया जाता है, जो प्रायः कर्कश होता है। इस प्रकार की मर्मर ध्वनि हृदय के मध्य में, हृदय के आधार पर या अग्र पर मिल सकती है। यदि मर्मर ऊँची आवाज का रहा तो सम्पूर्ण वक्ष पर और पीठ की ओर से भी सुना जा सकता है। विकार को प्रकृति के ऊपर विस्फार कालीन ( Diastolic Murmur) भी मिल सकता है--जैसे दोनों नलियों के बीच के पर्दे के खुले रहने से ( Patency of the Inter-Venticulr Septum ) या धमनी वाहिनी ( Ductus Arteriosus ) बन्द न होना।

**निदान** ( Diagnosis )--आधुनिक शल्यतंत्र के विकास के साथ ही साथ हृदयगत विकारों के ठीक-ठीक निदान करने की कला का विकास भी अत्यधिक हो गया है। अब केवल कुछ लक्षण और चिन्हों के आधार पर आनुमानिक निदान तक सीमित न रह कर अन्यान्य साधनों की भी सहायता हृद्रोगों के निदान में ली जाने लगी है। उन साधनों का नामोल्लेख मात्र ही किया जा रहा है। १—क्ष-किरण, २—वैद्युतिक हृत् चित्रण ( Electro Cardiogram ) ३—बेरियम दूध पिलाकर अन्न नलिका और हृदय के पारस्परिक सम्बन्ध का क्ष-किरण का दर्शन ( X-ray Screen ), ४—हृदय में नाड़ी शलाका का प्रवेश करा के विभिन्न कोष्ठों की स्थिति का देखना ( Catheterization of the Heart )—तथा ५—हृदय रक्त वह चित्रण ( Angio Cardiography ), रक्त वह संस्थान में क्ष-किरण अपारदर्शी द्रव ( Radio opaque iodine ) का संचरण करा के क्ष-किरण से चित्र लेना। इन साधनों के लिये कुशल विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है जो किसी सुसज्ज चिकित्सालय में ही सम्भव है।

**प्रकार**—सहज हृद्रोग कई प्रकार के हो सकते हैं। बालक के विकास सम्बन्धी दोषों से कई प्रकार के विकार आ सकते हैं। इसको पुनः दो बड़े

वर्गों में बाँटा जा सकता है, एक जिनमें श्यावता ( Cyanosis ) पाई जावे, दूसरे जिनमें श्यावता न हो—उदाहरणार्थ :—

| श्यावता युक्त | श्यावता-रहित |
| --- | --- |
| फुफ्फुस द्वार का अच्छिद्रण ( Pulmonary Atresis ) | अलिन्द और निलय के मध्य के पर्दे का दोष। (Septal defect of Auricle and ventricle ) |
| त्रिकपर्दी कपाट का अच्छिद्रण ( Tricuspid Atresia ) | बृहद्धमनी संकीर्णता ( Sub aortic stenosis ) |
| फुफ्फुस द्वार संकीर्णता ( Pulmonary stenosis ) | महा धमनी के दो चाप (Double Aortic Arch ) या |
| महा धमनी और फुफ्फुसीय धमनी का विपरीत स्थान ( Transposition of aorta ) or Pumonary Artery ) | महा धमनी वाहिनी का खुला होना ( Patent Ductus Arteriosus ) |

शुभाशुभ—यदि श्यावता अत्यन्त अल्पवायु में ही शुरू हो जाय तो पश्चात् कालीन बाल्यावस्था तक भी उसका जीना कठिन रहता है। अगर श्यावता कुछ वर्षों के बाद में आवे और सदा बनी रहे और अंगुलियों के अगले पोरवों में सूजन भी पाई जाय तो उसका जीवन युवावस्था को प्राप्त करेगा या नहीं इसमें भी शंका रहती है, अचानक साँस का फूलना, बेहोशी, मूर्च्छा आदि लक्षण भी बाल्यावस्था में होने लगे तो स्थिति चिन्ताजनक ही रहती है। बालक का साधारण स्वास्थ्य, वृद्धि और विकास समुचित पोषणों के बावजूद भी यदि संतोषजनक नहीं हो रहा है तो भविष्य भी खराब ही है ऐसा समझे। सहज हृद्रोग से पीड़ित बालकों में श्वसन संस्थान के रोगों के होने की अधिक सम्भावना रहती है। अगर कहीं फुफ्फुस शोथ का उपद्रव हुआ तो उससे बालक प्रायः मर जाते हैं। सहज हृद्रोग से पीड़ित बालकों के हृदय में संक्रमण पहुँचने की भी सम्भावना रहती है, जो प्रायः घातक होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि रोग असाध्य स्वरूप का है। हृदय के शस्त्र कर्म के

नवीन आविष्कारों से बहुत कुछ आशा की झलक दिखलाई पड़ती है। रोग का निर्मूल करने में कोई चिकित्सा सफल नहीं है। चिकित्सा केवल अपनी शक्ति से रोग का यापन कर सकती है और व्यक्ति की आयु की अवधि को बढ़ा सकती है। इन बालकों की सुरक्षा के लिये अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। उनके आहार-विहार तथा वैयक्तिक स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का भली-भाँति समझना और तदनुकुल चलने की व्यवस्था करनी चाहिये। उनके दाँत, मुँह और गले की सफाई के ऊपर खास ध्यान रखना चाहिये। जितना हल्का परिश्रम उनके लिये साध्य हो उतना ही परिश्रम का कार्य देना चाहिये। रोग से पीड़ित बालकों में जाड़ा अधिक लगता है अतएव उनको जाड़े से रक्षा करने के निमित्त गर्म कपड़े, हाथ से दास्ताने और मोजे आदि की व्यवस्था होनी चाहिये। ओषधियों का सहज हृद्रोग की चिकित्सा में कोई विशिष्ट स्थान नहीं है।

## आमवातज हृद्रोग
## ( Rheumatic Heart Disease )

बाल्यावस्था में पाये जाने वाले जितने भी रोग हैं उनमें सबसे अधिक गम्भीर स्वरूप का रोग यह आमवातज हृद्रोग है। प्रथम तो यह बहुतायत से पाया जाता है और दूसरी बात यह है कि यह यावज्जीवन मनुष्य को निकम्मा बना देता है।

**हेतुका**—शीत और आर्द्र जलवायु ( वर्षा ऋतु ) के देश और काल में आमवात तथा तज्जन्य हृद्रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है। इसी प्रकार हीन पोषण वाले बालकों में तथा घनी आबादी के क्षेत्रों में भी इस रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है। धनियों की अपेक्षा गरीबों के बच्चे रोग से अधिक पीड़ित रहते हैं।

**कुलज प्रभाव**—कई परिवारों में आमवात हृद्रोग देखा जाता है। एक परिवार में कई बच्चों के पीड़ित होने का भी वृत्त मिलता है। अतएव रोग की उत्पत्ति में कुलज प्रभाव भी कार्य करता है।

**आयु**—आठ से दस साल की उम्र में प्रायः होता है। तीन वर्ष की आयु में या युवावस्था के समीप की आयु में बहुत कम देखा जाता है।

**लिङ्ग**—बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में अधिक होता है।

**अन्य व्याधियों के साथ सम्बन्ध**—तुण्डिका शोथ तथा गले के विकार कई बार आमवातज हृद्रोग के पूर्व में मिला करते हैं। गले की परीक्षा करने से उसमें लालिमा, सूजन और तुण्डिका का शोथ युक्त होना पाया जाता है। अतएव आमवातज हृद्रोग को पैद करने में गले की खराबी को भी कारण माना गया है।

**अन्य रोगों का साहचर्य** - आमवात (आमवातज सन्धि शोथ) ( Rheumatic Polyarthritis ), लास्यक ( Chorea एक विशेष प्रकार का वातिक रोग ) तथा आमवातज हृद्रोग। तीनों व्याधियों में साहचर्य पाया जाता है। कई बार हृद्रोग, आमवातज सन्धि शोथ तथा लास्यक के उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न होता है और कभी-कभी पूर्णतया स्वतन्त्र भी बिना किसी प्रकार के संधि-शोथ के लक्षण के भी उत्पन्न हो सकता है।

**जीवाणु-विज्ञान** ( Bacteriology )—आमवातज हृद्रोग निश्चित रूप से एक संक्रमण जन्य व्याधि है अर्थात् जीवाणुओं के उपसर्ग से होने वाली शोथ स्वरूप का रोग है। गले की खराबी जो इस रोग के पूर्व रूप में पैदा होती है, उसमें उत्पादक कारण हीमोलिटिक स्ट्रेप्टोकोकल का संक्रमण (Haemolytic Streptoccal Infection ) है। इस उपसर्ग के परिणामस्वरूप धातुओं की प्रतिक्रिया होती है जो प्रत्यूर्जता के स्वरूप ( Allergic ) होती है जिसके फलस्वरूप तीव्र आमवात के रूप में शोथज प्रतिक्रिया ( Inflammatary reaction ) होता है और पूय रहित संधियों के शोथ आमवाताभ सन्धि शोथ ( Rheumatoid Arthritis ) हृदयावरण शोथ ( Pericarditis ) अथवा आमवातज हृद्शोथ ( Rheumatic carditis ) पैदा हो जाता है।

कुछ लोग स्पंदनशील विषाणुओं ( Filter passing Virus ) को रोग के उत्पादन में हेतु मानते हैं।

**वैकृतिकी** ( Pathology )—रोग से पीड़ित बालकों की मृत्यु के अनन्तर हृदय की परीक्षा करने से निम्नलिखित परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं। हृदय आकार में बढ़ा हुआ रहता है, द्विकपर्दी ( Mitral ), त्रिकपर्दी ( Tricuspid ), महाधमनी ( Aortic ) तथा फुफ्फुस ( Pulmonary ), कपाट ( Valves ) विशेषतया प्रभावित मिलते हैं इनके ऊपर छोटे-छोटे वृन्तहीन अंकुर ( Small-Sessile Vegetation ) बने मिलते हैं। जिससे द्वार के पर्दे मोटे हो जाते और सिकुड़ जाते हैं। हृदयावरण (Pericardium) में भी रक्ताधिक्य और शोथ के चिन्ह उपस्थित मिलते हैं। दोनों स्तर आपस से संसक्त मिलते हैं। क्वचित् उसमें द्रव भी एकत्र मिलता है।

दूसरी विशेषता 'आस्चाफ' की गाठों ( Aschoffdnodules ) का मिलता है, ये गाठें छोटी रक्तवाहिनियों के समीप उत्पन्न होती हैं, जो वास्तव में शोथ सदृश परिवर्तनों के छोटे-छोटे केन्द्र ( Small foci of Inflamation) होते हैं। जब रोग में सुधार होने लगता है तो ये गाठें या तो विलीन हो जाती हैं या उनके स्थान पर व्रण वस्तु ( Scar tissues ) बनकर स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार गाँठें शरीर के विभिन्न भागों में उत्पन्न हो सकती हैं। जैसे हृदय के विभिन्न भागों में फुफ्फुस में तथा त्वचा और सम्पूर्ण शरीर में।

रोग की तीव्रावस्था में औपद्रविक रक्ताल्पता पाई जाती है। रक्त में लसीका कोशिकामयता ( Lymphocytosis ) की संख्या अधिक हो जाती है। रक्त कणों की अवसादन गति बढ़ी मिलती है।

**लक्षण**—श्वासकृच्छ्र, भार की कमी ( पोषण के ठीक होने पर भी ), रक्ताल्पता आदि तकलीफों के लिए बालक चिकित्सक के सामने आता है। परीक्षा करने पर उसमें हृदय शोथ ( Carditis ) के लक्षण उपस्थित मिलते हैं। बच्चे के चेहरे का फीकापन बढ़ता चलता है और उसका चेहरा आगे चलकर मोम जैसे वर्ण का हो जाता है। रोग के प्रारम्भ में ज्वर १०० से १०१° तक हो जाता है जो लगातार दो तीन सप्ताह तक चलता रहता है। ज्वर के साथ नाड़ी गति बढ़ती है और बढ़कर १४० तक प्रति मिनट तक हो

जाती है जो कई सप्ताहों तक चलती रहती है। क्षुधा नाश, वमन, नाक से रक्तस्राव, हृदय के क्षेत्र में पीड़ा, बेचैनी, सोने में चौंकना और रक्ताल्पता भी पाई जाती है। हृदय की मांसपेशी कमजोर हो जाती है।

**चिन्ह**—अंगुलि ताड़न तथा श्रवण से वक्ष के ऊपर हल्के ठेपन से हृदय की मन्दता का स्वाभाविक क्षेत्र बढ़ा हुआ मिलता है। अग्र पर प्रथम शब्द स्वाभाविक से लघु और मृदु मिलता है। पश्चात् उस पर प्राकुञ्चन मर्मर का ( Systolic murmur ) पाया जाना आवश्यक है। क्योंकि कई बार केवल प्राकुञ्चन मर्मर अस्थायी होता है और बालक के साधारण स्वास्थ्य के बढ़ने पर गायब भी हो जाता है। विस्फारकालीन मर्मर यदि उपस्थित हो तो वह निश्चित रूप से हृदय की विकृति का द्योतक होता है। इस तरह का मर्मर अधिकतर कपाट के दोषों से उत्पन्न होता है। जो आगे चलकर पूर्णायु में द्विकपर्दी कपाट संकीर्णता ( Mitral stenosis ) का रूप धारण करता है। आगे चलकर कई दौरों के बाद महाधमनी द्वार ( Aortic ) भी विकृत हो जाता है और वहाँ पर भी मर्मर मिल सकता है। इसके फलस्वरूप वाम निलय ( Left Aurticle ) की अति पुष्टि ( Hypertrophy ) हो जाती है जिससे हृदयाग्र ( Apex ) स्थानान्तरित होकर प्राकृत से नीचे पाँचवें या छठें पर्शुकान्तरीय स्थान में आ जाता है तब एक विशेष प्रकार की नाड़ी ( Water Hammer Pulse ) भी मिल सकती है।

आमवातज हृद्रोग में परिहृदयावरण शोथ ( Pericarditis ) के भी लक्षण उपस्थित मिलते हैं। हृदय का क्षेत्र बढ़ जाता है ( हृदय की विस्तृति )। हृदय के आवरणों के रगड़ से एक प्रकार की घर्षण ध्वनि हृदय के आधार के ऊपर मिलती है - यह शब्द कुछ दिनों से लेकर कुछ सप्ताहों तक उपस्थित रहता है। कई बार बिना किसी मर्मर के भी हृदयावरण का शोथ मिल सकता है। उरःशूल पाया जाता है, कई बार बालक इस दर्द को छाती में न कहकर उदर में बतलाता है, परन्तु पीड़ा का संवहन बाईं ओर के कन्धे पर प्रायः होता है। कई बार फुफ्फुस क्षेत्र पर हृदयावरण शोथ के चिह्न मिलते हैं जैसे बाईं ओर के अंसास्थि के अधःकोण के नीचे वाले फुफ्फुस के क्षेत्र पर अंगुलि-

ताड़न से मन्दता और श्रवण से नलिकाकृति (Tubular Breath Sounds) उपस्थित पाया जाता है। कई बार फुफ्फुस घनता ( Lung-Consolidation ) का चिह्न भी पाया जाता है जो सम्भवतः आमवातज फुफ्फुस शोथ ( Rneumatic Pneumonia ) परिणाम स्वरूप होता है। कई बार फुफ्फुसावरण शोथ के सदृश भी चिह्न उपस्थित पाया जाता है।

हृदयावरण शोथ के सुधार के अनन्तर कई बार तो पूर्णतया शोथ का उपशम हो जाता है और कोई भी चिह्न शेष नहीं मिलता है। क्वचित् इसके विपरीत हृदय के आवरणों के दोनों स्तरों में आश्लेष ( Adhesion ) हो जाते हैं--जिससे क्रमशः बालक के हृदय की स्थिति अधिक गम्भीर हो जाती है और भविष्य में कुछ ही वर्षों में उसका हृदय के निपात ( Cardiac failure ) से मृत्यु भी हो जाती है।

**उपद्रव**–१. आमवातज ग्रन्थियों (Rheumatic Nodules) की उत्पत्ति, २. त्वचा के ऊपर गोलाकार किनारेदार मण्डलों की (Skinrash Erythema Marginatum ) उत्पत्ति, ३. फुफ्फुसगत रोधगलितांश (Pulmonary infarct ) इससे छाती में पीड़ा तेज होती है और रक्त रंजित थूक आता है। ४. शिरागत रक्त का जमना (Venous Thrombosis) भी पाया जाता है।

**रोगक्रम और साध्यासाध्यता** ( Course & Prognosis )—बालकों में हुआ हृद्रोग अल्प संख्यक बालकों में पूर्णतया अच्छा हो जाता है। यहाँ तक कि विकार का लेश भी नहीं शेष रह जाता है। बहुतों में हृदय के अवयवों में स्थायी क्षति होकर विकार युवावस्था तक या यावज्जीवन चलता रहता है। कई बालकों की रोग से पीड़ित होने से अल्पकाल में मृत्यु हो जाती है। बालकों में गले की खराबी पर विशेष ध्यान देना चाहिये। उनकी गले की खराश के अच्छे हो जाने के बाद भी तीन-चार सप्ताह तक बालक की निगरानी रखनी चाहिये। यदि हृदय के विकार के कुछ चिह्न प्रतीत हों तो सद्यः उपचार करने से भावी व्याधि की भयंकरता कम हो जाती है। अधिकतर बालक प्रथम दौरे को बड़े आसानी से बर्दाश्त कर लेते हैं, परन्तु दौरों का बार-बार होना रोग को बहुत बढ़ा देता है।

हृदय की किंचित् विस्तृति और प्रत्यावहन ( Slight Hypertrophy & Regurgitation ) से बालक भावी जीवन में अपने कार्यों में समर्थ पाया जाता है दूसरों में जिनमें द्वार की हानि अधिक हुई और रोग द्विकपर्दी कपाट संकीर्णता ( Mitral stenosis ) का रूप ले लिया हो तो भावी जीवन संकटाकीर्ण हो जाता है—और कुछ वर्षों में उनकी जीवन-यात्रा भी समाप्त हो जाती है।

रोग की तीव्रावस्था में पुनः-पुनः दौरे होते रहते हैं। कई बार आमवातज हृदय शोथ के ( Rhematic Carditis ) ये दौरे घातक होते हैं। बालक अंत तक होश में रहता है। अहिफेन का प्रयोग कुछ लाभप्रद होता है। १० वर्ष के बालक के लिए अहिफेन ( Morphia ) १/६ ग्रेन की मात्रा में या हेरोयन ( Herion ) १/१० ग्रेन की मात्रा में दिया जा सकता है।

**चिकित्सा—**

**तीव्रावस्था में**—पूर्ण विश्राम और सावधानीपूर्वक की गयी सुश्रुषा लाभप्रद रहती है। उन्हें बिस्तर पर पूर्ण आराम से तकिया लगाकर कम्बल ओढ़ाकर रखना चाहिए। किसी काम के लिए उठना नहीं चाहिए। मल-मूत्र का त्याग, बिस्तर पर लेटे-लेटे करना चाहिए। भोजन भी अपने हाथ से न करके धात्री के हाथों से कराना चाहिए। भोजन सुपाच्य, हल्का और पौष्टिक देना चाहिये। अल्प मात्रा में थोड़ा-थोड़ा करके कई बार देना चाहिए। दूध, मांस या अंडे या हलुवा, मांस का शोरबा या रस्सा, अंडे, फलों के मुरब्बे ( jelly ) मछली, फल, पतली रोटियाँ, मक्खन प्रभृति द्रव्य उसके आहार में प्रधानतया देना चाहिए।

निद्रा प्रचुर मात्रा में लेनी चाहिये। इसके लिए यदि आवश्यक हो तो निद्राकर औषधियाँ जैसे ( Dowers Powder ) 'डोवर्स' का चूर्ण २ ग्रेन की मात्रा में देना चाहिए। छाती की पीड़ा में 'एण्टीफ्लाजिस्टीन' या अलसी की पुल्टिस छाती पर लगाना चाहिए। इस अवस्था में खाँसी का पाया जाना कष्टप्रद होता है उसके लिए 'टिंचर कैम्फर को' १५ बूँद की मात्रा में देना चाहिए। वमन भी एक कष्टप्रद लक्षण मिलता है जिसमें सामान्य

संशामक योगों का प्रयोग उतना लाभप्रद नहीं होता। इसके 'रेक्टी फायड स्प्रिट' में बनाये टिंचर आयोडीन का प्रयोग ( १ बूँद एक वाइन ग्लास दूध को छोड़कर ) करना चाहिए।

'सोडियम' सैलिसिलेट' एवं 'एस्प्रिन' ( बड़ी मात्रा में ) का प्रयोग आमवात में प्रसिद्ध है, परन्तु इसके द्वारा दो ही कार्य होते देखे गये हैं— संधियों की पीड़ा का कम होना और ज्वर का उतरना। आमवात हृद्रोग की चिकित्सा में इनका उपयोग कुछ भी लाभप्रद नहीं होता है। इसी प्रकार शुल्व वर्ग की ओषधियाँ भी लाभप्रद नहीं पाई जाती हैं। फिर भी शुल्व वर्ग की ओषधियों का प्रयोग थोड़ा करना चाहिए। 'पेनिसिलीन' गोलियाँ मुख द्वारा १ लाख यूनिट प्रतिदिन देना चाहिए। सूचीवेध के द्वारा भी 'पेनिसिलिन' का उपयोग भी किया जा सकता है।

नये शोधों के परिणामस्वरूप ए. सी. टी. एच. ( A. C. T. H. ) का प्रयोग होने लगा है, परन्तु इसका भी उपयोग 'सैलिसिलेट' सदृश संधि शोथ और ज्वर के ऊपर ही होता है। आमवातज हृद्रोग की अवस्था में लाभप्रद नहीं पाया जाता है। मंद स्वरूप के हृदय शोथ में जरूर लाभप्रद रहता है; परन्तु बढ़ी हुई अवस्था में शरीर में नमक का निरोध ( Salt retention ) पैदा करके रक्त के आयतन ( Volume ) को बढ़ाकर निपात ( Failure ) की अवस्था पैदा कर सकता है इसलिए चिकित्सा काल में नमक को रोक देना चाहिए फिर भी रक्तगत 'पोटैशियम' स्तर को बनाये रखने के लिए दो या तीन ग्राम की मात्रा में प्रतिदिन 'पोटैशियम क्लोराइड' देते रहना चाहिए।

तीव्रावस्था में हृत्पत्री ( Digitalis ) के उपयोग में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। रोग की तीव्रावस्था में सामान्यतया इस ओषधि का निषेध ही उत्तम है।

**हृद्पात** ( Cardiac Failure )—यदि हृदय में अवसाद के लक्षण उपस्थित हों जैसे श्यावता, फुफ्फुस में रक्ताधिक्य, यकृत का बढ़ा होना, सर्वाङ्ग शोफ आदि का होना तो चिकित्सा में दूसरे प्रकार का उपक्रम रखना आवश्यक

होता है। इस अवस्था में रक्त विस्रावण ( रक्त का निकालना ) एक उत्तम विधान है। यह कार्य हृदय क्षेत्र पर जोंक लगातर या शिरावेध करके तीन से चार औंस तक रक्त निकाल देने से हो सकता है।

हृदय के निपात में मूत्र का निकलना कम हो जाता है—इसलिए ऐसे योगों की व्यवस्था करना आवश्यक होता है जो प्रचुर मात्रा में मूत्र का स्राव करावें। इसके लिए 'डायूरेटिन' ( Diuretin ) ७½ से १० ग्रेन की मात्रा में दिया जा सकता है। यदि सर्वाङ्ग शोफ अधिक हो तो उत्तम फल पारद के मूत्रलों से जैसे 'मर्सेलील' ( Mersalyl ) का पेशी द्वारा १ सी० सी० की मात्रा में एक या दो सूचीवेध करने से मिलता है। केवल एक सूचीवेध से ही मूत्र का त्याग अड़तालीस घण्टे तक बहुत बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त 'क्लोरथायजायड' के योगों का उपयोग भी उत्तम रहता है। 'लैसिक्स' नामक पेटेण्ट योग का मूत्रल रूप में उपयोग अधिक हो रहा है।

हृत्पत्री ( Digitalis ) भी एक उत्तम औषधि है—जिसका उपयोग इस दशा में लाभप्रद होता है। इसके देने की एक योजना इस प्रकार हैं 'टिंचर डिजिटैलिस' १५ बूँद की मात्रा में दिन में चार बार करके प्रारम्भ करे, एक दिन में चार मात्रा देकर दूसरे दिन से ७½ बूँद दिन में तीन बार करके दे। जब नाड़ी की गति प्रति नब्बे मिनट तक आ जाये तो ओषधि का सेवन कुछ दिनों तक और चलाकर बन्द कर दे। 'डायगोक्सिन ( Digoxin ) ०·२५ मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में दो बार। यह भी एक उत्तम योग है--औषध सेवन काल भर नाड़ी की गति पर ध्यान रखना चाहिये। हृत्पत्री के स्थान पर दूसरी औषधि 'टिंचर स्ट्रोफैन्थस' दिया जा सकता है--इसकी मात्रा २ से ३ बूँद दिन में दो या तीन बार है।

यदि उदर में जल का संचय होकर जलोदर की अत्यधिक बढ़ी हुई अवस्था मिले; तो व्रीहिमुख शस्त्र और नाड़ी ( Trocar and Canula ) के द्वारा उदर का वेधन करके जल को निकालना चाहिये। पैर का शोथ भी यदि अत्यधिक दीखे तो दो तीन स्थानों पर वेधकर जल को निकाले। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि इस अवस्था में त्वचा की राग निवारण

क्षमता बहुत कम हो गई रहती है अतएव लघु उपसर्ग भी पाकोत्पत्ति करा सकता है—फलतः वेध करते समय पूतिनिरोधी ( Antiseptic ) उपक्रमों की व्यवस्था रखनी चाहिये ।

**रोग मुक्तावस्था** ( Convalescence )—जब रोगी में पर्याप्त सुधार हो जाये उसकी नाड़ी की गति तथा रक्तावसादन की गति प्राकृत आ जाये अर्थात् निद्रा में नाड़ी की गति ८० प्रति मिनट और स्वाभाविक अवसादन की गति ३ से ६ तक आ जाये। अवसादन गति ( Sedimentation ) का १० से अधिक होना विकार का द्योतक है। तो क्रमशः बढ़ाते हुए उसे प्राकृत परिश्रम पर लावे। व्यायाम प्रारम्भ में हल्का हो जैसे, उठना, टहलना, घूमना आदि। बालक का स्वास्थ्य और भार बढ़ता चले, नाड़ी में सुधार रहे तो वह पाठशाला में जाना भी प्रारम्भ करे। पहले आधे समय के लिए पश्चात् पूरे समय तक पाठशाला में काम करे और सुधार हो तो उसे कुछ खेल-कूदों में ( जो हल्के पड़ें ) भाग लेने दे। बालक का आहार पौष्टिक हो। औषध के रूप में लौह, 'आयोडायड्स' एवं पैरीश का भोजन ( Parrish's food ) दे।

**प्रतिषेधात्मक** ( Prevention )—रोगोत्पादक हेतुओं में गरीबी भी एक हेतु बतलाया गया है, इसके लिए गरीब आदमियों के रहन-सहन के मापदण्ड में पर्याप्त सुधार की आवश्यकता रहती है। आबादी घनी हो तो उसके घनापन को दूर करना, ताजा हवा, सूर्य प्रकाश, पौष्टिक भोजन, सुखद वस्त्र आदि की व्यवस्था करनी चाहिये। यह कार्य राष्ट्र का है और इन सुधारों की प्राप्ति भी धीरे-धीरे हो सकती है।

रोग की रोक थाम के लिए कुछ वैयक्तिक उपाय भी लाभप्रद होते हैं। जैसा कि पूर्व में उल्लेख हो चुका है कि बालकों में बार-बार पाई जानेवाली गले की खराबी रोगोत्पादन में भाग लेती है—अतएव उसके दूरी-करण की पूरी व्यवस्था करनी चाहिए। इसके लिए "सल्फावर्ग" की ओषधियों से समुचित उपचार करते हुए कुछ दिनों तक 'सोडियम सैलिसिलेट' और 'एस्प्रिन' का प्रयोग करते रहना चाहिये। बीच-बीच में हृदय की परीक्षा करके देखते रहना चाहिये कि उसमें कोई क्षति नहीं पहुँच रही है। गले की खराबी पैदा

करने में माला गोलाणु ( Streptococcus ) भाग लेता है। इनके नष्ट करने के लिए 'सल्फावर्ग' की ओषधियों के अलावे 'पेनिसिलिन' १ लाख युनिट की गोली प्रतिदिन मात्रानुसार मुख द्वारा देने से भी लाभ होता है। वृहत् क्षेत्र के प्रतिजीवी एवं कार्टिसोन का प्रयोग भी आमवात में लाभप्रद रहता है। आमवातज हृद्रोग के निवारण के विचार से इन दोनों ओषधियों का उपयोग लम्बे समय तक करते रहना चाहिये। इनके इस्तेमाल से गले का उपसर्ग हमेशा के लिए दूर हो जाता है—जिससे भविष्य में हृद्रोग की सम्भावना भी कम हो जाती है। कुछ विशेषज्ञों की राय तुण्डिका छेदन ( Tonsillectomy ) के सम्बन्ध में पाई जाती है, परन्तु इसका परिणाम भी हृद्रोग के निवारण में निराशाजनक ही है।

**आयुर्वेदोपचार**—आमवातज हृद्रोग में दोष का विचार करते हुए चिकित्सा से लाभ होता है। आमवात के उपचारों के लिए गुग्गुल, लौह, ताम्र, शिलाजतु का प्रयोग उत्तम रहता है। इसके लिए वृहद्‌योगराज गुग्गुल, आमवातारि गुग्गुल, ( $\frac{1}{2}$–१ ग्राम ) या आमवातारिरस ( १२५–५०० मि० ग्रा० ) का प्रयोग प्रातः-सायं करे। आम के पाचन की दृष्टि से शुण्ठी, हरीतकी, सैंधवादि से निर्मित पाचनों का प्रयोग कुछ खाने के बाद करना चाहिए—इसके लिए पंचसम चूर्ण या वैश्वानर चूर्ण १-२ ग्राम की मात्रा में देना चाहिए। पेट का साफ रखना आवश्यक होता है, एतदर्थ ऐसा भोजन जैसे-दूध, बैगन का भत्ता, टमाटर का जूस, सेव का मुरब्बा, गेहूँ की रोटी, करैले, पटोल, सूरण का शाक, उड़द का बड़ा आदि देना चाहिये। एरण्ड तैल सप्ताह में एक या दो बार देना चाहिये। प्रातःकाल बड़े चम्मच से १ या २ चम्मच दे। यह एक आमवात एवं तज्जात उपद्रवों के लिये विशिष्ट ओषधि है। यह केवल एक रेचन मात्र ही नहीं प्रत्युत एक आमवातघ्न अमोघ ओषधि भी है--उसका प्रतिनिधि कोई भी और द्रव्य आमवात में नहीं हो सकता।

हृदय की पेशियों के बल को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित औषधियों में से किसी एक या दो तीन का मिश्रण निःशंक होकर देना चाहिए।

नागार्जुनाभ्र रस ( सहस्त्रपुटी ) अभ्रक अर्जुन स्वरस की भावना से निर्मित मात्रा ६०-१२५ मि० ग्रा० )

रस सिन्दूर, चंद्रोदय या मकरध्वज--३० से ६० मि० ग्रा० तक दिन में दो बार। इसके साथ निम्नलिखित औषधियों का यथा लाभ मिश्रण भी दिया जा सकता है।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| मुक्ताभस्म | ३० से | ६० मि० | ग्रा०। | |
| प्रवाल पिष्टि | ,, | ,, | ,, | । |
| व्यामाश्मपिष्टि | ,, | ,, | ,, | । |
| हरिताश्मपिष्टि | ,, | ,, | ,, | । |
| रक्ताश्मपिष्टि | ,, | ,, | ,, | । |

अनुपान के रूप में वरुण या अर्जुन के छाल के चूर्ण और मधु से या केपल मधु से या दूध में घोलकर दे। शालपर्णी या अर्जुन का क्षीरपाक-एतदर्थ अर्जुन की छाल या शालपर्णी का पञ्चांग २५ ग्राम लेकर उसमें दूध ½ लीटर लेकर और पानी २ लिटर लेकर अग्नि पर चढ़ा देना चाहिए। जब जल का भाग जल जाय और दूध मात्र शेष रहे तो उतार लेना चाहिये। इस दूध में मिश्री मिलाकर रख लेना चाहिए और रोगी को पीने के लिये देना चाहिये। इस प्रयोग को कई मासों तक चलाते रहना चाहिये। अर्जुन की पत्ती के रस का मधु से सेवन भी हृद्य होता है। अर्जुन की छाल का चूर्ण बनाकर १-२ ग्रा० की मात्रा में मधु से चटाना भी लाभप्रद रहता है। काकमाची ( जंगली मकोय ) का काढ़ा अर्क या रस का प्रयोग भी हृदय जन्यशोथ में लाभप्रद होता है। हृदय के रोगों में 'जवाहर मोहरा' ६०-१२५ मि० ग्रा० की मात्रा में मधु से देना भी उत्तम रहता है। 'खमीरा गावजबान'-१-३ ग्राम की खुराक में दिन में कई बार दिया जा सकता है। इस योग से हृदय एवं मस्तिष्क को बल मिलता है।

तीव्र हृदयशोथ की नवावस्था में मृगशृंग भस्म ( अर्कक्षीर से भावित ) का उपयोग श्रेष्ठ है। यह उरःशूल को कम करता है, धमनियों के शोथ को

कम करता है, बढ़े हुए हृदय के परिमाण को प्राकृत पर लाता है साथ ही हृदय के लिए बल्य है, तीव्र हृदयता ( Tachycardia ) को कम करके प्राकृत अवस्था में लाता है। लेखक ने इसके १ ग्राम के नित्य के प्रयोग से महाधमनी-विस्फार ( Disecting Anneurysm of the Aorta ) में जो सम्भवतः शोथीय उद्भव का रहा, डेढ़ मास में अच्छा लाभ पाया है। शूल के शमन के लिए चक्रदत्त की बनी बड़ी वाली हिंग्वादि बटी भी उत्तम पड़ती है। मूत्र की कमी प्रतीत होने, लघु पंचमूल ( शालपर्णी, पृश्नपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी और गोखरु सममात्रा में लेकर बनाया हुआ ) कषाय पीने के लिए देना चाहिए। इसके अतिरिक्त पुनर्नवा का अर्क का देना भी उत्तम है। इससे मूत्र और मल की शुद्धि होती है। पुनर्नवा के अन्य योग भी मूत्रल होते हैं।

★

# अध्याय १६

## रक्तवह संस्थान के रोग

### अरक्तता, रक्तक्षय, रक्ताल्पता या पाण्डु

### ( Anaemia )

शरीर में रक्त की कमी को रक्ताल्पता कहते हैं। शरीर का वर्ण सफेद हो जाता है, इसलिए पाण्डु कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक रक्तक्षय की संज्ञा इस रोग को देते हैं। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि ऐसी व्याधि जिसमें रक्त कणों की संख्या ( R. B. C. ) कम हो जाती है या केवल शोणितवतुंलि ( Hb ) की रक्तगत मात्रा कम हो जाती है। क्वचित दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है अर्थात् रक्तकायाणु ( R. B. C. ) तथा शोणितवतुंलि ( Hb ) दोनों की मात्रा कम हो जाती या नष्ट होता है। एतदर्थ रक्तक्षय ( Anaemia ) की संज्ञा दी जाती है।

बालकों में पैदा होनेवाले रक्तक्षय को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं-- अभाव जन्य रक्तक्षय जिसमें एक या दो तत्वों की कमी होकर रक्त का निर्माण सुचारुरूप से न हो सके। जैसे, अस्थियों की मज्जा आदि रक्तकायाणु के निर्माण में भाग लेती पुनः इन आदिम कायाणुओं ( Primitive Red Cells ) का कई अवस्थाओं में परिवर्तन हुआ होता ( Normoblast, Reticulocyte, Erythrocyte and R. B. C. ) पुनः परिपक्व स्वाभाविक रक्तकायाणु का निर्माण होता है। इन परिवर्त्तनों के लिए दो तत्वों की आवश्यकता रहती है। अंतः द्रव्य ( Intrinsic factor ) जो आमाशय रस ( Gastric juice ) में पाया जाता है तथा वाह्य द्रव्य ( Extrinsic Factor ) जो जीवतिक्ति 'बी' १२ सदृश तत्व अथवा पर्याप्त मात्रा में लौह, ताम्र, जीवतिक्ति 'सी' आदि से प्राप्त होता है। इन दोनों तत्वों

में से किसी एक या दोनों की कमी से अभावजन्य रक्तक्षय पैदा होता है। दूसरा वर्ग लाल कोशिकाओं के नाश होने से अर्थात् किसी कारण से अत्यधिक रक्त का नाश हो जाने से उत्पन्न होता है। इसलिये रक्तनाश जन्य रक्तक्षय कहा जाता है। इसी से सम्बन्ध एक तीसरे वर्ग की कल्पना की जा सकती है जिसमें रक्तक्षय (Anaemia) औपद्रविक स्वरूप का हो जाय जैसे आमवात, रोहिणी, जीवाणुमयता, विषमयता आदि से। यह औपद्रविक वर्ग भी वास्तव में उपर्युक्त दोनों वर्गों के भीतर ही समाविष्ट हो सकता है।

**अभावजन्य रक्तक्षय में**—( क ) पोषण के अभाव से उत्पन्न पाण्डु, ( ख ) अकाल प्रसव जन्य रक्ताल्पता, ( ग ) प्रशीताद् जन्य रक्ताल्पता ( Scurvy aneamia ), ( घ ) कुक्षि रोग जन्य रक्ताल्पता ( Anaemia Due to Coeliac Disease ), ( ङ ) अस्थि विकार जन्य रक्ताल्पता, ( च ) श्वेत कोशिकारक्तता ( Leukaemin ) अन्य रक्ताल्पता, ( छ ) प्रणाशी अरक्तता ( Pernicius anaemia ), ( ज ) अविकाशी अरक्तता ( Aplastic anaemia )

रक्त संलायी अरक्तता ( Haemolytic anaemia )—( क ) सहज, ( ख ) तीव्र, ( ग ) नोतितीव्र रक्तनाश से उत्पन्न रक्तक्षय या रक्ताल्पता, (घ) कामला ( Acholuric jaundic ), ( ङ ) कूली की अरक्तता ( Coolye's anaemia ), ( च ) दात्र लोहित कोशिका अरक्तता ( Sickle shaped anaemia )।

**प्रथम वर्ग की रक्ताल्पतायें**—( क ) **पोषण के दोष से रक्ताल्पता**—इस प्रकार की रक्ताल्पता से रक्त में प्रधानतया शोणवर्त्तुलि ( हीमोग्लोबिन ) की मात्रा कम हो जाती है। ( प्राकृत जहाँ पर शताधिक रहती है वह गिर कर ३० या ४० तक हो जाती है ) इसमें हेतु लौह धातु की कमी आहार में लौह के साथ ही ताम्र धातु की भोजन में कमी भी रोगोत्पादन में सहायक होती है। बालकों में लौह की कमी निम्नलिखित कारणों से पैदा होती है—माता का लौह की कमी से उत्पन्न पाण्डु रोग से पीड़ित होना ( गर्भावस्था या स्तन्यकाल दोनों

अवस्थाओं में ), युग्म गर्भाधान ( जुड़वा गर्भ ), अपक्व प्रसव ( Premature Birth ), इन कारणों से बालकों में जन्म के कुछ ही मास बाद पाण्डु या रक्ताल्पता आ जाती है। बड़ी उमर के बालकों में जो दूध एवं अन्न पर रहते हैं, उनके भोजन में यदि लौह संधारण का आहार जैसे मांस, अंडे या शाक, भाजी न मिले तो उनमें इस प्रकार की रक्ताल्पता आ जाती है।

**लक्षण**—सम्पूर्ण शरीर का फीका, पीला या सफेद पड़ना एक प्रमुख लक्षण है। आँखों के नीचेवाली पलक को अंगुलि से नीचे दबाकर देखने से उनमें रक्त की कमी दिखाई पड़ती है, उसका वर्ण श्वेत पड़ जाता है। शरीर के भार में कोई विशेष कमी नहीं पड़ती है। पाण्डु से पीड़ित बालकों में बार-बार प्रतिश्याय, कास, कर्णपाक प्रभृति विकार पैदा होते रहते हैं।

**चिकित्सा**—का मूल उद्देश्य लौह की पर्याप्त मात्रा देकर शोणावर्त्तुलि ( हीमोग्लोबिन ) का स्तर बढ़ाना रहता है। निम्नलिखित लौह के यौगिक वर्त्तमान चिकित्सा में चलते हैं—'आयरन अमोनियम साइट्रेट' २ में ४ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार मिश्रण बनाकर, 'फेरस सल्फेट' ३ ग्रेन की मात्रा मे दिन में दो बार, 'रिड्युज्ड आयरन' ( Reduced iron ) १ ग्रेन दिन में दो बार। लौह के प्रयोग काल में बालक का पाखाना काला हो जाता है, इस बात के लिए माता को आगाह कर देना चाहिये। ताकि उससे भयभीत न होवे। लौह के साथ ही अल्प मात्रा में ताम्र का योग भी उत्तम ( १/१०० से १/५० ) माना गया है। भोजन में लौह तत्व से युक्त आहार देना चाहिए।

**( ख ) अपक्व प्रसव जन्य रक्ताल्पता** ( Prematurity Anaemia )—प्रसव के अनन्तर स्वाभाविक रीति से शिशुओं के लाल कणों के नाश से शोणवर्त्तुलि की मात्रा कम होने लगती है। फलस्वरूप इन कमजोर बच्चों में तीन मास के बाद रक्ताल्पता हो जाती है। इनके यकृत के भीतर लौह का संचय भी पुष्ट बालकों की अपेक्षा कम रहता है फलतः पाण्डु हो जाता है। चिकित्सा में पोषण के अभाव से उत्पन्न रक्ताल्पता में भी सदृश ही चिकित्सा करनी पड़ती है।

**( ग ) प्रशीताद जन्य रक्ताल्पता**—इसमें जीवतिक्ति 'सी' तत्व की कमी

से पाण्डु पैदा हो जाता है, चिकित्सा में उपर्युक्त चिकित्सा के साथ जीवतिक्ति 'सी' का योग करना चाहिये।

( घ ) **कुक्षि रोग जन्य पाण्डुता**—इस रोग में भी पाण्डुता या रक्ताल्पता एक प्रधान लक्षण है। चिकित्सा पूर्ववत् करनी चाहिये।

( ङ ) अस्थि की मज्जा के रोग हैं जिनके कारण रक्ताल्पता पैदा होती है। बड़े तीव्र स्वरूप की पाण्डुता आती है। चिकित्सा पूर्ववत् करे। अस्थि मज्जा का भी सेवन ( Bone marrow tablets ) करावे। ( च ) श्वेत-कोशिकारक्तता जन्य रक्ताल्पता तीव्र होती है।

( छ ) **वैनाशिक रक्त क्षय**—यह अधिक आयु में ( युवावस्था या मध्यमायु से ) होने वाली रक्ताल्पता है। क्वचित् बालकों में भी हो सकती है। चिकित्सा में लौह और ताम्र के यौगिकों के साथ ही यकृत सत्व तथा पालकाम्ल ( Liver extract & Folic acid ) का भी योग देना चाहिये क्योंकि इन दोनों तत्वों का अभाव इस रोग में पाया जाता है।

( ञ ) **अविकासी अरक्तता** ( Aplastic Anaemia )—इस व्याधि में क्रमशः बढ़ती हुई रक्ताल्पता पाई जाती है। रोग का कारण अज्ञात है, परन्तु कुछ रोगियों में तुण्डिकाशोथ, ( Tonsillitis ) या अन्य स्थान के पूतिकेन्द्र ( Septic focus ) का वृत्त पाया जाता है। कई बार कुछ औषधों के सेवन का पूर्व वृत्त ( एमिडोवाइरिन, क्लोरमफेनिकाल ) मिलता है। कई बार क्ष-किरण के अतियोग ( Over exposure of x-ray ) का पूर्व वृत्त मिलता है। सम्भवतः इन अन्तः या वाह्य विषों ( दूषी विषों ) के कारण रक्त निर्माण केन्द्रों का विनाश हो जाता है जिससे अस्थियों की मज्जायें रक्तहीन या पीली पड़ जाती हैं—रक्त में आदिम लालकणों ( Reticulocytes ) का अभाव हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप परिपक्व रक्तगत लालकणों की रक्त में कमी होकर पाण्डु रोग हो जाता है।

**लक्षण**—बढ़ती हुई रक्त की कमी पाण्डुता, असमर्थता, बेचैनी, चक्कर आना या श्वासकृच्छ्र। बालक का शरीर मोम जैसे हो जाता है। त्वचा, मुख, दृष्टि वितान ( Retina ) में रक्तस्राव जन्य धब्बे ( Petechial hae-

morrhages ) पाये जाते हैं। मन्द ज्वर, यकृत और प्लीहा बढ़ी हुई पाई जाती है। हृदय विस्तृति और उसके अग्र पर मर्मर ध्वनि मिलती है। रक्त में लाल कण, श्वेत कण तथा शोणवर्त्तुलि की कमी हो जाती है।

विशेष प्रकार के कणों लोहितकोशिका प्रसू एवं जालिका कोशिका ( Normoblasts & Reticulocytes ) की कमी से रोग का निश्चय किया जाता है।

**चिकित्सा—**

यह एक सांघातिक रोग है जो बहुत विरलता से मिलता है, एक दो मास में रोगी की मृत्यु हो जाती है। लौह यकृत सत्व, अस्थिमज्जा का प्रयोग भी बहुत उत्तम नहीं रहता। रक्त के भरण ( Blood transfusion ) से कुछ लाभ की आशा रहती है।

**दूसरे वर्ग का रक्त-क्षय**—( क ) रक्तसंलायी अरक्तता या रक्तनाश जन्य रक्ताल्पता ( तीव्र ) ( Acute Hasmolytic anaemia )—यह रोग बालक एवं युवक में होता है—रोग शीघ्रता से बढ़ता है; यहाँ तक कि दो या तीन सप्ताहों के भीतर ही रक्तगत बालकणों की संख्या घट कर दस लाख प्रति घन मि० मी० हो जाती है, उसी अनुपात में शोणवर्त्तुलि ( हीमोग्लोबिन ) का भी प्रतिशत प्रमाण बहुत गिर जाता है। वर्ण-सूची ( Colour Index ) ऊँचा हो जाता है। अस्थि की मज्जा में कोई विकार नहीं आता, मूत्र से (Urobilin) गिरता है, त्वचा का रंग किंचित पीतवर्ण का हो जाता है। रक्तगत श्वेत कणों की संख्या ( ४५००० प्रति घ० मि० मी० ) अत्यधिक हो जाती है। प्लीहा स्पर्श लभ्य हो जाती है। मन्द ज्वर तथा त्वचा पर रक्तस्राव के धब्बे पाये जाते हैं।

चिकित्सा—बहुत शीघ्रता और तत्परता की आवश्यकता रहती है। रक्त के अंतःभरण ( Blood Transfusion ) से कुछ लाभ की आशा रहती है। रोग के कारणों का निश्चित रूप से अभी तक पता नहीं चल पाया है। लक्षणों में अजीर्ण सदृश, पचन के विकृति होने के लक्षण पाये जाते हैं—जैसे वमन, अतिसार। संभव है अस्थि की मज्जा को किसी अंतस्थ विष का प्रभाव दूषित करके रोग का उत्पादन करता हो।

**( ख ) रक्तनाश से उत्पन्न अरक्तता ( नाति तीव्र )** ( Subacute Haemolytic anaemia )—बहुत प्रकार के विष तथा उपसर्ग के परिणामस्वरूप यह रक्ताल्पता पैदा होती है। ६ मास से तीन वर्ष की आयु के बालकों में यह व्याधि होती है। रोग से पीड़ित बालक का चेहरा और शरीर की त्वचा सफेद पड़ती जाती है। यकृत और प्लीहा बढ़ी मिलती है। मंद ज्वर पाया जाता है। कई बार फक्क रोग या फिरंग के चिह्न उपस्थित मिलते हैं। रक्तस्राव ( रक्तपित्त ), शोफ, रक्तगत मर्मर (Haemic murmur) हृदय के ऊपर पाया जाता है। रक्त में लालकणों की संख्या; शोणवर्तुलि की मात्रा तथा वर्ण सूची ( Colour Index ) बहुत नीचे हो जाता है। रक्त-चित्र ( Blood film ) में परिवर्तन होता है, श्वेतकणों की संख्या बढ़कर चालीस हजार प्रति घ० मि० मी० हो जाती है।

**साध्यासाध्यता**—अच्छी चिकित्सा के द्वारा प्रायः दो तिहाई रोगी ठीक हो जाते हैं। एक तिहाई रोगियों में श्वसनी-फुफ्फुसशोथ अथवा अतिसार का उपद्रव होकर मृत्यु हो जाती है।

**चिकित्सा**—

विशिष्ट चिकित्सा नहीं है तथापि सामान्य उपचारों से जैसे विश्राम, ताजा हवा, सूर्य प्रकाश, पौष्टिक आहार, फिरंग और फक्क के लक्षणों के उपस्थित रहने पर तदनुकूल व्यवस्था, लौह के यौगिक ( आयरन आमोनियम सायट्रेट ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में दो बार ) तथा लायकर आर्सेनिकैलिस ( Liquor Arsenicalis ) २ बूँद की मात्रा में देने से तथा रक्त के अन्तर्भरण ( Blood Transfusion ) से पर्याप्त लाभ होता है। कई लौह के योग अधुना उपलब्ध होते हैं। उनका प्रयोग भी उत्तम है। यथा टोनोफेरान पेडियाट्रिक और नियोफेरिलेक्स पेय के रूप में।

**( ग ) अपित्त मेही कामला** ( Acholuric Jaundice )—यह एक कुलज या पारिवारिक रोग है जो परिवार के बालक और बालिकाओं में समान भाव से पैदा होता है। इस रोग में रक्त के लालकणों का अत्यधिक मात्रा में विनाश ( द्रावण Haemolysis या मंजन ) होता है। बालक के

जन्म के एक सप्ताह के भीतर ही रक्तकणों का भंजन या टूटना प्रारम्भ हो जाता है। शोधक वैज्ञानिकों के विचार से लालकणों का कोई सहज दोष हेतु, ( Inborn defect ) होता है। जिससे वे भंगुर हो जाते हैं और प्लीहा के द्वारा अत्यधिक मात्रा में नष्ट होने के योग्य हो जाते हैं। इस रोग में एक विचित्रता और भी मिलती है। यदि किसी अन्य व्यक्ति का योग्य रक्त इनके शरीर में भर दिया जाय तो इसके लालकण उतने भंगुर नहीं होते और वे अपने स्वाभाविक काल तक शरीर में बने रहते हैं और यदि रोग से पीड़ित शिशु का रक्त किसी स्वस्थ या योग्य व्यक्ति में भरा जाय तो शीघ्रता से ये कण लुप्त हो जाते हैं।

**लक्षण** – जन्म के साथ ही या जन्म के कुछ ही समय पश्चात् कामला के लक्षण रोग से पीड़ित बालक में व्यक्त होने लगते हैं। बहुत से बालकों में कामला की उत्पत्ति कई वर्षों के बाद होती पाई जाती है।

यदि बच्चे का पोषण अच्छा रहा हो तो देखने में वह स्वस्थ दिखलाई पड़ता है। नेत्र के श्वेत भाग पर और त्वचा में किंचित कामला सदृश पीलापन दिखलाई पड़ता है। जब बालक किसी रोग से आक्रान्त हो जाता है तो कामला बहुत गाढ़ी हो जाती है। मूत्र में पित्त के रञ्जक कणों का आना कामला के गाढ़ापन के ऊपर निर्भर करता है। अर्थात् यदि कामला गाढ़ी हुई तो मूत्र का रंग गाढ़ा पीला होता है। कामला के साथ-साथ रक्ताल्पता भी पाई जाती है। प्लीहा बढ़ी हुई मिलती है। लगभग तीन अंगुल बढ़ी मिलती है। यकृत भी कुछ बढ़ता है।

**चिकित्सा**—

इस रोग में औषध चिकित्सा से कोई विशेष लाभ नहीं होता। प्लीहा छेदन नामक शस्त्र-कर्म ( Splenctomy ) एकमात्र रोग के निर्मूल करने का साधन माना गया है।

**( घ ) कूली की अरक्तता** ( Cooley's anaemia )—यह भी एक प्रकार से रक्त-नाश से उत्पन्न रक्ताल्पता है।

**( ङ ) दात्र लोहित कोशिका अरक्तता (Sickle-cell Aneamia)**—इस रोग में रक्त के लालकणों का आकार प्राणवायु ( Oxygen ) के अभाव में अर्द्ध-चन्द्राकार या हँसुआ के आकार का हो जाता है। साथ ही संधियों से सूजन और पीड़ा होती है। बालक का आकार मोम जैसा श्वेत हो जाता है। प्लीहा स्पर्श लभ्य हो जाती है।

**चिकित्सा—**

( घ, ङ ) दोनों प्रकार की अरक्तता में रक्त का अन्तः भरण ( Blood Transfusion ) प्रशस्त है।

**औपद्रविक अरक्तता**—रक्ताल्पता का यह एक स्वतन्त्र वर्ग है जिसमें किसी नये या पुराने रोग के कारण शरीर में रक्तकणों की संख्या तथा शोणवर्तुलि की मात्रा कम हो जाती है। इसकी उत्पत्ति निम्नलिखित किन्हीं कारणों से हो सकती है। जैसे—

१. **तीव्र औपसर्गिक रोग**—रोहिणी, गोणिका शोथ ( Pyelitis ), पूयोरस और आमवातादि।

२. **जीर्ण औपसर्गिक रोग**—फिरंग, क्षय, कर्ण-स्राव, जीर्ण तुण्डिका, शोथ-दन्त, विद्रधि, जीर्ण अस्थिमज्जापाक ( Osteomyelitis ), मूत्रवह संस्थान के पुराने उपसर्ग।

३. **दूषी विष** ( Chronic Intoxication )—पुराना अजीर्ण का रोग अग्निमांद्य, कृमि तथा जीर्ण विवंध।

४. **रक्तस्रावी रोग-जैसे रक्तचित्तिता**—( Purpura ), कुलजरक्तपित्त ( Heamophilia ) तथा अन्य रक्तस्रावी रोग।

५. **घातक अर्बुद**

**चिकित्सा—**

ताजा शाक सब्जी, मांस रस की विशेषता, भोजन में रखनी चाहिये। औषधों में लौह, ताम्र आदि के योग, संखिया की अल्पमात्रा तथा रक्त के अन्तःभरण ( Blood Transfusion ) की व्यवस्था करनी चाहिये।

आयुर्वेदीय—लौह-भस्म या मण्डूर भस्म का प्रयोग पांडु की सभी अवस्थाओं में लाभप्रद पाया जाता है। लौह भस्म की मात्रा १०० मि० ग्रा० तक, मण्डूर की १२५ से २५० मि० ग्रा० तक दिन में दो बार करके घी और मधु के साथ मिलाकर दिया जा सकता है। इन आधार भूत द्रव्यों में कई यौगिक रक्ताल्पता में सुन्दर कार्य करते हैं। नवायस, ताप्यादि लौह, प्रभाकर बटी, मण्डूरवटक, योगराज, लौहासव, कुमार्यासव, अरविन्दासव आदि। इनमें आसवों का प्रयोग कुछ भोजन के सेवन के अनन्तर १ चम्मच पानी में मिलाकर करना चाहिये और लौह के योगों का घृत और मधु के अनुपात में प्रातः सायं। इन योगों के निर्माण में त्रिफला, कुमारी, गोमूत्र की अनेक भावनाओं से शरीर के सात्म्य करने के योग्य बना दिया जाता है, साथ ही लौह को अमोनियेटेड कर दिया जाता है। इतना ही नहीं जीवतिक्ति 'सी' एवं पालकाम्ल ( Folic acid ) प्रभृति द्रव्यों का भी गुणाधान निर्माण विधियों से हो जाता है। अधिक बार त्रिफला और गोमूत्र की भावना देते हुए इनका विबंध करने वाला दोष भी निकाल दिया जाता है जिससे इनके द्वारा मृदु रेचन भी सम्भव रहता है।

'सर्वदा सर्व भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' ( चरक ) समान चीजें समान को बढ़ाती हैं। सिद्धान्त से रक्त सदा रक्त का बर्द्धक होगा। रक्ताल्पता में रक्त के पिलाने का विधान है। बकरा, हरिण, खरगोश का रक्त पीने को देना अथवा मांस रस का प्रयोग अथवा कच्चे यकृत ( यकृद्वा भक्षयेदामम् ) का सेवन भी उत्तम माना गया है। आज के युग में बहुत प्रकार के एतादृश योग मुख से सेवन के लिये या यकृत सत्व के रूप में सूचीवेध के द्वारा देने में व्यवहृत हो रहे हैं, इनमें किसी एक का उपयोग लाभप्रद होता है।

## बहुलोहित कोशिकारक्तता
## ( Polycythemia )

पाण्डु या रक्ताल्पता के ठीक विपरीत स्वरूप का एक ऐसा भी रोग पाया जाता है जिसमें खून से लाल कणों की अत्यधिक वृद्धि होती है। उनकी संख्या

८ लाख से १२ लाख प्रति घ. मि. मि. हो जाती है, उसी अनुपात में शोण-वर्तुलि की मात्रा भी बढ़ती है। यह लम्बी अस्थियों के मज्जा की क्रियाधिक्य के कारण होता है। कई रोगों में जैसे जन्मगत हृद्रोग; जीर्ण फुफ्फुस के रोग, रक्त का गाढ़ापन, वालातिसार आदि में ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है।

**चिकित्सा** –

लम्बी अस्थियों पर क्ष-किरण का प्रयोग करके उनके क्रियाधिक्य को कम करना होता है।

## श्वेतकोशिकाक्षयता
## ( Leukaemia )

दुर्दम अर्बुदों ( Malignant Neoplastic ) के सदृश एक घातक रोग है जिसमें रक्तगत श्वेतकोशिकाओं का अनियंत्रित उत्पादन होने लगता है।

इस रोग में रक्त में अपक्व श्वेत कणों ( Immature. W. B. C. ) की संख्या बहुत अधिक हो जाती है। यह व्याधि सभी आयु में हो सकती है। तथापि प्रथम ५ वर्ष की आयु में अथवा आठ से दस वर्ष तक के बच्चों में सर्वाधिक होता है। रोग का हेतु अभी तक ठीक-ठीक नहीं जाना जा सका है। कुलज प्रभाव से क्रोमोजोम्स के दोष रोगोत्पादन में सहायक होते हैं।

**लक्षण**—किसी तीव्र उपसर्ग के अनन्तर जैसे तुण्डिका शोथ, रोमान्तिका ( measles ) के अनन्तर यह रोग पैदा होता है। उदरशूल, हाथ पैरों में दर्द, वमन, त्वचा का वर्ण फीका या पके नीबू के छिलके के रंग का, श्वासकृच्छ्र त्वचा एवं श्लेष्मक कलाओं से रक्तस्राव ( नासा, आमाशय या आंत्र से ), मूत्र में रक्तस्राव; मसूड़ों की सूजन, ओष्ठ एवं मुख का पाक ( जिससे मुँह से बदबू आती है ) त्वचा के ऊपर छोटी-छोटी गाँठों (Leukaemic nodules) का निकलना, ज्वर का १००° से १०३° फे० तक होना, प्लीहा बढ़ी हुई, क्वचित् यकृत भी बढ़ा मिलता है। गला, बगल और वंक्षण की लसीका ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई पाई जाती हैं। शरीर पाण्डु वर्ण का होता है।

रक्तगत परिवर्त्तनों में लालकणों की संख्या कम हो जाती है शोणवर्त्तुली ( हीमोग्लोबिन ) की मात्रा ३-५ ग्राम तक गिर जाती है। सफेद कणों की संख्या जो प्रायः अपरिपक्व होते हैं; बढ़कर २ लाख तक पहुँच जाती है। एक ऐसा भी प्रकार रोग का देखने को मिलता है, ( Aleukaemic leukaemia or Leukanaemia ) जिसमें लक्षण तो उपर्युक्त ही होते हैं, परन्तु श्वेत कणों की संख्या बहुत कम दो सौ तक हो जाती है।

रोग क्रम—इस रोग में श्वेतकोशिकाओं की संख्या स्वतः कभी-कभी कम भी हो जाती है, पुनः बढ़ती है। इस प्रकार कभी सुधार और कभी पुनरावर्त्तन का क्रम चलता रहता है। विशिष्ट चिकित्सा होने पर बालक की आयु मर्यादा ३–१२ मास बाद बढ़ जाती है। रोग में संक्रमण, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अचानक हृद्पात एवं हृत्पेशीगत संरक्षण प्रभृति उपद्रवों से मृत्यु का भय बना रहता है।

चिकित्सा—

रोग की कोई भी विशिष्ट चिकित्सा नहीं है रोगी को पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। रक्त के अन्तः भरण से रोगी की आयु कुछ बढ़ाई जा सकती है एतदर्थ पूर्ण रक्त २० c. c./k १ या पैक्‌डरेड सेल्स १० c. c./प्रतिकिलोग्राम भार के आधार पर देना चाहिये। जीर्ण रोग में लम्बी अस्थियों तथा प्लीहा के ऊपर क्ष-किरण लगाना कुछ लाभप्रद होता है। नये अनुसंधानों में 'कार्टिसोन' ( Cortisone ) का सेवन करना १–२ मि०ग्रा०/प्रतिकिलो भार भी लाभप्रद माना गया है।

अधुना कुछ नई ओषधियों का भी प्रयोग हो रहा है। यथा ( क ) प्यूरीन ( प्यूरीनेथाल ) के चयापचय की विपरीत क्रिया करने वाली ओषधियाँ ( ख ) फोलिक एसिड की विपरीत क्रिया करने वाली ओषधियाँ। ( ग ) विनक्रिस्टीन। ( घ ) सायटोक्सान या एण्डोक्सान। ( ङ ) रीओण्टेजेन चिकित्सा। ( च ) इन्जायम चिकित्सा। ( छ ) इम्युनोथिरैपी। ( ज ) मानस चिकित्सा ( सान्त्वना )।

**आयुर्वेदीय उपचार**—इस रोग में शास्त्रीय प्लीह एवं यकृत रोग की चिकित्सा से कई बार लाभ पाया जाता है। एतदर्थ लोकनाथ या वृहल्लोकनाथ रस की ६०-१२० मि० ग्रा० की मात्रा में प्रातः सायं मधु के अनुपान से बालक को देना चाहिये। रोहीतकारिष्ट एवं कुमार्यासव का प्रयोग भोजन के अनन्तर १० मि० ली० की मात्रा में लेकर उतना ही जल मिलाकर देना चाहिये। रात में सोते वक्त आरोग्य वर्धिनी रस की १ मात्रा ¼-½ ग्राम तक दूध के साथ देनी चाहिये। पथ्य में दूध एवं भात का प्रयोग करना चाहिये। पिपली चूर्ण का ६०-१२० मि० ग्रा० की मात्रा में मधु के साथ देना भी उत्तम रहता है।

## कुलज रक्त पित्त
## ( Haemophillia )

यह एक खान्दानी या पुस्तैनी रोग है, इसमें मामूली कट जाने से या व्रण के मुख से अधिक काल तक रक्तस्राव चलता है। एक पुस्त से दूसरे पुस्त के सन्तानों में रोग का प्रसार कन्या ( कालिकाओं ) के द्वारा होता है। परन्तु परिवार के पुरुष बच्चे ही रोग से पीड़ित होते हैं।

**लक्षण**—रक्तस्राव का होना एक प्रमुख लक्षण है। मामूली चोट या खरोच या कट जाने से जो रक्तस्राव होता है, वह स्वस्थ व्यक्तियों में पाँच से दस मिनट में रक्त जम जाता है। और रक्त का गिरना बन्द हो जाता है। इस रोग से पीड़ित बालकों में रक्तस्राव नहीं बन्द होता है और लगातार लम्बे समय तक चलता रहता है। दाँत के निकलने के बाद, शस्त्र कर्म के अनन्तर या नाक के कुरेदने से अचानक इस प्रकार का रक्त का गिरना शुरू हो जाता है।

इस रोग में संधियों में विशेषतः घुटने और केहुनी में रक्तस्राव का पाया जाना एक प्रमुख उपद्रव है। इस रक्तस्राव के परिणामस्वरूप संधि का जाड्य ( Ankylosis ) भी हो सकता है। अधिक रक्त नाश के कारण रोगी में रक्ताल्पता या पाण्डुता उत्पन्न होती है।

**शुभाशुभ**—यह एक सहज विकार है—जो प्रायः कष्टसाध्य या असाध्य स्वरूप का होता है। रोग से पीड़ित बालकों में से आधे से कम ही पूर्णायु तक जीवित रहते हैं।

**चिकित्सा**—

इस रोग की कोई भी चिकित्सा सम्यक रूप से ज्ञात नहीं है।

बालक को अभिघात तथा शस्त्रकर्म से बचाना आवश्यक होता है। स्थानिक चिकित्सा में ग्राही औषधियों का लेप जैसे 'एड्रेनैलीन' फाया वगैरह भी सन्तोषजनक नहीं पाया जाता है। मनुष्य के ताजा रक्त का स्थानिक प्रयोग भी रक्त के रोकने में सहायक होता है। संधिगत रक्तस्राव होने पर एक पक्ष तक संधि को कुशा और बन्धनों के द्वारा स्थिर कर देना चाहिये उस जोड़ को पूर्ण रूप से विश्राम देने के लिए उसकी गति कराना ( हिलाना ) और मालिश वगैरह बन्द कर देना चाहिये। सर्प विष ( Snake venom ) का स्थानिक प्रयोग भी रक्तस्राव के स्तंभन के लिए बताया गया है।

**आयुर्वेदीय**—फिटकिरी को शुद्ध करके उसके चूर्ण को रक्तस्राव के स्थान पर भर देने से भी कई बार बहुत लाभ होता है। सेमल का फूल, लाजवन्ती वासा, चन्दन, दूर्वा, मधुयष्टि, श्वेत चन्दन, नीलोत्पल, मंजिष्ठा, प्रभृति ओषधियों का सेवन कराना भी उत्तम है। रक्त पित्त कुलकण्डन रस १२५ मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में तीन बार दूर्वा स्वरस ( ताजी दूब ) के रस से देना लाभप्रद होता है। 'दूर्वाद्य घृत' का सेवन भी उत्तम रहता है।

## रक्तचित्तिता
## ( Purpura )

बालकों में प्रायः छ वर्ष की आयु में यह रोग होता है। यह रक्तपित्त का प्रकार है जिसमें त्वचा और श्लेष्मल कला से रक्तस्राव हुआ करता है। बालक एवं बालिकायें दोनों ही समान भाव से पीड़ित होती हैं। इस व्याधि में रक्त के घटक ( Composition ) में कोई अन्तर नहीं आता; केवल रक्त वाहिनियों के दीवालों की विकृति होती है—जिससे उनकी दीवालें फट जाती

हैं और रक्तस्राव होने लगता है। रक्तस्राव की मात्रा के ऊपर रक्ताल्पता कम या अधिक पैदा होती है। रक्त में पाये जाने वाले रक्त कणिकावों ( Blood Platelets ) की संख्या इस रोग में बहुत कम हो जाती है अर्थात् जहाँ पर इनकी स्वाभाविक संख्या दो लाख से ढाई लाख घन मि० मी० होनी चाहिये। यहाँ पर वह कम होकर कई वार पूर्णतया अनुपस्थित हो जाती है।

उत्पादक कारणों के अनुसार इस रोग के कई प्रकार हो सकते हैं। जैसे—

१—**अनुर्जता जन्य** ( Allergic )—त्वचा में रक्तस्राव और सूजन भी मिलती है। यह अवस्था एक प्रकार के उदर्द या कोठ ( बड़ी जुड़पित्ति Urticaria ) होती है।

२—**रक्त क्षय जन्य**—बाल्यावस्था में गम्भीर पाण्डु रोग ( Grave anaemia ) होने से त्वचा और श्लेष्मल कला से भी रक्तस्राव होता है।

३ - **दुःस्वास्थ्य जन्य** ( Cachctic Purpura )—ग्रहणी, मस्तिष्कावरण शोथ और क्षय के कारण इस प्रकार का रक्तस्राव होता है।

४—**वाह्य विष** ( Toxins )—दवा के रूप में प्रयुक्त या दुर्घटना जन्य विषों के शरीर में पहुँचने से तथा सर्प विष के परिणामस्वरूप भी रक्तचित्तिता उत्पन्न होती है।

५—**अंतस्थ विष या संक्रमण जन्य** ( Toxic & infective purpura )—तीव्र औपसर्गिक रोग जैसे रोहिणी ( Diphtheria ), मसूरिका ( Smallpox ), रोमान्तिका ( Measies ), लोहितक ज्वर ( Scarlet fever), मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) आदि में विषमयता (Toxaemia ) या पूतिमयता ( Speticaemia ) होकर रोग पैदा होता है।

**लक्षश तथा चिन्ह**—त्वचा के ऊपर रक्तस्राव के छोटे-छोटे धब्बे बन जाते हैं, ये छोटे परिमाण से लेकर विस्तृत भी हो सकते हैं। छोटे आकार के धब्बे एक सप्ताह के भीतर मुर्झाकर लुप्त हो जाते हैं। परन्तु विस्तृत क्षेत्र के फैले हुए धब्बे जल्दी लुप्त नहीं होते उनमें कई प्रकार के रंग के परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं जैसे वे प्रारम्भ में नीले होते पश्चात् हरे हो जाते हैं उसके

बाद पीले पड़ जाते हैं पश्चात् विलीन हो जाते हैं। ये धब्बे दबाव के स्थान पर अधिक निकलते हैं जैसे श्रोणि ( Pelvis ) के समीपवर्ती क्षेत्र नितम्ब, हड्डियों पर दिखलाई देने वाले भाग और सन्धियों के समीप। रोग की तीव्रावस्था में त्वचा के समान श्लेष्मल कला में भी धब्बे दिखलाई पड़ते हैं—तालु, मसूड़े, गाल के भीतरी भाग या नाक के भीतर। नासा से भी रक्तस्राव हो सकता है। आंत्र में भी रक्तस्राव हो सकता है। सन्धियों के भीतर भी रक्तस्राव होने से सूजन आ सकती है। वृक्कों में रक्तस्राव होकर मूत्र में भी रक्त आ सकता है। नेत्र के अन्तस्थ भाग में रक्तस्राव होकर देखने की शक्ति भी जाती रहती है। मस्तिष्क गत रक्तस्राव होने से मृत्यु तक हो सकती है। प्लीहा भी दो अंगुल बढ़ी मिल सकती है।

चिकित्सा—

विस्तर पर रखकर पूर्ण विश्राम देना चाहिए। पूति केन्द्रों को दूर करना चाहिये। ओषधि के रूप में लौह और संखिया के यौगिक तथा कैल्शियम और पैराथाइरायड ग्लैण्ड ( १/१० ग्रेन ) का मिश्रण देना चाहिए। रक्त का क्षय अधिक हुआ तो रक्त का अंतःभरण करे। बालक के अंग या संधियों में पीड़ा अधिक होती हो तो अहिफेन का प्रयोग करे। बालक की आयु यदि पाँच वर्ष की हो तो 'पल्व इपिकाकुवाना' को २ ग्रेन या टिंचर ओपाईं २ बूँद की मात्रा में देना चाहिये।

आयुर्वेदीय—लाक्षा चूर्ण ४ रत्ती की मात्रा में पानी से पीसकर पिलाना चाहिये। सिद्धामृत योग ( शुद्ध स्वर्ण गौरिक, दन्ती भस्म, प्रबाल भस्म, और गुडूची सत्व का समान मात्रा में बना योग ) १/२ ग्राम की मात्रा में केले के रस के साथ देना लाभप्रद होता है। उशीरासव, लोध्रासव तथा अन्य रक्तपित्त शामक शीतल उपचार करे। वास्तव में यह असाध्य स्वरूप की व्याधि है। तथापि रक्तपित्त की लाक्षणिक चिकित्सा करते हुए लाभ की आशा रहती है। मृदु रेचकों में यष्टयादि चूर्ण, गुलकन्द, अंगूर, मुनक्के आदि का सेवन करना चाहिए। रक्तपित्त रोग के अन्य उपचार भी लाभप्रद हो सकते हैं।

## गण्डमाला या अपची

## ( Tubercular Cervical Adenitis )

बालकों में गले की लसीका ग्रन्थियों का फूलना प्रायः पाया जाता है। ये गाँठें छोटे-बड़े कई आकार की होती है और माला का रूप धारण कर लेती हैं अतः इस रोग को गण्डमाला कहते हैं। कई कारणों से यह रोग हो सकता है १—अभिघात ( Tramua ); तुण्डिका का संक्रमण (Septic), फिरंग (Syphilitic) या क्षयज आदि। इनमें क्षयज प्रकार संभवतः तुण्डिका के क्षयोपसर्ग से ( Tuberculous infection of the Tonsil ) होता है, जिसमें गाँठें वर्षों तक रहती है, एकाध फूल जाती हैं। उनके भीतर किलाट ( Caseation ) जैसे द्रव भर जाता है, पुनः वह फटती है और उस स्थान पर एक नाड़ी व्रण ( Sinus ) पैदा हो जाता है।

**चिकित्सा—**

तुण्डिका या शालूक ( Tonsil or Adeniod ) को शस्त्र कर्म के द्वारा काट कर निकाल देना चाहिये। पश्चात् बालक को पूर्ण विश्राम कराना चाहिये जब तक उसका ज्वर नहीं उतर जावे। इस प्रकार मूल कारण के दूर होने से प्रायः गाँठें स्वाभाविक दशा में आ जाती हैं। परन्तु अगर उसमें सुधार न हो और उनमें पाक उपस्थित होने लगे तो उनको शस्त्रकर्म की सहायता से निकालने का प्रयास करना चाहिये।

यदि गण्डमाला की गाँठें छोटी हों और ऐसा प्रतीत हो कि औषधोपचार में ठीक हो जायेंगी तो उनके लिए ओषधियों के सेवन की ही व्यवस्था करनी चाहिए। रोगी को जलवायु परिवर्तन के लिए सामुद्रिक तट पर रखने की व्यवस्था करे। गाँठों के ऊपर शीतऋतुओं में "अल्ट्रावायलेट रेज" ( Ultra-violet rays ) के डालने की व्यवस्था करे। बालक का आहार पर्याप्त पौष्टिक रखे। ओषधि के रूप में जीवतीक्ति 'डी' का सेवन 'काडलिवर' या 'हैलिवट लिवर' आयल के रूप में सेवन करावे। "कैल्शियम ग्लूकोनेट" १० ग्रेन की मात्रा में दिन में दो बार दें।

**आयुर्वेदीय**—यथासंभव गण्डमाला रोग में शस्त्रकर्म ( Operation ) नहीं करना चाहिए। पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी चाहिए। गाय का दूध बालक पी रहा हो तो उसके स्थान पर भैंस या बकरी का दूध उबाला हुआ पीने को देना चाहिए। जीवतिक्ति और पौष्टिक औषधि के रूप में च्यवनप्राश १० ग्राम दूध के साथ प्रातःकाल देना चाहिये। पीने के लिए 'पल्मोकाड' या 'शाकोफेराल' या 'हैलिवट आयल' में चाय के चम्मच से दो वार देना चाहिए। 'ओमलेब' का जेनेविस डी$_2$ ( Genevis $D_2$ ) या कैल्शिफेराल मास में एक बार देना चाहिए। इस औषध के द्वारा जीवतिक्ति डी की पर्याप्त मात्रा एक ही साथ शरीर के अन्दर पहुँच जाती है और बड़ा लाभ होता है। काँचनार गुग्गुलु का सेवन भोजन के बाद दो चार गोली तक दिन में करना चाहिए। इसके छः मास के प्रयोग से गण्डमाला या अपची में बहुत लाभ होता है। सुवर्ण के यौगियों में 'कांचनाभ्र रस' का प्रयोग करे। स्थानिक उपचारों में यदि गाँठों का पाक हो रहा हो तो 'शूमैग' ( Sumag, Hind ) का लेप करे इससे व्रण फट जाता है, उसका मवाद निकल जाता है और गाँठें भी भरती हैं। यदि व्रण स्थान न भरे तो निशादि तैल या जात्यादि तैल का स्थानिक प्रयोग करे। इन सब प्रयोगों के कुछ मास तक चलते रहने से पर्याप्त लाभ होता है। यदि रोग में ज्वर कास प्रभृति क्षय के भी लक्षण उपस्थित मिलें तो "एम्बीस्ट्रीन" का सूचीवेध चौथाई या आधी ग्राम की मात्रा में दस पन्द्रह दिनों तक करे। साथ ही 'आइना पास' ग्रेन्युल्स या नियाजोन फोर्ट का भी दिन में तीन बार प्रतिदिन सेवन करावे। अन्य क्षयघ्न ( Antitubercular ) उपचारों की भी व्यवस्था करे। निम्नलिखित योग भी लाभप्रद होता है—

बसन्त मालती ६० मि० ग्रा०
शिलाजत्वादि लौह १२० मि० ग्रा०
त्रिवंग भस्म ६० मि० ग्रा०
प्रवाल भस्म ६० मि० ग्रा०
अमृतासत्व ½ ग्रा०

सितोपलादि चूर्ण २ ग्रा० ।

पीसकर मिलाकर ४ मात्रा । दिन में एक-एक पुड़िया तीन या चार बार घृत और मधु मिलाकर देना चाहिये ।

साथ ही द्राक्षारिष्ट वा अमृतारिष्ट या पिप्पल्यासव का भोजन के बाद १ चम्मच समान मात्रा में पानी मिलाकर सेवन करावे । शरीर पर अभ्यंग के लिए चन्दन-बला-लाक्षादि तैल का अभ्यंग करावे । रोगी को पूर्ण विश्राम करावे । गोजिह्वा एक १० ग्रा० की मात्रा में लेकर उसमें १-२ बीज काली मिर्च का मिलाकर पीसकर उसका स्वरस निकाल कर देना भी उत्तम है । यदि यह बनस्पति ताजा न मिले तो उसका सूखे का चूर्ण बनाकर १-२ ग्राम की भी देना हितकर होता है । यह क्रम चालीस दिनों तक चलाना चाहिये । जलकुम्भी का ताजारस १ चम्मच दिन में दो बार देना भी लाभप्रद होता है । रोगी में पौष्टिक आहार एवं औषधि का प्रयोग लाभप्रद रहता है । एतदर्थ 'शार्कोफैराल' 'पल्मोकाड', 'फेराडाल', माल्ट, च्यवनप्राश आदि का भी सेवन कराना चाहिये ।

★

# अध्याय १७

## तंत्रिकातंत्र के रोग

## ( Disease of the Nervous System )

### तीव्र सपूय मस्तिष्कावरण शोथ ( गर्दन तोड़ बुखार )

### ( Pyogenic Meniningitis )

**हैतुकी**—उत्पादक अणुजीवों में निम्नलिखित गोलाणु ( Strepto, Pneumo, Staphylo or Influenza ) प्रभृति जीवाणु ) भाग लेते हैं। कान का नाक से उनका उपसर्ग ऊपर तक पहुँचता है।

**लक्षण**—रोग का प्रारम्भ वमन और ऐंठन ( आक्षेपों ) से अचानक होता है। बच्चा क्षुब्ध हो जाता है। उसके सिर में तीव्र पीड़ा होती है, ज्वर १०४° फे० तक हो जाता है। पूर्व रंध्र तनावयुक्त होकर उभर जाता है, गर्दन या ग्रीवा की पेशियाँ कड़ी पड़ जाती हैं जिससे सिर पीछे की ओर तन जाता है और कर्निङ्ग का चिह्न मिलने लगता है।

रोग के विनिश्चय के लिये मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव ( Cerebrospinal fluid ) की परीक्षा की आवश्यकता पड़ती है। इसकी मात्रा अधिक हो जाती है, इसका दबाव मस्तिष्क के ऊपर बहुत अधिक हो जाता है, इसमें बहुकेन्द्रीय कणों की अधिकता हो जाती है, ( Poly morphonuclear-Cells ), प्रोटीन की मात्रा अधिक हो जाती है, लवण की मात्रा ( Chlorides ) कम हो जाती है, शर्करा की मात्रा भी कम हो जाती है या बिल्कुल गायब हो जाती है। द्रव में रोग त्पादक विशिष्ट अणुजीवों ( Organism ) की उपस्थिति पाई जात है ।

रोग का स्वरूप बड़ा तीव्र होता है, एक सप्ताह से अधिक नहीं चलता। बालक शीघ्र ही चेतना-हीन हो जाता है इसमें आक्षेप आने शुरू

हो जाते हैं। रोग से पीड़ित बालकों के मरने के बाद परीक्षा करने से मस्तिष्क और सषुम्ना के क्षेत्र गाढ़े पूय से भरे मिलते हैं।

चिकित्सा—

सुश्रुषा ( Nursing ) विशिष्ट रूप ही होनी चाहिये। 'पेनिसिलिन' का पेशी द्वारा दस दिनों तक पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। सुषुम्ना नलिका के भीतर भी 'पेनिसिलिन' का घोल भरना चाहिये जब तक कि सुषुम्नाद्रव ( Spinalfluid ) अणुजीवों से रहित न हो जाय।

यदि रोगी में शिरःशूल प्रलाप, वमन और बेहोशी बढ़ती जा रही हो तो इसका मतलब होता है कि सुषुम्नाद्रव का भार बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में कटि प्रदेश में चौथे और पाँचवें कशेरुक के बीच में कटिवेधन ( Lumber Puncture ) करके जल निकालना चाहिये। यह जल निकालने की क्रिया एक ही दिन में न करके कई बार करने की जरूरत पड़ती है।

'पेनिसिलिन' के सूचीवेध के साथ ही साथ 'ओरिसुल' प्रभृति शुल्व वर्ग की ओषधियों का मुख से भी सेवन कराते रहना चाहिये। 'पेनिसिलिन' के साथ ही 'स्ट्रेप्टोमायसिन' का योग भी पेशी द्वारा दिया जा सकता है। बृहत्तर क्षेत्र के प्रतिजीवी योगों में ( Broad antibiotics ) में 'क्लोरम फेनिकाल' वर्ग के योगों या 'टेट्रासायक्लिन', 'टेरामायसिन', 'एरिथ्रोसिन' के शर्बतों का मुख से, आयु के और शरीर भार के अनुसार मात्रा का विचार करके सेवन कराया जा सकता है। इसके साथ ही साथ कार्टिसोन ( Cortisone ) वर्ग की ओषधियों 'बेटने साल' ( ग्लैक्सो ) का प्रयोग भी उत्तम रहता है।

कई बार कटि के बेधन से पानी नहीं निकलता, फिर भी मस्तिष्क गत भार के लक्षण बढ़े हुए ही पाये जाते हैं। ऐसी दशा में द्रव के गाढ़ापन के कारण ऊपर में रुकावट कहीं होती है और द्रव नहीं निकलता। इस अवस्था में ( Cisternal Puncture ) और ऊपर की ओर करना पड़ता है। कई बार सफलता नहीं मिलने पर ( Lateral Ventricles ) का भी वेध जल के निकलने के लिये पूर्वरंध्र ( Frontanelle ) के मार्ग से करना पड़ता है।

## विशिष्ट गोलाणु जन्य मस्तिष्कावरण शोथ
## ( Meningococcal Meningitis )

विशेष प्रकार के अणु जीव ( Meningococcus ) से होने वाला यह मस्तिष्कावरण शोथ है। इसमें लक्षण निम्नलिखित प्रकार के होते हैं--

रोग का आक्रमण एकाएक वमन और शिरःशूल के साथ होता है, कभी-कभी कमर के दर्द के साथ शुरू होता है, ज्वर १०२° से १०४° फे० तक हो जाता है। रोग के प्रारम्भ में बालक में एक दो आक्षेप या ऐंठन के दौरे हो जाते हैं। गर्दन की पेशियाँ इतनी कड़ी पड़ जाती हैं कि बालक के सिर को तकिये के ऊपर उठाने से इसका पूरा शरीर ऊपर को उठ जाता है। गर्दन की पेशियों का कड़ापन बढ़ता जाता है और अन्त में शिर पीछे की ओर तन जाता है। रोग गर्दन तोड़ बुखार का रूप लेता है। ग्रीवा की स्तब्धता एवं कर्निङ्ग के मिलने लगते हैं।

**१ ग्रीवा की स्तब्धता ( कड़ापन )**--इस परीक्षा में परीक्षक रोगी के सिर को पीछे से पकड़ कर उसे आगे की तरफ हाथ से झुकाता है ताकि रोगी की ठुड्डी उसके वक्षस्थल का स्पर्श करती है। स्वस्थावस्था में यह क्रिया बिना पीड़ा के सम्पन्न हो जाती है। परन्तु मस्तिष्कावरण क्षोभ की अवस्था में इस क्रिया से ग्रीवा में तीव्र पीड़ा पैदा होती है। यह पीड़ा क्वचित ग्रीवा के निचले भाग में पीठ तक जा सकती है। इस क्रिया से ग्रीवा के प्रसारण से मांस पेशियों में तनाव एवं पीड़ा अनुभव रोगी को होता है। इस विधि से ग्रीवा की स्तब्धता का ज्ञान होता है।

**२ कर्निङ्ग का चिन्ह**—रोगी को पीठ के बल लेटाकर उसके उरु (जंघा) को कमर पर पूर्ण रूप से झुकाकर रोगी के घुटने पर हथेली से दबाव देकर, दूसरे हाथ से पैर को ऊपर उठावे और फैलाने की कोशिश करे। इस परीक्षा में यदि रोगी में मस्तिष्कावरण का क्षोभ होगा तो रोगी की पिण्डिकाओं में स्तब्धता के कारण वेदना का अनुभव होता है। यह परीक्षा निम्नलिखित रोगों में अस्त्यात्मक मिलती है। यथा—मस्तिष्कावरण शोथ, एरेकूनायणगत

रक्त-स्राव, मस्तिष्कावरण क्षोभ तथा तीव्र संक्रमणजन्य ज्वरों में विशेषतः बालकों में यह परीक्षा अस्त्यात्मक मिलती है।

रोग के प्रारम्भ में प्रलाप पाया जाता है, परन्तु, दो दिनों के बाद बालक चेतनाहीन या बेहोश हो जाता है। ओष्ठों के ऊपर परिसर्प ( Herpes फुन्सियाँ ) पाया जाता है। शरीर के ऊपर महीन-महीन रक्तस्राव क विस्फोट ( Purpuric rashe ) पाये जाते हैं। नेत्र से रोगी को दिखलाई नहीं पड़ता। रोग में सुधार होने पर धीरे-धीरे अंधापन जाता रहता है तथापि दृष्टि की शक्ति स्थायी रूप से कम पड़ जाने का अंदेशा रहता है। कान बहरापन भी एक उपद्रव होता है। जो भविष्य में रोगों के अच्छा होने के पश्चात् भी बना रहता है।

बाल्यावस्था में विशेष परिवर्तन रंध्र ( Fontenelle ) के सम्बन्ध में मिलता है। रंध्र तनाव युक्त होकर उभर जाते हैं, उनके स्पन्दन भी बन्द हो जाते हैं। नाड़ी क्षीण और तेज चाल की मिलती है। बेहोशी की हालत में नेत्रों के सतत खुले रहने की वजह से नेत्र अभिष्यंद ( Conjunctivitis ) हो जाता है।

कई बालकों में अतिसार का होना एक प्रमुख लक्षण के रूप में पाया जाता है। साथ ही उनमें रक्ताल्पता का लक्षण भी उपस्थित पाया जाता है। यह स्वरूप इतना भ्रामक होता है कि मस्तिष्कावरण शोथ का निदान करना भी कठिन होता है। कई दिनों के बाद जब मस्तिष्क और सुषुम्ना के दबाव के लक्षण प्रकट होने लगते हैं तब रोग का ज्ञान होता है। इस क्रम में ज्वर सदा ऊँचा बना रहता है।

**निदान**—१—एकाएक ज्वर, वमन, आक्षेप, गर्दन की पेशियों का कड़ापन, सिर का पीछे की ओर खींचना, कर्निङ्ग के चिह्न की उपस्थिति, इन लक्षणों के आधार पर रोग का निश्चय करना सम्भव रहता है।

२—कटि का वेध तथा मस्तिष्क सुषुम्ना जल की नैदानिक परीक्षा।

**रोगक्रम तथा शुभाशुभ** ( Couse & prognosis )—मेनिन्जोकोकल ( मेनिन्जाइटिस ) एक बड़ा ही तीव्र और घातक स्वरूप का रोग है; कई बार

रोग के आक्रमण के चौबीस घण्टे के अन्दर ही बालक की मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी इस रोग में रक्तचित्तिता की प्रवृत्ति पाई जाती है। जिससे त्वचा प्रभृति विभिन्न अवयवों में रक्तस्राव होने लगता है। तीव्र स्वरूप का रोग घातक हो जाता है। अधिकतर रोग जीर्ण रूप भी धारण करता है जिससे अच्छा होने में तीन सप्ताह से तीन मास तक लग जाते हैं। तीव्र स्वरूप का रोग अगर अच्छा होता रहा तो दस दिनों में अच्छा हो जाता है। रोग से मुक्त होने के अनन्तर भी कई बालकों में जलशीर्ष ( सिर में पानी का भरना और बड़े आकार का होना ), अंगघात ( Paralysis ), अन्धता, बधिरता ( बहरापन ), मस्तिष्क और मनोदौर्बल्य; चिड़चिड़ापन और क्रन्दन ( अधिक चिल्लाकर रोना ) प्रभृति उपद्रव स्थायी रूप से घर कर लेते हैं। फलतः गर्दन तोड़ बुखार का यह एक ऐसा प्रकार है जिसमें रोगी रोग से सर्वथा मुक्त नहीं होता है।

**चिकित्सा—**

बालक को प्रकाशहीन और शब्दहीन या नीरव स्थान में बिस्तर पर रख कर रोगकाल में उसकी सुश्रुषा करनी चाहिये। रगड़ के स्थानों को शय्याव्रण ( Bedsore ) से बचाने के लिये प्रारम्भ से ही ध्यान रखना चाहिये। आहार में दूध या दूध से बना द्रव भोजन देना चाहिये। रोग का शीघ्रता से निदान करके चिकित्सा की व्यवस्था शीघ्र करनी चाहिये।

'मेनिन्जोकोकस' के कारण होने वाले मस्तिष्कावरण शोथ में 'शुल्व' वर्ग की ओषधियाँ सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। परन्तु जब तक रोग का विशिष्ट निदान नहीं हो 'शुल्व' योग मुख से और 'पेनिसिलिन' पेशी के द्वारा दोनों का साथ-साथ उपयोग चालू रखना चाहिये। अगर बालक बेहोशी के कारण मुख से 'शुल्व' योगों के सेवन में असमर्थ हो तो उसको शिरा द्वारा यथाविधि प्रयोग करना चाहिये। पेशी द्वारा उपयोग करने से तन्त्रिका शोथ ( Neuritis ) के उपद्रव की सम्भावना रहती है। मस्तिष्क सुषुम्ना नलिका में शुल्व योगों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। बृहत्तर क्षेत्र के प्रतिजीवी द्रव्यों का सूची द्वारा

प्रयोग भी उत्तम रहता है। जैसे 'रेस्टिक्लिन', 'आक्सीटेक्लिन' साथ में कार्टिकोस्ट्रेरायड का प्रयोग विषमयता को कम करता है।

इन औषधों के बावजूद भी अगर लाभ न हो तो वेधन करके [ कटि प्रान्त में, ग्रीवा प्रान्त में, मस्तिष्क निलय ( Ventricles ) में अथवा मस्तिष्कावरण के नीचे से ] द्रव का पूय युक्त द्रव का निर्हरण करना आवश्यक होता है।

## क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ
## ( T. B. Menigitis )

बालकों में मस्तिष्कावरण शोथ में सबसे अधिक पाया जाने वाला यह प्रकार है। यह रोग अधिकतर दो वर्ष की आयु में पाया जाता है। ऐसा देखा गया है कि रोग स्वतन्त्रतया न होकर उपद्रव स्वरूप का होता है। रोग के उत्पत्ति के पूर्व कोई न कोई क्षयज उपसर्ग का केन्द्र ( Focus ) शरीर के किसी अन्य भाग में रहता है और उसी के उपद्रव रूप में मस्तिष्कावरण का क्षय उत्पन्न होता है। इस केन्द्र से क्षय के जीवाणुओं का रक्त मार्ग से संवहन होकर सीधा सम्पर्क सुषुम्ना या मस्तिष्कावरण से होकर रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

**लक्षण**—रोग का प्रारम्भ छिपी तौर से होता है। शुरू में बालक चिड़चिड़ा हो जाता है। कुछ बेचैन सा रहता है और अपने खिलौने तथा साथियों के साथ खेलने को राजी नहीं होता। बड़े बच्चे सिर में दर्द बतलाते हैं। न बोलने वाले बच्चे जोर से चिल्लाकर रोते रहते हैं। एवं अपने हाथों को सिर के ऊपर बार-बार रखते हैं। वमन होना शुरू हो जाता है। पेट साफ नहीं होता। इस प्रकार विबन्ध शिरःशूल और वमन ये तीन प्रमुख लक्षण इस रोग के प्रारम्भ में शुरू हो जाते हैं। तीन या चार दिनों के बाद मस्तिष्क-क्षोभ के लक्षण हो जाते हैं। बच्चा सुस्त पड़ जाता है। अपने होठों को जीभ से बार-बार चाटता है। वह बहुत चिड़चिड़ा हो जाता है। मामूली आवाज, चिकित्सा के द्वारा की गई परीक्षा और प्रकाश को भी बरदाश्त नहीं

कर सकता है। वह रोने और चिल्लाने लगता है। साँस अनियमित चलने लगती है। मस्तिष्कगत पीड़न के बढ़ने से उसके सिर के ऊपर पाये जाने वाले रंध्र तनाव युक्त होकर बाहर को उभर जाते हैं। उसके ऊपर का स्पन्दन कम ( ६० प्रति मि० ) हो जाता है। बहुत से बच्चों में दाँत का कटकटाना पाया जाता है और एक दो घण्टे तक चलता है। ग्रीवा की पेशियाँ कड़ी पड़ जाती हैं। यहाँ तक कि बालक के सिर के उठाने से उसका पूरा शरीर उठ जाता है। कर्निङ्ग का चिन्ह कई बार मिलता है और नहीं भी मिलता है। उदर की दीवाल पर अंगुली के नाखून से ठोकने पर एक मिनट के भीतर एक विस्तृत गुलाबी रंग का धब्बा-सा पैदा होता है जो कई मिनट तक रहता है।

उत्तेजना की अवस्था एक सप्ताह तक चलने के बाद बालक संन्यास ( पूर्ण अचेत ) की अवस्था में आ जाता है—वह पीठ के बल लेटा रहता है, आँखें खुली हुई, तारक ( Pupil ) विस्तृत और अचंचल हो जाते हैं। शरीर का भार गिर जाता है, उदर नीचे को धँस जाता है, त्वचा का लचकीलापन जाता रहता है। नाड़ी की गति १२० प्रति मिनट या अधिक हो जाती है। गले से घुरघुर की आवाज होती रहती है। कई बार कम्प और आक्षेप के दौरे भी आते हैं। मल और मूत्र दोनों का त्याग बन्द हो जाता है। चार या पाँच दिनों तक यह अवस्था चलती रहती है, पश्चात् मृत्यु हो जाती है।

तापक्रम नियमित स्वरूप का रहता है, ज्वर मंद स्वरूप का रहता है, प्राकृतिक से एक दो अंश तक बढ़ा हुआ तापक्रम पाया जाता है—यदि तापक्रम बहुत ऊँचा हो तो परम ज्वर ( Hyperpyrexia ) से बालक की मृत्यु हो जाती है।

**निदान**—लक्षण एवं चिन्ह तथा मस्तिष्क सुषुम्ना जल की परीक्षा से रोग का निश्चय करना सम्भव है।

**मृत्यूत्तर-शरीर**—( Morbid anatomy )—रोग से मरे बालकों के शरीर में निम्नलिखित परिवर्त्तन दिखलाई पड़ते हैं। मस्तिष्क फूला हुआ मिलता है, उसके उभरे हुए क्षेत्र ( Convolution ) कुछ चपटे हो गये

रहते हैं। मस्तिष्क से आधार पर पतला, पीला गोंद जैसा स्राव इकट्ठा पाया जाता है जो पार्श्व में फैल कर 'सिल्वियस' की सीता ( Fissures or sylvius ) और पीछे की ओर सेतु ( Pons ) एवं लघु मस्तिष्क ( Cerebelium ) के नीचे तक पहुँच जाता है। कंगु सदृश ग्रन्थियाँ ( क्षयज गाठें ) आधारीय धमनी ( Basilar Artery ) के मार्ग में एवं 'सिल्वियस' की सीता में पाये जाते हैं जो आँखों से दिखलाई पड़ती हैं। मस्तिष्क-निलय भी स्राव से भरे मिलते हैं। शरीर के अन्य भाग पर जैसे यकृत, प्लीहा, वृक्क या उरोस्थि ( Mediastinum ) या पुराना कोई क्षय का पूतिकेन्द्र ( Septic focus ) भी पाया जाता है।

शुभाशुभ—क्षयघ्न नये उपचारों से जैसे 'स्ट्रेप्टोमायसिन' के द्वारा चिकित्सा करते हुये अब बहुत कुछ सफलता की आशा रहती है। रोग का जितना जल्दी निदान और चिकित्सा का प्रारम्भ हो जाता है उतना ही शुभ परिणाम होता है अन्यथा कई उपद्रव स्थाई रूप से भविष्य में घर कर लेते हैं जैसे मस्तिष्क दौर्बल्य, अन्धता, वाधिर्य तथा अंगघात। रोग का पुनः होना, प्रायः घातक होता है। यदि बालक अठारह मास तक का हो, तो स्थायी रूप से अच्छा हो जाता है।

चिकित्सा—

इस रोग के समुचित उपचार के लिये बालक को घर पर न रखकर किसी अच्छे चिकित्सालय ( अस्पताल में ) जहाँ पर निदान और चिकित्सा के प्रचुर साधन सामग्री उपलब्ध हों रखना चाहिए।

'स्ट्रेप्टोमायसिन' ( २० मि० ग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार के ऊपर ) का पेशीद्वारा हर बारह घण्टे पर एक सूचीवेध करते हुए लम्बे समय तक ( ६ मास तक ) उपचार करना चाहिए।

'स्ट्रेप्टोमायसिन' का घोल बनाकर कटिवेध करके मस्तिष्क सुषुम्ना स्रोत में प्रतिदिन कुछ सप्ताहों तक भरना चाहिये। उन सूचीवेधों की कुल संख्या पचास तक भी पहुँच सकती है। ( कुल मात्रा आयु के अनुसार ५० से १०० ग्राम तक होनी चाहिये )।

रोगी के लाक्षणिक सुधारों के साथ ही साथ उसके मस्तिष्क सुषुम्ना जल की भी बीच-बीच में परीक्षा करके देखते रहना चाहिये। यदि मस्तिष्क सुषुम्ना गत दबाव के लक्षण दिखलाई पड़े जैसे वमन, पुतलियों का फैलना, सुस्ती, दृष्टि पटल की सूजन आदि तो निलयों का वेध करके द्रव का निर्हरण करना चाहिये। 'स्ट्रेप्टोमायसिन' के साथ ही साथ—'पी० ए० एस० (P. A. S.) तथा 'आयसोनियाजिड' 'नियाजोनफोर्ट' का भी उपयोग करना चाहिये। रोग की तीव्रावस्था में अन्य दवाओं के साथ 'कार्टिसोन' वर्ग की ओषधियों का भी उपयोग करना चाहिये। यदि बालक दुर्बल हो तो बल बढ़ाने के लिये मल्टी विटामिन्स, 'डायनेबाल' या 'ड्यूराबोलीन' आदि के सेवन की व्यवस्था करनी चाहिये।

**आयुर्वेदीय**—मस्तिष्कावरण शोथ की विविध प्रकारों को प्राचीन निदान से सान्निपातिक ज्वर के वर्ग में समाविष्ट समझना चाहिये। सन्निपात ज्वर के तेरह प्रकार बताये गये हैं। उन्हीं में से एक प्रकार इस विशिष्ट रोग का होना चाहिये। अस्तु कुछ लोग मकरी सन्निपात से इस रोग सादृश्य बतलाते हैं और कुछ विद्वान् अभिन्यास ज्वर से इस रोग का साम्य प्रदर्शित करते हैं। चिकित्सा में सान्निपातिक ज्वर के चिकित्सा सिद्धान्तों का अपनाना चाहिये। यथा लंघन, स्वेदन, नस्य, निष्ठीवन, अवलेह तथा अंजनों का प्रयोग करना चाहिये। मुख से ओषधि ले सकने वाले रोगियों में कस्तूरी भैरव रस (बृहत्) का प्रयोग अथवा श्री प्रताप लंकेश्वर रस का १/१६—१/८ ग्रा० की मात्रा में पान के रस और मधु के अनुपान से देना चाहिये। प्रति ६ घण्टे पर दिन में चार बार। यदि प्रलाप अधिक हो तो वृहद्वात चिन्तामणि रस को उसी मात्रा में मिलाकर देना चाहिये।

## जल शीर्ष
## (Hydrocephalus)

करोटि (खोपड़ी) के भीतर मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव का अधिक मात्रा में संचय होना, जल शीर्ष कहलाता है। यदि किसी कारण से मस्तिष्क सुषुम्ना

द्रव का बनना बढ़ जाय, परन्तु उसका पोषण होना कम हो जाय अथवा स्राव के निकास का स्रोत रुद्ध हो जाय तो द्रव का संचय होने लगता है। बालक के सिर का परिमाण क्रमशः बढ़ता हुआ वृहद् आकार का हो जाता है।

जल शीर्ष जन्मगत ( सहज ) या जन्मोत्तर ( जन्म के बाद ) भी उत्पन्न हो सकता है। दोनों प्रकार में उत्पादक कारण निम्नलिखित होते हैं। १—मोनरो के छिद्र ( Foramen of Monro ) का बन्द होना जो मस्तिष्कावरण शोथ के कारण सम्भव है। २—अयुक्तमेरुदण्ड ( Spinabififiba ) जिसका वर्णन आगे आ रहा है। ३—मस्तिष्क के आधार ( Base of the Brain ) में होने वाला रक्तस्राव चतुर्थ निलय ( IV Ventricle ) में अवरोध पैदा करते हुए जल शीर्ष का रूप धारण कर लेता है। ४—कुछ विशेष प्रकार के संक्रमण ( Toxoplasma & protozoa infection ) जब शिशु माता के गर्भ में रहता है। इस प्रकार उपसर्ग के फलस्वरूप मस्तिष्क गत सुधाभरण ( Cerebral calicification ) होता और जलशीर्ष उत्पन्न होता है। यह एक विरलता से मिलने वाला उपसर्ग है।

५—जन्म के अनन्तर पैदा होने वाले जल शीर्ष का सबसे बड़ा कारण मस्तिष्कावरण शोथ ( Meningitis ) है। क्षयजन्य मस्तिष्कावरण शोथ में मस्तिष्क निलयों का विस्तार होता है। चतुर्थ निलय ( IV Ventricle ) स्राव से भर कर रुद्ध हो जाता है। 'मेनिञ्जोकोकल मेनिञ्जोइटिस' में भी यही स्थिति होती है और उसके अन्त में प्रायः जल शीर्ष का होना पाया जाता है। अवरोध के कारण संचित होने वाले द्रव का न शोषण ही हो पाता है न निकास। इसलिये द्रव का संचय होकर सिर बहुत बड़ा हो जाता है।

६—फिरंग ( Syphilis ) के कारण होने वाले मस्तिष्कावरण शोथ में भी जल-शीर्ष उत्पन्न होता है। ७—मस्तिष्क और सुषुम्ना के अर्बुद तो उस स्थान के द्रव संवहन में अवरोध या रुकावट पैदा करते हुए, जलशीर्ष पैदा कर सकते हैं।

**मृत्यूत्तर परीक्षा**—रोग से पीड़ित बालकों की मृत्यु के अनन्तर उनके करोटि की परीक्षा करते हुए निम्नलिखित परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं।

मस्तिष्क बहुत फूला हुआ रहता है, उसके ऊपर पाये जाने वाले उभार चपटे हो गये रहते हैं। सितायें ( गहराइयाँ Sulci ) भर गई रहती हैं। मस्तिष्क के धातु पतले मिलते हैं, खोपड़ी की हड्डियाँ पतली हो जाती हैं।

**लक्षण**--जलशीर्ष कई बार गर्भावस्था में पैदा होता है और बालक के प्रसव होने में कठिनाई पैदा करता है। क्वचित् शिरोवेधन (Craniotomy) की भी नौबत आ जाती है।

जल शीर्ष युक्त बालकों का सिर बहुत बड़ा होता है, उसके ऊपर के रन्ध्र के समय से अर्थात् अठारहवें महीने में प्रायः भर भी जाते हैं, परन्तु इसका संयोजन मजबूत नहीं हो पाता और आगे चलकर सिर के भीतरी दबाव के बढ़ने से वे पुनः खुल जाते हैं। पाँचवीं या छठीं वर्ष की उमर तक ऐसा सम्भावना रहती है। जलशीर्ष वाले बच्चों में पूर्वरंध्र बहुत बड़ा होता है, एक कान से दूसरे कान तक लगभग फैला रहता है। सामने के मस्तक का भाग आगे को निकला हुआ एवं पार्श्वास्थियाँ पार्श्व की ओर निकला हुई मिलती हैं। सिर के उपर चारों ओर फूली शिरायें दिखलाई पड़ती हैं। नेत्रों के ऊपर जल का इतना भार होता है कि उसकी आँखें नीचे को चली जाती हैं जिससे देखने के लिए आँख को खोलते वक्त बच्चा नीचे के पलक को खोलने की कोशिश करता है। कई बार नेत्रतन्त्रिका का शोष होकर ( Optic Atrophy ) बालक अंधा हो जाता है कई बार मस्तिष्क के दबाव के कारण उसके अंग घातित पाये जाते हैं। क्वचित् मस्तिष्क की दुर्बलता तथा वमन भी पाया जाता है।

**रोगक्रम तथा शुभाशुभ**—अधिकतर बालकों में रोग बढ़ता चलता है और कुछ सप्ताहों या मासों में किसी एक उपद्रव से उसकी मृत्यु हो जाती है। कई बार सिर का बढ़ना अनियमित स्वरूप का पाया जाता है, कभी-कभी कुछ सप्ताहों के लिए उसका बढ़ना रुक जाता है। पुनः बढ़ना शुरू हो जाता है। प्रति सप्ताह मापते हुए इस बात का ज्ञान किया जा सकता है। कई बालकों में सिर का आकार नियमित रूप से घटता चला जाता है। इकट्ठे हुए जल का क्रमशः सूखना और सिर का छोटा होना भी पाया जाता है, ऐसी अवस्था में

शुभाशुभ मस्तिष्क धातु के विनाश के ऊपर निर्भर करता है। कभी तो कुछ मानसिक क्रियाओं में जैसे बुद्धि, चिन्तन, विचार सम्बन्धी कुछ कमी हो जाती है। कुछ में किंचित घात शेष रह जाता है, कुछ में बैठने और चलने में देर होती है और कुछ जीवनपर्यन्त बुद्धू ही बने रह जाते हैं। जल-शीर्ष से पीड़ित बच्चों में सिर के घेरे का प्रति सप्ताह माप कर लेना चाहिए। सद्यो जात बच्चों में सिर का स्वाभाविक बड़ा से बड़ा घेरा १३ इञ्चों का होता है, १ वर्ष की आयु में १८ इञ्चों का और ३ वर्ष की आयु में १६ इञ्चों का होता है।

चिकित्सा—

फिरंगज जल-शीर्ष में फिरंग की चिकित्सा से लाभ होता है। अन्य प्रकारों में औषध चिकित्सा से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। शाल्यिक (Surgical) उपचारों से कुछ लाभ की आशा रहती है। जल-शीर्ष की अवस्था और प्रकार के अनुसार निम्नलिखित कर्मों के द्वारा किसी विशेषज्ञ की सहायता से किया गया उपचार कुछ आशाजनक रहता है :—

१—बार-बार कटिवेध ( Lumber puncture ) से जल का निकालना।

२—ग्रीवा की मन्या धमनियों का बंधन ( Ligature of carotid arteries )—इससे मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव का निर्माण कम हो जाता है।

३—कर्बु‍र तंत्रिका चक्र ( Choroid Plexus ) का विद्युत यन्त्रों की सहायता से स्कन्दन ( रक्त का जमाना )।

४—कृत्रिम स्रोत निर्माण—अवरोध की अवस्था में द्रव के निकालने के लिए ( Cropus callosum ) का वेध करके एक नाड़ी का संयोजन कर जल के निकास की व्यवस्था। अंततोगत्वा सभी उपचार निराशाजनक ही सिद्ध होते हैं।

## आक्षेप
## ( Convulsions )

आक्षेप किसी भी आयु के बच्चे में आ सकते हैं, फिर भी बाल्यावस्था में विशेषतः छोटी आयु के शिशुओं में सबसे अधिक मिलते हैं जब तक कि

तन्त्रिकातन्त्र दृढ़ नहीं हुआ रहता मामूली उत्तेजना भी आक्षेप पैदा करने वाली होकर आक्षेप पैदा करती है। आक्षेप अधिकतर रोग के रूप में न आकर लक्षण के रूप में ही पाये जाते हैं।

आक्षेप के लक्षण प्रसिद्ध हैं। दौरा अचानक होता है, बालक का शरीर लकड़ी जैसे कड़ा पड़ जाता है, कई बार गिर जाता है, बेहोश या अचेत हो जाता है उसका चेहरा नीला या काला पड़ जाता है। आँखें उलट जाती हैं, हाथों की मुट्ठियाँ बँध जाती हैं ( Clenched ) अंगूठे तलवे से लग जाते हैं, दोनों पैर तन जाते हैं। कुछ ही सेकेण्डों में आँख और शाखाओं में फड़कन शुरू हो जाती है, क्रमशः गति शान्त हो जाती है या तो बच्चा होश में आ जाता या पूर्णतया संन्यस्त हो जाता है। दौरे के काल में संवरणी पेशियाँ ( Sphincters ) शिथिल पड़ जाती हैं—जीभ दाँतों के बीच दबकर कट जाती है। दौरे कुछ सेकेण्डों से आध घंटे तक चल सकता है दिन में एक या अनेक बार तक आ सकता है। फई बार लगातार दौरों के आक्रमण से अपस्मार स्थिति ( Status epilepticus ) की दशा भी हो सकती है। आक्षेपों के अनन्तर प्रायः बालक सुस्त हो जाते हैं। कई बार अंगघात ( Paralysis ) भी हो जाती है; परन्तु पुनः वे कुछ ही दिनों में स्वस्थ भी हो जाते हैं।

**उत्पादक हेतु**—बहुत से ऐसे रोग हैं जिसमें बालकों में आक्षेप आते हैं—

१. बालक के जन्म के कुछ घंटों या दिनों के बाद यदि आक्षेप के दौरे आवें तो प्रसवकालीन कठिनाइयों के कारण पैदा होते हैं। इस दशा में मस्तिष्क में सूजन, मस्तिष्क गत रक्तस्राव; जन्म के पश्चात् श्वासावरोध आदि पैदा होने से आक्षेप आने लगते हैं। ये दौरे कुछ दिनों या महीनों तक भी चल सकते हैं।

२. फक्क रोग, अपतानिका ( Tetany ) में भी आक्षेप के दौरे मिलते हैं. साथ में गलोपरोध भी पाया जाता है।

३. वातिक और तेज प्रकृति के बच्चों में वात तंत्रिका-तंत्र के अतिरिक्त स्थलों पर भी विकार होने से कई बार आक्षेप आने लगते हैं। इस वर्ग के

आक्षेपों को प्रतिवर्त्त जन्य ( Reflex ) आक्षेप कहते हैं। इस वर्ग के आक्षेप निम्नलिखित अवस्थाओं में मिलते हैं। जैसे—

क. विबंध—पेट न साफ होने पर शिशुओं में आक्षेप होते देखे गये हैं, फिर कठिन और लम्बे मल के निकल जाने से वे स्वयमेव शांत भी हो जाते हैं।

ख. ज्वर—विविध प्रकार के ज्वरों में--जैसे फुफ्फुस-शोथ, वृक्क गोणिका शोथ (Pyelitis), आमाशयांत्र शोथ (Gastro-enteritis), कर्णपाक आदि में भी एक दो आक्षेप आ सकते हैं। कई बार आंत्रगत कृमियों में विशेषतः केंचुए की बीमारी में भी आक्षेप पाये जाते हैं।

ग. दन्तोद्भेद-दाँतों के निकलने के काल में भी आक्षेप मिल सकते हैं।

मूत्र विषमयता—मूत्र के द्वारा बहुत से शरीर में पैदा हुए विषों का ( Urea, Uric acids ) त्याग हो जाया करता है। कचित् मूत्रावरोध होकर ये विष शरीर गत रक्त में संचरित होते हुए आक्षेप पैदा करने लगते हैं। यद्यपि बालकों में मूत्र विषमयता बहुत ही कम पाई जाती है तथापि निदानकाल में इसका भी विचार करना अपेक्षित रहता है।

५. मस्तिष्क और सुषुम्ना के विकारों में या शिरोगुहा के भीतर होने वाले रोगों में आक्षेपों का आना एक लक्षण के रूप में पाया जाता है अतएव इस वर्ग के आक्षेपों को लाक्षणिक ( Symptomatic ) आक्षेप कह सकते हैं। इस प्रकार के आक्षेप निम्नलिखित रोगों में मिलते हैं। जैसे—मस्तिष्कावरण शोथ, क्षयज मस्तिष्कावरण शोफ, मस्तिष्क गत अर्बुद, मस्तिष्क शोथ, मस्तिष्क रक्त वाहिनियों के रोग मस्तिष्क गत रक्ताधिक्य जैसे कुकास ( काली खाँसी में ) तथा अर्धांगघात आदि।

६. मस्तिष्क या मन-सम्बन्धी दुर्बलता में भी आक्षेपों का मिलना पाया जाता है। अपस्मार, सिर के ऊपर आघात, अपस्मार की वजह से पैदा हुई दिमागी कमजोरी में भी आक्षेप आते हैं।

**चिकित्सा—**

बालकों में आक्षेपों का आना एक आम घटना है। इससे चिकित्सक को घबराना नहीं चाहिए। यदि आक्षेप के दौरे लम्बे समय तक रहता

हो तो बालक को गर्म कपड़ों में लपेट कर रखना चाहिए या उष्ण स्नान कराना चाहिए। कई बार हल्के संज्ञाहरण ( Light anaesthesia ) से या कटिवेध ( Lumber Puncture ) के मस्तिष्क सुषुम्ना जल के निकाल देने से आक्षेप शान्त हो जाते हैं। यदि बालक निगलने में समर्थ हो तो संशामक ओषधियों का मुख से प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए क्लोरल हाइड्रेट ( Cloral Hydrate ) एक उत्तम ओषधि है। तीन मास से नीचे की उमर वाले बच्चों में ½ ग्रेन से १ ग्रेन की मात्रा में देना चाहिए। चौथे मास से बारह मास तक के बालकों में २ ग्रेन ( ०'१३ ग्रा० ) की मात्रा में देना चाहिए। यदि बालक निगलने में असमर्थ हो, तो इसी ओषध का द्विगुण मात्रा में गुदा द्वार से प्रयोग करे। एक वर्ष से अधिक आयु वाले बालकों में 'फेनाबार्बिटोन' ½ ग्रेन की मात्रा में दिया जा सकता है। पुनः आक्षेप पैदा करने वाले कारणों का विचार करके तदनुकूल चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिए। 'एवर्टिन' ( Avertin ) या 'पैरेल्डीहाइड' ( Paraldehyde ) का गुदा से या पेशी से प्रयोग करना उत्तम संशामक है।

यदि बालक में अपतनिका ( Tetany ) के लक्षण उपस्थित रहें तो कैल्शियम ग्लुकोनेट का घोल १०% का १० बूँद की मात्रा में पेशी द्वारा देना चाहिये। "कोलायडल कैल्शियम विथ विटामिन 'डी' या 'कैल्सिआस्टेलिन' का उपयोग भी सूचीवेध के द्वारा उत्तम लाभप्रद रहता है।

## मिरगी-अपस्मार
## ( Epilepsy )

मिरगी किसी भी उमर में बालकों में हो सकती है; परन्तु अधिकतर तीन वर्ष की आयु में रोग का प्रारम्भ होता है। उसके पूर्व रोग का निदान करना भी कठिन रहता है। अपस्मार या मिरगी का दौरा बड़ा और छोटा भेद से दो प्रकार का होता है—बड़े को गुरु अपस्मार ( Grand Mal ) और छोटे को लघु अपस्मार ( Petit Mal ) कहते हैं।

**गुरु अपस्मार**—आधे से अधिक रोगियों में कुछ पूर्व रूप दौरे के पहले

पाये जाते हैं। इन्हें पूर्व ग्रह ( Aura ) कहते हैं। यह कई रूपों का हो सकता है। शारीरिक, सांवेदनिक, दृष्टि सम्बन्धी, कान सम्बन्धी या स्वाद सम्बन्धी ( Gustatory )। तदनन्तर आक्षेप का दौरा आता है दौरे के शान्त हो जाने के बाद बालक या तो गम्भीर निद्रा में आ जाता है अथवा स्वेच्छाचार में लग जाता है। इस अवस्था में ( स्वेच्छाचार Automatism ) कई प्रकार की शरारतें जो निन्दित, घृणित और क्रूर कर्मों को भी उसके परिणाम का ध्यान न रखते हुए, कर बैठता है। इस काल में उसको अपनी जबाबदेही या जिम्मेदारी का कुछ भी ख्याल नहीं रहता है। जब अपस्मार के साथ-साथ इस प्रकार के उग्र कर्मों का वृत्त मिले तो मस्तिष्कगत उस केन्द्र का भी पता लगाना चाहिए, जिसकी वजह से इस स्वरूप के अपस्मार का उद्‌भव (केन्द्रीय अपस्मार ) ( Focal Epilepsy ) होता है। केन्द्र का भी पता पूर्वग्रह के आधार पर क्ष-किरण चित्रण या दर्शन से तथा विद्युतीय मस्तिष्क चित्रण ( Electro-Encephalographic studies ) के अध्ययनों से लगाया जा सकता है। यदि औषध चिकित्सा से लाभ न हो तो शल्यतंत्र की सहायता से शस्त्रकर्म के द्वारा उत्तेजक केन्द्र ( Exciting foucs ) को काटकर पृथक् ( छेदन Excision ) करना चाहिये।

कई बार इन अपस्मारों में समय का ऐसा ब्यौरा पाया जाता है कि चौबीस घण्टों में ठीक एक ही समय पर ये दौरे आते हैं—यहाँ पर चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक होता है कि औषध का प्रयोग ऐसे समय में किया जाय कि उसका अधिकतम प्रभाव उसी काल में ( दौरे के समय में ) हो।

गुरु अपस्मार के दौरे में विविधता मिलती है—दिन-रात में कई बार लम्बे समय तक, कई बार कई महीनों के अन्तर से, कई बार जल्दी-जल्दी और कई बार देर-देर से दौरे आते रहते हैं। दौरे के काल में चेहरा काला पड़ जाता है और मुँह से फेन निकलना ( Frothing ) प्रायः पाया जाता है।

**लघु अपस्मार**—बाल्यावस्था में बहुत कम होता है। प्रत्येक दौरा कुछ सेकेण्डों का होता है। यदि बालक कोई काम कर रहा हो तो वह दौरे के

काल में अचानक बन्द कर देता है, ऐसा मालूम होता है कि वह कुछ भूल गया हा--आँखों को खोलकर देखने लगता है। वह बेहोश होकर गिरता नहीं है। कई बार आँख और हाथ-पैरों में एकाध झटके से लगते हैं--एक छोटी साँस भरकर पुनः काम चालू कर देता है। दिन में कई बार ऐसे दौरे आ सकते हैं। शिशुओं में लघु अपस्मार में आगे की ओर दाढ़ी के बल थोड़ी देर के लिए गिरना दौरे के समय में मिलता है। यह दौरा इतना क्षणिक होता है कि माता-पिता यह समझते हैं कि बालक अपनी मौज में ऐसा खेल रहा है। इसका कोई महत्व उनकी दृष्टि में नहीं होता।

**अपस्मार**—स्थित या निरन्तर अपस्मार ( Status Epilepticus ) — यह अवस्था बालकों में कम मिलती है। इसमें रोगी कई घण्टों या दिनों तक बेहोश पड़ा रहता है और निरन्तर या सान्तर आक्षेप आते रहते हैं। ज्वर ऊँचा हो जाता है, मृत्यु हृदयावसाद से होती है।

**शुभाशुभ**—अपस्मार-स्थिति को छोड़कर शेष अपस्मारों में निकट में किसी अशुभ की सम्भावना नहीं रहती। अपस्मार का भविष्य कथन भी कठिन होता है--फिर भी औषधों की सहायता से दौरे कम किये जा सकते हैं और नये रोग का दूर करना भी अधिकांश में सम्भव रहता है, कई बार अपस्मार बिना किसी दवा-दारु के भी स्वयमेव बन्द हो सकता है, परन्तु भविष्यवाणी करना कठिन होता है। गुरु अपस्मार की अपेक्षा लघु अपस्मार चिकित्सा में कठिन होता है। क्योंकि औषधें इसमें कार्य कर नहीं होतीं। अपस्मार के फलस्वरूप मस्तिष्क की कमजोरी, बुद्धि की कमी और मन की दुर्बलता प्रायः आ जाती है। जितने ही दौरे की अधिकता या तीव्रता होगी उतनी ही मानसिक दुर्बलता भी बढ़ेगी। गुरु की अपेक्षा लघु प्रकार का अपस्मार इस काम में भी हाथ बँटाता है। गुरु अपस्मार के रोगी जिनके दौरे देर-देर से आते हैं काफी बुद्धिमान पाये जाते हैं।

**चिकित्सा**--

**दौरे के काल में**--रहने के स्थान को साफ कर देना चाहिए ताकि बालक अपने को घायल न कर ले। उसके मुख में कपड़े की गद्दी रख दे ताकि

दाँतों के लगने से जीभ न कट जाये। यदि दौरा कुछ मिनटों से अधिक चल रहा हो तो उसको सार्वदैहिक संज्ञानाशक द्रव्य की सहायता से संज्ञा का हरण ( बेहोश ) करना चाहिए। अपस्मार-स्थिति में तो संज्ञानाशन ( Anaesthesia ) बड़ा ही उत्तम लाभ दिखलाता है। २ ग्रेन की मात्रा में घुलनशील 'फेना बार्बिटोन' ( Soluble Phenobarbetone ) का पेशी से सूचीवेध करे। आक्षेपों को रोकने के लिए गुदा से 'परैल्डी हाइड' ( Paraldehyde ) ½ ग्रेन से १ ड्राम ओलिव आयल १ औंस मिला कर ग्लिसरीन सिरिञ्ज के द्वारा भरना अच्छा कार्य करता है।

**सामान्य चिकित्सा**--अपस्मारी प्रायः विबंध से पीड़ित मिलते हैं—इसलिए नित्य मृदु रेचन का प्रयोग करे, और भोजन हल्का, सुपाच्य एवं पेट को साफ रखने वाला होना चाहिए। मानसिक उत्तेजना, उद्विग्नता, चिन्ता, स्पर्धा या होड़ के कामों को छुड़ा देना चाहिए।

**पथ्यापथ्य**--किट्ट-भूत-आहार ( Ketogenic ) उत्तम माना जाता है। एतदर्थ कार्बोहाइड्रेट ( अन्न, शाक आदि ) या मण्डयुक्त ( Starchydiet ) आहारों की मात्रा कम देनी चाहिए और मेद या चरबी बहुल पदार्थ अधिक मात्रा में भोजन में देना चाहिए। दूध, मक्खन, मलाई, अण्डा, मछली, मांस प्रभृति स्निग्ध या चिकने पदार्थों को भोजन में देना चाहिये। इन पदार्थों के सेवन से मूत्र में ( Acetone bodies ) अधिक मात्रा में आने लगते हैं। कई बार स्निग्ध आहारों से ज्वर प्रभृति उपद्रव भी पैदा हो जाते हैं, फिर भी इस पथ्य को बन्द न करके चलाते ही रहना चाहिए।

**औषध**—औषध चिकित्सा का उद्देश्य रहता है, पर्याप्त मात्रा में ओषध देकर दौरों को रोककर आखिरी दौरे के एक साल बाद तक औषध का चलाते रहना। यह समय इतना लम्बा पड़ता है कि इतने दीर्घकाल तक रोगी चिकित्सा में नहीं रह पाता इसलिये दवा का पूर्ण लाभ भी उनमें नहीं दिखलाई पड़ता है।

'फेनाबार्बिटोन' एक उत्तम दवा है। इसकी मात्रा ¼ ग्रेन दिन में एक बार शुरू करके क्रमशः बढ़ाते चलना चाहिए जब तक कि रोग का दौरा

नियन्त्रण में न आ जाये। फिर भी $\frac{1}{2}$ ग्रेन दिन में तीन बार से अधिक नहीं होना चाहिए। संशमन के लिए निद्रा कर योग पोटाश ब्रोमाइड' ३ ग्रेन, टिंचर बेलाडोना ५ बूँद, शर्बत और क्लोरोफार्म वाटर का मिश्रण भी दिया जा सकता है।

'इपैन्यूटोन' ( Epanutone ) $1\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में कैप्स्यूल में दिन में तीन बार देना लाभप्रद माना जाता है। 'ट्राइडियोन' ( Tridione ) ३ ग्राम की मात्रा में दिन में दो या तीन बार देना भी अच्छा पड़ता है। परन्तु इन उपर्युक्त सभी औषधों में कुछ न कुछ दोष पाया जाता है। 'मायसोलीन' ( Mysoline I. C. I. ) एक उत्तम योग है। आयु के अनुसार इसकी ०·१२५ ग्राम से ०·५ ग्राम तक भिन्न मात्राओं में प्रयोग करना होता है। इसका प्रयोग दीर्घकाल तक करने से ही लाभ होता है। इसके सेवन से भी उदरशूल प्रभृति कुछ उपद्रव होते हैं। फिर भी अन्य योगों की अपेक्षा अधिक निरापद है। 'एफेड्रीन' ( Ephedrine ) $\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में भोजन के पूर्व देना भी लाभप्रद पाया जाता है और विषाक्तता बहुत कम रहती है। जीर्णापस्मार में जैसा कि ऊपर लिख आये हैं, मस्तिष्कागत उत्तेजक केन्द्र का छेदन भी प्रशस्त माना गया है।

**आयुर्वेदोपचार**—अपने एक प्राचार्य का कथन अपस्मार की चिकित्सा करते समय सदा ध्यान में आता है। वह कहा करते थे कि अपस्मार एक ऐसा रोग है जो स्वयमेव बिना किसी दवा के सिद्ध पुरुष के आशीर्वाद से अच्छा हो जाता है—इसमें दवा इतनी लाभप्रद नहीं होती जितनी दुवा। अपने नित्य के अनुभवों से अधिकांश चिकित्सकों को सम्भवतः यह सिद्धान्त मान्य जान पड़े।

आचार्य चरक ने गर्दभ-मूत्र को अपस्मारध्न बतलाया है। वास्तव में यह लाभप्रद भी रहता है। छोटे शिशुओं में तो खर-मूत्र का प्रयोग करने का अवसर नहीं मिला, परन्तु दस बारह साल की उमर के बालकों में अच्छा लाभप्रद रहा, कुछ लोग अश्वमूत्र को भी लाभप्रद बतलाते हैं। इन मूत्रों में शरीर में किट्टोत्कर्ष ( Ketosis ) बढ़ता है—जिससे अपस्मार का दौरा नहीं हो पाता है।

दूसरी औषध मीठी वच का चूर्ण घृत और मधु के अनुपान से या मट्ठे के साथ सेवन करना होता है, वर्षा जल का सेवन भी उत्तम रहता है। कोष्ठ की शुद्धि होती रहे अतएव नित्य हरीतकी का प्रयोग भी उत्तम माना गया है।

घृत परम मेध्य द्रव्य है। इसका स्वतंत्र या प्रचुर मात्रा में प्रयोग या सिद्ध घृतों के रूप में कल्याण या क्षीरकल्याण पंचगव्य या महा चैतस (भै० र०) घृत का प्रयोग बड़ा लाभप्रद रहता है। छोटी उमर के शिशुओं में अष्ट मंगल घृत का प्रयोग करना चाहिये।

श्वेत कुष्माण्ड, मक्खन, तिल, तैल, जंगली पशु पक्षियों का मांस और दूध का प्रचुर प्रयोग करना चाहिए। एक तांत्रिक प्रयोग की बड़ी प्रशंसा है—ईख की गाँठों में उत्पन्न होने वाले कीड़ों को निकाल कर एक या दो कीड़ा गुड़ के साथ सप्ताह में एक दिन प्रति मंगलवार या रविवार को खिलाने से लाभ होता है। यह बहुत बार का अनुभूत योग है। कुल प्रयोग ४१ दिनों का होता है। बाँस को गाँठ पर पाये जाने वाले रोग (रोवें) की भी यही विधि है। इसी विधि से थोड़ी मात्रा में गुड़ के साथ खिलाया जाता है। इस तांत्रिक प्रयोग के नुस्खे परमाचार्य स्व० पं० सत्यनारायग शास्त्री वैद्य काशी के हैं। जो उनके स्नेह और सौजन्य से प्राप्त हुए हैं।

इन योगों के अतिरिक्त बहुत प्रकार के अंजन, नस्य और धूमों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है उनका भी प्रयोग करके देखना चाहिए। स्मृतिसागर रस ६२-१२५ मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में दो बार गाय के घी और चीनी के साथ देना चाहिए। खाने के बाद अश्वगंधारिष्ट या सारस्वतारिष्ट १ चम्मच बराबर जल के साथ दिन में दो बार देना चाहिये। 'सायलेडिन' (एलार्सिन) का सेवन भो लाभप्रद रहता है।

## शैशवीय अंग घात
## (Polio Myelitis or Infantile Paralysis)

**व्याख्या**—विशेष प्रकार के स्पंदन शील विषाणु (Filterable virus) के उपसर्ग से होने वाला यह एक रोग है जिसमें सुषुम्मा और मस्तिष्क का तीव्र शोथ होता है और जिसके परिणामस्वरूप अंग का घात होता है।

**हैतुकी**—रोग अधिकतर दो से ५ वर्ष की आयु में होता है, दोनों लिंगों के बालकों में समान भाव से पाया जाता है। जुलाई से सितम्बर तक अधिक होता है। रोग एकैक ( Sporadic ) या मरक ( Epidemic ) दोनों प्रकार का पाया जाता है। संचय काल तीन-चार दिनों से १ मास तक का हो सकता है। रोग का संक्रमण या प्रसार मक्खियों के द्वारा होता है या रोग से पीड़ित व्यक्तियों के हाथ से विषाणुओं को नासा ग्रसनिका ( Naso-Pharyux ) से प्रवेश होकर अन्न नलिका में प्रवेश हो जाता है। दूसरा उपसर्ग में पहुँचने का मार्ग बिन्दूत्क्षेप ( Droplet infaction ) से नासा मार्ग से है।

**विकृति-विज्ञान**—तीव्रावस्था में मरे बालकों में साधारणतया देखने से मस्तिष्क संस्थान में रक्ताधिक्य के अतिरिक्त और कोई विकार नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु जीर्ण रोगियों में सुषुम्ना के विकार से ग्रस्त भागों में सिकुड़न ( Shinkage ) पाई जाती है। अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से देखने पर तीव्रावस्था में मस्तिष्क के धूसर भाग ( Grey matter ) की रक्त वाहिनियाँ विशेषतः पूर्व श्रृंग के कोषाणु ( Antrion Horn cells की केशिकायें (Capillaries) विस्तृत मिलती हैं और केशिकाओं के समीपस्थ भाग में चारों ओर छोटे-छोटे गोल कोषाणुओं का समुदाय इकट्ठा पाया जाता है। कुछ दिनों के बाद प्रभावित क्षेत्र के धूसर भाग के कोषाणु सिकुड़ते और शोषित हो जाते हैं। परिसरीय वात तंत्रिकाएँ ( Peripheral Nerves ) सूख जाती हैं उनसे सम्बद्ध पोषण प्राप्त करने वाली मांसपेशियाँ अपचय को प्राप्त होकर सूख जाती है।

**लक्षण**—अंगघात के पूर्व यह काल एक या दो दिनों का रहता है। बालक को तीन या चार अंश तक बढ़ा हुआ बुखार और तेज जुकाम ( प्रतिश्याय ) होता है। चेहरे की लाली, शिरःशूल पीठ में दर्द, अतिसार क्वचित् वमन, सुस्ती या चिड़चिड़ापन पाया जाता है। गर्दन की पेशियाँ कड़ी पड़ जाती हैं, मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव स्वच्छ रहता है, परन्तु उसका परिमाण और दबाव स्वाभाविक से अधिक हो जाता है।

**सौषुम्निक रूप**—( Spinal form )—एक दो दिनों में अंगघात के प्रारम्भिक लक्षण शुरू हो जाते हैं और अचानक जब बच्चा सोकर सबेरे उठने लगता है तो उसके अंग घातिक हो जाते हैं। वह अंगघात प्रारम्भ में शिथिल ( Flaccid ) स्वरूप का रहता है। आमतौर से एक या दो सप्ताहों के बाद रोग में सुधार दिखलाई पड़ने लगता है, जो घात पहले बहुत विस्तृत रहता है वह अब किसी एक अंग या किसी एक पेशी समूह तक ही सीमित हो जाता है। पैरों का घात अधिकतर मिलता है। दो तीन सप्ताहों के बाद घातित अंग की पेशियाँ क्षीण होने लगती हैं, उस अङ्ग का रक्त-संवहन भी कमजोर हो जाता है जिससे वह अंग ठंडा और कुछ काला पड़ जाता है। यदि चिकित्सा उचित और शीघ्रता से नहीं हुई तो पेशियों का संकोचन होकर अंग का रूप भी बिगड़ जाता है। उस अंग की वृद्धि रुक जाती है वह छोटा भी पड़ जाता है।

उदर की पेशियाँ भी प्रभावित होती हैं, उदर फूल जाता है। वक्ष ( छाती ) की पेशियों के प्रभावित होने से श्वसन में बाधा होती है और छाती में पार्श्व वक्रता एक ओर को झुककर छाती का टेढ़ा होना ( Scoliosis ) आ जात; है। आँखों के प्रभावित होने से आँखें छोटी हो जाती हैं आँखों की पुतलियाँ भी छोटी हो जाती हैं।

**मस्तिष्कावरणीय स्वरूप**—( Meningeal form )—मस्तिष्कावरण के प्रभावित होने से तेज सिर दर्द, पीठ और पैरों के छूने या दबाने से पीड़ा, सिर का पीछे की ओर तन जाना, कर्निग के चिह्न, प्रकाश का न सह्य होना, प्रकाश में आँखों को खोलकर देखने में असमर्थता (Photophobia), मस्तिष्कावृत्ति शोथ सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं, परन्तु विशेषता एक या दोनों पैरों के घात ( Paralysis ) की पाई जाती है। पैरों में प्रारम्भ में कमजोरी महसूस होती है पश्चात् शिथिल स्वरूप का घात हो जाता है।

**फैलनेवाला प्रकार**—( Spreading form )—कई बार रोग में घात किसी एक अंग में जैसे एक पैर में होकर पुनः दूसरे पैर में, फिर एक या दो दिनों में और ऊपर को प्रसार होकर हाथों में या पर्शुकान्तरीय पेशियों में फिर

फैलता हुआ प्राचीरा पेशी ( Diaphragm ) में भी होता चलता है। प्राचीरा पेशी की क्रिया के नाश होने के साथ ही मृत्यु भी हो सकती है। इस फैलनेवाले प्रकार में सुधार भी हो सकता है, इन विभिन्न अंगों, पेशियों में पुनः बल आकार हालत में सुधार भी हो जाता है। घात का प्रसार अधिकतर नीचे से ऊपर को होता है क्वचित् ऊपर से नीचे की ओर भी हो सकता है।

**मस्तिष्क शोथ या पाकी प्रकार** ( Polioencephelitis )—मस्तिष्क का जो भाग प्रभावित होता है उसके अनुसार लक्षण भी भिन्न-भिन्न स्वरूप के प्रकट होते हैं। एक मस्तिष्कार्ध या दोनों प्रभावित हो सकते हैं। बीमारी तेज रूप की होती है। अनगिनत दौरे आक्षेप के आने लगते हैं। थोड़े ही समय में बालक पूरी तौर से बेहोश हा जाता है फिर एक या दो दिनों में जब होश में आता है तो अंगघात उपस्थित मिलता है। इस अवस्था में जो घात होता है वह शिथिल स्वरूप का न होकर कड़ापन के साथ ( Spastic ) पाया जाता है। कई बार बालक अन्धा हो जाता है, उसकी बुद्धि और विचार शक्ति कमजोर पड़ जाती है। इस प्रकार के घात में सुधार भी शीघ्रता से नहीं होता है और अंग की काम करने में असमर्थता स्थायी रूप की हो जाती है अर्थात् घात स्थायी हो जाता है।

इसके अतिरिक्त भी कई अन्य प्रकार के लक्षण समुदाय मिलते हैं। जो मस्तिष्क के विभिन्न भागों के प्रभावित होने के अनुसार होते हैं। जैसे लघु मस्तिष्क ( Cerebelum ) के प्रभावित होने से गति सम्बन्धी दोष, मस्तिष्क तन ( Brain stem ) के प्रभावित होने पर नेत्र एवं मुख की पेशियों का घात होता है—मस्तिष्क सेतु के ( Medulla ) प्रभावित होने से शीघ्रता से मृत्यु तक हो सकती है।

**शुभाशुभ**—जब श्वसन सम्बन्धी पेशियाँ या मस्तिष्क सेतु प्रभावित होता है तो रोग का सुधार कठिन होता है, अन्यथा रोग की तीव्रावस्था में सुधार हो जाता है। मरक के रूप में फैलते हुए रोगों में मृत्यु का प्रतिशत प्रमाण ( १०% ) अधिक रहता है।

रोग से उत्पन्न अंगघात के सुधार के सम्बन्ध में भविष्य कथन बड़ा ही कठिन होता है, फिर भी अगर छः महीने के भीतर घातित अंगों में सुधार हो जाय या होने लगे तो घात प्रायः ठीक हो जाता है, अन्यथा घात स्थायी रूप से बना रह जाता है।

ए.. बार शैशवीय अंगघात होने के बाद प्रायः बालकों में स्थायी रोग निवारण क्षमता पैदा होती है; परन्तु यदि रोग का एक या दो वर्ष के अन्तर से पुनः दौरा हुआ तो प्राण के लिये घातक होता है।

चिकित्सा—

रोग-प्रतिबन्धक चिकित्सा—रोग के निवारण के लिये दो प्रकार के वैक्सीन चलते हैं। **साल्क वैक्सीन**—इसमें तीनों प्रकार के वायरस मिले रहते हैं। इसका प्रयोग पेशी मार्ग से, तीन बार करना होता है। प्रथम और द्वितीय सूचीवेध में एक मास का अन्तर और द्वितीय एवं तृतीय में ७–१२ मास का अन्तर देना होता है।

सैबिन वैक्सीन—मुख से प्रयोग करना होता है। यह भी जीवित एवं संस्कारित तीनों प्रकार के वायरसों से निर्मित होता है। यह मुख से ३ बूँद की मात्रा में दी जाती है और चार से आठ सप्ताह के अन्तर से तीन बार देना होता है। इससे बालक में पूरी रोग की प्रतिबंधक शक्ति प्राप्त होती है। अधुना इसी का प्रयोग अधिक चल रहा है।

बालक को तीन सप्ताह तक पृथक् करके रखना चाहिये। उससे मल आदि को भी शोधन ( Disinfect ) विधिवत् करना चाहिये। बिस्तर पर रख कर पूर्ण विश्राम और बढ़िया सुश्रुषा की व्यवस्था करनी चाहिये।

जब अंगघात उत्पन्न हो गया हो तो घातित अंग को मुलायम तकिये के सहारे इस स्थिति में रखना चाहिये कि वह स्थिर हो जाय और उसमें बिल्कुल गति या हलचल न हो। इस आसन से घातित पेशियों को पूर्ण विश्राम मिलता है।

पैरों को आकुञ्चनों से बचाने के लिये जब उनकी पीडनाक्षमता कम हो जाय तो कुशा ( Splint ) की सहायता से ठीक स्थिति में बाँध कर रखना चाहिये। घातित अंग को ढीले ऊनी मोजों के जरिये ठण्डक से बचाकर रखना चाहिये। यदि पीड़ा अधिक रहे तो एस्प्रिन ५ से १० ग्रेन की मात्रा में या अफीम का डोवर्स पाउडर के रूप में ( १ ग्रेन की मात्रा में १ वर्ष के बालक के लिये ) देना चाहिये। मस्तिष्क सुषुम्ना जल के निकलते ही रोगी को शीघ्र आराम पहुँचता है।

यदि वक्ष या श्वसन संस्थान की पेशियों का घात हो तो दशा बड़ी ही संगीन हो जाती है। बालक की प्राणरक्षा का साधन कृत्रिम पुनः प्राणन ( Artificial Respiration ) है। इस अवस्था में 'ड्रिकर' का यंत्र जो पुनः प्राणन करने में समर्थ रहता है बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है; परन्तु इसके चालन में विशेषज्ञ और चतुराई की अपेक्षा रहती है। बड़ी मात्रा में 'कार्टिसोन' का प्रयोग भी तीव्रावस्था में लाभप्रद होता है। इसके प्रारम्भ करने पर सहसा बंद न करके क्रमशः मात्रा को कम करते हुए बन्द करने का ध्यान रखना चाहिये।

दो तीन सप्ताहों के अनन्तर रोग की तीव्रता कम हो जाय तो घातित पैर की तैल से मालिश और हलकी गति करानी चाहिये। दशा में सुधार होते रहने पर तेज गति भी शुरू करा देनी चाहिये। अंगघात की चिकित्सा बहुत लम्बे समय तक करना पड़ता है। कई बार पूर्ण नैरोग्य लाभ करने में दो वर्ष तक का भी समय लग जाता है।

**आयुर्वेद चिकित्सा**—इस रोग में अंगघात की चिकित्सा के लिये रस राज या वृहद्वात चिंतामणि रस ३०-६० मि० ग्रा० तक अदरक के रस ५ बूँद और मधु दस बूँद के साथ दिन में दो बार करना चाहिये। संखिया के योगों में समीर पन्नग रस १५ से ३० मि.ग्रा. की मात्रा में दिन में दो बार देना चाहिये। इसी में प्रवाल भस्म १२० मि० ग्रा० और गुडूची सत्व ½ ला० की मात्रा में मिलाकर देने से औषध का कोई कुपरिणाम नहीं होने पाता। चोपचीनी के चूर्ण का भी १ ग्रा० की मात्रा में दिन में दो या तीन बार मुख से सेवन उत्तम

रहता है। कोष्ठ की शुद्धि के लिए एनीमा देकर या ग्लिसरीन सिरिंज का उपयोग करना चाहिए। मालिश के लिए बला तैल, नारायण तैल या माष तैल इनमें से किसी एक का उपयोग करना चाहिए।

संखिया के योग उष्ण होते हैं अतः इनके प्रयोग काल में दूध और घी पर्याप्त मात्रा में रोगी को दे। दवा के अनुपान में भी मलाई या घी का उपयोग करना चाहिए। कषायों में 'महारास्नादि कषाय' को एक छोटी चम्मच एरण्ड तैल मिलाकर देना उत्तम रहता है। दशमूल का काढ़ा ½ लिटर मधु ६ ग्राम०, सेंधा नमक ३ ग्रा० और नारायण तैल १२ ग्रा० खूब अच्छी तरह से पीसकर एक रस करके गुदा मार्ग से वस्ति द्वारा देना भी उत्तम रहता है। इस वस्ति के देने के पूर्व नमक के पानी की एक वस्ति देकर कोष्ठ शुद्ध कर लेना भी उत्तम रहता है। कोष्ठ शुद्धि के अनन्तर मंद धारा से वस्ति को देना चाहिए ताकि घण्टे दो घण्टे तक द्रव्य कोष्ठ में रहे और उसका कुछ भाग शोषित हो सके। कमर के नीचे वाले घात जिसमें दोनों पैर घातिक हो जाते हैं। शुद्ध कुपीलु का उपयोग उत्तम रहता है। इसके लिए रसायन योग रोज गुग्गुलु ½ ग्रा० और शुद्ध कुपीलु ६० मि० ग्रा० मिलाकर एक मात्रा करके दिन में दो बार घी और चीनी के साथ देना चाहिए। इसके अलावे मकरध्वज ३० मि० ग्रा०, लौह भस्म ३० मि० ग्रा०, शुद्ध कुपीलु ३० मि० ग्रा० तीनों को पीसकर मिलाकर तीन मात्रा में करके मधु से भी देना लाभप्रद है।

## लास्यक
## ( Chorea )

यह एक वातिक रोग है इसको आमवातज ज्वर का ही एक प्रभाव माना जाता है। इसमें तीन प्रमुख लक्षण मिलते हैं—

१—अनैच्छिक या अनियंत्रित गतियाँ (Involuntary movement)
२—इन गतियों में तारतम्य का अभाव ( Incordination ) तथा
३—भावुकता सम्बन्धी परिवर्तन ( Emotional Disturbances ) ।

**हैतुकी**--पाँच से दस वर्ष के आयु के बालकों में यह रोग अधिकतर पाया जाता है। लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा अधिक होता है। आमवात से पीड़ित बालकों में अधिक होता है। हाथ का काम करने वाले वर्ग के बालकों में अधिक होता है। इस रोग से होशियार, बुद्धिमान और कुशाग्र बुद्धि वाले बालक मंदबुद्धि वालों की अपेक्षा अधिक पीड़ित होते हैं। परीक्षा या कक्षा में अधिक तेज रहने वाले चिन्ताग्रस्त बालक लास्यक से अधिक पीड़ित होते हैं। रोग के प्रारम्भ होने के पूर्व किसी प्रकार के धक्का लगने का या भय का पूर्व वृत्त भी इन बालकों में पाया जाता है। इस तरह बहुत से बालकों में बिजली और बादलों की गड़गड़ाहट या किसी रोमाञ्चकारी दुर्घटना के देखने का पूर्व वृत्त पाया जाता है। पाठशाला में दिये गये किसी उग्र दण्ड के परिणामस्वरूप होने का भी कुछ बालकों में रोग का वृत्त मिलता है।

**विकृति-विज्ञान**--इन रोग से पीड़ित बालकों में निम्नलिखित वैकारिक परिवर्तन विभिन्न अवयवों में पाये जाते हैं।

१--मस्तिष्कावरण में रक्ताधिक्य ( Congestion of Meninges )।

२--मस्तिष्क वाह्यक की रक्त वाहिनियों में रक्त का जम जाना ( Thrombosis of tne cortical vessels )।

३--मस्तिष्क में छोटे कोशिकाओं ( Cells ) का कुछ अधिक होना विशेषतः छोटी धमनियों और आधार गण्ड ( Basal Gangl ) के आस-पास।

४--मस्तिष्क में शोथ सम्बन्धी कोई भी परिवर्तन नहीं होता, अतः सुधार की पूर्ण आशा भी रहती है। अंगघात या बुद्धि की दुर्बलता भी नहीं पैदा होती है।

५--रक्त कणों की अवसादन गति (E. S. R.), प्राकृतिक (Normal) रहती है, जो आमवात में बढ़ी मिलती है।

६--मस्तिष्क के वाह्य भाग ( Cerebral cortex ) में ही विकार का प्रधान रूप से अवस्थान रहता है।

७--रोग के परिणामस्वरूप कई बार स्थूलता (Obesity) पाई जाती है।

लक्षण—रोग का आक्रमण धीरे धीरे होता है। आमतौर से पहला लक्षण जो रोग से पीड़ित बालक में दिखलाई पड़ता वह यह है कि बालक बार-बार अपने हाथ में पकड़े हुए सामान को गिरा दिया करता है। और घबरा जाता है, चंचल हो जाता है। मुँह बनाता है और मामूली बात से भी रोने लगता है, या सुस्त हो जाता है उसकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है। इन कारणों से बालक को डाँट भी सुननी पड़ती है, परन्तु आगे चलकर यह जाना जाता है कि यह लड़के की शरारत नहीं उसकी बीमारी है।

परीक्षा करके देखने पर बालक मन्द और सुस्त प्रतीत होता है, मुँह नीचे को लटकाये रहता है, परन्तु उसकी गतियाँ विशेष प्रकार की होती हैं जो रोग की सूचना देती हैं। ये गतियाँ विशेष प्रकार की हो सकती हैं। एक क्षण में वह मुँह को मोड़ता है या भौं को ऊपर उठाता है, दूसरे क्षण अपने कंधे को हिलाता है, हाथ को फेंकता है या पैर को घसीटता है। तीसरे क्षण में कौन-कौन सी गति होगी यह बतलाना भी मुश्किल रहता है। जीभ से कभी वह आवाज करता है, कभी लम्बी उच्छ्वास ( गहरी साँस ) लेता है। बोलने में हिचकता है, शब्दों का उच्चारण लघु करता है, कई बार बहुत मन्द आवाज में बोलता है अथवा कई बार अत्यधिक जोर से बोलता है। निरर्थक या बिना किसी मतलब के हँसना या रोने का क्रम बीच-बीच में चलता रहता है। रोग की मृदु अवस्था में बालक को कपड़ा उतारते समय ध्यानपूर्वक देखने से, बटन खोलते या कपड़ा निकालते समय उसके शरीर की विभिन्न गतियों का अध्ययन किया जा सकता है। जब हाथों को फैलाता है। तो उसकी कलाई मुड़ जाती है, अँगुलियाँ अत्यधिक तन जाती हैं और अंगूठे में हल्का कम्पन होता रहता है। बालक के एक घुटने पर दूसरे घुटने को चढ़ाकर हल्की चोट देने से लगातार कई झटके पैर में होते हैं। पश्चात् पैर फैलता है।

कुछ अन्य विशेषताएँ भी गतियों के सम्बन्ध में पाई जाती हैं:—जैसे गतियाँ अधिकतर एक ही तरफ में अधिक व्यक्त मिलती हैं। निद्रा की अवस्था में सभी गतियाँ बन्द हो जाती हैं। रोग यदि उग्र हो तो निद्रा भी बड़ी कठिनाई से आती है। कई बार बालक मूक ( गूँगा ) भी हो जाता है,

लास्यक गतियों के शान्त होने पर वह पुनः बोलने में समर्थ हो जाता है। कई बार रोग से पीड़ित बालकों के स्वभाव में भी परिवर्तन हो जाता है—वह अधिक चिड़चिड़ा और तुनुक मिजाज हो जाता है, पास की चीजों को फाड़ देता है, मिट्टी में लोटता है और दूसरों को गाली बकता है। रोग से निवृत्त होने के बाद उसका स्वभाव पुनः प्राकृत हो जाता है। कई बार लास्यक, अंगघात के स्वरूप का भी पाया जाता है, इस दशा में हृदय का विकार भी पाया जाता है, बालक अपना पैर उठाने में असमर्थ रहता है। पेशियों का बल भी कम हो जाता है।

**रोग विनिश्चय**—बाल्यावस्था में होने वाले लास्यक सदृश लक्षण कई अन्य रोगों जैसे घात, मस्तिष्क शोथ, मस्तिष्क गत अर्बुद, क्षयज-मस्तिष्कावरण शोथ में भी मिल सकते हैं, अतः उनसे विभेद करना आवश्यक है।

रोग का दूसरा विभेद आदतों से करना पड़ता है, कई बालकों में कुछ गतियों के करान की वैसे ही आदत-सी बनी पाई जाती है। इस अवस्था में वही गति बार-बार बालक करेगा, अनिश्चित स्वरूप की अनेक प्रकार गतियाँ जैसे लास्यक में पाई जाती हैं नहीं करता। जैसे आँखों का मटकाना या ओठों को बिचकाना प्रभृति आदतें, इन आदतों का ज्ञान माता को रहता है उससे पूछ कर पता लगाया जा सकता है।

**शुभाशुभ**—यह एक साध्य रोग है जिसमें यदि कोई उपद्रव न हो तो निश्चित रूप से सुधार हो जाता है। रोगी को पूर्ण स्वस्थ होने में एक मास से छः मास तक लग सकते हैं। हृदय के विकारों का उपद्रव रूप में पाया जाना घातक हो सकता है, अन्यथा प्राण का भय नहीं रहता है। जैसा प्रारम्भ में बतलाया जा चुका है, आमवात से इस रोग का कुछ सादृश्य है, फलतः आमवात के समान ही इसमें भी पुनः होने की (पुनरावर्त्तन) सम्भावना रहती है।

**चिकित्सा**—

बिस्तर पर रोगी को रख कर पूर्ण विश्राम देने की व्यवस्था करनी चाहिये। खास कर रोग के प्रारम्भिक दिनों में एक दो सप्ताह तक बालक

को इतना विश्राम मिलना चाहिये कि उसको अपने हाथ से खाना भी खाने की स्वीकृति नहीं देनी चाहिये, शान्त स्थान में उसको रखने की व्यवस्था करनी चाहिये। तीसरे या चौथे सप्ताह से जब उसकी उत्तेजनायें जाती रहें, अनियंत्रित शरीर की विविध गतियाँ बन्द हो जायँ; तो हल्के व्यायाम पर लाना चाहिए। उसको अपनी इच्छा से उठना बिस्तर पर बैठना, कुछ चलना-फिरना प्रारम्भ कराना चाहिये। यदि हृदय में विकार के चिन्ह मिलें तो और अधिक सप्ताहों तक ( १॥-२ मास तक ) विश्राम देना आवश्यक होता है। रोग के अच्छा हो जाने पर भी बालक को छः मास तक या जैसा उचित प्रतीत हो घर पर ही रखना चाहिये, पाठशाला में नहीं भेजना चाहिये। रोग से पीड़ित बालकों में तेल की मालिश और उष्ण उपचर ( स्वेदन ) बड़ा उत्तम रहता है। इससे बालक को आराम मिलता है और निद्रा अच्छी आती है। गर्म स्पाजिञ्ज जैसे उष्ण जल में तौलिया भिंगोकर उससे शरीर का पोंछना पश्चात् कम्बल ओढ़ाकर सुलाना भी बड़ा उत्तम पड़ता है।

**औषध**—लायस्क रोग के लिये कोई अचूक दवा नहीं है। पूर्ण विश्राम ही पर्याप्त है। लाक्षणिक चिकित्सा के विचार से संशामक औषधों का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—'क्लोरल हाइड्रेट' 'क्लोरेटोन' 'फेनाजोन (Phenazone ) अथवा 'ब्रोमायड्स'। 'क्लोरलहाइड्रेट' ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार 'क्लोरेटोन' ३ से ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार, 'फेनाजोन' ५ ग्रेन की मात्रा में रात में सोते वक्त स्वतंत्र या 'ब्रोमायड' मिश्रण के साथ दिया जा सकता है। क्वचित् रोग के तीव्र होने पर 'हायोसिन हायड्रो ब्रोमायड' ( ७१०० ग्रेन की मात्रा ) सूचीवेध द्वारा दिया जा सकता है। आमवातघ्न उपचारों में 'सोडासैलिसिलास' ५ से १० ग्रेन और 'सोडा बाइकार्ब' द्विगुण मात्रा में मिलाकर देना भी द्राभप्रद पाया गया है। 'फाउलर का सोल्यूशन' ) Fowler's Solution ) के रूप में संखिया का प्रयोग २½ बूँद, दिन में दो बार देना भी रोग मुक्तावस्था में लाभप्रद होता है। परन्तु इस औषध की विषाक्तता पर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है।

**सुषुम्ना शोथ** ( Myelitis )—सुषुम्ना का शोथ रीढ़ की हड्डियों के क्षय के परिणामस्वरूप या किसी अन्य संक्रमण के कारण स्वतंत्रतया भी हो सकता है। यह रोग बालकों में बहुत कम पाया जाता है। रोग का आक्रमण तीव्र स्वरूप का होता है। ज्वर, कटि एवं पृष्ठ में तेज दर्द होता है। रीढ़ में विकार के स्थान पर छूने या दबाने से पीड़ा होती है और विकार के स्थान के अनुसार दोनों पैरों का घात शिथिल या कड़ा ( Flaccid or Spastic ) स्वरूप का हो सकता है, मल और मूत्र का त्याग अपने आप ( अनियंत्रित स्वरूप का ) होता रहता है क्योंकि संवरणी ( मूत्रद्वार और मलद्वार की ) पेशियों का नियंत्रण चला जाता है और वे शिथिल पड़ जाती हैं। उपद्रव में रूप में शय्याव्रण या फुफ्फुसश्वसनी ( ब्रांकोन्यूमोनियाँ ) शोथ का होना खतरनाक होता है। पीठ में रीढ़ की हड्डियों में किसी एक स्थान पर जहाँ विकार पाया जाता है जिससे सूजन, विरूपता या छूने या दबाने से पीड़ा होती है। शैशवीय अंगघात से इस रोग का विभेद इसी एक लक्षण के ऊपर (मल-मूत्र का नियन्त्रण न रहना) किया जा सकता है। चिकित्सा में कोई विशिष्ट उपचार ज्ञात नहीं है।

## असंयुक्त मेरुदण्ड
## ( Spina-Bifida )

बालकों में पाये जाने वाला यह एक जन्म से ही होने वाला विकार है, जिससे रीढ़ की हड्डियाँ ठीक से नहीं मिली रहती और उनके बीच में दरार पाई जाती है जिससे होकर सुषुम्ना नलिका के अन्दर की चीज बाहर आकर एक पिलपिले या पानी भरे उभार का रूप लें लेती है ( Meningscele )। आमतौर से गर्भस्थ शिशु में तीसरे सप्ताह के अन्त तक सुषुम्ना नलिका तथा ११वें सप्ताह तह रीढ़ हड्डी पूर्णतया बन्द हो जाती है। यदि किसी कारण ये नलिकायें बन्द हो तो यह विकार पैदा हो जाता है।

पृष्ठ वंश या रीढ़ की हड्डियों में किसी भी स्थान पर यह विकार पैदा हो सकता है; परन्तु अधिकतर कमर में ( कटि-त्रिक् भाग Lumbosacral

region ) पाया जाता है। सूजन जन्म से ही पैदा होती क्रमशः बढ़ती चलती है ! स्पर्श में मृदु तरंग युक्त श्लेमल कला एवं त्वचा से ढकी रहती है।

यह आमतौर से दो प्रकार की होती है। १—केवल मस्तिष्कवरण के भीतर मस्तिष्क सुषुम्ना जल से भरा रहता है। ( Meningocele ) यह एक मृदु स्वरूप का प्रकार है। अधिक कष्ट-प्रद एक दूसरा प्रकार है जिसमें अर्बुद के भीतर सुषुम्ना और वात तन्त्रिकायें भी पाई जाती हैं। ( Meningomyeocele ) इस दशा में दोनों पैरों का घात भी सम्भव रहता है।

मेरुदण्ड अयुक्तता से पीड़ित बालकों का भविष्य अच्छा नहीं रहता, अधिकतर कुछ सप्ताहों में मर जाते हैं क्योंकि अर्बुद के व्रणित होने से मस्तिष्क सुषुम्ना शोथ पैदा हो जाता है जो प्रायः घातक होता है। कई बार जल शीर्ष का उपद्रव पैदा हो जाता है।

**चिकित्सा**—इस रोग में उपचार शल्यतन्त्रीय है।

यदि अर्बुद में सुषुम्ना तंत्रिकायें न हों, जलशीर्ण की अवस्था न हो तो छेदन ( Excision ) ठीक है अन्यथा शस्त्र कर्म न करके थैले को सुरक्षित रखने की ओर स्वयमेव ठीक हो जाने की प्रतीक्षा करनी चाहिये। उभार के लिए कुछ ग्राही और जीवाणुनाशक ओषधियों का जैसे 'टैनिक एसिड' का चूर्ण छिड़क कर, रूई की मुलायम गद्दी बनाकर रख कर, वह फटने न पावे ऐसी हिफाजत करनी चाहिये। यदि व्रणोत्पत्ति होने लगे तो शस्त्रकर्म के द्वारा उपचार करना चाहिये।

## अर्दित

## ( Bell's Palsy )

इस रोग में आधे मुँह की पेशियों का घात हो जाता है। यह रोग बच्चों में प्रायः देखने को मिलता है। इसमें मुख को जाने वाली तन्त्रिका जिसको पञ्चम शिरस्का तंत्रिका ( Facial or Fifth cranial Netve ) कहते हैं उसका शोथ हो जाता है। शोथ का हेतु अधिक ठण्डी हवा, शीत का लगना या तेज हवा का झोंका रहता है।

**लक्षण**—आधे मुख की पेशियाँ कार्यशील और आधे की क्रियाहीन हो जाती है। जिससे मुँह का कोण खिंचकर टेढ़ा हो जाता है।

प्रभावित भाग पर मस्तक के ऊपर झुर्रियाँ नहीं पड़तीं, आँख अधखुली रहती है और पूर्णतया बन्द नहीं होती, बालक सीटी नहीं बजा सकता है। सुधार में कुछ सप्ताह तक लग जाते हैं।

**चिकित्सा**—

पूर्ण विश्राम दे। शीत और जोरदार हवा से रक्षा करे। नेत्र का प्रक्षालन हल्के 'बोरिक घोल' से दिन में तीन या चार बार करे, अन्यथा आँखों के उठने का भय रहता है। जीवतिक्ति 'बी' का प्रयोग उत्तम रहता है। शर्बत के रूप में बने योग का सेवन करावे। विटामीन बी, एवं बी$_{१२}$ से बने योगों का प्रयोग करना चाहिये। यथा 'न्यूरोबियान', 'मेक्राबेरिन' आदि।

**आयुर्वेदीय**—नारायण तैल या माष तैल की मालिश चेहरे पर करनी चाहिये। इन्हीं तैलों का नस्य (नाक में एक दो बूँद छोड़ना) या कान में डालना भी लाभप्रद रहता है। ठण्डक से मुख की पेशियों को बचाने के लिये मफलर से लपेट कर रखना चाहिये। निर्गुण्डी की पत्ती को उबाल उससे स्वेदन किया जा सकता है। तुलसी स्वरस ४ ग्राम, घृत ८ ग्राम, मरिच १ से ३ दाना और मिश्री १० ग्राम मिलाकर रख दें। चटनी जैसे बीच-बीच में चटाता रहे। गुग्गुल का प्रयोग (योगराज, त्रयोदशांग या गुग्गुल बटी) भी उत्तम होता है। लहसुन को मीठे तेल में पका कर तेल का पिलाना भी उत्तम रहता है। रस के योगों में 'महालक्ष्मी विलास रस' का प्रयोग श्रेष्ठ रहता है। उड़द के बेसन का बड़ा बनाकर मक्खन के साथ खिलाना भी लाभप्रद रहता है। लहसुन की चटनी बनाकर मक्खन के साथ खिलाना भी उत्तम रहता है।

## रोहिणी के अनन्तर अंगघात

## ( Post Diphtheritic Paralysis )

रोहिणी रोग (Diphtheria) से पीड़ित बच्चों में दूसरे या तीसरे सप्ताह में कई बार अंगघात का उपद्रव होते देखा गया है। यह एक प्रकार

का घात होता है जिसकी जानकारी जरूरी है। इसमें प्रथम लक्षण नाक से आवाज आने का है। ( सानुनासिका उच्चारण ), पश्चात् तालु के घातित होने पर निगलने में कठिनाई होती है। बच्चा बेचैन और थका अनुभव करता है, उसकी चाल अस्थिर हो जाती है, जब ग्रसनिका (गला–Pharynx) और अन्न नलिका भी प्रभावित होती है, तो वह पूर्णतया असमर्थ हो जाता है। यदि कुछ खिलाया जाय तो वह अँटक जाता है, उसको खाँसी आने लगती है और साँस रुकने लगती है। कुछ ही दिनों में वायु और बढ़ती हुई घुटने को भी प्रभावित करती है। कण्डराओं की प्रतिक्रिया नष्ट हो जाती है पूरा मुख या जीभ का भी घात हो जाता है। हाथ, पैर कमजोर हो जाते हैं, परन्तु पेशियाँ नहीं सूखती हैं। जब छाती और महा प्राचीरा ( Diaphragm ) की पेशियाँ प्रभावित होकर घातिक हो जाती हैं तो बालक की हालत अधिक खतरनाक हो जाती है—और वह श्वासकष्ट और श्यावता से पीड़ित हो जाता है।

**चिकित्सा—**

बालक को बिस्तर पर लेटाकर पूर्ण विश्राम और बढ़िया सुश्रूषा की व्यवस्था करनी चाहिए। उसको उठने नहीं देना चाहिये, कोई भी मिहनत नहीं करने देना चाहिये क्योंकि इससे हृदय की पेशियों को कमजोर होने का भय रहता है। भोजन हल्का देना चाहिये। जब निगलने में कठिनाई होने लगे तो उसे दूध या दूध से बना पतला भोजन देना चाहिये। जब निगलने में असमर्थता हो तो अन्न नलिका में एक रबरट्यूब डालकर उसके द्वारा पोषण देना चाहिये। विबंध हो तो औषध के द्वारा पेट न साफ कराके वस्ति (Fnema) के द्वारा पेट को साफ कराना चाहिये। यदि श्वसन से सम्बन्धित पेशियाँ प्रभावित हों तो कृत्रिम प्राणन ( Artificial respiration ) या यांत्रिक प्राणन ( Mechanical Respiration ) करना चाहिये। यदि यह विधान सुलभ न हो तो रोग की तीव्रावस्था में 'स्ट्रिकनीन' का त्वचा के नीचे सूचीवेध

न करना चाहिये। इसकी मात्रा बालक की आयु के अनुसार $\frac{१}{२५०}$ से $\frac{१}{१००}$ ग्रेन दिन में कई बार हर चार घण्टे पर देना चाहिये। दूसरी औषध 'एड्रेनैलीन' है। इसकी मात्रा आयु के अनुसार ५ से १५ बूँद तक सूई के जरिये त्वचा के नीचे देनी चाहिये। तीसरी औषध 'एट्रोपीन' है जो $\frac{१}{२००}$ ग्रेन की मात्रा में प्रति चार घण्टे उसी प्रकार दी जा सकती है। आगे चलकर बिजली की मालिश और तेल का अभ्यंग चल सकता है। विश्राम कई मास तक कराके पुनः परिश्रम के कार्यों में बालक को प्रवृत्त करना चाहिए।

आयुर्वेदीय—अर्दित रोगों में कथित उपचारों का इस अवस्था में भी उपयोग करना चाहिये। इसमें रस सिन्दूर या मकरध्वज ३० मि०ग्रा० शृङ्गभस्म ६० मि० ग्रा०, प्रवालभस्म ६० मि० ग्रा०, लौहभस्म ६० मि० ग्रा० तथा शुद्ध कुपीलु ६० मि० ग्रा० मिश्रण करके दो मात्रा में बाँटकर एक या दो मात्रा प्रतिदिन मक्खन एवं मिश्री के साथ मिलाकर देना चाहिये। इस मात्रा में १½ से २ वर्ष तक की आयु के बच्चों को प्रयोग करना चाहिये। तीन मासों में बहुत सुधार हो जाता है। साथ में नारायण तैल, महाविषगर्भ या महामाष तैल की मालिश भी कराते रहना चाहिये।

## अर्धावभेदक-आधा सीसी

## (Migraine)

बड़ी उमर के बालकों में आमतौर से पाया जाता है। रोग का कुछ सप्ताहों के अन्तर से दौरा आया करता है। हर दौरे में पीड़ा सिर के किसी एक भाग में और अधिकतर आधे भाग में सीमित रहती है। दर्द सूर्योदय से सूर्यास्त तक चलता रहता है और रात्रि में कुछ आराम रहता है। कई बार दौरे के काल में वमन होता है। रोग की उत्पत्ति में आँखों पर जोर पड़ना, पचन दोष, अति स्निग्ध भोजन तथा प्रत्यूर्जता ( Allergy ) प्रभृति कारण भाग लेते हैं।

चिकित्सा—

बालक को दौरे के काल में अन्धेरे में रख कर सुश्रुषा करे। सिर की पीड़ा के शमन के लिए 'एस्प्रिन' ५ से १० ग्रेन तथा 'एरगोटैमिन टारट्रेट' Ergotamine Tartrate ) १ मि० ग्रा० की गोली मुख से प्रति दो घण्टे पर देना चाहिये।

दौरे के शमन के पश्चात् कारणों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही टिंचर आफ जेल्सेमियम ( Tincture of gelsemium ) ५ से १० बूँद दिन में तीन बार कुछ दिनों तक चलाना चाहिए!

**आयुर्वेदीय**—तेज शिरःशूल की व्यवस्था में मधु का अंजन पीड़ा को क्षीघ्रता से कम करता है। दियासलाई की काँटों से शुद्ध मधु निकाल कर दोनों या एक नेत्र में जिधर दर्द होता हो एक बून्द लगावें। किंचित लगता है, पानी गिरता है, शिरःशूल शान्त हो जाता है। शूलशमन के लिए दूसारा उपाय नस्य कर्म है—कट्फल ( कायफर ) का महीन कपड़छान चूर्ण का नस्य नाक से सुँघाने से छींक आती है शूल शान्त हो जाती है। दशमूल तैल या षडविन्दु तैल का नाक के छेदों में छोड़ना या नस्य के रूप में देना भी यही कार्य करता है। पिप्पली चूर्ण ½ ग्राम से २ ग्राम मधु के साथ खिलाने से शिरःशूल का शामक होता है। गोदन्ती भस्म २५० मिग्रा ½ ग्रा० स्वतन्त्र या वराट भस्म या प्रवाल भस्म ६० मिग्रा० से १२५ मिग्रा० तक मिलाकर घृत और चीनी से खिलाना भी यही कार्य करता है। सूर्योदय के पूर्व घृत पक्क आहार जैसे शुद्ध घी एवं सूजो का हलवा खिलाना और उसी की पोटली से सेंक करना भी लाभप्रद होता है। कुछ लोग घी की ताजी जलेबी या कवलगट्टे का हलवा, मालपुवा या शतावरी को दूध में पकाकर खिलाने की भी राय देते हैं।

दौरे के शान्त हो जाने पर कारणारूप चिकित्सा करनी चाहिये। हिमांशु तैल का सिर पर लगाना उत्तम रहता है। अजीर्ण आदि के कारण शिरःशूल का

दौरा होता हो तो पिप्पल्यासव का प्रयोग करना चाहिये अथवा पथ्याषडङ्ग कषाय ( हर्रे, बहेरा, आँवला, चिरायता, हल्दी, गिलोय, नीम की छाल का बराबर मात्रा में लेकर बनाये काढ़े में गुड़ मिलाकर सेवन ) को पिलावे। यदि दुर्बलता के कारण शिरःशूल हो तो बल्य औषधों का प्रयोग करे दन्ती भस्म का भी लम्बे समय तक प्रयोग किया जा सकता है। इसके अनुपान के रूप में घी और चीनी में मिलाकर खाने को देना चाहिये। एक योग शिरःशूलादिवज्र ( भै० र० ) का सेवन, मात्रा २–४ ग्राम। बकरी के दूध के साथ देने से भी लाभ होता है। इस रोग में लम्बे समय तक मास, दो मास या अधिक दिनों तक चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है।

———

## मस्तिष्क से सम्बन्धित कुछ अन्य लक्षण तथा चिन्ह

### सिर का लुण्ठन
### ( Head Rolling )
### घुमाना या रगड़ना
### ( Head Banging )

शिशुओं में प्रथम दो वर्ष की आयु में सिर एक तरफ से दूसरे तरफ को हिलाना या रगड़ना बहुत पाया जाता है। इस आदत से उसे कुछ आराम मिलता है, खासकर जब उसे किसी वेदना का अनुभव होता रहता है तो इन क्रियाओं से उसको कुछ राहत मिलती है। सिर के घुमाने के साथ ही कुछ बालकों में सिर का जमीन या तकिये के सहारे या बिस्तर पर या दीवाल के सहारे माथे को लगाकर ठोकने या रगड़ने की आदत दिखलाई पड़ती है। कभी-कभी तो वह इतनी तेज होती है कि वह अपनी मुट्ठी से सिर को ठोकता है या चारपाई पर पटकता है और अपने को घायल तक कर लेता है। इस कारण सिर में होने वाला कोई क्षोभ या पीड़ा होती है। दाँतों के निकलने के पूर्व दन्तोद्भेदकाल में, कान के दर्द में, कई बालकों में बुद्धि का विकास पूर्ण न होने से भी पाया जाता है। अन्तिम वर्ग वाले बच्चों में तो भविष्य में अधिक उमर तक भी यह दुर्गुण के रूप में रह जाता है। चिकित्सा में पीड़ा या क्षोभ के कारणों को दूर करना चाहिये। 'क्लोरल हाइड्रेट ( ½–१ ग्रेन ) तक संशमन के लिये देना चाहिये।

### अँगूठे का चूसना

हाथ या पैर के अँगूठे के पानी की आदत बहुत से बच्चों में पैदा होती है—जो अधिकतर छठवें मास से शुरू होकर एक या दो साल की उमर तक

चलती रहती है। आमतौर से इससे कोई हानि नहीं होती; परन्तु जब बच्चा बहुत अधिक यह क्रिया करने लगता है तो उसके (अँगूठे पर छाले पड़ जाते हैं और बहुत अधिक मात्रा में हवा का निगलना शुरू कर देता है जिससे उसमें वमन या डकारें आने लगती हैं। ऐसी दशा में आदत का छुड़ाना आवश्यक हो जाता है।

चिकित्सा—

बार-बार उसके अँगूठे को मुँह से निकाल देना। लम्बी बाँह की कमीज पहना कर उसको अँगुलियों तक बटन लगा कर बन्द करना। परन्तु बड़ी उमर के बच्चों की आदत छुड़ाने के लिए उसके अँगूठे, अँगुली और नख पर कड़वी चीजों का काढ़ा लेप करना चाहिये। निम्नलिखित द्रव्यों का लेप— क्विनीन हाइड्रोक्लोरायड १२ ग्रेन, पल्व एकेशिया १२ ग्रेन, म्यूसिलेज ट्रेगाकैन्थ २ ड्राम मिलाकर लेप करने से आदत का छूटना सम्भव रहता है।

## सिर का कँपाना

कई बालकों में सिर के कँपाने या आँखों को नचाने की आदत भी पाई जाती है। यह क्रिया बालकों में सोये या लेटे में न होकर जब बालक बैठता हो तो होती है। अधिकतर अँधेरे या सूर्य प्रकाश के अभाव में पले हुए बच्चों में या फक्क से पीड़ित बालकों में ऐसा पाया जाता है। अतएव उपचार में सूर्य प्रकाश तथा मत्स्य यकृत्वसा (काड लिवर आयल) का प्रयोग करना चाहिए।

## अनन्नाभिलाष या अन्न से द्वेष
## ( Refusal of food )

आमतौर से दूसरे वर्ष की आयु में बालकों में कई आहारों के प्रति अनिच्छा उत्पन्न होती है। जैसे माता का स्तन्य पान करने वाले बच्चों में बोतल के दूध के प्रति, बोतल का दूध पीने वालों में ऊपरी दूध के प्रति वैसे दूध के छूटने के बाद अन्न सेवन के प्रति। अधिकतर इन बच्चों में आहार के सहसा परिवर्तन के कारण ही अनिच्छा होती है, परन्तु कई बार मुखपाक,

मसूड़े की सूजन, गले की खराबी, दाँतों के निकलने के समय में होने वाले मसूड़े के दर्द के कारण भी दूध के चूसने या पीने में कठिनाई की वजह से भी अन्न खाने की अभिलाषा नहीं होती है।

आहार के समय से न देना भी अन्न में अरुचि उत्पन्न करता है। दो भोजनों के बीच के समय में बालक को कुछ न देना चाहिये, क्योंकि अध्ययन से बालक को नुकसान पहुँचता है और उसकी अन्न के प्रति रुचि जाती रहती है। मातायें कई बार बालकों के मुँह पर उसके भूख की कमी, पाचन की असमर्थता, भोजन की अल्पता अरुचि आदि की बातें करती हैं—सुनकर बालक के मन के ऊपर उसका असर पड़ता है और अन्न में अभिलाषा कम हो जाती है।

बालक को कम खाने के लिए या न खाने के लिए डाँटना या अधिक खाने के लिए पैसे या इनाम देना या न खाये तो जबर्दस्ती उसके मुँह में डालना प्रभृति बातें भी भविष्य में अरुचि पैदा करती हैं। भोजन के न करने से बच्चों का भार गिरता जाता है जो उसके संरक्षकों के लिए चिन्ता का विषय हो जाता है। इस प्रकार की व्याधि का निराकरण भी नियमों के पालन से ही हो सकता है। प्रारम्भ से ही नियमित समय से भोजन देने की व्यवस्था होनी चाहिये। बच्चे को लाड़ चाव से पालते हुए उसको बार-बार खिलाना, या अरुचि होने पर केवल मिठाई या चुन-चुन कर कुछ स्वादु भोजनों को देना बन्द करना चाहिये। यदि भोजन में अनिच्छा बालक को हो तो जबर्दस्ती उसका न खिलाकर वैसे छोड़ दे। दूसरे अन्नकाल में उसको खाने को दे।

जल का अधिक मात्रा में सेवन भी अजीर्ण पैदा करता है, बिल्कुल पानी न देने से भी ऐसा दोष आता है इसीलिए न बहुत अधिक न बहुत कम मात्रा में उसको जल देना चाहिये। कई बार बालकों में किसी भोजन विशेष से अरुचि होती है इस अवस्था में उसको बदलना भी आवश्यक होता है। जैसे शाक, तरकारी, चरबी युक्त पदार्थ, ठोस पदार्थों के सेवन आदि की। इस अवस्था में उसको क्रमशः अभ्यास करना चाहिये। "अरुचौ चित्र भोजनम्"

अरुचि होने पर चित्र विचित्र एवं स्वादु भोजन देना चाहिये। रुचिकर भोजन से अन्न के प्रति अरुचि दूर होती है।

## मिट्टी खाना
## ( Pica & Dirt Eating )

कई बालकों में विचित्र आदतें अखाद्य पदार्थों के सेवन की पाई जाती हैं जैसे कागज, कोयला, राख, बाल, मिट्टी और कच्चे शाक आदि। कई बालकों में अजीर्ण के लक्षण भी उपस्थित मिलते हैं—उदर का आध्मान, पेट का साफ न होना, जीभ का मलावृत्त होना, स्वभाव का चिड़चिड़ापन, सोने में चौंकना या सोते में चारपाई पर पेशाब करना आदि। इनमें इस आदत का छुड़ाना बड़ा ही कठिन होता है खासकर यदि उनका पाचन जब तक नहीं सुधर जाता है इन बालकों में सावधानी पूर्वक उनकी आदतों के छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिए साथ ही पचन को ठीक करने के लिए क्षारीय पाचनों को देना चाहिये जैसे—रुबार्ब ( Rhubarb ) तथा सोडाबायकार्ब का मिश्रण। स्थान और जलवायु का भी परिवर्तन करना चाहिए।

इन बच्चों में सीधी चीजों की खाने की प्रवृत्ति कई बार चूने के अभाव में भीं होती है, अतः इनमें 'कैल्शियम चाकलेट्स' दे। पचन को सुधारने के लिए पाचन चूर्ण भोजन के साथ देना भी उत्तम है।

## नाखून काटना या चबाना
## ( Nail Biting )

कुछ बालकों में दाँत से नाखून काटते रहने की बुरी आदत पाई जाती है। इसको छुड़ाने के लिए नख के ऊपर कड़वी चीज का लेप जैसे, 'क्विनीन' और एलोज से करने से धीरे-धीरे आदत छूट जाती है।

## अनिद्रा या नींद की कमी
## ( Sleeplessness )

सभी उमर के बालकों में यह दशा पैदा हो सकती है। अनिद्रा के बहुत से कारण हो सकते हैं, तथापि अधिकांश में निम्नलिखित कारण पाये जाते हैं :—

पूरा पोषण, भोजन या दूध का न मिलना, अजीर्ण, दाँतों के निकलने में मसूड़े की तकलीफ, नींद के सम्बन्ध में ठीक अभ्यास का न होना, अन्धेरे का भय, बिस्तर, चद्दर आदि का सुखप्रद न होना, सोते समय पहने जाने वाले कपड़े का तंग होना, रात का भोजन अधिक परिमाण में और गरिष्ठ होना, सोते समय मिठाई-चाकलेट और बिस्कुट का खाना, सोते समय बच्चे को यदि प्यास मालूम हो तो दूध और पानी दिया जा सकता है और कुछ नहीं देना चाहिये, क्योंकि उससे उनकी निद्रा में कमी आती है। साधारण स्वास्थ्य सम्बन्ध विकार जैसे पेट का न साफ रहना, अतिसार, पेट में दर्द, मरोड़, अचानक शालूक ( Adenoids ) का बढ़ जाना जिससे साँस में रुकावट पैदा होती है। उपचार में कारणों का विचार करके उनके दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर निद्रा की बहुत कमी हो तो संशामक योग 'ब्रोमायड मिक्श्चर' या 'फेनाबार्बिटोन' कुछ रात्रियों तक दे देना चाहिये।

## रात में चौंकना
## ( Night terrors )

दो से छः वर्ष की आयु में बालकों में प्रायः रात में चौंकना, चिल्लाकर सोते से जागना, अचानक रोना, भय से जागकर बैठ जाना, कुछ बोलना आदि लक्षण मिलते हैं। इस दशा में कई मिनट तक बच्चा अशान्त रहता है, माता को भी नहीं पहचानता और उसका शान्त करना भी कठिन होता है। बाद में फिर वह आराम से सो जाता है।

इस लक्षण के भी कारण अनिद्रा सदृश मिलते हैं जैसे—कोई शारीरिक बीमारी, कान का दर्द, आमाशय का अधिक भरा होना, अजीर्ण, विबन्ध, नासा और गले के रोग से साँस में रुकावट वगैरह। कई बार दिन में अनुभूत किसी भयावने दृश्य का निद्रा का अवस्था में स्मरण होने से बच्चा डर कर चौंकता और रोने लगता है।

चिकित्सा में रात में सोते वक्त संशामक ओषधि ब्रोमायड तथा क्लोरल हाइड्रेट २$\frac{१}{२}$ ग्रेन की मात्रा में प्रत्येक को पृथक् या मिलाकर चार से पाँच वर्ष की उमर वाले बच्चे को देना चाहिये।

## सोते में बोलना

## ( Talking while asleep )

स्कूल या पाठशाला जाने वाले बालकों की आयु, में, विशेषतः वातिक प्रकृति के बच्चों में जो परीक्षा के लिए या अधिकतम अंक लाने के लिए प्रयत्नशील हैं; यह विचित्र दशा मिलती है। वे सोये में ही जगे के समान स्कूल में पढ़ी बातों की चर्चा करते मिलते हैं। उनके उपचार में रात में सोते वक्त अल्प मात्रा में संशामक योग देने से सफलता मिलती है।

## आकर्ष दोष

## ( Habit spasm )

कुछ बालकों में निरर्थक कुछ बुरी आदतें पैदा हो जाती हैं। जैसे आँखों का मटकाना ( बार-बार ) आँखों को बन्द करना और खोलना ), मुँह का बिचकाना, होठों का काटना, मुँह का एक ओर को मोड़ना, सिर का उछालना ( Tossing of the head ), नाक और भौ का बार-बार सिकोड़ना प्रभृति कई प्रकार के दोष हो लकते हैं। इसी प्रकार हाथ, पैर और श्वसनसम्बन्धी भी कई प्रकार के आकुञ्चन पाये जा सकते हैं। अधिकतर ५ से १० वर्ष की आयु के भीतर ये आकुञ्चन मिलते हैं। अधिकतर वातिक प्रकृति ( Nervous temperament ) के बच्चों में ये दोष आते हैं।

**चिकित्सा**—सामान्य उपचारों में ताजा वायु, सूर्य प्रकाश, नित्य व्यायाम एवं पर्याप्त विश्राम देना चाहिए। यदि कोई क्षोभ पैदा करने वाला कारण ऐसा प्रतीत हो जिसकी वजह से आकर्ष पैदा करने की आदत बन रही हो तो उसको दूर करना चाहिये जैसे—आँख पर बल पड़ना, दाँत का गड्ढा, तुण्डिका शोथ विबंध या अजीर्ण।

**शिक्षण**—धीरे-धीरे आदत का छुड़ाना। शारीरिक व्यायाम, प्राणायाम, स्थान परिवर्त्तन, पाठशाला के विशेष प्रकार के शिक्षणों के द्वारा क्रमशः आदत को छुड़ाया जा सकता है।

औषध का कोई विशेष मूल्य नहीं। "इस्टन्स सीरप" भोजन के बाद ५ से १० बूँद दिया जा सकता है। शरीर और मन को बल देने की दृष्टि से इस मिश्रण का उपयोग भी उत्तम रहता है—फेनाफोन ३ ग्रेन, लायकर आर्सेनिकैलिस १½ बूँद, सीरप आफ जिंजर १० बूँद, क्लोरोफार्म वाटर १ चम्मच-छः वर्ष के बच्चे की १ मात्रा। साथ में कुछ बल्य योग जिसमें विटामिन्स, लौह, यकृत सत्व आदि पड़े हों देना चाहिए।

## बोलने में देर

## Delay in Talking )

सामान्यतया बालक प्रथम वर्ष की आयु के पूरा होते मामा, दादा, बाबा प्रभृति सरल शब्दों का बोलना प्रारम्भ करता है दूसरे वर्ष तक वह दो तीन शब्दों को छोड़कर छोटे-छोटे वाक्य भी बोलने लगता है। यदि दूसरे वर्ष तक पहुँचने पर बालक न बोले तो चिन्ता का विषय है।

बोलने में देर कई कारणों से जैसे जिह्वा-संग ( Tongue tie ) बहरापन जिससे बालक पूर्णतया मूक या गूँगा भी हो सकते हैं, बुद्धि की कमी या मानसिक दुर्बलता। इस दशा में बालक के खड़े होने, चलने, सफाई की आदतों में भी देर होती है। जैसे बाशिलता ( Idiocy ) में।

## जन्मजात मूकता

## ( Congenital aphasia )

इसमें सुनने का यंत्र ठीक रहता है, परन्तु बालक जो सुनता है उसको व्यक्त नहीं कर सकता। उससे क्या कहा जा रहा है यह समझ ही नहीं पाता और बहुत कहने पर कुछ विचित्र शब्द या स्वर का उच्चारण या मुँह से सीटी बजाने लगता है। लम्बे शिक्षण से सुधार की क्रमशः सम्भावना रहती है।

## बोलने की शक्ति का नाश

## ( Loos of Speech )

इस अवस्था में बालक जो कुछ सुनता या सीखता है भूल जाता है, पुनः उसको व्यक्त करने में कठिनाई का अनुभव करता है, फलतः वह गूँगा

हो जाता है। परन्तु विशेष प्रकार के शिक्षण और अभ्यास से वह पुनः बोलने में समर्थ हो सकता है।

## मिन्मिनता या गद्गद् वाक्यता (तुतलापन)
## ( Stammering or Stuttering )

बोलने की क्रिया से सम्बन्धित पेशियों का आपसी सम्बन्ध या तारतम्य ( In-Co-ordination ) बिगड़ जाता है जिससे एक अक्षर या पद का बार-बार उच्चारण हो जाता है। कई बार कई सेकेण्डों तक कोई भी शब्द निकलता ही नहीं है। स्वरयन्त्र, तालु, जीभ और ओठों की पेशियों के प्रभावित होने स स्वर और व्यंजनों का उच्चारण भी कठिन हो जाता है या सानुनासिक उच्चारण होता है। कई बार तीव्र रोगों के परिणामस्वरूप भी यह उत्पन्न हो सकता है।

ऐसे बालकों की चिकित्सा में प्राणायाम, सीमित व्यायाम, शीघ्रता से काम न करना, घबड़ाकर न बोलने का अभ्यास कराना चाहिये। धीरे-धीरे और क्रमशः उच्चारण और वाक्य विन्यास को सुधारते हुए बालक को स्वाभाविक उच्चारण और भाषण पर लाया जा सकता है।

**आयुर्वेदोपचार**—वाक् दोष ( बोलने के विकारों में ) कल्याणावलेह का प्रयोग ½ से १ ग्राम की मात्रा में घृत और चीनी के साथ देने से पर्याप्त लाभ होता है। दूसरा योग किन्नरकंठ रस है। बोलने के विविध प्रकार के दोषों में बालकों प्रयुक्त होकर लाभप्रद सिद्ध होता है। मात्रा—१२५ मि० ग्रा०। अनुपान—पान का रस और मधु।

**कल्याणावलेह**—हल्दी, बच, कूठ, छोटी पीपल, सोंठ, जीरा, अजवायन, मुलेठी और सेंधा नमक। सबको समान भाग में लेकर महीन चूर्ण बनाकर कपड़े से छान कर शीशी में भर कर रख ले।

## शय्या मूत्र
## ( Enurisis )

आमतौर से २ वर्ष की आयु तक बालक सफाई की आदतें सीख जाता

है। वह बिस्तर पर पेशाब न करके नीचे उतर कर करने का अभ्यासी हो जाता है। परन्तु कई बालकों में इससे अधिक उमर में भी बिस्तर पर सोये ही मूत्र त्याग करने का वृत्त पाया जाता है। यह स्वाभाविक न होकर वैकारिक होता है। बहुत से कारणों से यह दशा बच्चों में आ सकती है। जैसे किसी औपसर्गिक रोग के अनन्तर बच्चे का स्वास्थ्य का गिरना, भय चोट आदि से मन को धक्का पहुँचना, मधुमेह के प्रारम्भिक लक्षणों के रूप में, जीर्ण वृक्क शोथ, उद्कमेह, वस्ति की धार में बाधा, त्रिक् भाग में अयुक्त मेरुदण्ड ( Spina Bifida ) मूत्र का अम्ल प्रतिक्रिया, मूत्र में मिहिक अम्ल ( Uric Acid ) की अधिकता, मूत्र में पूय की अधिकता, मूत्र में पूय का उपस्थिति ( जो मूत्र-प्रसेक के शोथ से संभव है )। इन कारणों के अलावे जिन बालकों में आलस्य, मंदता और सुस्ती आदि दुर्गुण होते हैं अथवा जिनके संरक्षकों का ध्यान इस आदत के सुधारने की ओर नहीं होती उनमें भी शय्या-मूत्र की बुरी लत पड़ जाती है। क्रमशः सफाई की आदतें बनाने या सुधारने से उनमें लाभ होता है।

बहुत से कारण जिनमें स्थानिक क्षोभ पैदा होता है, शय्यामूत्र पैदा कर सकते हैं; जैसे सूत्र कृमि जो स्थायी रूप से रात्रि में खुजली पैदा करते हैं, विबंध, पेट का न साफ होना, मलाशय में मल का संग्रह भी स्थानिक क्षोभ पैदा करके शय्या-मूत्र पैदा करने में सहायक होता है। तुण्डिका शोथ, शालूक, कृमि-दन्त ( Carious Teeth ), गरिष्ठ भोजन, सोते समय का पानी पीना या गाढ़ा दूध पीना, कई बार बिस्तर के दोष से भी यह अवस्था पैदा हो सकती है। बहुत-सी प्रत्यूर्जता की अवस्थायें जैसे (Allergic states) तमक श्वास, तृण ज्वर आदि भी शय्यामूत्र पैदा करते हैं।

**चिकित्सा—**

कुछ एक सामान्य नियमों के अनुसरण से पर्याप्त लाभ होता है। जैसे रात में सोते वक्त कम से कम द्रव-पदार्थों का देना, सोने के पहले पेशाब करना, रात में जगाकर बच्चे को पेशाब करा देना, बालक का जीवन निय-

मित करना, नियत समय पर भोजन देना आदि। साधारण स्वास्थ्य का बढ़ाना भी आवश्यक होता है। यदि बच्चे में विबंध, सूत्र कृमि, भगयोनि शोथ आदि या स्थानिक खुजली या पीड़ा के कारण उपस्थित रहें तो उनको भी दूर करना चाहिये।

बिस्तर पर मूत्रत्याग के अनन्तर बहुत से संरक्षक उन्हें मारते, पीटते, डाँटते हैं, परन्तु यह अच्छा नहीं है, उनका धीरे-धीरे अभ्यास करके आदत का छुड़ाना ही अच्छा है।

**औषध**--बहुत-सी औषधें इस आदत के उपचार में व्यवहृत होती हैं, परन्तु सामान्य उपचार ही सर्वोत्तम है। 'बेलाडोना' टिंचर 'बेलाडोना' ५ बूँद दिन में तीन बार करके प्रारम्भ करते हैं; हर पाँच दिनों के बाद २½ बूँद की मात्रा बढ़ा देते हैं—इस प्रकार क्रमशः पाँच-पाँच दिनों के सेवन के अनन्तर मात्रा बढ़ाते हुए ३० बूँद तक दिन भर में देता रहे जब तक कि शय्या मूत्र की आदत न छूट जाये। इसे अधिकतम मात्रा में पन्द्रह दिनों तक चलाना चाहिये पश्चात् २½ बूँद प्रति सप्ताह कम करते हुए क्रमशः बन्द करते हैं। औषध की विषाक्तता का ध्यान चिकित्सा-काल में रखना चाहिये। यदि त्वचा पर लाल चकत्ते निकलने लगें, चेहरा लाल हो जाये, पुतलियाँ चौड़ी होने लगें और प्रलापादि होने लगें तो मात्रा को कम कर देना चाहिये।

दूसरी औषध 'एफेड्रीन हाइड्रो क्लोरायड' है। यदि बालक में प्रतिश्याय खाँसी, साँस भी हो तो और बढ़िया काम करती है। रात में सोते वक्त ½ ग्रेन की मात्रा में देना प्रारम्भ करे; हर चौथे या पाँचवें दिन आधा ग्रेन क्रमशः बढ़ाते हुए २ ग्रेन की मात्रा तक लावे। केवल रात में सोते वक्त एक मात्रा दे।

कुछ लोग 'थायोरायड एक्सट्रैक्ट' (अवटुका ग्रन्थिसत्व) देने की भी राय देते हैं; परन्तु यह उतना लाभप्रद नहीं होता है।

अधुना 'टोफ्रानिल' (इमिप्रेमीन हाइड्रोक्लोरायड) नामक व्यवस्था का प्रयोग चल रहा है। शय्या-मूत्र के निवारणार्थ इसका निम्नलिखित मात्रा एवं विधि से प्रयोग करना चाहिये।

बारह वर्ष तक की आयु के बालकों में १ गोली और बारह वर्ष की आयु के ऊपर वालों में २ गोली रात में सोते वक्त एक बार देना चाहिये। लाभ १-२ दिनों में प्रतीत होता है। १०-१४ दिनों के प्रयोग से पूरा नियन्त्रण हो जाता है। इस नियन्त्रण को ओषधि देते हुए दो मास तक बनाये रखना चाहिये। फिर दवा को बन्द करना चाहिये।

आयुर्वेदीय-१. शय्या मूत्र चिकित्सा-जिसको निद्रा में शय्या पर मूत्र त्याग हो जाता है, उसके बिस्तर के नीचे साफ पीली मिट्टी का ढेला रख दे जब वह मूत्र से आर्द्र हो जावे फिर उसको भूनकर १-२ ग्राम की मात्रा में घृत ३ ग्राम और मधु ६ ग्राम के साथ मिलाकर देना चाहिये। इस प्रयोग से शय्या मूत्र दूर हो जाता है।

२. बिम्बी मूल का स्वरस ६ ग्राम की मात्रा में प्रतिदिन कुछ दिनों तक करने से भी लाभ होता है।

कृतमूत्रार्द्र भूभागमृदमाकृष्य खोलके सम्भर्ज्य मधु सर्पिभ्यां लेहयेन्मूत्रितं जलम्।
शय्यायां मूत्ररोधः स्यात् मूत्रितस्य न संशयः। ( भै० र० क्षुद्र रो० चि० )

## करमैथुन
## ( Masturbation )

बालकों में किसी भी उमर में यह आदत मिल सकती है, अधिकतर कन्याओं में पायी जाती है। शिशु की उमर में कई प्रकार इस क्रिया को बालक सम्पन्न करते हैं। जैसे जंघे को एक दूसरे पर चढ़ाकर रगड़ना या जंघे को एक बार मोड़ना एक बार फैलाना, किसी कुर्सी के किनारे पर बैठकर चूतड़ को आगे और पीछे करना किसी नुकीले भाग पर मूलाधार को ( Perineum ) को रखकर रगड़ना या पेट के बल लेट कर कमर और पैरों का चलाना आदि। इसमें इस उमर में खास हाथ की सहायता नहीं ली जाती है। इस कार्य काल में शिशु का चेहरा लाल हो जाता है, वह एकाग्र और शान्त हो जाता है, किसी प्रकार की बाधा से वह गुस्से में आ जाता है, पश्चात् शान्त और पीला पड़ जाता है और भी कई प्रकार के हस्तमैथुन इन बालकों में देखने को मिल

सकते हैं। जैसे-जैसे बालक अन्यान्य बाहरी कामों में, खेलकूदों में लगता जाता है, इस आदत को छोड़ता जाता है।

संरक्षकों को इस आदत से बड़ी चिन्ता होती है। वास्तव में इन बालकों में नैतिक या चरित्र दोष के कारण ऐसा नहीं होता है बल्कि एक आदत पड़ जाती है, जैसे थूकने की या नख काटने की। इसमें सन्देह नहीं कि बालक को उस क्रिया से निश्चित रूप से एक आनन्द का अनुभव होता है और वह उस आदत को जब तक जोरदार प्रयास न किया जाय छोड़ना भी नहीं चाहता है।

आदत को धीरे-धीरे छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। उस क्रियाकाल में उसके मन को खिलौने, मिठाई आदि दिखलाकर दूसरी ओर को खींचना चाहिये। बड़ी उमर के बालकों को एकान्त में अधिक समय तक न रहने दे, प्रकाश में रखे हमेशा निगरानी करता रहे। उन्हें खेल-कूद या अन्य कामों में प्रवृत्त करे तो वह अपनी आदत को क्रमशः छोड़ देते हैं।

यदि स्थानिक क्षोभ पैदा करने वाला कोई हेतु जैसे विबंध, सूत्रकृमि, निरुद्ध प्रकश ( Phimosis ), भग-शोथ आदि हो तो उनके दूर करने का प्रयत्न करे। शोथ में 'पोटाश परमैंगनेट' जल से प्रक्षालन करे, शिश्नमणि शोथ या निरुद्ध प्रकाश में शिश्न के ऊपर के चर्म का छेदन विशेष प्रकार के शस्त्र कर्म चक्र छेदन ( Circum-Cision ) से करे।

औषध—संशामक औषध के रूप में 'ब्रोमाइड' और 'बेलाडोना' का प्रयोग करे। एक औषध जो गुण में काम वासना का शामक होती है 'एक्स-ट्रैक्स आफ सैलिक्स निग्रा' का ( Extract of Salix Nigra ) ५ बूँद की मात्रा में दिन में तीन बार प्रयोग करना भी लाभप्रद पाया गया है।

## मानसिक रोग

कई बार बालकों में वमन, श्वास, शिरःशूल अंगमर्द आमवात सदृश पूरे शरीर में पीड़ा का होना बिना किसी आंगिक विकार के अर्थात् मानसिक कारणों से हुआ करते हैं। रोगी का इतिहास भलीभाँति जान लेने से इसका ज्ञान हो जाता है। चिकित्सा में मानसिक उपचार विशेष करके किसी बात का

डर उसके मन में बैठ गया हो तो उसको दूर करना चाहिये। अपतंत्रक ( Hysteria ) पाँच वर्ष से कम आयु में प्रायः नहीं होता, परन्तु इससे अधिक उम्र के बालकों में बहुत होता है। बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में अधिक होता है। बाल्यावस्था के अपतंत्रक में विकार प्रायः एक ही तरफ दायें या बायें अंग में होता है। जैसे हाथ या पैर यही अधिकतर प्रभावित होते हैं। इनमें या तो घात के लक्षण मिलते हैं या अस्वाभाविक गतियाँ पायी जाती हैं। अपतंत्रक का दूसरा रूप जोड़ों का जकड़ना है। खासकर घुटने की जकड़ाहट पाई जाती है। जोड़ को हिलाने या फैलाने में पीड़ा होती है। रोगी का संज्ञाहरण ( क्लोरोफार्म से बेहोश कर देने पर ) से जोड़ की जकड़ाहट दूर हो जाती है, बच्चा ठीक हो जाता है। ठीक होने के बाद उसके पैर को दो दिनों तक प्लास्टर या कुशा ( Splints ) बाँधकर रखना चाहिये ताकि पुनः दौरा न हो।

बाल्यावस्था के अपतंत्रक में आक्षेप नहीं पाये जाते हैं। वमन, हिचकी आदि का आना भी कम पाया जाता है।

चिकित्सा—

घर के वातावरण से दूर करने के लिए बालक को किसी चिकित्सालय में प्रविष्ट कर देने से पर्याप्त लाभ होता है। बालक के साथ मीठे बर्ताव से ही उपचार करने का प्रयत्न करना चाहिये, उससे बेकार अधिक तकलीफदेह व्यवहार या उपचार न करना ही उत्तम रहता है। मीठे बढ़िया और अनुकूल उपदेशों से उसके मन को प्रौढ़ ( मजबूत ) बनाना चाहिये। जिस अंग की कमजोरी, कम्प या घात बतलावे उसकी मालिश, धीरे-धीरे चलाना शुरू करते हुए स्वाभाविक दशा में लाना चाहिये। इस कार्य के लिए कुछ एक बिजली की धारा का बहाना ( Faradic current ) बड़ा लाभप्रद होता है। औषध की आवश्यकता बहुत कम पड़ती है, अल्प मात्रा में अमोनियेटेड टिंचर वैलेरियन ५ बूँद, दिन में तीन बार दे। रोग से छुटकारा पाने के बाद उसको जलवायु परिवर्तन के लिए समुद्र तट पर भेजना चाहिये।

*

# अध्याय १८

## संधि, हड्डी तथा पेशियों के रोग

शरीर का अंग मर्द या पीड़ा ( Aches & Pains in the limbs ) बालकों में अधिकतर छः से दस वर्ष की आयु में उनके हाथ पैरों का दुखना या टटाना बहुत पाया जाता है। यह आयु भी उनकी वृद्धि या विकास की होती है। इसलिए कुछ वैज्ञानिकों के विचार से इस प्रकार की पीड़ा उनके शरीर की वृद्धि से होती है, अतएव वृद्धि जन्य पीड़ा ( Growing pain ) कहलाती है। किन्तु यह सिद्धान्त सबको मान्य नहीं है। कुछ विद्वान इस लक्षण के उत्पादन में आमबात या गठिया को हेतु मानते हैं, परन्तु यह भी उतना प्रमाणिक हेतु नहीं है, क्योंकि बहुत वर्षों से पीड़ित बच्चों में आमवात जैसे गाँठों की सूजन, ज्वर, हृद्रोग, दर्द आदि लक्षण नहीं उत्पन्न होते हैं। कुछ वैज्ञानिक रोग की उत्पत्ति में आमवातज हृद्रोग ( Rheumatic Carditis ) को हेतु मानते हैं। इस मत के समर्थन में बहुत से इस प्रकार के चिह्न भी बालकों में पैदा होते हैं। इसी प्रकार का अंग मर्द क्षय युक्त बालकों में भी मिल सकता है। कई संक्रामक रोगों में जैसे रोमान्तिका, इन्फ्लुएंजा में क्वचित् जीर्णकालीन अग्निमांद्य या अजीर्ण में और श्वेत-कोशिकामयता ( Lukaemia ) में भी ऐसी शरीर की पीड़ा मिल सकती है।

**लक्षण**—पीड़ा हाथों की अपेक्षा पैरों में अधिक होती है। जलवायु के दोष या थकावट का प्रभाव भी रोग के ऊपर पड़ता है। आर्द्र ऋतु में जैसे वर्षा और शीत ऋतुओं में, आर्द्र मकानों में पीड़ा होती है। घर को सूखा और गर्म रखने से या बालक को गर्म कम्बल में लपेट कर रखने से दर्द में आराम रहता है। यदि पीड़ा का थकावट के साथ सम्बन्ध हो तो वह दिन के काम के बाद शाम को या रात में अधिक हो जाती है। रात के विश्राम के बाद सुबह दर्द ठीक हो जाता है।

चिकित्सा—

रात में सोते समय पैर को तेल से मालिश करना चाहिये कुछ बल्य या ताकत की दवा पीने को देनी चाहिये। जैसे, पैरीश का फूड ( Parrish's Food )। शरीर के मर्दन के अलावे उसकी शीत और आर्द्रता से रक्षा करने के लिए गर्म कम्बल ओढ़ाकर सुलाना चाहिये। सुबह में भी ऊनी मोजे या दस्ताने पहनाकर पाठशाला में भेजना चाहिये।

आयुर्वेदीय—गुग्गुल बटी का सेवन तथा पंचगुण तैल की मालिश से पर्याप्त लाभ होता है। कागजी नीबू ½ लेकर १ प्याले पानी में खौलाकर छान कर उसमें चीनी मिलाकर मीठा करके दिन में दो-तीन बार देने से भी लाभ होता है।

## आमवातिक ज्वर
## ( Rheumatic fever )

यह एक विशेष प्रकार के लक्षणों से युक्त रोग है जिसमें शरीर की भिन्न-भिन्न गाँठों में सूजन, ज्वर और तेज दर्द हुआ करता है। इन सूजनों की यह विशेषता है कि इनमें पूय नहीं बनता। यह पूर्व कथित रोग से पूर्णतया पृथक् स्वरूप की व्याधि है। इसके उपद्रव में हृद्रोग का पाया जाना भी प्रायः मिलता है। रोग की उत्पत्ति में गले की खराबी भाग लेती है।

लक्षण - रोग का प्रादुर्भाव अचानक होता है, ज्वर १०१° से १०४° फा० तक हो जाता है. विकारयुक्त संधियों से पीड़ा शुरू होती है। जिह्वा मलावृत हो जाती है, मूत्र का रंग बदल जाता है, वह गाढ़े रंग का हो जाता है और अल्पकाल में ही रक्ताल्पता आ जाती है। स्वेद ( पसीना ) बहुत अधिक होता है जिससे शरीर पर सरसों जैसे उभार ( अम्हौरी ) निकल आते हैं। प्रभावित सन्धि ( जोड़ ) अत्यन्त पीड़ायुक्त हो जाती है। छूने या हिलाने से भी दर्द होता है। एक के बाद दूसरा जोड़ प्रभावित होता है। हर दो, तीन दिनों के अन्तर से नये-नये जोड़ सूजन और दर्द से युक्त होते रहते हैं। आमतौर से घुटना, एड़ी, मणिबन्ध ( कलाई ), केहुनी

प्रभृति जोड़ एक के बाद दूसरे प्रभावित होते चलते हैं। उपद्रव रूप में हृदय की पेशियों में शोथ का होना पाया जाता है।

**शुभाशुभ**—सन्धियों का विकार प्रायः ठीक हो जाता है। हृद्रोग का उपद्रव एक अशुभ लक्षण पाया जाता है।

**चिकित्सा**—

पूर्ण विश्राम। गर्म कम्बल या वस्त्र से शीत से रक्षा। अंगों की गति न हो इस प्रकार की सुश्रुषा। जब तक ज्वर हो द्रव भोजन दे, जैसे दूध, फल के रस, मांस का शोरवा। पीड़ा के शमन के लिये आयल आफ विंटर ग्रीन की मालिश एवं इसी तेल में एक लिण्ट का टुकड़ा भिंगा कर सन्धि के ऊपर रखकर ऊपर रूई की मोटी गद्दी रखकर बन्धन करे। सन्धि को विश्राम देने के लिये कुशा ( Splints ) बाँध कर पूरे पैर को स्थिर रखना चाहिये।

औषधियों में 'सोडा सैलिसिलेट' १० ग्रेन 'सोडाबायकार्ब २० ग्रेन' मिलाकर मिश्रण बनाकर पीने को देना चाहिये। इससे ज्वर एवं सन्धि शोथ में आराम हो जाता है; परन्तु हृदय के उपद्रव में लाभप्रद होता है या नहीं यह सन्दिग्ध है। पीड़ा शमन के लिये 'एस्प्रिन' को स्वतन्त्र देना चाहिये। इसको ५ से १० ग्रेन की मात्रा में दे सकते हैं। यह अम्लद्रव्य है, अतः इसके साथ 'सोडा बाय कार्ब' मिलाने की जरूरत नहीं रहती है।

कार्टिसोन एवं ए०सी०टी०एच० ( A. C. T. H. ) का प्रयोग आजकल बहुतायत से हो रहा है। रोग के प्रारम्भ में ६० मिग्रा० की मात्रा 'बेटनेसाल' देना चाहिये। एक सप्ताह के बाद प्रतिदिन १० मि० ग्रा० घटाते चलना चाहिये। कुल छः सप्ताह या अधिक दिनों तक इसका सेवन कराना चाहिये। इसके साथ यथावश्यक एस्प्रिन भी दिया जा सकता है।

**आयुर्वेदीय**—आमवातारि रस का १२५–२५० मि० ग्रा० की मात्रा में प्रातः सायं मधु से देना उत्तम है, ऊपर से रास्ना सप्तक कषाय में एरण्ड तैल मिलाकर देना चाहिए। भोजन के बाद पंचसम चूर्ण १-२ ग्राम की मात्रा में दे। यदि ज्वर हो तो केवल दूध पीने को देना चाहिए। दूध को सोंठ डालकर

पका लेना चाहिए। पीने से लिए खौलाया हुआ जल देना चाहिए। मालिश के लिए विष गर्भ तैल, महाविष गर्भ तैल या सैन्धवादि तैल का व्यवहार करे। सेंक के लिए बालू या सेंधा नमक की पोटली बना कर सूजन वाले जोड़ों का सेंक करना चाहिए। एरण्ड तैल का पीने के लिए बीच-बीच में उपयोग करना लाभप्रद होता है। रास्ना सप्तक कषाय—रासन, गिलोय, अमल्ताश की गुद्दी, देवदारु, गोखरु, एरण्ड की जड़ की छाल और गदहपूर्ना की जड़। इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर उसमें सोंठ चूर्ण डालकर पीने को देना चाहिए।

## आमवाताभ संधिशोथ
## ( Rheumatoid Arthritis )

यह एक 'कोलेजन' विकृति जन्य रोग है। इसमें मेजेन्काइमल ऊतकों का नाश होना पाया जाता है। आमवात से मिला हुआ यह भी एक जोड़ों का रोग है जिसमें सन्धि के चारों ओर के ऊतकों में सूजन ( Peri Articular Tissues ) की सूजन होती है। यह रोग बालकों में बहुत कम पाया जाता है। यह भी उपसर्ग से होने वाला रोग है, परन्तु संक्रमण ( Infection ) का चिह्न शरीर में नहीं मिलता है। इस रोग के पूर्व में आमवात से पीड़ित होने का इतिहास अधिकतर रोगियों में पाया जाता है।

**लक्षण**—बहुत बार रोग का प्रारम्भ ज्वर और गाँठों की सूजन से होता है। कुछ रोगियों में बुखार नहीं होता केवल एक या दो गाँठों में दर्द और सूजन के साथ ही रोग का प्रारम्भ होता है। शरीर की कोई भी सन्धि विकार-ग्रस्त हो सकती है, परन्तु घुटने, कलाई, केहुनी, अंगुलियाँ और गुल्फ की सन्धियाँ अधिकतर फूलती हैं। जोड़ के चारों ओर की धातुओं की सूजन में सन्धियाँ चमकती हैं, उनका आकार गुल्ली जैसा ( Fusiform ) हो जाता है—आस-पास की पेशियाँ सूखती जाती हैं। सन्धि के मुलायम भाग की सूजन इतनी अधिक हो जाती है कि सन्धि की हड्डियों का स्पर्श करना ( Palpation ) भी कठिन हो जाता है। पीड़ा का होना इतने महत्व का चिह्न नहीं है, फिर भी दबाने से सन्धि में पीड़ा होती है। सन्धियों की गति

नहीं होती यहाँ तक कि दीर्घकालीन रोग में बालक बिस्तर पर ही पड़ा रहता है। जोड़ों में सूतों का बनना या तान्त्वीभाव ( Fibrosis ) शुरू हो जाता है जिससे गाँठों का जकड़ना पाया जाता है। आगे चलकर इन सूतों के ऊपर चलकर नई हड्डी का बनना शुरू हो जाता है अर्थात् सूत्र हड्डी के रूप में बदल जाते हैं और विकार स्थायी होकर सदा के लिए सन्धि का जाड्य ( Ankylosis ) हो जाता है। क्ष-किरण की सहायता से इसकी जानकारी सम्भव रहती है। शरीर की ऊपरी सतह की लसीका ग्रन्थियाँ फूलती मिलती हैं। केहुनी के भीतर की लसीका ग्रन्थि ( Fpitrochlear grands ) भी फूली मिलती है। रोगी का साधारण स्वास्थ्य भी गिर जाता है, जिससे रक्ताल्पता आ जाती है। त्वचा के ऊपर काले धब्बे या विस्फोट निकल सकते हैं। शरीर की वृद्धि रुक जाती है; वह कद से नाटा हो जाता है। इसमें हृद्‌रोग का उपद्रव प्रायः नहीं होता है। रोग वर्षों तक चलता रहता है और बीच-बीच में रोग का पुनरावर्त्तन होकर तकलीफ बढ़ जाया करती है।

चिकित्सा—यदि कोई पूति का केन्द्र जैसे दाँत की विद्रधि, तुण्डिका शोथ ( Tonsil ) आदि हो तो उनको दूर करे। बालक को शुष्क और प्रकाश युक्त स्थान में रखे और पोषक आहार की व्यवस्था करे। सन्धियों का सेंक करे, अल्ट्रावायलेट या इन्फ्रारेड किरणों का सेंक करावे। सन्धियों को स्थिर करने के लिए कुशा का बन्धन करे।

'कार्टिसोन' और ए० सी० टी० एच० का उपयोग लाभप्रद रहता है।

इसके उपयोग के कई प्रकार हैं। मात्रा प्रारम्भ में बड़ी अर्थात् ६० से १०० मि० ग्राम तक प्रतिदिन दी जा सकती है, आगे चलकर मात्रा को कम कर देना चाहिये। रक्तगत "पोटैशियम" का स्तर ठीक रखने के लिये प्रतिदिन १ या २ ग्राम "पोटैशियम क्लोरायड" देना चाहिये। जीवतिक्ति 'डी' को बड़ी मात्रा में देना भी आवश्यक होता है। 'कार्टिसोन' की चिकित्सा के पूर्व सुवर्ण के योग इस रोग की चिकित्सा में व्यवहृत होते थे।

'फेनील बुटाजोन' ( Phenyl Butazone ) का भी प्रयोग लाक्षणिक उपचारों के रूप में होता है। इसके सेवन से वेदना एवं शोथ कम होते हैं।

**आयुर्वेदीय**—बृहद् योगराज गुग्गुल, स्वर्ण भस्म और महारास्नादि कषाय का उपयोग चिकित्सा में लाभप्रद पाया जाता है। एलार्सिन कम्पनी का बनाया योग 'रूमोफोन' ( Rheumophone tablet, Alarsin ) का मुख से सेवन उत्तम होता है। मालिश के लिए सैन्धवादि तैल का उपयोग उत्तम होता है। एरण्ड तैल का प्रयोग बीच-बीच में रेचन के लिये करना चाहिये।

## अन्य रोग

अस्थि और सन्धियों में और भी बहुत से रोग हैं जो बालकों में मिलते हैं—जिनकी चिकित्सा में औषधोपचार उतना सफल नहीं होता, बल्कि शल्य तंत्रीय उपचार करने पड़ते हैं—जैसे भ्रूणीय फक्क ( Foetal Rickets ), मार्क्वियो का रोग ( Marquio's Disease ), अस्थि भंगुरता ( Fragilitas ossium ), करोटि की विरूपता ( Deformities Skull ) तथा बहुत से प्रकार के पेशियों के रोग, जन्म से ही कुछ पेशियों का अभाव ( Congenital Absence of Muscles ), कुलज सन्धि का कड़ापन ( Amyoplasis Congenita ), एक पेशी समुदाय की अल्पबलता ( Muscular Dystrophy ) तथा मन्यास्तंभ ( Torticolis ), सहज पेशी बलाल्पता Myotonia Congenita ) तथा पेशी दौर्बल्य (Myasthenia Gravis) आदि मिलते हैं—जिनमें औषध चिकित्सा उतनी सफल नहीं रहती है; अतएव उनका विस्तृत वर्णन देना असाम्प्रत प्रतीत होता है। पेशी दौर्बल्य में 'नियोस्टिगमीन' ( Neostigmin ) का उपयोग ५ से १५ मि० ग्राम की मात्रा में प्रति ६ घंटे पर करते हुए कुछ लाभ की आशा रहती है।

अस्थिमज्जा परिपाक तथा कटि संधिक्षय—इनका संक्षेप में वर्णन करना प्रासंगिक है, क्योंकि बालकों में दो और रोग बहुलता से मिलते हैं।

**अस्थिमज्जा परिपाक** ( Osteomyelitis )—

**प्रधान कारण भूत जीवाणु**—गुच्छ गोलाणु ( Streptococcus )—तथा माला गोलाणु ( Staphylococcus ) इनका संक्रमण त्वचा के व्रणों से या श्वसन मार्ग से होता है।

तीव्र ( Acute )—प्रकार में प्रायः लम्बी अस्थियाँ प्रभावित होती हैं। स्थानिक पीड़ा, स्पर्शनाक्षमता, ज्वर, सूजन तथा रक्त परीक्षा से श्वेत कणों की संख्या बढ़ी हुई मिलती है। कई बार निदान में आमवात से भ्रम हो जाता है। आमवात में सन्धियों की सूजन और वेदना एक स्थान पर स्थिर नहीं होती; बल्कि चल होती है अर्थात् एक के बाद दूसरी सन्धियाँ प्रभावित होती रहती हैं। आमवात में "सैलिसिलेट्स" से लाभ होता है परन्तु इसमें नहीं।

जीर्ण प्रकार ( Chronic )—यदि तीव्र प्रकार का पूर्व संशमन नहीं हुआ तो रोग का स्वरूप मंद हो जाता है। ज्वर कम हो जाता है; परन्तु रक्ताल्पत्व एवं दुर्बलता बढ़ती चलती है, अस्थि का कुछ भाग गलकर पृथक् हो जाता है। घुणावशेष ( Sequestrum formation ) और त्वचा पर नाड़ी-व्रण हो सकता है।

**चिकित्सा**—तीव्रावस्था में 'पेनिसिलिन', टेट्रा-सायक्लिन, सुब्बा मायसिन' प्रभृति प्रतिजीवी योगों को देना चाहिये। यदि लाभ न हो तो जीर्णावस्था में शाल्यिक उपचार करना चाहिये।

**कटिक्षय** ( Tuberculosis of Hip )—इसमें क्षत सन्धिबंध बाह्य ( Extra-articular ) या सन्धिबंध के भीतर ( Intra articular ) हो सकता है। प्रथम में वंक्षणोदूखल ( aeetabular ) तथा सन्धि के अन्तस्था कला ( Synovial ), प्रभावित होती है। द्वितीय अवस्था में ऊर्वास्थि ( Femur ) का सिर, ग्रीवा तथा नितम्ब की अस्थि ( Ilium ) प्रभावित होती है।

**लक्षण**—बालक को घुटने में तीव्र पीड़ा होती है जिससे नींद उचट जाती है। पेशियों के संकोच के कारण लंगड़ा कर चलने लगता है। रोगक्रम अधिक दिनों का हो तो नितम्ब और जंघा ( विकृत पार्श्व ) सूखा मिलता है और पैर की लम्बाई कम हो जाती है। पैर के सिकोड़ने, फैलाने और घुमाने में

उसको कष्ट होता है। जोड़ पर सूजन हो जाती है, उसके ऊपर दबाने से बच्चा रोने लगता है। लक्षणों के आधार पर ही रोग का निश्चय हो जाता है। क्ष-किरण के द्वारा पूर्णतया रोग का विनिश्चय हो जाता है।

चिकित्सा--क्षय की विशिष्ट चिकित्सा, अधिक समय तक अंग का स्थिरीकरण ( १ साल या २ साल तक प्लास्टर में रखना ) क्षय रोगघ्न आधुनिक एवं आयुर्वेदीय योगों का भी व्यवहार करना चाहिये।

अंग विकृति का सुधार ( Correction of Deformity ), सामान्य स्वास्थ्य का बढ़ाना तथा धीरे-धीरे प्राकृत क्रिया पर लाना। यह कार्य विज्ञ चिकित्सक के निरीक्षण में होना चाहिए।

★

# अध्याय १६

## त्वचा के रोग

### वाल्यकालीन विर्चचिका एक्जिमा

### ( Infantile Eczyma )

बालिकाओं की अपेक्षा बालकों में और प्रायः मोटे एवं गोरे बच्चों में त्वचा के ऊपर यह रोग होता है। इसमें त्वचा का श्लेष्म स्रावी शोथ ( Catarrhal Inflammation ) हो जाता है। यह तीसरे महीने की आयु के पहले नहीं होता है। दाने सर्वप्रथम ललाट या गाल पर शुरू होते हैं। त्वचा सूखी, लाल और गर्म हो जाती है उसमें सूजन आ जाती है, उस पर छोटी-छोटी फुन्सियाँ पैदा होती हैं, खुजली बहुत होती है। अन्त में स्राव पानी जैसे निकलता है। त्वचा पर दरारें पैदा होती हैं, खुरण्ड बनते हैं। खुरण्ड के नीचे चमकते लाल, कच्चा और गीला व्रण पड़ा रहता है। रोग पूरे शरीर में फैलता है। उसके धब्बे स्वतन्त्र या एक में मिले हुए भी हो सकते हैं। जीवाणुओं का संक्रमण पहुँचने से त्वचा शोथ एवं पूययुक्त भी हो सकती है।

**कारण**--बाहरी--बार-बार का खुजलाना या रगड़ना, हवा के झोंके या सूर्य प्रकाश का ताप, तेज साबुन और जल से धोना, स्थान का गीला रहना अर्थात् पूरी तौर से न सुखाया जाना, खुरदरे और ऊनी कपड़ों का पहनना।

भीतरी--पचन दोष, विबंध, दाँतों का निकलना, चेचक का टीका, परिवार में तमक श्वास और तृण ज्वर ( Asthma or Hay-fever ) का पाया जाना अर्थात् प्रत्यूर्जता ( Allergic phenomenon ), पोषण में दिये गये प्रोटीनों की असह्यता या उनका पाचन ठीक न होना, माता का आमाशयिक अम्ल की कमी ( Achlorhydria ) से पीड़ित होना।

**चिकित्सा--**

इसे दो खण्डों में बाँटा जा सकता है--चर्मरोग की रक्षा तथा सेवन की औषधि।

चर्म की रक्षा के लिये जिसमें बच्चा अधिक खुजलाने या रगड़ने न पाये उसके ऊपर आवरण रखना चाहिये। रुई रख कर पट्टी बाँध देना चाहिये अथवा पूरे हाथ या पैर को कुशा में रखकर बाँध देना चाहिये। जब तक घाव सूख न जाय इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिये। त्वचा को धोने के लिये लवण विलयन या जैतून के तेल ( ओलिव आयल ) का व्यवहार करें। साबुन और पानी का निषेध करें। पहनने का कपड़ा ऊनी या फलालैन का न होकर रूई या लिनेन का होना चाहिये। मलहम लगाने के पूर्व खुरण्ड को जैतून के तेल, मैदा और बोरिक एसिड की पुल्टिस से साफ कर लेना चाहिये।

यदि घाव का स्थान बड़ा सुर्ख हो तो वहाँ आरामदेह लेप का व्यवहार करे जैसे 'जिंकक्रीम'। यदि मवाद भी बन रही हो तो 'जिंकक्रीम' में पीला 'कर्करी आक्सायड' १५ ग्रेन की मात्रा में मिलाकर लगाये।

जब तीव्रावस्था शान्त हो जाय 'टार' ( Tar ) का प्रयोग उत्तम होता है—इसके लिए निम्नलिखित लेप या मलहम का उपयोग करे।

१. कोलटार ५ ग्रेन
जिंक क्रीम १ औंस } मिलाकर लेप

२. रिसोर्सिन २० ग्रेन
बर्चटार आयल २० बूँद
जिंक आक्साइड २० ग्रेन
विस्मथ सब नाइट्रेट २० ग्रेन
हाइड्रासबूल फैट २ ड्राम
लिक्विपैराफीन १ औंस } मिश्रित लेप।

'कार्टिसोन' के योग लेप तथा द्रव के रूप में बनकर आ रहे हैं। इनका भी स्थानिक प्रयोग बड़ा लाभप्रद होता है। जैसे 'एफकोर्लीन लोशन' या 'बेटनोसोल एन', 'आयण्टमेण्ट', केनालाग एस मलहम का स्थानिक लेप।

खिलाने की औषधि में—छोटी उमर के शिशुओं में 'एसिड हाइड्रोक्लोरिक डिल' ३ बूँद शर्बत में घोल कर दो बार दूध पिलाने के अन्तर में दे। बड़ी उम्र के बालकों में पेप्सिन १ ग्रेन, हाइड्रोक्लोरिक एसिड ७½ बूँद, नीबू का शर्बत १० बूँद, पानी १ छोटी चाय की चम्मच भर; इस मिश्रण को दे। प्रत्यूर्जताहर योगों ( Anti allergic Drugs ) में फोरिस्टाल या बेनेड्रील ½ से १ चम्मच दिन में दो बार दे। रात के सोते वक्त संशमन के लिये फेना बार्बिटोन ¼ ग्रेन की मात्रा में दे। अधिक तीव्र अवस्था में 'कार्टिसोन' वर्ग की औषधियों की छोटी मात्रा का उपयोग एक सीमित समय तक कर देने से शीघ्र लाभ होता है।

पथ्य—आहार में स्निग्ध अंश या चर्बी की मात्रा कम करे। दूध के उबालने पर जो मोटी साढ़ी बनती है, वह विचर्चिका रोग में नुकसान पहुँचाती है, अतः उसको पृथक् करके दूध पिलाना चाहिये।

**आयुर्वेदोपचार**—कठ जामुन की छाल को दही में पीसकर लगाना उत्तम लाभ दिखलाता है। इस लेप को दिन में दो या तीन बार करना चाहिये। "केनालाग आयण्टमेण्ट" प्रभृति कार्टिसोन मलहमों का स्थानिक प्रयोग बहुत प्रकार के त्वक् रोगों में लाभप्रद होता है। मैंनसिल को नीम की पत्ती के रस में घिसकर लगाना या अमल्ताश की पत्ती को दही के साथ पीसकर लगाना लाभप्रद होता है। सिरीष का काढ़ा बनाकर उससे चकत्ते का प्रक्षालन भी लाभ पहुँचाता है।

## एककुष्ठ
## ( Psoriasis )

बालकों में विरलता से पाया जाने वाला यह रोग है। इसमें गोलाकार सूखे चकत्ते बनते हैं जो छोटे से लेकर बड़े तक कई परिमाण के हो सकते हैं। इसके ऊपर चाँदी जैसा सफेद उपकला ( Epithelium ) का आवरण चढ़ा रहता है जिनसे मछली छिल्के जैसे खुरण्ड निकला करता है। रोग के कारण अज्ञात हैं—रोग एक परिवार में कई व्यक्तियों को पीड़ित करता है।

स्थानिक लेप के लिये इस मलहम का प्रयोग करे--सिग्नोलिन ( Cignolin ) २ ग्रेन, लायकर पिसिस कार्बोनिस ( Liquor Picis Corbornis ) ६० बूँद, अमोनियेटेडमर्करी १० ग्रेन, मृदु पैराफीन १ औंस। यह बड़ा उत्तम कार्य करता है। क्राइसोरोबिन आयण्टमेण्ट ४% का भी उपयोग उत्तम रहता है।

आयुर्वेदोपचार—गंधक रसायन १/८-१/४ ग्रा॰ की मात्रा में घी चीनी के साथ मिलाकर दिन में दो बार लेना उत्तम कार्य करता है। मरिच्यादि तैल की स्थानिक मालिश उत्तम है। अमल्ताश, चक्रमर्द, करंज की पत्ती, अडूसे की पत्ती, गिलोय, मदनफल, हल्दी, आमाहल्दी और देवदारु को सम मात्रा में लेकर पीसकर सरसों का तेल मिलाकर उबटन जैसे लगाना भी लाभप्रद है।

## कोठ
## ( Lichen urticaria )

यह शीतपित्त या जुड़पित्ती का एक प्रकार है। अधिकतर ६ मास से २ वर्ष की आयु में होता है। वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतुओं में अधिक पाया जाता है। त्वचा पर जुड़पित्ती जैसे ही चकत्ते बनते हैं, परन्तु उसके मध्य में एक उभार होता है जिसमें पानी भर जाता है। ये दाने ज्यादातर चूतड़ और शरीर के नीचे के भाग से ही निकलते हैं। हाथ और पैर के तलवों में भी निकलते हैं। इनमें खुजली बहुत होती है, खासकर रात में जब बच्चा गर्म कपड़े ओढ़कर सोता रहता है। पानी से भरे छालों को फोड़ देने पर खुजली शान्त हो जाती है। खुजली के उपद्रव रूप में इन छालों में मवाद भी पड़ सकता है। इन बच्चों में विबंध और अजीर्ण पाया जाता है, अस्तु अधिक मात्रा में दूध के अतिरिक्त अन्न के सेवन का भी इतिहास मिलता है।

इन दोनों का विभेद गो-मसूरिका ( Chicken Pox ) से करना पड़ता है। रोग के अच्छा होने पर भी पुनः पुनः होने की सन्भावना रहती है।

**चिकित्सा--**

खुजली को शान्त करने के लिए सोडावाय कार्ब के घोल ( १/२ औंस १ पिण्ट जल में घोलकर ) या कैलेमिना घोलकर ( Calamins Lotion ) का

लेप करना चाहिये। यदि हाथ और पैर के तलवे के छाले बढ़े हों तो उनका भेदन करके पानी को निकाल जर 'जिंक' का चूर्ण भरना चाहिये। मवाद पड़ने पर 'अमोनियेटेड मार्करी' का मलहम लगाना चाहिये।

पथ्य में हलका भोजन दे। फलों का सेवन अधिक करावे। अन्न और मीठे का सेवन बन्द करावें। भोजन के बाद क्षारीय द्रव्य जैसे सोडाबाय कार्ब का घोल पीने को दे। पेट की सफाई का ध्यान रखे।

## शीतपित्त
## ( Urticaria )

पित्ती उछलना जुड़पित्ति। पित्ती का उछलना एक ऐसा आम रोग है जो बालक और युवक दोनों में समान भाव से हो सकता है। लाल चकत्ते निकलते हैं, खुजली बहुत अधिक होती है, खुजलाने के बाद उन चकत्तों में जलन भी पैदा होती है। इन चकत्तों की उत्पत्ति अचानक कभी ठण्ड से और कभी धूप में जाने से होती है, दो-चार घण्टे तक रह कर अपने आप शान्त भी हो जाते हैं। क्वचित् कई दिनों तक भी चलते रहते हैं।

रोग की उत्पत्ति में बहुत से कारण हो सकते हैं—जैसे विबंध, अजीर्ण कुछ आहारों के प्रति असह्यता ( अण्डा, दूध, मछली, फल आदि के प्रति ) के कारण पैदा हो सकता है। ऋतु की असह्यता, अत्यधिक शोथ या अत्यधिक उष्णता भी रोगकर होती है। कई बार किसी विषाक्त कीट के काटने से भी उत्पन्न हो सकते हैं। कई बार आंत्रगत कृमियों से शीतपित्त उत्पन्न होता है।

**चिकित्सा—**

दाद और खुजली को शान्त करने के लिए 'कैलामिना' का लोशन या 'सोडाबाय कार्ब' के घोल से प्रच्छालन करना अच्छा होता है। मुँह से 'मैग्नेशिया सल्फेट' ( मैगसल्फ ) का घोल पीने को देना चाहिये। सोडाबाय कार्ब, सोडा साइट्रेट 'पोटाशियम् बाय कार्बोनेट' और पोटैशियम साइट्रेट' प्रत्येक की ५ ग्रेन की मात्रा लेकर बनाया मिश्रण भी पानी में घोलकर दिया जा

सकता है। त्वचा के नीचे सूचीवेध 'एड्रेनैलीन' ५ बूँद की मात्रा में देने से भी शीघ्र दोनों में लाभ होता है। 'एफेड्रीन हाइड्रोक्लोर ¾ ग्रेन' की मात्रा में प्रति ६ घण्टे पर देने से भी शीघ्रता से चकत्ते गायब हो जाते हैं।

प्रत्यूर्जताहर योग जैसे 'बेनेड्रील' 'फोरेस्टाल', 'सोवेण्टाल' 'फेनार्गान' या 'एविल' आदि का प्रयोग मुख से या इन्हीं के बने लोशन के स्थानिक लेप से भी सद्यो:लाभ होता है।

**आयुर्वेदोपचार**--हल्दी और दूध का लेप उत्तम कार्य करता है। खाने के लिये काम दुघा चूर्ण और हल्दी का प्रयोग उत्तम होता है। आमृताष्टक कषाय और अमृतारिष्ट का प्रयोग उत्तम रहता है। दीर्घकाल के शीतपित्त में कैशोर गुग्गुल या वृहद् योगराज गुग्गुल का प्रयोग करना चाहिये। हरिद्रा खण्ड का प्रयोग दीर्घ कालीन शीतपित्त में भी लाभप्रद रहता है। पुनर्नवा और हरीतकी को पीसकर मिर्च और मिश्री के साथ पिलाने से भी पर्याप्त लाभ होता है। हल्दी, अजवायन, कालीमिर्च और गुड़ का लड्डू जैसा बनाकर रख लेना चाहिये। एक दो लड्डू सुबह शाम ठंडे जल से देना चाहिए। कई बार रस सिन्दूर ३० मि० ग्रा० एवं प्रवाल भस्म ६० मि० ग्रा०, श्रृंग भस्म ६० मि० ग्रा० मिलाकर एक मात्रा ऐसी दो मात्रा प्रतिदिन मक्खन के साथ देने से भी उत्तम लाभ पाया जाता है। कृमिरोगाधिकार में वर्णित 'पलाशबीजादि चूर्ण' का १–२ ग्राम पुराने गुड़ के साथ खिलाना लाभप्रद रहता है।

## गुदपाक या अहि पूतनक (नैपकिन रैशेज)

बालकों में विशेषतः शिशुओं में मिलने वाला यह एक आम रोग है, जिसमें गुदा की सफाई ठीक न होने से, मलमूत्र से आर्द्र उनकी चद्दरों के न बदलने से, मोमजामे या रबर की सफाई न होने से अर्थात् सफाई का पूरा ध्यान न रखने से या शिशु के मल-मूत्र से कुछ रासायनिक द्रव्यों के जो त्वचा में खुजली पैदा करने वाले होते उनके निकलने से (कार्बोहाइड्रेट भोजन में अधिक होने से अम्ल का मूत्र में अधिक निकलना या मल से

वसाम्ल का अधिक त्याग होना ) गुदा के समीपवर्ती क्षेत्र में लालिमा पैदा हो जाती है, वह स्थान लाल सुर्ख हो जाता है। यह लालिमा का क्षेत्र बढ़ता चलता है और बढ़ता हुआ मूलाधार, नितम्ब, जंघों के भीतरी ओर भग या लिङ्ग तक पहुँच जाता है। अंग्रेजी में इस रोग को नैपकिन रैश कहते हैं, क्योंकि 'नैपकिन' ( मोमजामे ) के सम्पर्क में आने वाले जितने अवयव हैं वही रोग से प्रभावित होते हैं और नैपकिन की सफाई पर ध्यान न रखना रोग का उत्पादक हेतु बनता है। लालिमा के अलावे त्वचा पर छाले भी पैदा होते हैं। पीड़ा दाह, खुजली बहुत होती है, बालक बेचैन रहता है, रोता बहुत है।

चिकित्सा—

कारण को दूर करना, सफाई पर ध्यान देना। नैपकिन के गीले होने पर उसको गर्म पानी से धोना और सुखाकर चूर्ण ( Anti septic powder ) जैसे जिंक एवं बोरिक पाउडर लगाकर बिछाना चाहिए। मल-मूत्र का त्याग शिशु को नैपकिन पर न कराके हर भोजन के बाद उसे उठा कर अलग कराने का अभ्यास कराना चाहिए। उसके बिस्तर और चादरों को धोकर धूप में सुखाकर लगाना चाहिये। गीले हो जायँ तो बदल देना चाहिये। यदि भोजन में कोई दोष प्रतीत हो तो उसको सुधारना चाहिये—पेट्रोलियम जेली में जिंक आक्साइड मिलाकर लगावे इसी में एरण्ड तैल पर्याप्त मात्रा में और 'रीसार्सिन' ( Resorcin ) १० ग्रेन मिलाकर लगाया जा सकता है।

**आयुर्वेदोपचार**—प्राचीन ग्रन्थों में इस रोग का वर्णन अहितपूतनक नाम से पाया जाता है। चिकित्सा में गन्दगी प्रभृति कारणों को दूर करके त्वचा को आराम देने वाले तैलों का प्रयोग जैसे पंचगुण तैल या चन्दन बलालाक्षादि तैल का व्यवहार किया जाता है।

गुदपाक में पित्त व्रण का उपचार करना चाहिए। एतदर्थ रसाञ्जन और जीरा के चूर्ण को लेकर उसमें बकरी का दूध और चमेली की पत्ती का रस

मिलाकर रख देना चाहिये। इसका मुख से सेवन कराने के लिए अथवा स्थानिक दोनों प्रयोग करना चाहिये। यह उत्तम लाभ करता है।

( र० र० समु० २२ )

इन अहिपूतन ( Rashes ) के अलावे और भी कई प्रकार के अहिपूतनक बालकों में निकल सकते हैं जैसे वस्ति ( एनीमा ) देने के चौबीस घंटे बाद बस्ति अहिपूतनक ( Enema Rash ), पसीना अधिक निकलने विशेषतः गर्मी के दिनों में स्वेद से अहिपूतनक ( Sweat Rash )। इस अवस्था में गर्म कपड़ों का व्यवहार छोड़कर मुलायम सूती या लिनेन के कपड़ों को काम लावे। अतिपूतनक के स्थान पर अवधूलन निम्नलिखित चूर्ण का जिंक आक्साइड, बोरिक एसिड तथा स्टार्च का करे। इनके अलावा कई औषधियों के प्रयोग से जैसे धतूर, बेलाडोना, ब्रोमायड्स, फेनाजोन और सल्फोनेमायड से भी अहिपूतनक निकल सकते हैं। इन्हें औषधजन्य अहिपूतनक ( Durg Rash ) कहते हैं। चिकित्सा में व्यवहृत होनेवाली इन औषधों से यदि विस्फोट निकलने लगे तो तत्काल बन्द कर देना चाहिए।

## त्वचा के विस्फोट

## ( **Impetigo** )

ये दो प्रकार के होते हैं—१—सांसर्गिक विस्फोट।—बाकहार्ट के विस्फोट। सांसर्गिक विस्फोट—जैसे कि नाम से ही स्पष्ट है, छूत से फैलने वाला रोग है। पाठशाला के छात्रों में प्रायः फैलता है। इसकी उत्पत्ति में माला गोलाणु या गुच्छ गोलाणु ( Strepto and staphylococcal infection ) भाग लेते हैं। इस रोग में त्वचा के ऊपर उभरे हुए छोटे-छोटे दाने निकलते हैं जो शीघ्र ही मवाद से भर जाते हैं, देखने में बड़ी माता के दाने जैसे दीखते हैं अतः भ्रमवश लोग इसे माता का ही रूप समझते हैं। फिर दाने सूखते हैं उनके ऊपर खुरण्ड बनती है। चेहरे के ऊपर अधिक होते हैं जिन्हें लोग मकड़ी का मूतना कहते हैं, परन्तु फैलकर शरीर की त्वचा पर अन्य भागों में भी पैदा हो सकते हैं।

**चिकित्सा—**

खुरण्डों को बोरिक एसिड के घोल से छुड़ावें पश्चात् खुले व्रणों के ऊपर 'अमोनियेटेड' आयण्ट का पेण्ट या लेप करे। जेनेशियन 'वायलेट' १०% का बना घोल भी उत्तम कार्य करता है। 'पेनिसिलिन' आयण्टमेण्ट या क्रीम का उपयोग भी बहुत होता है। शुल्व वर्ग की औषधों और 'पेनिसिलीन' का स्थानिक आभ्यान्तर भी लाभप्रद हो सकता है।

बाकहार्ट के विस्फोट ( Bochart's Impetigo )—इसमें उत्पादक जीवाणु गुच्छाकार सुवर्ण का गोलाणु ( Staphylococcus Aureus ) होता है। इसमें रोमकूपों का पाक होता है, और छोटे ( पिन के सिर के परिमाण से लेकर ) बड़े आकार फोड़े तक कई-कई ( संख्या में बहुत से ) विस्फोट निकलते हैं। ये विस्फोट अधिकतर केश वाले भागों में पैदा होते हैं।

**चिकित्सा—**

गर्म जल से विस्फोटों का धोना आवश्यक होता है। 'मर्करी पर क्लोरायड' ( १:४००० ) का घोल बनाकर उससे विस्फोटों का रुई भिगोकर निचोड़ कर धोना उत्तम रहता है। इसमें मलहम का लेप अच्छा नहीं होता क्योंकि विस्फोटों के फैलने का भय रहता है। 'पेनिसिलीन' के घोल ( ५०० यूनिट प्रति सी. सी. ) से प्रक्षालन या सिंचन उत्तम रहता है। विस्फोटों का बार-बार प्रक्षालन लाभप्रद रहता है, परन्तु अगर वे मृदु हो जायँ उनमें मवाद हो जाय तो खोलकर बहा देना चाहिये और त्वचा पर टिंचर आयोडीन लगा देना चाहिये।

दोनों प्रकार के विस्फोटों में जीवतिक्ति 'ए' का सेवन उत्तम रहता है और त्वचा के ऊपर 'अल्ट्रावायलेट किरण' का प्रयोग भी उत्तम रहता है।

## अंजनी या अंजननामिका
## ( Stye Hordeolum )

बाल्यावस्था में आँखों में अंजनी का होना बहुत पाया जाता है। इसमें पलक के बालों ( बरौनी ) के लोम कूप का पाक होता है। कई बार यह व्याधि

बार-बार होकर कई मासों तक परेशान करती है। इसकी चिकित्सा में स्वेदन ( बार-बार सेंकना ), गर्म जल से धोना और विकार युक्त बरौनी के मूल को उखाड़ देना उत्तम पड़ता है। यदि बार-बार अंजनी का होना मिले तो 'पेनिसिलीन' या टेट्रासायक्लिन' के मलहमों का नेत्र में प्रयोग करना चाहिये। आवश्यकतानुसार आभ्यन्तर प्रयोग भी उनका करना चाहिये। साधारण स्वास्थ्य को बढ़ाने के लिए बालक को मत्स्य यकृत्वसा ( Cod liver oil ) या अन्य बाल्ययोगों का भी प्रयोग करना चाहिये।

## कक्षा
## ( Herpes Zoster )

किसी सांवेदनिक तंत्रिका के मार्ग पर मटर के परिमाण के दाने निकलते हैं जिनमें शुरू में तो केवल जल भरा रहता है, परन्तु दो तीन दिनों में वे पीले पड़ जाते हैं उनमें मवाद भर जाता है; पुनः सात आठ दिनों में उनके ऊपर खुरण्ड पड़ जाती है--पश्चात् खुरण्ड गिर जाती है कोई व्रण का चिन्ह नहीं रह जाता है त्वचा स्वाभाविक रंग की हो जाती है दाने अधिक पर्शुकान्तरीय नाड़ी ( Inter Costal Nerves ) के मार्ग में आधे अंग में ( जनेऊ की दिशा में ) निकलते हैं--जैसे कुछ कन्धे के नीचे, कुछ पीठ और कुछ छाती पर। इस रोग में पीड़ा, जलन उस स्थान पर छूने में दर्द का होना पाया जाता है। रोग की उत्पत्ति स्यंदन शील विषाणु ( Filter Passing Virus ) से होती है। एक मर्यादित रोग है जो प्रायः सात से दस दिनों में अच्छा हो जाता है। एक इसके पूर्व रोग अच्छा नहीं होता है।

**चिकित्सा—**

लाक्षणिक होती है। पीड़ा और जलन को शान्त करने के लिये 'ब्रोमायड', 'क्लोरल हाइड्रेट' या 'एस्प्रिन' प्रभृति वेदना शामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। दानों पर चूर्ण के रूप में छिड़कने के लिये--जिंक बोरिक और स्टार्च के मिश्रण का प्रयोग करना चाहिये। बालक को पूर्ण विश्राम

देना चाहिए। कई प्रकार के अन्य क्रीम उपलब्ध होते हैं उनका भी स्थानिक प्रयोग करना चाहिये। जैसे एन्थीसान क्रीम, बायोफार्म क्रीम आदि। स्थानिक प्रयोगों में एण्टीबायटिक अथवा कार्टिसोन युक्त मल्हमों का भी व्यवहार किया जा सकता है।

आयुर्वेदीय—यह रोग अपने आप सात से दस दिनों में अच्छा हो जाता है; चिकित्सा से केवल लक्षणों को शान्त कर सकते हैं। पीड़ा के शमन के लिये दन्ती भस्म २५० मि०ग्रा० और प्रवाल भस्म १२५ मि०ग्रा० मिलाकर दिन मे तीन बार घी और चीनी के साथ देना चाहिए। शतधौत घृत का लेप उत्तम होता है। एक फूल या काँसे के बर्तन में गाय का घी रखकर पानी डालकर हाथ के तलवे से रगड़ना चाहिए। एक बार अच्छी तरह से रगड़कर पानी को निथार देना चाहिये। इसी प्रकार सौ बार रगड़ कर पानी को निथारते हुए शतधौत घृत बनाया जाता है। इसमें कपूर मिलाकर दानों पर लेप करना चाहिये।

## परिसर्प
## ( Herpes )

कक्षा के दाने शरीर के अन्य भागों में जैसे ललाट पर या ओष्ठों पर भी निकल सकते हैं। इस अवस्था में इनको परिसर्प कहते हैं। लक्षण चिकित्सा आदि पहले के सदृश ही होती है। ओष्ठों पर खासकर ऊपरी ओठ पर ज्वर के बाद कुछेक फुन्सियाँ पैदा होती हैं, ( Herpes labiatis ) इनका कक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये फुन्सियाँ एक सप्ताह तक रहती है, फिर ठीक हो जाती है। चिकित्सा में किसी एक स्निग्ध मलहम का लेप करना चाहिये।

## पामा या खुजली
## ( Scabies )

यह एक संसर्ग से फैलने वाला रोग है। घर में किसी एक बालक के खुजली का बीमारी से पीड़ित होने पर पूरे परिवार के बच्चे पीड़ित हो

जाते हैं। इसकी उत्पत्ति में एक अणुकीट भाग लेता है जिसको 'एकैरस स्कैबीज' ( Acarus scabies ) कहते हैं—अणुवीक्षण यन्त्र ( Micro Scope ) की सहायता से देखने पर ( खुजली के दाने के स्राव को लेकर ) यह छोटा जीव दिखलाई पड़ता है जिसका शरीर चपटा होता है और उसके आठ पैर होते हैं। ये छोटे जीव चर्म के ऊपरी सतह में फैलते हुए खुजली पैदा करते हैं; दाने निकलते हैं, प्रसार विभिन्न भागों में होता चलता है। खुजलाने से नाखून के निशान पड़ते हैं और उन दरारों से ये त्वचा में प्रविष्ट होकर व्रणोत्पत्ति करते चलते हैं। खुजली का सर्वप्रथम प्रभाव हाथ की अँगुलियों पर अर्थात् अँगुलियों के बीच में होता है पश्चात् कलाई पर फिर केहुनी पर पश्चात् पूरे शरीर की त्वचा पर हो जाता है। एक संस्कृत कवि की उक्ति इसके प्रसार में चरितार्थ होती है जिसमें उन्होंने खुजली की उपमा नव विवाहिता स्त्री के साथ दी है—जैसे नव-विवाहिता नायिका को सर्वप्रथम अँगुली का स्पर्श पश्चात् कलाई का पकड़ना, तदनन्तर केहुनी या अन्य अंगों का स्पर्श सम्भव रहता है उसी प्रकार खुजली का भी प्रसार शरीर पर होता है। खुजली का निदान बड़ा ही सरल होता है।

**चिकित्सा—**

गंधक खुजली की चिकित्सा में श्रेष्ठ है। बालक को गर्म पानी से स्नान कराके गन्धक मलहम ( Sulphur ointment ) और 'पेट्रोलियम जेली' का लेप पूरे शरीर पर लगातार तीन दिनों तक करावे। इस काल में एक ही कपड़ा जिसमें गंधक लगा है पहना कर रखे। बिस्तर भी न बदले। तीन दिनों के बाद कपड़े को खोले और उसका शोधन करके धूप में सुखा ले। तीन दिनों बाद पुनः नया वस्त्र बालक को पहनावे। गंधक के अधिक रगड़ से कई बार त्वचा में पाक हो जाता है—उस अवस्था में 'लायकर पिसिस कार्बोनिस' १ ड्राम को १ पिण्ट जल में बनाये घोल का सिंचन एक सप्ताह तक करना चाहिये।

दूसरा लेप 'वेन्जील वेन्जोयेट' के घोल का है। जो प्रयोग में आता है। इस घोल को निम्नलिखित अनुपात में मिलाकर बनाया जाता है—'वेन्जील

बेंजोयेट' ३० भाग + 'मेथिल सेलुलोज' १·२५ भाग और जल १०० भाग। इसके लगाने की विधि इस प्रकार है—बालक को पहले गर्म पानी से नहलावे पुनः साबुन लगाकर साफ करे, जब तक शरीर आर्द्र रहे तो मुलायम ब्रश से लोशन का पूरे व्रण स्थान पर लेप करे। जब यह घोल सूख जाये तो पुनः एक लेप करे फिर बच्चे के शरीर को सुखा कर वही कपड़ा पहना कर रखे जो चिकित्सा के शुरू करने के पूर्व पहना था। चौबीस घण्टे के पश्चात् बालक को स्नान करावे और नया वस्त्र पहनावे।

आयुर्वेदोपचार—रसादि लेप का घृत में मिला कर नारियल के तेल में मिलाकर पूरे खुजली के क्षेत्र पर लेप करे। लगातार तीन दिनों के प्रयोग से खुजली बहुत शान्त हो जाती है, पामा का रोग जाता रहता है। 'रस-द्विजीर-द्विनिशामरीच सिन्दूर दैत्येन्द्र मनःशिलानाम् चूर्णीकृतानां घृतमिश्रितानां त्रिभि प्रलेपैरपयाति पामा।' इस योग के अतिमात्रा में लेप हो जाने से कई बार फुन्सियाँ पड़ जाती हैं और त्वचा लाल हो जाती है। ऐसी स्थिति में लेप का लगाना बन्द करके कुछ दिनों तक कपूर और गरी का तेल या मक्खन लगाना चाहिये।

रसादिलेप—

पारा, गंधक, सफेद जीरा, स्याहजीरा, हल्दी, आमाहल्दी, कालीमिर्च, सिन्दूर और मैनशील। सब बराबर मात्रा में लेकर महीन चूर्ण।

## दद्रु या दाद

बच्चों में पाई जाने वाली दाद दो प्रकार की होती है। १. शरीर की दाद—२. सिर की दाद। इसमें उत्पादक हेतु एक विशेष जाति का फंगस होता है। इसी के द्वारा एक से दूसरे बच्चे पर रोग का प्रसार होता है।

इस रोग में गोलाकार लाल चकत्ते निकलते हैं जो संख्या में एक या अधिक होते हैं और कई परिमाण के हो सकते हैं। खुजली होती है, चकत्तों का प्रसार होता चलता है।

शरीर की दाद पर 'टिंचर आयोडीन' का लेप करना उत्तम होता है। अथवा इस मलहम का लेप करे—सैलिसिलिक एसिड १० ग्रेन, बेन्जोइक एसिड १० ग्रेन, नारियल का तेल ३० बूँद और पेट्रोलियम जेली ½ औंस।

सिर की दाद की चिकित्सा बड़ी कठिन होती है--दवा का प्रभाव इसके ऊपर होता ही नहीं है। इसकी चिकित्सा में विशेषज्ञ की आवश्यकता पड़ती है—जो 'क्ष-किरण' के बाह्य प्रयोग से या 'थैलियम-एसीटेट' ( Thallium Acetete ) नामक औषधि के अंतः प्रयोग से रोग को अच्छा कर सके। इस चिकित्सा-विधि में दोष यह है कि इनके प्रयोग से सिर के सभी केश गिर जाते हैं। साथ ही यदि मात्रा का समुचित प्रयोग नहीं हुआ तो विषाक्तता की भी सम्भावना रहती है। "थैलियम एसीटेट' के सेवन की मात्रा है ८ मि० ग्रा० प्रति किलो ग्राम शरीर भार के ऊपर। ऊपर लिखे मलहम का प्रयोग भी सामान्य रीति से करते हुए लाभ हो सकता है और प्रयोग में सरल भी है। ग्रीसोविन एफ. पी. ( ग्लैक्सो ) १ गोली दिनों में तीन बार, ४ सप्ताह तक करना भी लाभप्रद रहता है।

**आयुर्वेदीय**—रसादि लेप में नुस्खे में चक्र मर्द ( चकौड़े ) के बीज का चूर्ण बराबर मात्रा में मिलाकर रख ले। गरी के तेल में मिलाकर दाद की जगह पर लगाने से अच्छा लाभ होता है। जब दाद के चकत्ते साफ हो जावें तो उस पर चन्दन, बाकुची और चालमोगरा का समान भाग में मिलाये तैल का लेप कराना चाहिये। इससे रोग के पुनः पुनः होने की प्रवृत्ति जाती रहती है।

## इन्द्रलुप्त खालित्य या गंजापन
## ( Alopeeia Areata )

कुछ अज्ञात कारणों से बालक के शरीर के विभिन्न क्षेत्रों के या सिर के बाल गिर जाया करते हैं। पुनः उनके नये निकलने में महीनों या बरसों लग जाते हैं। यद्यपि यह रोग बालकों में कम होता है—फिर भी चिकित्सक को उसकी चिकित्सा करने का अवसर प्रायः मिलता रहता है।

**चिकित्सा--**

वल्य ओषधियों में जीवतिक्ति 'बी' का प्रयोग करना चाहिये। 'यीस्ट' की गोलियाँ सस्ती और स्वादिष्ट पड़ती हैं। दिन में दो तीन बार एक-एक करके दी जा सकती हैं। स्थानिक क्षोभ पैदा करने वाले योगों में निम्नलिखित घोल का केशरहित स्थानों पर लगाना बड़ा लाभप्रद होता है। विनेगार आफ कैन्थेराइडिन ३ ड्राम, ग्लिसरीन ३ ड्राम, फेनाल २० ग्रेन, बादाम का तेल १$\frac{1}{2}$ औंस, गुलरोगन १५ बूँद और जल ६ औंस।

**आयुर्वेदोपचार**—हाथी के दाँत को जलाकर उसके कोयले को घिसकर उसमें बढ़िया रसौंत मिलाकर घिसकर सरसों के तेल में मिलाकर लेप करने से केशों का पुनः निकलना सम्भव रहता है। तैलों में भी इन्द्र—लुप्तनाशन तैल, कैन्थेरायडिन तेल और कैस्टर आयल (गन्धित) का प्रयोग लाभप्रद होता है। जमाल गोटे के बीज को घिसकर लेप करने से भी केशों का उगना पाया जाता है। आजकल भटेस या भाँट नाम से मिलने वाले झाड़ीनुमा पौदे की पत्ती का उपयोग चल रहा है। इस पत्ती को रगड़ने से, उसका रस निकालकर लगाने से अथवा उस पत्ती से सरसों का तेल पकाकर उस तेल का गंजे स्थान पर लगाने से लाभ देखा गया है।

इन व्याधियों के अलावे और भी कई प्रकार के रोग बालकों की त्वचा के ऊपर मिल सकते हैं - जैसे न्यच्छ (लांछन), व्यंग (झाईं) कील (warts) इनके ऊपर किसी विशेष उपचार की आवश्यकता नहीं रहती धीरे-धीरे वे स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। इनके लिये 'कार्बनडायाक्साइड स्नो' ($Co_2$ Snow) का व्यवहार करना चाहिये।

## यूका लिक्षा
## (Peciculosis Capitis)

सिर में ढील, लीख और जुवों का पैदा होना अधिकांश बालकों में मिलता है। यह विकार ज्यादातर गरीब लोगों में पाया जाता है। केशों से चिपकी लीखें, ढीलों के अण्डे जरा-सा गौर करने पर दिखाई पड़ते हैं। विरचते हुए

ढीलों का खोजना कठिन रहता है, सावधानी से उनको खोजकर निकालना पड़ता है। बालक के सिर में खुजली मचती है, खुजलाने से नखों से क्षत सिर पर होकर उस पर पीले खुरण्ड बन जाते हैं। कई बार स्थानिक लसीका ग्रन्थियाँ भी फूली हुई पाई जाती हैं।

चिकित्सा---

केशों को छोटा करा दे। साबुन और पानी से धोकर कंघी करे। यदि बहुत अधिक संख्या में लीखें हो तो बालों को 'सासाफ्रास' तैल से ( Sassafras oil ) तर करके, सिर को तौलिये से ढँक कर रात भर छोड़ देना चाहिये। दूसरे दिन साबुन और पानी से धोकर कंघी करके जुवों को साफ करना चाहिये। इसी क्रम को दो तीन बार करना चाहिये जब तक लीखों का उपसर्ग पूर्णतया नष्ट न हो जाय।

'लोरेक्सिन' हेड लोशन ( Lorexane lotion for hoad ) को सिर पर बालों में कई स्थानों पर लगाकर दस दिनों तक छोड़ दे। इससे दस दिनों तक लगाकर छोड़ना सम्भव न हो तो रोज लगावे और कुछ घंटों के बाद धो दिया करे।

**आयुर्वेदोपचार**—धतूर की पत्ती का रस, पान की पत्ती का रस, करेमू के शाक का रस प्रत्येक दो-दो छटाँक लेकर उसमें पारा ३ ग्राम मिलाकर खुब घोट ले, फिर इसका लेप केशों में करने से यूकालिक्षा नष्ट हो जाती हैं।

---

# अध्याय २०

# तीव्र संक्रामक रोग

## रोमान्तिका

## ( Measles )

विषाणु ( Virus ) में संक्रमण से होने वाला यह तीव्र महामारी के रूप में फैलने वाला रोग है। २-७ वर्ष के आयु के बालकों में और अधिकतर वसन्त ऋतु में होता है। संक्रमण का प्रसार रोग से पीड़ित बालक के खाँसने या छींकते हुए उनके मुख, गला, नाक और आँखों से विषाणु निकल कर दूसरे स्वस्थ बालकों पर फैलकर रोग को पैदा करते हैं। इस रोग में संचय काल १ सप्ताह से लेकर ३ सप्ताह तक पाया जाता है।

लक्षण—सर्वप्रथम ज्वर, जुकाम, खाँसी और आँखों की लाली इस रोग में पाई जाती है। यह ज्वर, जुकाम ३ से ४ दिनों तक रहता है। उसके बाद इस रोग में विशेष प्रकार के दानों का निकलना शुरू हो जाता है। ज्वर भी बना रहता है और यह विस्फोट ३, ४ दिनों तक चलता है। पश्चात् नाक से गाढ़ा-गाढ़ा स्राव, नाक से क्वचित् खून का गिरना, गले का बैठना, आवाज का भारीपन और तेज खाँसी चलती रहती है।

इस रोग के निदान में सबसे विश्वसनीय चिह्न 'कापलिक' के दाग हैं। रोग के प्रारम्भ में दानों के निकलने के पूर्व मुख के अन्दर की श्लेष्मल कला में दोनों ओर के गालों के भीतर चहु के दोनों दाँतों ( मोलर और प्रीमोलर ) के समीप इन दागों का अच्छे प्रकाश में या दिन में देखना सम्भव रहता है। ये दाग नीले सफेद रंग के पिन ( Pin ) के शिर के बराबर होते हैं। जिनके चारो ओर लाल रंग का घेरा पाया जाता है। इनकी संख्या विभिन्न हो सकती

है, परन्तु अधिकतर चार या छः रहती है। कई बार इनकी संख्य। असंख्य हो जाती है जिससे गाल के भीतर के भाग में पूरी तौर से भर जाती है।

रोमान्तिका में दाने ( Rash ) ज्वर के चौथे दिन आते हैं और ज्वर बढ़कर १०३° तक हो जाता है। दाने पहले उभरे हुये लाल रंग के निकलते हैं और चेहरे पर सबसे अधिक दिखलाई पड़ते हैं। ४८ घण्टे में बहुत बढ़ जाते हैं। इसके बाद यदि कोई उपद्रव नहीं हुआ तो धीरे-धीरे मुरझाने लगते हैं और ज्वर भी उतर जाता है।

उपद्रव—श्वसनी-संस्थान के उपद्रव–श्वसनिका शोथ ( Bronchitis ), श्वसनी फुफ्फुस शोथ ( Broncho-Pneumonia ), बार-बार खाँसी का होना जिससे श्वासनलिका विस्फार ( Bonchiolectesis ) अथवा फुफ्फुस का भी उपद्रव हो सकता है।

कान के उपद्रव—मध्य कर्णपाक ( Otitis media )

नेत्र के उपद्रव—अभिष्यंद ( आँखों का आना )

अक्षिपाक ( Opthalmitis )

अवण शुक्र या फूली ( Opacity )

मुख के उपद्रव—मुखपाक-शोथ ( Gangrene ) का होना है।

मस्तिष्क के उपद्रव—प्रमस्तिष्क शोथ ( Encaphitis ) जिससे मूर्च्छा, बेहोशी आदि होती हैं।

चिकित्सा—

रोगी को पूर्णतया पृथक करके रखना चाहिये। बालक को बिस्तर पर लेटाकर रखना चाहिये। कमरा गर्म, हवादार होना आहिये। जब तक ज्वर रहे, द्रव भोजन जैसे दूध, साबूदाना, बार्ली, फल के रस आदि देने चाहिये। यदि नेत्र में लाली और सूजन हो तो कमरे को अँधेरा करके रखना चाहिए एवं आँखों का प्रक्षालन 'टंकण घोल' ( Boric acid solution ) से दिन में दो बार सुबह और शाम करना चाहिये।

गले और मुँह की सफाई के लिये 'ग्लाइकोथायमेलिन' या 'पोटैशियम क्लोरेट' के घोल ( १२ ग्रेन १ औंस जल में घोलकर ) से कुल्ली करनी

चाहिये। स्वरयंत्र का शोथ हो तो 'फ्रायर्स बालसम' को उबाल कर कमरे की वायु को उस वाष्प से ( २ छोटी चम्मच १ पिटंजल में छोड़कर ) आर्द्र करना चाहिये। यदि श्वसन-संस्थान के उपद्रव हों तो शुल्व वर्ग और पेनिसिलीन या अन्य प्रतिजीवी द्रव्यों का व्यवहार चाहिये।

**रोग-प्रतिबंधन** ( Prevention )—रोमान्तिका से पीड़ित व्यक्ति के रोग से मुक्त होने पर उसके रक्त की लसीका के सूचीवेध ( Convalescent serum ) से रोग होने से बचाया जा सकता है। मात्रा--३ वर्ष की आयु तक ३ बूँद की मात्रा पेशी में दे। उससे अधिक उमर में एक-एक बूँद प्रति वर्ष बढ़ाते जाना चाहिये।

## रोहिणी
## ( Diphtheria )

रोहिणी के दण्डाणुओं ( Bacillus Diphtheria ) से होनेवाला यह रोग है जो अधिकतर बालकों में दो से दस वर्ष की आयु में होता है। रोग का प्रसार खाँसते, छींकते और बोलते समय थूक के बूँदों के द्वारा होता है। दूध के जरिये भी मरक का फैलना पाया जाता है। रोग का संचय काल एक से पाँच दिनों का होता है।

**लक्षण**—गले की रोहिणी—शुरू में गले में खराश, निगलने में कठिनाई, ज्वर, चिड़चिड़ापन, भोजन में अरुचि पैदा होती है। कई बार कुछ बालकों में वमन भी होता है। गला लाल और रक्ताधिक्य युक्त हो जाता है, फिर तुण्डिका ( Tonsil ) के ऊपर कुछ सफेद दाग पैदा होते हैं, जो स्राव के इकट्ठे होने से बनते हैं। बारह घण्टे के पश्चात् ये दाग आपस में मिलकर एक कला या झिल्ली ( Membrane ) बना देते हैं—और फैलते हुए शुण्डिका (Uvula), ग्रसनी ( Pharynx ) या गले के भीतर और मृदु तालु तक फैलते जाते हैं। यह झिल्ली सफेद और भूरे रंग की और काफी मजबूत रहती है, आसानी से हटाई नहीं जा सकती है। खींचकर निकालने पर उस स्थान से रक्तस्राव होने लगता है। गले के अन्दर के अवयवों में शोथ भी होता है जिससे वे खुद भी

फूलते और बड़े आकार के हो जाते हैं। गले के बाहर की ओर पाई जाने वाली लसीका ग्रन्थियाँ भी सूज जाती हैं।

ज्वर तीन या चार अंश तक बढ़ जाता है, नाड़ी मृदु एवं तेज चाल की हो जाती है। विषमयता बढ़ती है, बच्चा सुस्त पड़ जाता है। कई बार चर्म, गले और नाक से रक्तस्राव होता है। झिल्ली चौथे-पाँचवें दिन अत्यधिक कष्टप्रद हो जाती है, बालक की साँस रुकने लगती है, विषमयता के कारण वह प्रलाप करता है या बेहोश होकर संन्यासयुक्त ( Coma ) हो जाता है।

स्वरयंत्र की रोहिणी ( Laryngeal Diphtheria )—इसमें झिल्ली का बनना नीचे की ओर स्वरयंत्र में होता है, यहाँ और नीचे को पहुँचकर श्वसनी ( Trachea ) और श्वसनिका तक झिल्ली बनती जाती है। गला भारी, आवाज भोंदी पड़ती जाती है। अन्त में आवाज का निकलना पूरी तौर से बन्द हो जाता है। खाँसी कुत्ते के भोंकने जैसी भद्दी आवाज की आती है। श्वासावरोध के दौरे आते हैं—बालक का चेहरा काला पड़ जाता है, बार-बार श्वासावरोध के दौरे आते रहते हैं, अन्त में श्वासावरोध ( साँस की रुकावट ) स्थायी हो जाता है, साँस बड़ी मेहनत से आवाज के साथ लेता है, बालक का शरीर सफेद हो जाता है। यदि श्वासप्रणाल का भेदन (Tracheotomy)—करके नये श्वसन मार्ग की व्यवस्था नहीं हुई तो श्वासावरोध से बालक की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

नाक की रोहिणी ( Nasal Diphtheria )—गले के संक्रमण के ऊपर में नाक में प्रसार होने से होता है। नाक में झिल्ली के बनने से अवरोध या रुकावट के लक्षण पैदा होते हैं। नाक से रक्त मिला हुआ स्राव आता है। एक या दोनों ओर की नासिका प्रभावित हो सकती है। इस अवस्था में विषमयता के लक्षण हल्के होते हैं।

शरीर के अन्य भागों में भी रोहिणी की झिल्ली बनकर रोग का स्वरूप धारण कर सकती है जैसे—मध्यकर्ण, नेत्र या नाभि में।

उपद्रव—रोहिणी का विष आमतौर से दो प्रधान उपद्रवों को पैदा करता है। अंगघात ( Paralysis ) तथा हृदय की पेशियों की दुर्बलता

( हृद्रोग ) रोहिणी का तीसरा उपद्रव वृक्क शोथ ( Nephritis ) है जिसके परिणामस्वरूप तीव्रावस्था में शुक्लिमेह ( Albuminuria ) पाई जाती है। कई बार उपद्रव के रूप में गले के बाहर की लसीका ग्रन्थियों में पूय का बनना भी पाया जाता है। संक्षेपतः इन उपद्रवों को निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं। जैसे—

श्वसन संस्थान के उपद्रव—(क) श्वसनी फुफ्फुस शोथ। (ख) स्वरयंत्र एवं श्वास प्रणाल की रोहिणी। (ग) श्वासकृच्छ्र। (घ) श्यावता।

मूत्रवह संस्थान के उपद्रव— (क) मूत्र में एल्बुमिन, (ख) शोफ, (ग) वृक्क शोथ।

रक्तवह संस्थान के उपद्रव— (क) हृदय की पेशियों का प्रभावित होना (ख) हृत्पेशी शोथ, (ग) हृद्पात।

तन्त्रिकातंत्र के उपद्रव—अंगघात।

**रोगविनिश्चय**--रोहिणी रोग का जितनी शीघ्रता से निदान हो जाय उतना ही अच्छा रहता है, क्योंकि रोहिणी में प्रतिविष ( Diphtheria antitoxin ) के शीघ्रातिशीघ्र प्रयोग करने से बालक के प्राण की रक्षा करना संभव रहता है। यदि कचित् रोग के निदान में विलम्ब होने लगे और चिकित्सक को रोहिणी रोग की आशंका हो तो निदान के लिए प्रतीक्षा न करते हुए तत्काल प्रतिविष के द्वारा चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये।

बालक की गले की परीक्षा अच्छे प्रकाश में करे—गले के भीतर सफेद भूरे रंग की झिल्ली का मिलना, साँस से बदबू, नाक से स्राव, गले के बाहर की लसीका ग्रन्थियों का फूलना, ज्वर आदि लक्षण रोग के निश्चय करने में सहायक होते हैं। तीव्र तुण्डिका शोथ से विभेद करे—इसमें स्राव पीले रंग (Follicular Tonsilitis) का होता है और झिल्ली नहीं बनती है। परितुण्ड विद्रधि ( Peritonsillar Abscess ) से विभेद करना आवश्यक रहता है; इसमें गले के खोलने में कठिनाई होती है। विन्सेण्ट एन्जाइना ( Vincents Angina ) में भी गले में एक प्रकार की झिल्ली बनती है—इसके विभेद

उस स्थान के झिल्ली की अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से तृणाणु की परीक्षा द्वारा किया जा सकता है।

तृणान्वीय परीक्षा ( Bacteriological Examination )--गले से थोड़ा स्राव लेकर उसमें पाये जाने वाले जीवाणु की परीक्षा करनी चाहिये। रोहिणी नामक व्याधि से निदान की यही सर्वाधिक विश्वसनीय परीक्षा की विधि है।

**चिकित्सा—**

रोहिणी प्रतिविष ( Diphtheria Antitoxin ) लसीका की मात्रा यूनिट्स या इकाइयों में बतलाई जाती है। कितनी मात्रा में प्रतिविष दिया जाय इस बात का निश्चय बालक की आयु के ऊपर निर्भर न होकर रोग की गम्भीरता और अवधि के ऊपर आश्रित रहता है। संदेहास्पद या मृदु रोग में चार हजार यूनिट्स तक देना चाहिए। जब रोग का निश्चय हो गया है, विषमयता के चिह्न भी मिल रहे हैं तो पंद्रह हजार इकाई की मात्रा में दे। यदि विषमयता बहुत अधिक हो तो तीस से साठ हजार यूनिट्स तक भी देने की आवश्यकता पड़ती है। रोग की तीव्रता के अनुसार सामान्यतया २५ हजार से एक लाख इकाई तक सीरम का प्रयोग शिरा मार्ग से करना चाहिये।

सामान्यतया एक नियम का पालन सबसे अधिक सुविधाजनक है। रोहिणी प्रतिविष की घनीकृत लसीका ( Concentrated B. W. & co ) मिलती है, जिसमें पन्द्रह सौ यूनिट प्रति सी० सी० की मात्रा रहती है। इसमें प्रथम मात्रा १ सी० सी० की देकर पुनः बाहर से चौबीस घण्टे के पश्चात् दूसरी मात्रा १ सी० सी० की दी जाती है। यदि रोग बहुत खतरनाक जान पडे तो इस मात्रा को दिन में तीन या चार बार भी पुनः दिया जा सकता है। इस लसीका का उपयोग पेशी मार्ग से जंघा के बाह्य भाग की पेशियों में ( Vastus lateralis ) देना सबसे उत्तम होता है। बहुत तीव्रावस्था में शिरामार्ग से भी लसीका का प्रवेश कराया जा सकता है। क्रिस्टेलीन पेन्सीलीन का सूचीवेध हर चार या छः घंटे के अन्तर से करना लाभप्रद रहता है।

**लसीका असुख** ( Serum Sickness )---कई बालकों में लसीका से चिकित्सा करते हुए दसवें दिन या उसके वाद कुछ प्रतिक्रिया के चिह्न जैसे शीत-पित्त, चकत्ते, लाल-लाल चकत्ते जोड़ों में दर्द, सूजन या क्वचित् उदर में पीड़ा, ज्वर और वमन होने लगता है। चकत्ते को रोकने के लिए 'कैल्शियम क्लोरायड' ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार देना चाहिये। एक औंस मृदु पैराफीन में मेन्थाल मिलाकर लगाने के लिए देना चाहिये। पीड़ा के शमन के लिये ५ से १० ग्रेन की मात्रा में एस्प्रिन देना चाहिये।

लसीका की प्रतिक्रिया के लिए तत्काल में 'एड्रेनैलीन' का सूचीवेध करना चाहिये। शीतपित्त के चकत्ते के शमन के लिये प्रत्यूर्जता औषधियों के लेप या अंतः प्रयोग भी किये जा सकते हैं। जैसे--फेनारगान', 'फोरिस्टाल', 'बेनेड्रील' 'जीट' आदि का।

**सामान्य चिकित्सा**---बालक को पूर्णतया पृथक् करके रखना चाहिए। उसको पूर्णतः विश्राम देने के लिए चित लिटा कर रखना चाहिए। तीव्रावस्था में दूध या दूध के बने पतले आहार देना चाहिये। प्रचुर मात्रा में द्रव पीने को देना चाहिये। यदि वमन बार-बार हो तो एक आस्थापन ( एनीमा ) देकर पेट साफ कर देना चाहिये। पश्चात् गुदा के मार्ग से लवण विलयन ( नमक का घोल-Saline ) चढ़ाना चाहिये। इसके पश्चात् उसको उठने, बैठने और चलने की अनुमति देनी चाहिये।

**स्वरयन्त्र की रोहिणी की चिकित्सा**--यह दशा बड़ी सांघातिक होती है। इसमें बड़ी मात्रा में प्रतिविष प्रारम्भ में ( तीस से साठ हजार इकाई तक ) देना चाहिये। इस अवस्था में श्वास लेने में कठिनाई वहुत अधिक पाई जाती है, अतः वाष्प ( Steam ) मुख से सुँघाना कुछ लाभप्रद हो सकता है। मुख या गुदा से 'ब्रोमायड्स' का प्रयोग भी श्वासकष्ट में लाभप्रद रहता है।

रोहिणी के दण्डाणुओं ( Diphtheria Bascillus ) पर 'पेनिसिलिन' की क्रिया बड़ी अच्छी होती है; परन्तु उससे उत्पन्न विष पर इसकी कोई भी क्रिया नहीं होती है। अतएव विषमयता को नष्ट करने के लिये प्रतिविष के

प्रयोग के साथ ही साथ 'पेनिसिलीन' के सूचीवेध का भी योग दिया जाय तो अधिक लाभ की आशा रहती है। 'पेनिसिलीन' के स्थान पर 'टेट्रासायक्लीन' का भी प्रयोग ५० मि० ग्रा. की मात्रा में मुख से प्रति चार घण्टे पर किया जा सकता है।

**शस्त्र-कर्म**--यदि श्वासकृच्छ्र लगातार बना रहे, बेचैनी अधिक हो, घर्घर युक्त श्वसन होने लगे, श्यावता ( Cyanosis ) व्यक्त होने लगे तो शस्त्र-कर्म के द्वारा श्वसनी ( Trachea ) के भेदन करने के लिये एक रबर की नलिका का संयोजन कर कृत्रिम मार्ग से श्वसन-कर्म को चालू करना चाहिये, अन्यथा बालक की मृत्यु हो जाती है।

**रोग का प्रतिषेध ( Prevention )**--इस रोग की रोकथाम का व्यवहार प्रचुरता से हो रहा है--१--टी. ए. एफ. ( T. A. F. ) तथा २--पी. टी. ए. पी. ( P. T. A. P. ), टी. ए. एफ. का एक सी० सी० की मात्रा में पेशी द्वारा तीन सूचीवेध एक सप्ताह या एक पक्ष ( पन्द्रह दिनों ) के अन्तर से करना होता है। पी. टी. ए. पी. के कुल दो ही सूचीवेध एक मास के अन्तर से ०.५ बूँद की मात्रा में प्रति बार अधस्त्वक् मार्ग से या पेशीमार्ग से करना होता है। इन योगों के प्रयोग से बालक में रोग के प्रतिकार की शक्ति छठवें सप्ताह से आ जाती है जिससे उनमें रोहिणी रोग नहीं होता।

बालक को रोग के रोकने की क्षमता प्राप्त कराने के पूर्व इस बात की भी जानकारी आवश्यक रहती है कि उसमें रोग के प्रतिषेधक योगों के देने की आवश्यकता है या नहीं। एतदर्थ उपर्युक्त प्रतिषेध में व्यवहृत होने वाले योगों के देने के पूर्व एक परीक्षा की जाती है जिसे शिक या कसौटी ( Scicktest ) कहते हैं। इसकी विधि यह है।

बालक के आगे वाले बाहु पर एक स्थान पर रोहिणी विष को ०.२ सी. सी. की मात्रा में त्वचा में प्रविष्ट करे। दूसरे स्थान पर इसी औषध को गर्म करके इसी प्रकार त्वचा में प्रविष्ट करे। चौबीस से अड़तालिस घण्टे के पश्चात् उसका परिणाम देखे। यदि दोनों स्थानों में कोई परिवर्तन न हो तो परिणाम

नास्त्यात्मक है, बालक में रोग के रोकने की क्षमता विद्यमान है उसमें प्रतिषेधक योगों के देने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि दोनों जगहों पर लाली आ जाये तो समझना चाहिये कि फल अनिश्चित है, अतः पुनः दोबारा शिक की कसौटी से परीक्षा की जाये। यदि प्रथम स्थान में उभार एवं लाली हो, किन्तु दूसरा स्थान अपरिवर्तित (कुछ न बदला हो) तो परिणाम यह निकलता है कि बालक में रोग से बचने की क्षमता बिलकुल नहीं है और उसको प्रतिषेधक टीके की व्यवस्था करनी है।

**आयुर्वेदोपचार**--आयुर्वेद के ग्रन्थों में रोहिणी को एक त्रिदोषज, असाध्य और घातक व्याधि माना गया है। आजकल के युग में 'एण्टीटाक्सिन्स' (प्रतिविष) और 'एण्टिबायटिक्स' योगों के प्रयोग से लाभ होते देखा जाता है। फिर भी यदि द्रव्य सुलभ न रहे तो आयुर्वेदीय योगों का प्रयोग करके देखना चाहिये। पपीते के दूध और पान के पत्तों का रस गले में बार-बार लेप करना, इससे झिल्ली नष्ट होती चलती है। हिंगुलेश्वर रस या संजीवनी की मुख से १-१ गोली की मात्रा में पान के रस के अनुपान से देना। कई बार इन प्रयोगों से पर्याप्त सफलता मिलती है।

## कुकास—कुकुर खाँसी, काली खाँसी
## ( Whooping cough )

बालकों में बहुलता से पायी जाने वाली यह एक खाँसी है जो किसी भी आयु के बालक में पैदा हो सकती है, परन्तु अधिकतर २ से ५ वर्ष की आयु के बालकों में ज्यादा पाई जाती है। यह खाँसी बड़ी ही संक्रामक है, घर में एक बालक के रोगग्रस्त होने पर परिवार के सभी बच्चे या घर के सभी बच्चे पीड़ित होते हैं। इस रोग का मरक इतने वेग से फैलता है कि गाँव का गाँव या जनपद का जनपद रोगग्रस्त हो जाता है, पीड़ित होनेवालों में केवल बालकों की संख्या पाई जाती है।

इसके उत्पादक कारणों में एक अणु जीव भाग लेता है, जिसको कुकास का दण्डाणु ( Bascillus Haemophilus Pertussis ) या अनुसन्धान

कर्त्ता के नाम पर बार्डेट और गंगु के दण्डाणु। इन दोनों वैज्ञानिकों ने सन् १९०६ ई० में इन दण्डाणुओं की खोज की थी। कहा जाता है, बालक के खाँसते या छींकते समय दण्डाणु थूक के कणों से निकलकर दूसरे स्वस्थ बालकों को उपसृष्ट करते हैं। रोग का संचय काल ७-२१ दिनों का होता है।

लक्षण--रोग का प्रारम्भ मामूली जुकाम जैसा होता है। बालक को छींकें आती हैं, खाँसी आने लगती है, नाक से स्राव होता है और मन्द ज्वर हो जाता है। दो या तीन दिनों के बाद खाँसी के दौरे जैसे आने लगते हैं। प्रथम सप्ताह के बाद खाँसी के साथ विशिष्ट शब्द हूप-हूप होने लगता है।

इस रोग में खाँसी हमेशा नहीं पाई जाती है, बीच-बीच में खाँसी के दौरे जैसे आते हैं जिसमें बालक को लगातार कुछ देर तक कफ को बाहर को फेंकने वाली खाँसी आती हैं। बच्चे का चेहरा लाल पड़ जाता है। आँखें लाल हो जाती है। कई बार चेहरा काला पड़ जाता है। दौरे के शान्त होने पर बच्चा एक लम्बा उच्छ्वास लेता है जिसमें एक प्रकार की आवाज हूप-हूप की होती है। इसी आवाज के ऊपर इस रोग का नाम अंग्रेजी में हूपिंग कफ रखा गया है। दौरे का अन्त प्रायः वमन से होता है। अर्थात् दौरे के अन्त में बच्चे को कै होती है। यदि रोग मामूली है तो दिन में ऐसे छः सात दौरे तक आते हैं। यदि रोग तेज हो तो घंटे-घंटे पर दौरे आते रहते हैं। यदि उपद्रव न हो तो ज्वर हलका ( एक दो अंश तक तापक्रम बढ़ा हुआ ) और धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। दौरे के खतम होने पर बच्चा पुनः अपने खेल में लग जाता है। जिह्वा के संयोजनी ( Fraenum ) सफेद व्रण की उपस्थिति इस रोग में एक प्रमुख चिह्न है। रोग में दिन में कम और रात में अधिक दौरे आते हैं।

श्रवण यंत्र से परीक्षा ( स्टेथेस्कोप ) से परीक्षा करते हुए फुफ्फस के क्षेत्र पर कुछ कर्कश शुष्क ध्वनियाँ ( Ronchi ) सुनाई पड़ती हैं। यदि रोग बढ़ा हो तो हृदय के विस्तृत होने के चिह्न भी मिलते हैं। रक्त-परीक्षा से श्वेत कणों की संख्या २५००० से लेकर एक लाख तक मिल सकती है। लसीका कोशिकायें ( Lymphocytes ) बढ़ी ७०% से ८० तक हो जाती हैं।

यदि कोई उपद्रव न हो तो तीन से छः सप्ताहों में रोग में काफी सुधार हो जाता है। कफ ढीला हो जाता है। वमन कम हो जाता है। दौरों की संख्या भी कम हो जाती है। बालक के भूख में भी सुधार होता है और शरीर का भार भी बढ़ता है। परन्तु कई बार रोग के पूर्णतया अच्छे होने में छः मास से भी अधिक लग जाते हैं।

उपद्रव--रक्तस्राव-नाक से रक्तस्राव, नेत्र के श्लेष्मल कला में रक्तस्राव बहुधा पाया जाता है। कचित् मस्तिष्क में भी रक्तस्राव हो सकता है जिसके कारण आक्षेप, मूर्च्छा, अंगघात या मृत्यु तक हो सकती है। कई बार हृदय की विस्तृति मिलती है।

**श्वसन-संस्थान के उपद्रव**--वातस्फीति ( Emphysema ), वातोरस ( Pneumothorax ) अथवा मालागोलाणु ( Streptococal ) उपसर्ग से होने वाला श्वसनी फुफ्फुस शोथ ( Broncho Pneumonia ) सबसे अधिक मिलने वाला यह उपद्रव है।

**दुर्बलता**-- महीनों तक रोग से पीड़ित रहने के कारण बालक बहुत दुर्बल अथवा पतला हो जाता है। उसके शरीर का भार और बल कम हो जाता है। भूख कम हो जाती है। उरोस्थि से लगी हुई लसिका ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं। फलस्वरूप फुफ्फुस क्षय ( Lung T. B. ) के होने की भी सभावना रहती है।

**निदान**--रोग की प्रारम्भिक अवस्था में जब तक इसका विशिष्ट शब्द हूप का पाया जाना नहीं मिलता रोग के निश्चय करने में कठिनाई होती है। किन्तु आगे चलकर अपने विशिष्ट लक्षणों से रोग स्पष्ट हो जाता है। जीभ के नीचे उसके लगाव पर ( Fraenum ) एक व्रण पाया जाता है यह रोग के निदान में सहायक होता है। रक्त-परीक्षा से निदान में सहायता मिलती है।

**शुभाशुभ**--बालक की आयु के अनुसार रोग का शुभाशुभ परिणाम देखने को मिलता है। जितनी छोटी उमर होती है रोग उतना ही घातक होता है। बड़ी उमर के बच्चों में सुधार होना निश्चित सा रहता है। रोग की अवधि

बड़ी लम्बी होती है, पूर्णतया सुधार में महीनों लग जाते हैं। रोग में पुनरावर्तन नहीं पाया जाता। उपद्रव युक्त रोग जैसे फुफ्फुस शोथ, अतिसार, आक्षेप के साथ पाया जाने वाला रोग अधिक कष्टप्रद होता है। क्षय का उपद्रव प्रायः घातक होता है।

चिकित्सा—

रोगी की प्रारम्भिक अवस्था में जब ज्वर चल रहा हो, तब बालक को बिस्तर पर लेटाकर पूर्ण विश्राम के साथ किसी हवादार कमरे में रखना चाहिये। जब ज्वर छूट जाये और ऋतु अनुकूल हो तो उसको टहलने की भी अनुमति देनी चाहिये। रोग को फैलने से रोकने के लिए उसको अन्य बालकों से पृथक् करके रखना चाहिये। आहार मृदु एवं पोषक होना चाहिये। उसको बिस्कुट, टोस्ट, भुने दाने नहीं देने चाहिये। इनसे गले में खुजली होती है और रोग बढ़ता है। वमन के कारण इन बच्चों में खाना और उसके द्वारा पोषण का पहुँचना बड़ा कठिन होता है। परन्तु दौरे के बाद तत्काल दिया गया भोजन पच जाया करता है। अतः उस समय उनको दूध या दूध से बने आहार देने चाहिये।

ओषधियों में प्रतिजीवी ( Antibiotic ) योगों का जैसे 'टेट्रासायक्लिन' 'एक्रोमायसिन', 'टेरामायसिन', 'क्लोरोमायसेटिन' का सेवन करना उत्तम पाया गया है। ६० मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार के ऊपर इसकी कुल मात्रा प्रतिदिन होनी चाहिये। फिर इस कुल मात्रा को छः मात्राओं में बाँटकर प्रति चार घण्टे पर मुख से देना चाहिये। ४८ घण्टे में इसके प्रयोग से दौरे बहुत कम हो जाते हैं। परन्तु औषधि को एक सप्ताह अथवा कुछ अधिक दिनों तक चलाते रहना चाहिये। अधुना सूचीवेध के द्वारा प्रयुक्त होनेवाली प्रतिजीवी ओषधियाँ जैसे 'आक्सीटेक्लिन' भी उपलब्ध है, उनका मात्रा से प्रयोग लाभप्रद रहता है।

खाँसी में आराम पहुँचाने के लिए 'ब्रोमायड्स' या 'फेनाजोन' ( १-४ ग्रेन की मात्रा में ) या 'ल्युमिनाल' $\frac{1}{8}$ ग्रेन की मात्रा में और 'बेलाडोना' १ से ३

ग्रेन की मात्रा में दिया जा सकता है। पोटास ब्रोमायड ३ ग्रेन + टिंचर बेलाडोना ३ बूँद + ग्लिसरीन १० बूँद + जल एक औंस। इस मिश्रण का सेवन भी उत्तम रहता है।

यदि हृदय का विस्फार जान पड़े तो बालक को पूर्ण विश्राम करना चाहिये। यदि अतिसार का भी उपद्रव हो तो डोवर्स (पाउडर १/२ से १/४ ग्रेन की मात्रा में) दे। यदि फुफ्फुस शोथ का उपद्रव हो तो 'पेनिसिलीन' से चिकित्सा करे।

रोग से मुक्त होने के बाद बालक के जलवायु परिवर्तन के लिये देहात में या समुद्र तट पर जाने की सलाह देना चाहिये। साथ ही बल्य योग के रूप में उसे काडमत्स्य यकृत्वसा (Cod liver oil) और 'माल्ट' का सेवन कराना चाहिये। अल्ट्रावायलेट किरण का प्रयोग भी उत्तम रहता है।

प्रतिषेधक (Prevention)—'पट्यूर्युसिस वैक्सीन' के सूचीवेध से रोग के प्रतिकार की क्षमता पैदा की जा सकती है। इसमें लगभग दो मास लग जाते हैं। १/४ सी० सी० से प्रारम्भ करके एक सप्ताह या पन्द्रह दिनों के अन्तर से क्रमशः बढ़ाते हुए १/२ सी० सी० और ३/४ सी० सी० तक के दो तीन सूचीवेध करने चाहिये। अधुना 'ट्रिपुल वैक्सीन' (डिफथीरिया, पट्यूसस एवं टिटैनस) अधिक प्रचलित है। इससे भी रोग प्रतिबंधन उत्तम रहता है।

आयुर्वेदोपचार—कुकास एक ऐसा रोग है जिसमें औषध का प्रयोग उतना लाभप्रद नहीं रहता, औषध देने के बावजूद बच्चे की खाँसी में शीघ्रता से लाभ नहीं होता है। खाँसी मासों तक चलती रहती है। यह एक ऐसा रोग है, जो समय से स्वयमेव अच्छा होता है। तथापि इस मिश्रण का प्रयोग अच्छा लाभ दिखलाता है—शुद्ध टंकण १ ग्राम + शुद्ध स्फटिका १ ग्राम + यवक्षार १ ग्राम और मयूरपुच्छ भस्म ६० मि० ग्रा० मिलाकर लिसोडे के शर्बत के साथ चटावे। पीसकर आठ खुराक में बाँट दे। भुट्टे की खुखड़ी को जलाकर उसकी राख का मधु से सेवन भी लाभप्रद रहता है। सेहुण्ड की पत्ती को आगपर तपाकर उसका एक चम्मच रस दिन में दो-तीन बार

देने से ही शीघ्र लाभ होता है। केले के पौधे को जलाकर उसकी राख दो से चार रत्ती की मात्रा में मधु से कई बार चटाने से लाभ होता है।

अपराजित लेह का प्रयोग भी उत्तम रहता है। भागोत्तरी बाटिका का भी प्रयोग कुछ वैद्य परम्पराओं में होता है। शुद्ध गरी का तेल ( नारिकेल तैल ) का १ छोटी चम्मच दिन में तीन या चार बार देने से पर्याप्त लाभ देखा जाता है। लेखक ने बहुत बार इस योग का प्रयोग करते हुए लाभ पाया है। अपराजितलेह—कचूर, काकड़ासींगी, छोटी पीपल, भारंगी, नागरमोथा, कपूर, कचरी, जवासा, मुनक्का, बहेड़ा, गुड़ समभाग लेकर बना चूर्ण तेल या घी के साथ चटाना। मात्रा १ ग्रा० से २ ग्रा० तक।

## पाषाण गर्दभ
## ( Mumps )

यह एक प्रकार का विशिष्ट संक्रामक रोग है, जिसमें एक या दोनों तरफ के जबड़े की संधि पर पाई जानेवाले पाषाणग्रन्थि ( Parotidgland ) की सूजन होती है। इस स्थान पर छूने या दबाने से भी दर्द होता है। कुछ लोग इसको कर्णमूल शोथ भी कहते हैं, क्योंकि कान के मूल में यह गाँठ पाई जाती है और यह सूजन भी वहीं पर पाई जाती है। आम जनता में इसे एक प्रकार की माता मानने का भी प्रचार है। यह रोग छोटे मरक रूप में फैलता है। प्रायः पाठशाला जाने वाले बालकों की उमर में अधिक पाया जाता है। घर या परिवार में एक बालक के पीड़ित होने पर कुछ समय के अन्तर से सभी बालक पीड़ित होते चलते हैं। यह गाँवों में, पाठशालाओं में, फौज के सिपाहियों और अनाथालयों में बहुत दिनों तक मरक के रूप चलता रहता है। एक रोगी से दूसरे रोगी पर प्रसार थूक या कफ के छींटों से या खाद्यपेय से होता है। इस रोग का संचय काल अठारह से बाइस दिनों का होता है। उत्पादक अणु जीव का अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है।

**लक्षण**—गालों में एक ओर या दोनों ओर कान की जड़ के नीचे सूजन पाई जाती है। सूजन के व्यक्त होने के पूर्व रोगी में सिर दर्द,

हल्का ज्वर या गले की खराबी आदि पाई जाती है। फूली हुई गाँठ पर छूने से दर्द होता है। उसके ऊपर का चमड़ा तना हुआ चमकता पाया जाता है। मुँह का खोलना कठिन होता है, मुँह खोलने से तेज पीड़ा होती है। कई बार जीभ नीचे की ओर, जबड़े के नीचे की भी लसीका ग्रन्थियाँ फूली मिलती हैं। ज्वर प्रारम्भ से ही होता है, कई बालकों में प्रारम्भ में वमन होते भी पाया जाता है। धीरे-धीरे पाँचवें या छठवें दिन ज्वर उतर जाता है। धीरे-धीरे गाँठों की सूजन भी कम होती चलती है।

पाषाण गर्दभ नामक रोग में जब तक कोई दूसरा उपसर्ग न पहुँचे पाक या पूय का बनना ( Suppuration ) नहीं पाया जाता। रक्त की परीक्षा कराने पर श्वेतकणों की संख्या बहुत कम हो जाती है। बालक की चेष्टा अच्छी रहती है, साध्य स्वरूप का रोग है, प्रायः सभी रोगी अच्छे हो जाते हैं—एक बार रोग होने के बाद उसकी रोग प्रतिकार की क्षमता जीवनपर्यन्त रहती है। अर्थात् एक बार रोग के हो जाने पर दुबारा होने की सम्भावना बहुत ही कम रहती है। हाँलाकि कुछ एक ऐसे भी व्यक्ति मिले हैं, जिनमें दुबारा रोग का आक्रमण हुआ है—फिर भी क्षमतादीर्घकालीन ( Immunity ) ही पैदा होती है।

**उपद्रव**—दो प्रधान उपद्रव हैं—१—अण्डशोथ ( Orchitis ) २—अग्न्याशय शोथ ( Pancreatitis )। ये दोनों उपद्रव भाग्य से बहुत ही कम होते भी हैं। अण्ड-शोथ का उपद्रव प्रायः प्रथम सप्ताह के बाद और अधिकतर एक ही ओर का होता है। अण्ड बड़ा हो जाता है, उसमें पीड़ा होती है, छूने या दबाने से दर्द होता है—पीड़ा उदर के अधोभाग में उस ओर वंक्षण और जंघे में भी होती है। चार या पाँच दिनों में सूजन जाती रहती है; परन्तु अन्त में अण्ड-शोथ ( अण्ड का छोटा होना या सूख जाना ) से कुछ क्लीवता आने की भविष्य में संभावना रहती है, लड़कियों में इसी प्रकार डिम्ब ग्रन्थि की सूजन का उपद्रव हो सकता है जिसकी वजह से उनमें भावी जीवन में बंध्यापन के दोष आने की सम्भावना रहती है।

अग्न्याशय शोथ के उपद्रव में उदर में पीड़ा, लगातार वमन का होना, आमाशय के समीपवर्ती क्षेत्र में छूने से पीड़ा होती है। सुधार निश्चित

रहता है। इस अवस्था में मूत्र में शर्करा ( चीनी ) आ सकती है। भावी जीवन में अग्न्याशय के दूषित होने से तान्त्वीभाव ( Fibrosis ), होने से मधुमेह ( Diabetes ) होने की आशंका रहती है।

रोग के अन्य उपद्रवों में मस्तिष्कावरण शोथ ( Meningitis ) प्रमस्तिष्कशोथ ( Encephalitis ) या स्थायी वधिरता आ जाती है।

**चिकित्सा—**

इस रोग की कोई अचूक चिकित्सा नहीं है। जब तक गाँठों में सूजन है और ज्वर है, रोगी को पूर्ण विश्राम देने के लिए बिस्तर पर सुलाकर रखना चाहिए। मुँह के न खुलने की वजह से आहार ऐसा होना चाहिए जो आसानी से बिना मुँह चलाये लिया जा सके जैसे दूध, जल, मांसरस, मीठा किये हुए फलों के रस आदि देना चाहिए। बालक के मुख की भीतरी सफाई का ध्यान रखना चाहिये। मुँह में अँगुली डालकर मुलायम रूई की सहायता से मधु और टंकण से साफ करना चाहिये। यदि बालक कुछ बड़ी उमर का हो और कुल्ली कर सकता हो तो जीवाणुनाशक घोलों से जैसे—'डेटाल', 'लिस्टेरीन', 'ग्लायको थामोलीन' से दिन में कई बार कुल्ली करनी चाहिये। पीड़ा के शमन के लिए सूजन के स्थान पर सेंक करना चाहिए। यथावश्यक सल्फा पेनिसिलिन या किसी एण्टीबायटिक का प्रयोग कराया जा सकता है।

अण्डशोथ के उपद्रव में भी स्थानिक स्वेद, लँगोटा लगाना अच्छा रहता है। अहिफेन का अल्पमात्रा में प्रयोग करना चाहिये। अग्न्याशय शोथ में पूर्ण विश्राम और उदर का स्वेदन करना चाहिए। रोगमुक्त होने के बाद एक पक्ष तक बालक को पृथक् करके रखना चाहिए और उसको दूसरे बालकों से मिलने नहीं देना चाहिए, अन्यथा संक्रमण के फैलाने की सम्भावना रहती है।

**आयुर्वेदोपचार**—पाषाणगर्दभ एक बहुत ही साध्य और स्वयं मर्यादित स्वरूप का रोग है। जिसमें प्रथम पाँच दिनों में ज्वर होता, पीड़ा होती है पश्चात् वह धीरे-धीरे शान्त होते हुए दस दिनों में पूर्णतया अच्छा हो जाता है। ज्वर काल में हिंगुलेश्वर रस का प्रयोग बड़ा उत्तम रहता है। इससे

पीड़ा और ज्वर दोनों में लाभ होता है। कर्णमूल के साथ ( सूजन ) शोथ को कम करने के लिए दशांगलेप नामक चूर्ण को पानी से पीस कर गर्म करके दिन में दो बार लगाना चाहिए।

## संतत ज्वर, मन्थर या आंत्रिक ज्वर ( Typhoid Fever )

यह भी एक संक्रामक रोग है जो मन्थर दण्डाणु ( B. typhosum ) के उपसर्ग से अंगुलि, भोजन या जल के माध्यम से मुख के भीतर पहुँच कर रोग को पैदा करता है। इसका संचयकाल १४ दिनों का रहता है।

लक्षण—युवकों की अपेक्षा बालकों में बहुत प्रकार के लक्षण इस रोग में पैदा होते हैं। रोग का आक्रमण धीरे-धीरे सिरदर्द, सुस्ती, चिड़चिड़ापन उदर में पीड़ा, भूख की कमी और बढ़ते हुए ज्वर से होता है। कई बार नाक से खून का आना या हल्की खाँसी से रोग का प्रारम्भ होता है। प्रतिदिन संध्याकाल में १ अंश ज्वर बढ़ जाता है, सुबह से कम हो जाता है। सप्ताह के अन्त में १०३° से १०४° फा० तक ज्वर हो जाता है। नाड़ी की गति भी ताप के साथ बढ़ती है, परन्तु अन्य ज्वरों की अपेक्षा नाड़ी और ताप का अनुपात कम हो जाता है—जो इस रोग का खास चिह्न है। सामान्यतया ज्वर की अवस्था में एक अंश तापक्रम के ऊँचा होने पर नाड़ी की गति दस बढ़ जाती है, परन्तु इस ज्वर में वह इतनी नहीं बढ़ती बल्कि कम हो जाती है। दूसरे सप्ताह से उदर के ऊपर कुछ दबाने से दर्द हो जाता है, उदर पर एक गुड़गुड़ाहट प्रतीत होती है। अंगुलि से हल्का ताड़न करने पर उदर के दोनों पार्श्वों में निनादित ध्वनि ( Flanks Tympanitic ) मिलते हैं। दस्त की संख्या बढ़ जाती है, पतले पाखाने आते हैं, किन्तु कई बार विबन्ध भी पाया जाता है जो पूरे ज्वर काल तक चलता रहता है।

प्रथम सप्ताह के बाद प्लीहा की वृद्धि भी स्पर्श के द्वारा पाई जा सकती है। उदर में आध्मान भी होता है। इस अवस्था में गुलाबी रङ्ग के पिन के सिर के परिमाण के दाने, किंचित् उभरे हुए, जो धड़ के सामने और पीछे

की ओर हो सकते हैं, पैदा होते हैं। कई बार तो ये दाने बहुत अधिक होते हैं, कई बार इतनी कम संख्या में होते हैं कि इनके ऊपर ध्यान भी नहीं जाता। ये विन्दु दो तीन दिनों में गायब हो जाते हैं। कई बार दूसरे सप्ताह में मोती जैसे चमकते हुए छोटे-छोटे दाने जो देखने में अम्हौरी के समान होते हैं, गले से प्रारम्भ करके क्रमशः छाती और पेट तक फैल जाते हैं। इन्हीं दानों के के आधार पर रोग का नाम ही 'मोतीझरा' बन गया है।

बालक सुस्त हो जाता है, बिस्तर पर पीठ के बल लेटा रहता है, गाल लाल हो जाते हैं, आँखें सुर्ख, चेहरा दयनीय हो जाता है, कुछ प्रलाप होने लगते हैं। जिह्वा जो प्रारम्भ में मलावृत्त रहती है वह सूखी और भूरी हो जाती है। उदर का आध्मान अधिक रहता है। दस्तों की संख्या भी बढ़ जाती है। नाड़ी गति बढ़ती है और वह स्पर्श में मृदु हो जाती है।

तीसरे सप्ताह में उपद्रव शान्त हो जाते हैं, ज्वर क्रमशः एक-एक अंश क होता हुआ उतरता है। उदर का आध्मान कम हो जाता है। पुनः कब्ज हो जाता है, जीभ क्रमशः साफ हो जाती है। यह ज्वर युवा और वृद्धों में एक कठिन रोग माना जाता है; परन्तु बालकों में यह बहुत सुखपूर्वक अच्छा हो जाने वाला रोग है। यदि कोई उपद्रव न हो तो ठीक तीसरे सप्ताह के अन्त में बालक निश्चित रूप से रोगमुक्त हो जाता है।

**निदान**—प्रथम सप्ताह तक रोग का निश्चय नहीं हो पाता, परन्तु यदि ज्वर दूसरे सप्ताह तक चलता रहे और सतत स्वरूप का बना रहे, सुबह में कुछ कम हो जाय, शाम को बढ़ जाय और दूसरे सप्ताह में ज्वर का वेग कम न होकर अधिक बढ़ जाय, साथ ही उदर सम्बन्धी कुछ लक्षण विबन्ध, आध्मान, अतिसार, उदर की शिथिलता आदि मिलने लगें तो मन्थर ज्वर की ही सम्भावना रहती है। यदि मन्थर ज्वर में विस्फोट या मोतीझरा पैदा हो जाय तो निदान में अधिक दृढ़ता आ जाती है। रक्त परीक्षा से श्वेतकणों की संख्या की कमी भी मन्थर ज्वर का ही द्योतन करती है। अन्तिम और सबसे विश्वसनीय परीक्षा 'विडाल कसौटी' ( Widaltest ) या विडाल

प्रतिक्रिया ( Widal Reaction ) है जो प्रायः दूसरे सप्ताह में या दसवें दिन इस रोग में अस्त्यात्मक मिलती है।

निम्नलिखित रोगी के साथ भी निदान में भ्रम हो सकता है, अस्तु इनसे भी विभेद करना आवश्यक रहता है--जैसे क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ तीव्र कंगु यक्ष्मा ( Acute Miliary T. B. ) क्षयज उदरावरण शोथ तथा पाचनेतर कारणों से होने वाले अतिसार ( Parenteral Diarrhoea ) से।

**उपद्रव**—युवावस्था की अपेक्षा बालकों में उपद्रव बहुत ही कम पाये जाते हैं। अगर हुए तो दो उपद्रव प्रधानतया होते हैं—( १ ) आन्त्रगत रक्तस्राव तथा ( २ ) आन्त्र का छिद्रित होना ( Intestinal Haemorrhage or Perforation )। आंत्रगत रक्तस्राव में तापक्रम सहसा गिरकर प्राकृत से भी नीचे हो जाता है, नाड़ी की गति बढ़ती चली जाती है। यदि बालक अधिक समय तक जीवित रहा तो उसके मल से रक्त आने लगता है, हृदय के निपात से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

**आंत्रगत छिद्र में** तीव्र उदरशूल होता है, बालक जोर-जोर से चिल्लाता और रोता है, उदर कड़ा पड़ जाता है, ज्वर प्राकृत से कम हो जाता है और नाड़ी की गति तेज हो जाती है। इस दशा में तत्काल शस्त्रकर्म की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा उदरावरण-शोथ हो जाता है। यह भी एक घातक उपद्रव है।

इन उवद्रवों के अतिरिक्त श्वसनी-फुफ्फुस-शोथ या अस्थ्यावरण-शोथ के भी उपद्रव हो सकते हैं।

**शुभाशुभ**—बालकों में आंत्रगत व्रणों की उत्पत्ति युवकों की अपेक्षा कम होती है, फलतः रोग का स्वरूप भी बालकों में मृदु रहता है। आंत्र के छिद्र या रक्तस्राव के उपद्रव भी कम होते हैं, इसलिये रोगी का भविष्य अच्छा रहता है। चिकित्सक को प्रायः यश मिलता है। रोग का पुनः होना युवकों की भाँति बालकों में भी सम्भव रहता है। इस रोग से बालकों की मृत्य कम ( ५ से ८ प्रतिशत ) होती देखी गयी है।

बालक को पृथक् करके रखे। बिस्तर पर पूर्ण विश्राम और बढ़िया सुश्रूषा की व्यवस्था करे। उसके मल और मूत्र को १:२० के बने 'कार्बोलिक घोल में दो घण्टे तक रखकर संक्रमणहीन करके फेंके। परिचारक या परिचारिका को भी रोगी का कमरा छोड़ते समय अपने हाथों को जीवाणुनाशक घोल से धोकर शुद्ध कर लेना चाहिये।

बालक को शय्याव्रण ( Bedsores ) से बचाने के लिए उसके पीठ, कमर, चूतड़, कन्धे प्रभृत बिस्तर से सम्पर्क में आने वाले अंगों को मेथिलेटेड-स्प्रिट से पोंछ कर डस्टिङ्ग पाउडर लगा देना चाहिये। बालक के बिस्तर को खूब मुलायम और साफ-सुथरा रखना चाहिये। यदि विबंध चलता हो तो मुँह से सेवन की कोई रेचक औषधि न देकर गुदा से 'एनीमा', ग्लिसरीन सिरिञ्ज से ग्लिसरीन या ग्लिसरीन की वर्त्ति ( Glycerine Suppository ) देकर पेट साफ करना चाहिये। 'ग्लिसरीन' और शुद्ध सोहागा मिलाकर बीच-बीच में मुख के भीतर लेप कराना चाहिये। जीवाणु नाशक घोल ( जैसे डेटाल का घोल बनाकर ) कुल्ली करनी चाहिये। दूसरे और तीसरे सप्ताह से तापक्रम का अंकन प्रति तीन घण्टे के अन्तर से कराना चाहिये।

आहार ( Diet )—दूध एक उत्तम आहार है। दूध में बराबर जल मिला कर देना चाहिए। यदि उदर में आध्मान हो तो 'पेप्टोनायज्ड दूध' देना चाहिये। यदि अतिसार हो तो दूध का फाड़ा पानी, फलों का रस ( मीठा करके ) देना चाहिये। यदि बालक कुछ बड़ी उमर का हो तो उसे दूध में अण्डा डालकर, 'प्रोटिनेक्स' बार्लीयूष, अण्डे का हलुवा, मांस, रस, बेंगर का फूड, ग्लूकोज पानी में घोलकर, मिश्री का शर्बत देना चाहिये। जीवतिक्ति 'सी' तथा क्षारीय मिश्रणों का सेवन कराना ( Alkasol या Alkacitron ) भी उत्तम रहता है। जल पर्याप्तमात्रा में पीने को देना चाहिये।

**क्लोरमफेनिकाल** ( **क्लोरोमायसेटीन** ) वर्ग की किसी औषधि का प्रयोग मुख से करना लाभप्रद होता है। इसकी मात्रा बालकों में ६० मि० ग्राम प्रति-

दिन प्रति किलोग्राम शरीर भार के ऊपर दी जाती है। इस मात्रा को ६ भागों में विभाजित करके प्रति चार घंटे पर दिया जा सकता है। पुनः ६ घंटे के अन्तर से, फिर बारह घंटे के अन्तर से दिन में दो बार, बाद में १ मात्रा दिन में एक बार कुछ दिनों तक चलाकर बन्द कर देनी चाहिये। दो तीन दिनों में तापक्रम प्राकृत आ जाता है, ज्वर उतर जाता है। ज्वर के उतरने के एक सप्ताह बाद तक दवा का प्रयोग चलते रहना चाहिये। साथ में 'बी कम्प्लैक्स' का भी प्रयोग करना चाहिये। यदि दुर्बलता अधिक हो तो 'मल्टी विटामिन्स' के योगों को देना चाहिये। यदि विषमता अधिक हो तो 'कार्टिकोस्टेरायड' जैसे 'बेटनेसोल' या 'डेल्टा' कार्टिल' का प्रयोग करना चाहिए। मूत्र को क्षारीय करने के लिए 'एल्कासायट्रान' या 'एल्कासाल' तथा 'विटामिन सी' का २०० मि॰ ग्राम प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिये।

**लाक्षणिक चिकित्सा**—यदि प्रलाप या ऊँचा बुखार हो तो सिर पर बर्फ की थैली या पानी की पट्टी रखे, शरीर का मार्जन कमरा बन्द करके किञ्चिदुष्ण जल में तौलिया भिगोकर या रुई से करने के पश्चात् जल को सुखा लेना चाहिये। यदि हृदय का उपद्रव जान पड़े अर्थात् हृदय की गति तीव्र हो जाय, प्रथम शब्द मृदु हो जाय, हृदय की मन्दता का क्षेत्र बढ़ा प्रतीत हो तो बालक को पूर्ण विश्राम देना चाहिये साथ ही **'टिंकचर डिजिटैलिस'**, ( २ बूँद की मात्रा में २ वर्ष के बालक को ) दिन में तीन बार देना चाहिये। यदि रक्तस्राव हो तो भी पूर्ण विश्राम करना चाहिये। 'ग्लूकोज' का शर्बत देना बन्द कर देना चाहिये। रक्त के अन्तःमरण की ( Blood Transfusion ) की आवश्यकता भी पड़ सकती है। रक्त के स्तम्भन के लिये यदि बालक में बेचैनी अधिक हो तो 'डोवर्स पाउडर' ( मात्रा—१ ग्रेन ५ वर्ष के बालक में ) दिया जा सकता है। अतिसार के स्तम्भन में भी इसकी आवश्यकता पड़ती है।

**रोग प्रतिषेधक**—मंथर के ज्वर के प्रतिषेधक के लिये टी. ए. बी. वैक्सीन ( T. A. B. Vaccine ) का सूचीवेध पर्याप्त होता है। प्रथम बार ०·२ सी॰ सी॰ और दूसरी ०·४ सी॰ सी॰ त्वचा के नीचे देना होता है।

## उपमंथर ज्वर, उप आंत्रिक ज्वर
## ( Paratyphoid )

आंत्रिक ज्वर सदृश ही उपांत्रिक ज्वर में भी ( जो S. Paratyphoid A and B. तथा S. Choleraesuis ( C ) नामक जीवाणु से होने वाला प्रकार है ) लक्षण मिलते हैं; परन्तु आंत्रिक ज्वर से सौम्य लक्षण पाये जाते हैं तथा उपद्रव भी इसमें उसकी अपेक्षा बहुत कम होते हैं। उपांत्रिक ज्वर के दण्डाणुओं के भेद से तीन प्रकार ए. बी. और सी. हो जाते हैं। इनमें ए. और सी. से होनेवाला प्रकार बहुत ही कम होता है और अधिकतर बी. प्रकार के उपांत्रिक ज्वर पाये जाते हैं। इसमें ज्वर (१०२°-१०३°) हल्का रहता है, विषमयता के लक्षण कम मिलते हैं और ज्वर की अवधि भी छोटी ( दो सप्ताह की ) रहती है। दूसरे सप्ताह के अन्त में ज्वर क्रमशः उतर जाता है। रक्त परीक्षा में 'विडाल की प्रतिक्रिया' अत्स्यात्मक मिलती है और श्वेत कणों की संख्या कम हो जाती है। रोग सुखसाध्य रहता है। चिकित्सा आंत्रिक ज्वर सदृश ही की जाती है।

**अन्यच**—आंत्रिक ज्वर एक स्वयं मर्यादित ज्वर है, जो उपद्रव न हो तो स्वयमेव तीसरे सप्ताह में उतर जाता है। बाल्यावस्था में जैसा कि ऊपर में बतलाया जा चुका है यह और भी सुख-पूर्वक चिकित्सा के योग्य रहता है। कहने का मतलब यह है कि बालक इस रोग को बड़े आसानी से बर्दाश्त कर लेते हैं।

रोग में सर्वप्रथम सुश्रूषा का ध्यान रखना पड़ता है। बालक को पीने के लिये खौलाया हुआ जल या ऐसा खौलाया हुआ जल जिसका एक चौथाई पानी जल गया हो तो लवङ्ग शृतजल ( लवङ्ग खौलाया हुआ पानी एक मिट्टी के पात्र में एक सेर जल हो तो तीन या पाँच लौंग चालकर खौलाया पानी ) या षडंग पानीय ( मोथा, पित्तपापड़ा, उशीर, चन्दन, सुगन्ध वाला और सोंठ छवों द्रव्यों को बराबर मात्रा में २ तोले लेकर २२८ तोले पानी में खौलाकर आधा बचाकर बनाया पानी ) पीने के लिये देना चाहिये। आहार में यदि

कब्जियत अधिक रहती हो, पेट न साफ रहता हो तो गाय का दूध और यदि पतले दस्त हो रहे हों तो बकरी का दूध और बार्ली का पानी ( यवमण्ड ) देना चाहिये। यदि सुलभ हो तो नारिकेल का जल भी दिया जा सकता है। दूध के पचने की शंका हो तो दूध में बराबर पानी मिलाकर या दूध का फाड़ा पानी देना चाहिये। फलों में मुनक्का, अंगूर एवं मीठे फलों के रस ( अनार को छोड़कर ) देना चाहिये। मिश्री या ग्लूकोज का शर्बत जो गर्म जल में बनाकर देना चाहिये। बालक ज्वर की अवस्था में प्रायः अन्न खाने के लिये हठ करते हैं और खा नहीं पाते, अतः उनके सन्तोष के लिये कभी-कभी रोटी का छिलका, पाव रोटी, बिस्कुट, लाजेंज, परवर, करैला, खरबूजा, पपीते का शाक दिया जा सकता है—अल्पमात्रा में एवं पथ्य काल में दिया गया आहार विशेष हानि नहीं करता। यदि अतिसार और आध्मान के लक्षण मिलें तो ये सब चीजें नहीं देना चाहिए उसको केवल दूध और बार्ली के पानी या मोसम्मी का रस देना चाहिए। बार्लीवाटर को रोगी की रुचि के अनुसार मीठा या नमकीन बनाकर दिया जा सकता है। यदि रुचिकर न हो तो इसमें कागजी नीबू का रस मिलाकर देना चाहिए।

**औषध**—जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, यह मन्थर ज्वर अपने समय के पूरा होने पर अर्थात् तीन सप्ताह के पश्चात् उतरने वाला रोग है। अस्तु, औषध ऐसी होनी चाहिए कि ज्वर को निरुपद्रव अपनी अवधि तक चलने दे एवं बेचैनी, घबड़ाहट, अनिद्रा आदि में रोगी को शान्ति मिलती रहे। एतदर्थ निम्नलिखित योग सर्वोत्तम पड़ता है—दूसरे सप्ताह तक या अन्त तक इसी मिश्रण का प्रयोग करते हुए यश मिलता है।

| | |
|---|---|
| अभ्रक भस्म | १२५ मि० ग्रा० |
| मुक्ता भस्म | ३० मि० ग्रा० |
| शुक्ति या भस्म | १२५ मि० ग्रा० |
| शुद्ध टंकण | १५० मि० ग्रा० |

पीसकर मिलाकर ४ मात्रा—१ मात्रा प्रति ६ घण्टे पर मधु से।

उपर्युक्त मिश्रण में कोई ज्वरघ्न योग नहीं है--अतएव अल्प मात्रा में सौभाग्य बटी ½ बटी प्रति मात्रा में मिश्रण कर लिया जाय, तो फल अच्छा होता है। कई वैद्य संजीवनी बटी के प्रयोग से मंथर ज्वर में लाभ पहुँचाते हैं।

तीसरे सप्ताह में जब रोगी की दुर्बलता बढ़ जाती है, उपर्युक्त मिश्रण में मकरध्वज या चन्द्रोदय या रस सिन्दूर का मिश्रण कर लेना चाहिए। ये औषधियाँ हृदय और श्वसन संस्थान को बल देती हैं। तीसरे सप्ताह में व्यवस्था का परिवर्तन करके केवल बृहत् कस्तूरी भैरव रस का प्रयोग किया जाय तो उत्तम रहता है। ½, १ गोली दिन में दो या तीन बार अदरक के रस और मधु के अनुपान से।

आंत्रिक ज्वरों में (जिसमें केवल संतत स्वरूप का ज्वर हो, रोग का विनिश्चय केवल लक्षणों के आधार पर ही किया गया हो, साधन के अभाव में विशिष्ट रक्त-परीक्षा 'विडाल परीक्षा' न हो पाई हो) निम्नलिखित योग का प्रयोग बड़ा लाभप्रद सिद्ध होता है। यह योग अपने सहपाठी श्री बा. रामनगीना सिंह वैद्य ए. एम. एस. के अनुग्रह से प्राप्त है।

जावित्री, जायफल, अजवायन, दालचीनी, सोंठ, लौंग और छोटी पीपल। इन द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बनाकर कपड़े से छान कर रख लेना चाहिये। मात्रा- ½ ग्रा०। अनुपान मधु से। दिन में दो या तीन बार देना चाहिये। ज्वर के प्रारम्भ से ही प्रयोग शुरू कर देना चाहिये।

**उपद्रवों की चिकित्सा**—१--यदि प्रलाप बहुत अधिक हो तो बृहद् वात चिन्तामणि ½ रत्ती की मात्रा में आर्द्रक स्वरस और मधु से दे। पाँच मात्रा के प्रयोग से ही प्रलाप शान्त हो जाता है।

२—अतिसार का उपद्रव प्रबल रहे तो सिद्धप्राणेश्वर रस का प्रयोग भुना जीरा के चूर्ण और मधु से करावे।

३—आध्मान का उपद्रव प्रबल हो तो दारुषट्क लेप--देवदारु, बच, कूट, सौंफ, हिंगु और सेंधा नमक इनको बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बनाकर पीस कर गर्म करके उदर पर लेप करे। अहिफेन का यौगिक देकर रक्त-स्तंभन या अतिसार बन्द करना आवश्यक हो तो अगस्ति सूतराज का प्रयोग

सद्यः लाभप्रद होता है। दारुषट्क लेप किसी भी अवस्था के आध्मान में अव्यर्थ सिद्ध होता है।

**जीर्ण ज्वर की चिकित्सा**—तीन सप्ताह के बाद के मंथर ज्वर की चिकित्सा में जीर्ण ज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये। बालक को दोनों काल लघु और सुपाच्य आहार देना शुरू कर देना चाहिये। ओषधियों में निम्न-लिखित मिश्रण का प्रयोग करना चाहिये :--

चंदनादि लौह
या
शिलाजत्वादि लौह १२५ मि० ग्रा०
अमृता सत्व २५० मि० ग्रा०
सितोपलादि चूर्ण ३ ग्राम

मिलाकर पीसकर ३ मात्रा घृत एवं मधु से दिन में तीन बार।

यदि सुवर्ण एवं मुक्ता का योग देना हो तो उपर्युक्त मिश्रण में ही सुवर्ण के वसन्त मालती या अपूर्व मालिनी वसन्त की ३० मि० ग्रा० प्रति मात्रा में मिलाकर दिया जा सकता है। इससे बालक का मंद ज्वर टूटता है एवं बल बढ़ता है। अपूर्व मालिनी वसन्त में सुवर्ण नहीं है। इसमें वैक्रान्त भस्म पड़ा है।

अमृतारिष्ट खाने के बाद १ छोटी चम्मच देना चाहिये। शरीर पर चंदनवला लाक्षादि तैल की मालिश करनी चाहिये।

## वातश्लैष्मिक ज्वर, इन्फ्लुएंजा
## ( Influenza )

यह एक अत्यधिक संक्रामक और सांसर्गिक रोग है। इसका विश्वव्यापी मरक सन् १६१८ ई० में फैला था। बड़ों की अपेक्षा बच्चों में इसकी तीव्रता कम रहती है। सन् १८६२ में फीफर ( Pfeffer ) नामक वैज्ञानिक ने रोग से पीड़ित व्यक्तियों के आस्रावों से एक निःस्यंदनशील विषाणु का पता लगाया जो रोग के उत्पादक हेतु के रूप में स्वीकृत कर लिया गया।

आविष्कारक के नाम से ही इस अणु जोव का नाम फीफर का विषाणु ( virus ) रखा गया। रोग से पीड़ित व्यक्ति के खाँसते और छींकते समय थूक या कफ की बूँदों से इस रोग का प्रसार होता है। संचयकाल दो से चार दिनों का होता है।

**लक्षण**—रोग का आक्रमण अचानक सिरदर्द, सिहरन, पीठ और पैरों में दर्द, खाँसी और नाक से स्राव के साथ होता है। छोटे बच्चों में प्रारम्भिक लक्षणों में आक्षेप, वमन एवं अतिसार भी हो सकता है। ज्वर १०२° से १०४° फा० तक हो जाता है। नाड़ी की गति उसी अनुपात से बढ़ जाती है। ज्वर की अवस्था में पसीना भी आता है। ज्वर रोग का यह एक विशिष्ट चिन्ह है। दो-चार दिनों में ज्वर उतर जाता है, परन्तु कमजोरी बहुत अधिक हो जाती है, भूख की कमो, दिमाग की कमजोरी प्रभृति लक्षण दोष रह जाते हैं। रक्त परीक्षा से श्वेत कणों की संख्या में कमी पाई जाती है। ये सब 'इन्फ्लुएन्जा' में पाये जाने वाले मृदु स्वरूप के रोग के लक्षण हैं। तीव्र स्वरूप के रोग में तीन प्रकार के प्रमुख लक्षण पाये जाते हैं। श्वसनीय प्रकार ( Respiratory type ) पचनीय प्रकार ( Gastrointestinal type ) तथा वातिक प्रकार ( Nervous type )।

**श्वसनी प्रकार**--यह प्रकार अधिक खतरनाक होता है। इसमें संक्रमण का प्रसार केवल नासा और गले तक सीमित न रह कर नीचे के श्वसन संस्थान के अवयवों में शोथ उत्पन्न करता है। जैसे-स्वरयंत्र का शोथ ( Laryngitis ) श्वसनी शोथ ( tracheitis ) श्वसनिका शोथ ( Bronchitis ) श्वसनीफुफ्फुस शोथ ( Bronchopneumonia ) आदि। ज्वर अधिक हो जाता है। उपसर्ग का प्रसार और अधिक नीचे पहुँचने पर छोटी-छोटी श्वसनिकायें ( Bronchioles ) भी शोथयुक्त हो जाते हैं, जिसके कारण अंगुली, नख, ओठ और चेहरे काले पड़ जाते हैं। दशा खतरनाक हो जाती है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त पूयमयता ( Empyema ), फुफ्फुस विद्रधि ( Lung Abscess ), श्वासनलिका विस्फार ( Bronchioectasis ) आदि उपद्रव भी हो सकते हैं।

**पचनीय प्रकार**—इस प्रकार में वमन और अतिसार का होना प्रमुख लक्षण है। अतिसार के परिणामस्वरूप जलाल्पता होकर अवस्था भयंकर हो जाती है। अधिक उमर के बालकों में केवल पेट में तेज पीड़ा होती है। जिसमें कई बार उण्डुकपुच्छ शोथ ( Appendicitis ) का भ्रम हो जाता है।

**वातिक प्रकार**—इस प्रकार में आक्षेप, ग्रीवा का कड़ापन और कार्निग के चिन्ह उपस्थित रहते हैं। मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव की मात्रा और भार में कोई अन्तर नहीं आता, केवल मस्तिष्कावरण के क्षोभ (Menigism) के कारण ये लक्षण पैदा होते हैं। बालक में शिरःशूल प्रलापादि लक्षण विशेषतः मिलते हैं। क्वचित् मस्तिष्कावरण शोथ का भी उपद्रव हो सकता है।

**चिकित्सा**—

रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिये। अन्य बच्चों से रोगी बच्चे को पृथक् करके किसी कमरे में रखना चाहिये। नासा से निकले स्रावों को जला देना चाहिये। जब तक ज्वर अधिक हो, आहार में द्रव पदार्थों को देना चाहिये—जैसे जल, लेमोनेट, फल का रस, हल्का किया दूध आदि। मांस का शोरवा भी दिया जा सकता है। शिरःशूल और शरीर के दर्द को कम करने के लिये 'एस्प्रिन' २½ ग्रेन या सोडियम सैलिसिलास' ५ ग्रेन किसी क्षारीय मिश्रण में मिलाकर या केवल 'सोडाबायकार्ब' के साथ समान मात्रा में मिलाकर देना चाहिये।

उच्च ज्वर और प्रलाप हो तो शरीर तौलिया में भिंगोकर प्रमार्जन अच्छा पड़ता है। प्रलाप के शमन के लिये २ से ५ ग्रेन 'पोटाश' 'ब्रोमाइड' सेवन के लिये देना चाहिये।

वमन के रोकने के लिये ½ चम्मच सोडाबायकार्ब रेक्टीफायड स्प्रिट में बनाया गया आयोडीन २ बूँद और आधा प्याला दूध मिलाकर पिलाना चाहिये। जलाल्पता को दूर करने के लिये शिरा मार्ग या अधस्त्वक् मार्ग से लवण विलयन ( सेलाइन ) चढ़ाना चाहिये।

फुफ्फुस के उपद्रवों में शुल्व, 'पेनिसिलिन' तथा 'स्ट्रेप्टोमायसिन' या टेट्रासायक्लीन का प्रयोग करना चाहिये। यदि श्यावता होने लगे तो 'आक्सीजन' के नासिका द्वारा देन की व्यवस्था करनी चाहिये।

रोगमुक्ति के अनन्तर भी रोगी को कुछ दिनों तक विश्राम करना चाहिये। जलवायु परिवर्तन के लिये देहात या समुद्र तट अच्छा रहता है। शरीर पर तेल की मालिश और बल्य औषधियों ( Tonics ) का प्रयोग करना चाहिये।

**आयुर्वेदोपचार**—सामान्यतया इन्फ्लुएन्ज़ा रोग में निम्नलिखित मिश्रण का प्रयोग लाभप्रद पाया गया है।

सञ्जीवनी १ बटी।
शृंग भस्म २५० मि० ग्रा०
शुद्धनरसार $\frac{1}{2}$ ग्राम
पीसकर बाँटकर ४ मात्रा। १ पुड़िया दिन में चार बार पानी में घोल कर।

संजीवनी बटी के स्थान पर त्रिभुवन कीर्ति का उपयोग भी लाभप्रद रहता है।

## धनुर्वात
## ( Tetanus )

धनुर्वात के दण्डाणु ( Tetanus Bascillus ) के उपसर्ग से जो शरीर के किसी व्रण, छिद्र या दरार से शरीर के अन्दर प्रविष्ट होते हैं, होने वाला रोग है। आमतौर से सड़क या बोये जाने वाले खेतों में आकस्मिक चोटों के लग जाने या कटने से बनने वाले व्रणों में प्रायः इस दण्डाणु का प्रवेश हो जाता है। सद्योजात शिशुओं में नाभि के कटने के बाद धनुर्वात का उपसर्ग पहुँचने से रोग हो जाता है जो प्रायः घातक होता है।

ये जीवाणु व्रण स्थान पर पहुँच कर अपनी वृद्धि करने लगते हैं, उनके शरीर से एक विष बाहर आता है। जो सार्वदैहिक रक्तवह स्रोत में पहुँच जाता

है और फिर वहाँ तंत्रिका पेशियों के संयोजन स्थल ( Nuromuscular plate ) पर प्रेरक तंत्रिका के केन्द्र ( Motor Nuclei ) पर प्रभाव डालता है जिसके परिणामस्वरूप पेशियाँ कड़ी पड़ जाती हैं और उनमें आकुञ्चन ( सिकुड़ना-Contraction ) शुरू होता है। जो रोग का विशिष्ट चिह्न है। रोग किसी भी उमर में हो सकता है यहाँ तक कि नवजात शिशुओं में भी धनुर्वात होता है।

लक्षण—चोट लगने या कटने के पाँच से बीस दिनों के पश्चात् रोग के लक्षण शुरू होते हैं। कई बार वह चोट इतनी मामूली रहती है कि उस पर ध्यान भी नहीं जाता और आसानी से भुलाया जा सकता है। सर्वप्रथम ग्रीवा, कमर और पीठ की पेशियाँ या भोजन के साथ सम्बन्ध रखने वाली पेशियाँ संकुचित होती हैं, वे कड़ी पड़ी जाती हैं। जबड़ा जकड़ जाता है। ( हनुस्तम्भ Lock jaw ) मुँह का खोलना भी कठिन हो जाता है। पश्चात् सिर पीछे की ओर झुक जाता है, पीठ मुड़कर धनुषवत् हो जाती है, पैर तन जाते हैं। फिर कुछ मिनटों में यह आकुञ्चन ढीला हो जाता है। इस प्रकार के आक्षेप तनिक उत्तेजना से जैसे-जोर की आवाज, हवा का प्रवाह, उठने की कोशिश या स्वयमेव आने लगते हैं। जैसे जैसे रोग बढ़ता जाता है, आकुञ्चन के दौरे अधिक बलवान एवं अधिक बार होने लगते हैं। आकुञ्चनों के बीच में कुछ शिथिलता रहती है फिर भी पेशियों का कड़ापन बना ही रहता है जैसा कि चेहरे की विकट हास्ययुक्त आकृति ( Risus Sardonicus ) और उदर में तख्ते जैसे कड़ापन सा ( Board like rigidity ) प्रतीत होता है। विकट हास्ययुक्त आकृति में निम्नलिखित चिह्न विद्यमान रहते हैं—आँखें सँकरी और अधखुली, जबड़ा जकड़ा हुआ, मुँह के दोनों कोण बाहर और नीचे को खिंचे हुए मिलते हैं। शरीर में पीड़ा होने की तकलीफ रोगी बतलाता है और वह आकुञ्चन के काल में और अधिक हो जाती है। साँस लेने में कठिनाई होती है, आवाज मन्द सायं-सायं हो जाती है—चेतना ठीक बनी रहती है। ज्वर हल्का या तेज कई प्रकार का हो सकता है। मृत्यु श्वास संस्थान के निपात (Failure) से होती है। मस्तिष्क-सुषुम्ना जल की अवस्था धनुर्वात में प्राकृत

रहती है। रोग का निदान करना सरल होता है। फिर भी कुचिला विष तथा मस्तिष्कवरण शोथ से विभेद कर लेना चाहिये।

प्रतिषेध—सड़क पर की चोट, खेती के योग्य मैदानों में कट-कुट जाने पर गहरे घावों में धनुर्वात से बचने के लिए अन्य व्रणोपचारों के साथ ही साथ धनुर्वात ( Tetanus Antitoxin ) का २५०० ( I. U. ) यूनिट की मात्रा में एक सूचीवेध पेशी मार्ग से कर देना चाहिये।

चिकित्सा

धनुर्वात से पीड़ित बालक को विशिष्ट रूप की सुविधा होनी चाहिये। कमरे को प्रकाश से हीन कर देना, आस-पास से कोई शब्द या चीत्कार न हो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये। आहार द्रव और पोषण होना चाहिये। यदि बालक में हनुस्तंभ हो तो नासा मार्ग से या दाँतों के दरार के बीच से आमाशय नलिका में प्रविष्ट करके आहार देना चाहिये।

दौरे संकोच एवं कड़ापन को शान्त करने के लिए गुदा मार्ग से वास्ति के द्वारा 'पैरेल्डी हाइड' ( १ ड्राम प्रति चौदह पौण्ड वजन के ऊपर १ औंस जैतून के तेल में मिलाकर ) देना चाहिये। पेशी मार्ग से सूचीवेध के द्वारा भी यह ओषधि दी जा सकती है।

पेशी को शिथिल करने वाली ओषधियों में मैनेसिल ( Myanesin ) का उपयोग किया जा सकता है। इस ओषधि को शर्बत के रूप में मुख से या पेशी या शिरा मार्ग से भी दिया जा सकता है। हर छः घंटे के अंतर से ५ सी. सी. तक पेशी मार्ग से दिया जा सकता है। ५०% मैग्नेशियम् सल्फेट के घोल का १ मि० ली० की मात्रा में प्रति चार से छः घंटे के अन्तर से पेशी द्वारा देने से भी संकोचन को दूर करने के लिये प्रयोग किया जा सकता है।

लार्गेक्टिल ( क्लोर प्रोमेजिन ) आक्षेपों के दूर करने के लिये प्रयोग में आ सकता है मुख से या पेशी द्वारा।

सर्वाधिक महत्व की चिकित्सा 'एण्टीटीटैनस सीरम' का प्रयोग है। इसके लिये बड़े बच्चों में कुल मात्रा एक लाख यूनिट्स की है। इसमें आधी मात्रा

का प्रयोग शिरा मार्ग से १०% ग्लुकोज सोलूशन में मिलाकर हल्का करके देना चाहिये। शेष आधी मात्रा का प्रयोग पेशी द्वारा करना चाहिये। इस मात्रा को यथावश्यक तीन दिनों के अन्तर से एक या दो बार पुनः देने की अपेक्षा रहती है। सक्रिय रोग निरोधी क्षमता—इस रोग से स्थायी सुरक्षा के लिए 'टिटैनस टाक्सायड' के द्वारा सक्रिय रोग निरोधी क्षमता पैदा की जाती है। एक बार सक्रिय क्षमता पैदा कर देने के बाद जीवन पर्यन्त इस रोग का भय नहीं रहता है। एतदर्थ दो मात्रायें प्रत्येक १ सी. सी. टिटैनस टाक्सायड छः सप्ताह के अन्तर से दी जाती है। अर्थात् प्रथम मात्रा १ सी. सी. टिटैनस टाक्सायड की देकर पुनः छः सप्ताह के बाद पुनः १ सी. सी. दी जाती है। छः मास के बाद पुनः एक बुस्टर डोज में टिटैनस टाक्सायड देना होता है। इससे प्रायः स्थायी रोग क्षमता उत्पन्न होती है। 'ट्रिपुल वैक्सीन' के रूप में स्थायी क्षमता पैदा की जती है।

पेशी शैथिल्यकर योगों में मैनसोन ( Myanesin ) का शिरा द्वारा १ ग्राम की मात्रा में ५० बूँद ग्लूकोज का घोल ( ५% का ) मिलाकर देना चाहिये। इस मात्रा को कई बार देने की आवश्यकता पड़ती है। अधुना पेशी शौथिल्यकर योगों में 'रोबिनैक्त' ( रोबिन्स ) का प्रयोग उत्तम पाया गया है। ११०–१३० मि० ग्रा० की मात्रा में सूचीवेध योग्य इस दवा का प्रतिकिलो ग्राम शरीर भार पर प्रतिदिन चार भागों में बाँटकर देना चाहिये। प्रति ६ घंटे के अन्तर से शिरामार्ग से देना चाहिये। जैसे-जैसे सुधार हो शिरा द्वारा सूचीवेध का क्रम बन्द करके मुख से सेवन के योग्य योग का देना शुरू कर देना चाहिये। ओषधि की मात्रा भी क्रमशः कम करते जाना चाहिये।

यदि व्रण स्थान दिखलाई पड़ता है तो उसके ऊपर के खुरण्ड आकि को दूर करके उसका 'हाइड्रोजेन पेरोक्सायड' से प्रक्षालन करना तथा जीवाणुनाशक उपचारों के द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

———

# अध्याय २१

## मूत्र के रोग

मूत्रकृच्छ्र ( Dysuria of Painful urination )—बालकों में मूत्र-त्याग करते समय दर्द बहुत कम पाया जाता है। अगर मिले तो कोई स्थानिक कारण जैसे शिश्न के ऊपर किसी व्रण में मिलने की सम्भावना रहती है। शिश्न मणि ( Glans ) की भलीभाँति निगरानी करनी चाहिये और चिकित्सा में "पेट्रोलियम जेली" का लेप लगाकर सुरक्षित करना चाहिये। यदि मोमजामे के रगड़ से व्रण बनता प्रतीत हो तो उसको बदल देना चाहिये और व्रण के स्थान को सूखा रखने का इन्तजाम करना चाहिये। मोमजामे के गीला होने पर उसको सुखाकर 'वोरिक पाउडर' रगड़ कर बिछाना चाहिये। यत्रि मूत्रस्रोत का छोटा होना कारण जान पड़े तो शल्यकर्म के द्वारा स्रोत को चौड़ा करना चाहिये।

कई बार मूत्र के अधिक अम्ल प्रतिक्रिया ( Acid urine ) के होने से मूत्र त्याग करते समय बालक को पीड़ा होती है। ऐसी स्थिति में उसके आहार के दोषों को सुधारना चाहिये। यदि उसको चीनी या चिकनी चीजें ( चरबी युक्त भोजन ) अधिक दी जा रही हो तो बन्द कर देना चाहिये। 'पोटैशियम साइट्रेट' को पानी में घोलकर दिन में दो या तीन बार देना चाहिये। मूत्र से शर्करा का कण ( Crystal ) का निकालना भी पीड़ा कर हो सकता है--मूत्रत्याग में बालक रोता है और उसे दर्द का अनुभव होता है। इस दशा में लाभ पहुँचाने के लिए अधिक मात्रा जल पीने को देना चाहिए या कोई क्षारीय मिश्रण पिलाना चाहिये। जैसे एल्कासाल, एल्कैसीट्रान आदि। १ चम्मच का लेकर पानी में घोलकर देना चाहिए।

आयुर्वेदीय--श्वेतपर्पटी २ ग्राम और यवक्षार १ ग्राम मिलाकर ३ पुड़िया बनाले। कुछ भोजन देने के बाद दिन में ३ बार पानी में घोलकर या चीनी

के शरबत में घोलकर पिलाना लाभप्रद होता है। सिस्टोन ( हिमालय का ) का भी मूत्रल होता है अस्तु उसका प्रयोग भी करना उत्तम है।

## शुक्लिमेह
## ( Albuminuria )

मूत्र में अल्पमात्रा में शुक्लि की उपस्थिति रहना वृक्क शोथ ( Nephritis ) के अलावे बहुत सी अवस्थाओं में सम्भव है—जैसे ऊँचे ज्वर, तुण्डिका शोथ ( Tonsillitis ), फुफ्फुस शोथ तथा हृदय का तीव्र या जीर्ण रोग।

एक विशेष प्रकार का शुक्लिमेह और पाया जाता है—जिसमें जब बालक सोकर उठता है तो उसका मूत्र स्वतंत्र ( शुक्लि बिल्कुल ही नहीं रहती ) रहता है; परन्तु घंटे दो घंटे पर उसके मूत्र से शुक्लि निकलने लगती है। इस प्रकार शुक्लिमेह के बालक की आकृति एक विशिष्ट प्रकार की होती है इसलिए इसे साकृति शुक्लिमेह ( Orthostatic or postural Albuminuria ) अथवा चाक्रिक या क्रिया-सम्बन्धी शुक्लिमेह ( Cyclic or Functional Albuminuria ) कहते हैं। यह रोग छः वर्ष की आयु में बालकों में होता है। बालक की वृद्धि तेजी से होती है, उसको शरीर की थकावट का अनुभव बहुत होता है। बच्चा सीधा खड़ा नहीं होता, उसकी ठुड्डी ( दाढ़ी का भाग ) सीने का ओर झुकी रहती है, छाती चपटी हो जाती है, दोनों अंसास्थियाँ ( पीछे की ओर पाई जाने वाली दोनों ओर कन्धे की हड्डियाँ ) बाहर को निकली रहती हैं, पेट आगे को निकल आता है, पीठ का बाहर की ओर कूबड़ जैसा निकल जाता है और बालक दुर्बल हो जाता है। रोग से पीड़ित बालक का पचन बिगड़ा मिलता है, रक्ताल्पता, हृदय की धड़कन, गले की खराबी और मूर्च्छा का होना भी पाया जाता है।

रोग के उत्पादक कारणों की विवेचना करते हुए बहुत से मत और मतान्तर पाये जाते हैं, परन्तु सबसे अधिक मान्य सिद्धान्त वृक्कगत शिराओं का भरा होना ( Venous Engorgement of Kidney ) स्वीकार किया गया है। संभवतः वृक्क अपने स्थान से कुछ नीचे सरक जाता है और वृक्क

की रक्तवाहिनियाँ तन जाती हैं, जिससे वृक्क में पहुँचा हुआ रक्त पूर्णतया शिराओं द्वारा लौट नहीं पाता, वहाँ पर अधिक समय तक रक्ताधिक्य बना रहता है और पेशाब से शुक्लि आने लगती है। दूसरे वैज्ञानिक रोग की उत्पत्ति में चूने की कमी को हेतु मानते हैं और पर्याप्त मात्रा में चूने के प्रयोग से शुक्लिमेह बन्द भी हो जाता है। कुछ अन्य वैज्ञानिक वृक्कशोथ या वृक्क सम्बन्धी किसी रोग को ही उत्पादक कारण मानते हैं।

**रोग विनिश्चय**—बालक का सोकर उठने के बाद का, प्रातःकाल का मध्यान्ह और शाम का मूत्र इकठा करे और शुक्लि की उपस्थिति के लिये परीक्षा करे। मूत्र की परीक्षा से शुक्लि की मात्रा में तीनों काल में भेद पाया जाता है। वृक्क के क्रिया सम्बन्धी दोष की अन्य विधियों से भी परीक्षा करनी चाहिये। ये प्रायः सभी प्राकृत रहती हैं। यह रोग साध्य स्वरूप का है और युवावस्था पहुँचते या उसके कुछ पहले ही अच्छा हो जाता है।

**चिकित्सा**—

बालक बहुत दुर्बल हो जाता है, अतः उसके साधारण स्वास्थ्य के बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि शरीर में कोई पूति केन्द्र ( Septic Focus ) हो तो उसको दूर करना चाहिये। उसको पर्याप्त पौष्टिक आहार देना चाहिये। उसके भोजन-गत प्रोटीन के भाग को बन्द करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। शरीर की बनावट को सुधारने के लिए उसके लिये हल्की कुछ खास कसरत की व्यवस्था करनी -चाहिये। अजीर्ण और विबंध को ठीक करना चाहिये। बलवर्धक औषध का सेवन कराना चाहिये। 'कैल्शियम ग्लुकोनेट' या 'कैल्शियम लैक्टेट' १० से १५ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार देना चाहिये।

**आयुर्वेदीय**—मूत्र से एल्ब्युमिन आने वाली अवस्थायें कई बार सुख साध्य और कई बार चिकित्सा में दुरूह हो जाती है। तथापि निम्नलिखित विधियोंका अनुसरण करते हुए उपचार करने से लाभ की आशा रहती है। उस उपचार को लम्बी अवधि तक ६ मास से १ वर्ष तक चलाने की आवश्यकता होती है।

१. गोमूत्र प्रातःकाल में १ चम्मच से ४ चम्मच तक प्रातःकाल में खाली पेट पिलाना चाहिये।

२. गोक्षुरादि गुग्गुल नामक योग की १ गोली सुबह और १ गोली शाम को जल में घोलकर देना चाहिये।

३. चन्द्र प्रभावटी ( प्रमेहाधिकार ) की १ गोली रात में सोते वक्त दूध में घोलकर देना चाहिये।

४. चन्द्र प्रभावटी के स्थान पर शिवा गुटिका ( रसायन ) प्रयोग में उत्तम रहता है। मात्रा ½ ग्राम दूध में घोलकर पिलाना।

## मूत्र के द्वारा निकलनेवाले कुछ अन्य अस्वाभाविक पदार्थ

१. भिहिक अम्ल, भिहिक लवण ( Uric Acid & Urates ) का अधिक मात्रा में मूत्र के द्वारा निकलना कई बालकों में पाया जाता है। इस अवस्था में प्रचुर मात्रा में जल के देने से तथा 'पोटैशियम साइट्रेट' को अल्पमात्रा में पानी में घोलकर सेवन करने से बच्चे ठीक हो जाते हैं।

२. आक्जलेट ( Oxalate ) के कण अधिक मात्रा में उत्सर्जित होने लगते हैं, बच्चे को कोई तकलीफ नहीं रहती केवल अधिक मात्रा में चूने जैसी चीज पेशाब से आने लगती है। कई बार तीव्रावस्था में वृक्क में शूल या मूत्र में रक्त आ सकता है। बच्चे के आहार पर ध्यान देना चाहिये—भोजन में टमाटर, रेवन्द चीनी, पालक-शाक और झरबेर आदि के सेवन से ये कण अधिक मात्रा में आने लगते हैं।

३. रंगीन मूत्र के लिये कई बच्चे चिकित्सक के पास आते हैं। इस अवस्था में रंगीन मिठाइयों का सेवन कारण हो सकता है। कई बार लाल रंग का, मूत्र में शोण वर्त्तुलि ( हिमोग्लोबिन ) या रक्त की उपस्थिति से भी हो सकता है। आमतौर से इसमें ठंड का लगना हेतु होता है। इसलिए बालक की शीत से रक्षा करने की सलाह देनी चाहिए। कई बार सहज फिरंग के कारण भी यह पाया जाता है, अस्तु तदनुकूल चिकित्सा करनी चाहिये।

४. मूत्र में पूय ( मवाद ) का आना—वृक्क-गोणिकाशोथ ( Pyetitis ) में हो सकता है—जिसका वर्णन आगे किया जायेगा।

५. मूत्र में दण्डाणुओं का पाया जाना किसी उमर में हो सकता है। उसको दण्डाणु प्रमेह ( Bascilluria ) कहते हैं। इसकी चिकित्सा में प्रचुर मात्रा में जल तथा शुल्व वर्ग की औषधियाँ जैसे फ्यूराडेण्टीन एवं प्रतिजीवी द्रव्य जैसे 'यूरोबायटिक्स' का उपयोग भी आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

आयुर्वेदोपचार—ऊपर में बतलाये गये मूत्र विकारों में—नम्बर एक में अपामार्गक्षार या श्वेतपर्पटी या यवक्षार का पानी में ½ ग्रा० की मात्रा में घोलकर प्रयोग करना लाभप्रद रहता है। नम्बर दो में मण्डूर भस्म १५० मि०ग्रा०, शंख भस्म १२५ मि० ग्रा०, गुडूची सत्व ½ ग्रा० मिलाकर देने से लाभ होता है। साथ ही जल की मात्रा अधिक देना तथा पेट की सफाई के लिए त्रिफला का काढ़ा पिलाना लाभप्रद रहता है।

## वृक्कशोथ
## ( Nephritis )

वृक्क का प्रधान कार्य रक्त से आये हुए, शरीर के समवर्त्त से पैदा हुए, मूलभूत पदार्थों को छान कर मूत्र के द्वारा बाहर करना है। एतदर्थ यदि वृक्क का कार्य ठीक न होवे तो ये त्याज्य मूत्र-मल एवं हानिप्रद पदार्थ शरीर से बाहर नहीं निकलते; प्रत्युत शरीरगत रक्त में भ्रमण करते हुए विविध प्रकार के सार्वदैहिक लक्षण पैदा करते हैं। अतएव वृक्क-शोथ का विकार एक अंग का होते हुए भी उसका प्रभाव सार्वदैहिक होता है। वृक्क-शोथ का वर्णन कई वर्गों में बाँट कर विभिन्न नामों से भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में पाया जाता है। यहाँ पर सुविधा की दृष्टि से तीन वर्गों में बाँटकर वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. तीव्र वृक्क-शोथ २. जीर्ण वृक्क-शोथ या अपवृक्कता ३. वृक्क का तान्त्वीभवन ( Fibrosis )।

## तीव्र वृक्क-शोथ
## ( Acute Nephritis )

हेतु--बाल्यावस्था में किसी भी उमर में यह मिल सकता है; परन्तु छोटी आयु के शिशुओं में नहीं होता। रोग का प्रधान कारण कुछ उपसर्ग हैं। उपसर्ग पैदा करने वाले अणुजीवों में माला गोलाणु ( Streptococci ) और माला गोलाणुओं में भी शोणांशिक जाति का ( Hemolytic ) अधिक भाग लेता है। ६०% रोगियों में उपसर्ग का इतिहास मिलता है उनमें ७० प्रतिशत से अधिक में गला और श्वसन संस्थान के रोग होते हैं। जैसे, गले की खराबी तुण्डिका का शोथ ( Tonsilitis ) मध्यकर्ण शोथ ( Otitis Media ), कनफेर ( Mumps ), लोहित ज्वर ( Scarlet fever ), तान्द्रिक ( Typhus ), रोमान्तिका ( Measles ), मंथर ज्वर ( Typhoid ), फिरंग, विषम ज्वर और आमवात इत्यादि। बालकों में पाये जाने वाले त्वचा के रोग जो विशेषतः गुच्छ गोलाणु ( Staphylococcal ) के द्वारा हुए हों, वृक्क शोथ पैदा करते हैं। शीत या ठंडी हवा का लगना भी रोग की उत्पत्ति में उत्तेजक हेतु के रूप में पाया जाता है।

लक्षण--तीव्र वृक्क-शोथ दो वर्गों में बाँटा जा सकता है--

१. तीव्र वृक्क-शोथ जिसमें शरीर पर सूजन न पाई जाय।

२. तीव्र वृक्क-शोथ जिसमें शरीर पर सूजन पाई जाय।

**तीव्र-वृक्क-शोथ जिसमें शरीर पर सूजन न पाई जाय**—बाल्यावस्था की यह आम बीमारी है। रोग का आक्रमण एकाएक होता है। लाल रंग का जिसमें रक्त मिला हुआ मूत्र आता है। शोणित-मेह ( Heamaturia ) के अतिरिक्त दूसरे लक्षण प्रायः नहीं पाये जाते, बालक की साधारण दशा भी प्रायः ठीक रहती है। रोग के प्रारम्भ में दो एक दिनों तक सिर में दर्द, कै का होना या ज्वर भी मिल सकता है, परन्तु सामान्यतया ताप प्राकृतिक ही रहता है। वृक्क के क्षेत्र पर पीड़ा रहती है और दबाने से भी उस स्थान पर बालक वेदना का अनुभव करता है। शरीर में सूजन, मूत्रगत मिह ( Urea ) की

घनता मिलती है, परन्तु रक्त दाब ( Blood pressure ) के ऊपर कोई असर नहीं होता। ये सभी स्वाभाविक रहते हैं। मूत्र की मात्रा भी कम नहीं होती, मूत्र का रंग चमकता हुआ लाल या धुँधला होता है। मूत्र की परीक्षा करने पर मूत्र में रक्त के लालकण, श्वेतकण और कुछ निर्मोक ( Casts ) पाये जाते हैं।

तीव्र वृक्क शोथ जिसमें शरीर पर सूजन पाई जाय—यह प्रकार ऊपर वाले प्रकार से अधिक गम्भीर स्वरूप का होता है; परन्तु भाग्यवश होता कम है। रोग का आक्रमण अचानक होता है। ज्वर, सिर में दर्द, वमन, कमर में दर्द और अल्प मात्रा में रक्त मिश्रित मूत्र का निकलना प्रभृति लक्षणों से रोग का प्रारम्भ होता है। कुछ रोगियों में रोग का प्रारम्भ दूसरे स्वरूप का होता है। उनमें चेहरे और आँखों के नीचे सूजन और हाथ पैरों में सूजन बढ़ती ही चलती है जो फैलती हुई पूरे शरीर पर हो जाती है और कटि देश, फलकोश ( Scrotum ) और पैरों पर सबसे अधिक स्पष्ट रहती है। रोग के अधिक तीव्र होने पर, शरीर के विभिन्न सीरमी कला ( Serous Membranes ) द्रव का संचय होना और उनका फूलना भी पाया जाता है, जैसे छाती में जलोरस ( Hydrothorax ) और उदर में जलोदर ( Asctis ) अथवा सर्वांग शोफ। जीभ मलावृत्त रहती है, साँस से बदबू आती और नाक विकृत, महाधमनी द्वार का द्वितीय शब्द ( Aortic second sound ) ऊँचा हो जाता है। वृक्क की क्रिया शिथिल होने से रक्तगत मिह (urea) की अधिकता ( ७० से १०० मिलिग्राम प्रति १०० सी० सी० में ) हो जाती है। त्यक्त होने वाले मूत्र की मात्रा कम हो जाती है, मूत्र का रंग लाल धुँधला हो जाता है, उसमें शुक्लि ( Albumin ) आती है। अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा परीक्षा करने पर रक्त के कोषाणु और कई प्रकार के निर्मोक ( Granular Epithelial or Blood casts ) पाये जाते हैं।

इस प्रकार वृक्कशोथ में मूत्र विषमयता ( Ureamia ) का उपद्रव बहुत पाया जाता है। इस अवस्था में मूत्र का स्राव अत्यन्त अल्प या पूर्णतया बन्द

हो जाता है। शिरःशूल तेज होने लगता है। वमन अधिक बढ़ जाता है। श्वास की गति बढ़ जाती है। रक्त दाब ऊँचा हो जाता है, दृष्टि पटल ( Optic Disc ) में सूजन आ जाती है। मुंह से एक विशेष प्रकार की दुर्गन्ध आती है, जीभ रूखी और भूरी हो जाती है, ओठ के ऊपर गाल के अन्दर फुन्सियाँ निकल आती हैं। कर्ण-पूर्व ग्रन्थि ( Parotidgland ) में सूजन हो जाती है। तदन्तर प्रलाप, मूर्च्छा आदि उपद्रव होते हैं और रोगी बेहोश हो जाता है, वह नेत्र, मुख और हाथ पैरों को भी हिलाने या चलाने में असमर्थ हो जाता है। मूत्र विषमयता से पीड़ित बालक की हालत कठिन रहती है, फिर भी समुचित उपचार की शीघ्र व्यवस्था करने से सुधार की आशा रहती है। श्वसनी फुफ्फुस पाक तथा हृदयातिपात के उपद्रव भी हो सकते हैं, जो प्रायः घातक होते हैं।

**विकृत शरीर**—वृक्कशोथ में प्रधान विकृति केशिकास्तवक की होती है। केशिकास्तवक ( Glomeruli ) शोथ युक्त और रक्ताधिक्य युक्त हो जाते हैं। आगे चल कर उनमें कुछ का शोथ हो जाता है और उनके स्थान पर व्रण वस्तु ( Scartissues ) बन जाते हैं। यदि विकृति अति तीव्र स्वरूप की हुई —जिसमें प्रायः बालक मर जाते हैं तो सम्पूर्ण वृक्क में विकार आ जाता है। वृक्क का पूरा भाग शोथ और रक्ताधिक्ययुक्त हो जाता है। उसका प्रान्तस्थ ( Cortex ) लाल और अन्तस्थ ( Medulla ) फीका या पांडुर हो जाता है। सम्पुट ( Capsule ) के भीतर रक्तस्राव के धब्बे पाये जाते हैं। मूत्रवह नलिकाओं ( Tube ) में शोथ और रक्ताधिक्य पाया जाता है। उनके उपकला ( Epithelium ) छिल जाते हैं और अन्तरालीय भाग में कोशिका अन्तःभरण ( Cellular Infiltaration ) मिलता है।

**चिकित्सा**—

जब तक मूत्र से रक्त और शुक्लि का निकलना बन्द नहीं हो जाय बालक को पूर्ण विश्राम करना चाहिये। मृदु स्वरूप के रोग में तीन सताह का विश्राम पर्याप्त होता है, परन्तु सर्वांग शोफ हो तो उसे पूर्णतया तीन मास तक बिस्तर

पर आराम के साथ रखना चाहिए। बालक की शीत से रक्षा के विचार से उसको गर्म कम्बल में लपेट कर रखना चाहिये।

यदि सर्वांग शोफ न हो तो उसको पर्याप्त मात्रा में जल, लेमोनेड, जौ का यूष ( वार्ली वाटर ), दूध, फल आदि देना चाहिए। यदि सर्वांग शोफ हो तो जल अल्पमात्रा में या पूर्णतया बन्द कर देना चाहिए। जब मूत्र से रक्त आना, शोफ आदि कम होने लगे तो बालक को चावल, रोटी, दूध, अण्डा आदि भी दिये जा सकते हैं। जब बालक उठने और चलने लगे तो उसे अण्डा, मछली, शाक आदि भी देना शुरू किया जा सकता है।

औषधियों में विरेचन ( दस्त या Purgative ) का देना आवश्यक होता है। इसके लिए जलापा चूर्ण ( Pulv jalop co. ) १ ड्राम की मात्रा में या मैग्नेशियम सल्फेट १ चाय की चम्मच भर प्रतिदिन देना चाहिये क्षारीय मिश्रणों में पोटाश साइट्रेट तथा पोटाश बाईकार्ब प्रत्येक १० ग्रेन की मात्रा में पानी में घोलकर दिन में चार बार देना चाहिये, यदि हृदय का कोई विकार प्रतीत हो तो "टिंक्चर डिजिटैलिस" ५ बूँद या "स्ट्रोफैन्थोन" २ बूँद दिन में दो बार या तीन बार दिया जा सकता है।

रोग की जीर्ण अवस्था में जब रक्ताल्पता अधिक मिलती है, इसके लिए "फेरी एट अमोनियम साइट्रास" ५ से १० ग्रेन की मात्रा में दिन में दो बार देना चाहिये। साथ ही देश और जलवायु के परिवर्तन के लिए भी सलाह देनी चाहिये। शरीर में यदि कोई पूतिकेन्द्र ( Septic Focus ) हो तो उसको भी अवश्य दूर कर देना चाहिये।

मूत्र विषमयता की चिकित्सा कारणों के अनुरूप की जाती है। यदि शुल्ववर्ग की औषधियों के सेवन और उसके परिणाम स्वरूप वृक्क नलिकाओं का अवरोध कारण जान पड़े तो औषध का खिलाना तत्काल बन्द कर देना चाहिए एवं रोगी को पर्याप्त मात्रा में जल और क्षार का सेवन कराना चाहिये। यदि चौबीस घण्टे तक इस उपचार के बावजूद मूत्र न आये, तो वृक्कान्तकः दर्शक यंत्र की सहायता से मूत्र नली के प्रयोग ( Catheterising Cystoscope ) द्वारा वृक्क का प्रक्षालन करना चाहिये।

तीव्र वृक्क शोथ के कारण रक्त में जब प्रोभूजिन के भंजन से उत्पन्न मलों के निरोध के कारण अमूत्रता हो, शरीर में अम्लरक्तता हो रही हो, ( Acidosis ) तो--१. आमाशय का प्रक्षालन 'सोडाबाइ कार्ब' के घोल से ( १ ड्राम एक पिण्ट जल में घोलकर ) करना चाहिए। २. मुँह से अल्पमात्रा में 'ग्लुकोज' का शर्बत देना चाहिए। ३. क्षारीय जल से स्थूलांत्र का प्रक्षालन करना चाहिए ( Colon Lavage )। ४. यदि बालक चेतनाहीन बेहोश हो तो शिरावेध करके १ से २ औंस तक या आयु और विषमयता का विचार करते हुए ६ से ८ औंस तक रक्त निकालना चाहिये। आक्षेप यदि बहुत आते हों तो। ५. कटिवेध ( Lumbar Puncuture ) करके मस्तिष्क सुषुम्ना जल निकालना चाहिये। लक्षणों के न शान्त होने पर हल्का संज्ञाहरण ( Anaesthesia ) देना चाहिए। आक्षेप हर औषधों का प्रयोग मूत्र विषमयता की अवस्था में उतना लाभप्रद नहीं होता है। यदि देना ही हो तो। ६. गुदा द्वारा 'मैग्नेशियम सल्फेट' का ५०% घोल देना चाहिए। शिरा द्वारा देना हो तो १% का घोल देना चाहिये।

यदि पूर्णतया मूत्र का निकलना बन्द हो गया हो तो निम्नलिखित घोल का बूँद-बूँद कर आमाशय के भीतर एक किसी छोटे रबर की नली के जरिये भरना उत्तम होता है। इसके बनाने की विधि यह है कि 'ग्लुकोज' ४०० ग्राम की मात्रा में ले, एरेचिस आयल ( Pea nut oil ) १०० ग्राम, गोंद (Gumacacia) और जल १ लिटर छोड़कर खूब हिलाकर इमल्शन बनायें। मात्रा बालक के शरीर के प्रति पौण्ड भार के ऊपर १० बूँद रहनी चाहिए। इस योग के देने के विधान का श्री बुल (Bull) नामक वैज्ञानिक ने शोध किया था एतदर्थ इसको 'बुल चिकित्सा पद्धति' के नाम से कहा जाता है।

## अपवृक्कता

## ( **Nephrosis** )

जीर्णवृक्क शोथ के रोगी में सम्पूर्ण अंगों ( सारे शरीर पर सूजन ) पर शोफ पाया जाता है जो कई महीनों या वर्षों तक चलता रहता है। मूत्र से

शुक्लि बहुत मात्रा में गिरती है, परन्तु हृदय और रक्तवह संस्थान अविकृत बना रहता है।

बालकों में तीन या चार वर्ष की आयु के पूर्व नहीं होता है। दोनों लिंग के बालकों में समान भाव से पाया जाता है। पारद के बने योगों के सेवन से जिनका प्रयोग अधिकतर दाँत के निकलने में पैदा होनेवाली तकलीफों में किया जाता है, इस प्रकार का वृक्कशोथ पैदा होता है। कई बार गले और मध्य कर्ण या अन्य अवयवों के उपसर्ग अपने विषों के प्रभाव से वृक्क को दूषित कर शोथ को उत्पन्न करते हैं।

**लक्षण**—नेत्र के नीचे और पैरों पर सूजन पाई जाती है। पश्चात् शिरःशूल, थकावट, सुस्ती, दुर्बलता, वमन या मूत्र का सर्वथा बन्द हो जाना पाया जाता है। सूजन इतनी बढ़ जाती है कि पूरा बालक फूला हुआ दीखता है। चेहरा फूल जाता है आँखों की पलकें इतनी अधिक फूल जाती हैं कि आँख का खुलना कठिन हो जाता है, स्कंध, शाखा और कटि पर भी सूजन होती है। सूजे हुए अंग की त्वचा तनी हुई एवं चमकदार हो जाती है। सूजे हुए अंग पर अंगुलि से दबाने पर गड्ढे पड़ जाते हैं। उदर के जल-संचय के परिणाम स्वरूप जलोदर, छाती में होने वाला उपद्रव, जलोरस ( Hydrothorax ) आदि उपद्रव हो जाते हैं। रोगी का भार ( weight ) बढ़ जाता है।

ज्वर सामान्यतया नहीं पाया जाता है, परन्तु बीच-बीच में कुछ दिनों के लिए हो भी सकता है। उस अवस्था में मूत्र से रक्त भी आ सकता है। ज्वर के काल में पतले दस्त भी आ सकते हैं, वैसे आमतौर से विबंध पाया जाता है। शोफ के साथ ही रक्ताल्पता भी पाई जाती है।

मूत्र की मात्रा कम हो जाती है उसका विशिष्ट गुरुत्व बढ़ जाता है। मूत्र से शुक्लि का त्याग अधिक होता है। अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से देखने पर मूत्र में बहुत प्रकार के निर्मोक ( Hyaline, Granular or Fattycasts ) पाये जाते हैं। क्वचित् श्वेत और लाल कण भी मिल सकते हैं।

रक्त में यूरिया की मात्रा ठीक रहती है, शोफ की अवस्था में लवणों ( Chlorides ) की मात्रा अधिक हो जाती है, परन्तु सूजन हल्की होते ही उसकी मात्रा भी कम होती जाती है। रक्त में कोलेस्टोरोल ( Cholesterol ) की मात्रा बढ़ जाती है।

हृदय तथा रक्तवह संस्थान स्वाभाविक रहता है, रक्त दाब नहीं बढ़ता, वह भी स्वाभाविक रहता है।

**विकृत शरीर**—वृक्क फूले हुए रहते हैं। पुटक ( Capsule ) संसक्त नहीं रहता है। मूत्रवह नलिकाओं ( Tubules ) में विकृति प्रधान रूप से पायी जाती है। केशिकस्तवक में ( Glomeruli ) अथवा प्रान्तस्थ ( Cortex ) या अंतस्था ( Medula ) में कोई खास परिवर्तन नहीं पाया जाता है।

**चिकित्सा**—

बालक को बिस्तर पर रखकर पूर्ण विश्राम दे। बालक की शीत से रक्षा करने के लिए कम्बल ओढ़ाकर रखना चाहिये। यदि कोई पूति-केन्द्र मिल सके तो उसको खोजना चाहिये और उसको दूर करने की व्यवस्था करनी चाहिये।

रोगी बालक के आहार में नमक का देना पूर्णतया बन्द कर देना चाहिये। उसके पीने में जल की मात्रा कम कर देनी चाहिये। रक्त के प्रोभूजिन ( प्रोटीन ) की मात्रा को बढ़ाने के लिये प्रोभूजिन युक्त आहार अधिक मात्रा में देना चाहिए। इसके लिए मछली, मांस, मटर, सेम के बीज, सोयाबीन, अण्डा, मांस रस और पर्याप्त मात्रा में गरम करके ठण्डा किया हुआ दूध देना चाहिए। यदि रक्तगत मिह ( यूरिया ) की मात्रा अधिक हो तो प्रोभूजिन युक्त आहार को कम कर देना चाहिए। कुछ विद्वानों के विचार से मेद ( चर्बी ) युक्त पदार्थों को नहीं देना चाहिए।

विविध प्रकार के मूत्रल योगों का प्रयोग करना चाहिये। इस कार्य के लिए मिह ( यूरिया ) एक उत्तम ओषधि है। एक ड्राम की मात्रा में तीन बार पानी में घोल कर सप्ताह तक देना चाहिए। इसके अतिरिक्त मूत्रल योगों

में 'नेफ्रिल' अथवा 'लैसिक्स' का प्रयोग भी मूत्रल द्रव्यों में करना चाहिये। पारद के मूत्रल योगों का तभी प्रयोग करना चाहिये जब अन्य औषधियाँ सफल न हों, पारद के योगों में 'सेलिर्गान' ( Salyrgan ) एक उत्तम योग है। आधी सी० सी० की मात्रा में शिरा द्वारा देना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर चार दिन के अन्तर से पुनः एक या दो बार दिया जा सकता है। क्षारों का सेवन भी मूत्रल होता है। इसके लिये 'सोडाबाइ कार्ब' 'पोटाश बाइ कार्ब' या 'पोटाश सायट्रेट' का प्रयोग करना चाहिये।

ए. सी. टी. एच. या कार्टिसोन का प्रयोग भी कुछ लाभप्रद होता है। जल का विस्रावण त्वचा में वेध करके कराया जा सकता है। त्वचा में वेध करके पानी के निकाल देने से शोफ शीघ्र कम हो जाता है; परन्तु कठिनाई उसके संक्रमण और पकने से बचाने की होती है। इस कार्य के लिये कूर्चक या खाज ( अर्थात् एक ऐसा यंत्र जिसकी पीठ पर पाँच या छः सूइयाँ लगी हों ) का प्रयोग करना चाहिए। इससे त्वचा का पानी निकालना चाहिये। इसके प्रयोग काल में स्थानिक शोधन का भी ध्यान रखना चाहिये, अन्यथा पाक का भय रहता है। यदि उदर और वक्ष में जलसंचय अधिक हो गया है, बहुत सूजन हो गयी है, उसके कारण हृदय पर दबाव पड़ रहा है तो उस दशा में ब्रीहिमुख शस्त्र और नाड़ी के द्वारा ( Trocar & canula ) जल के निकालने की व्यवस्था करनी चाहिये। अन्त में रक्ताल्पता की चिकित्सा के लिये लौह का प्रयोग आयरन और अमोनियम साइट्रेट ५-१० ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार देना चाहिये।

**आयुर्वेदोपचार**—आयुर्वेद के मत से साध्यासाध्यता एवं चिकित्सा की दृष्टि से सर्वांगशोफ रोग को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। एक वह जो मुख एवं नेत्र से प्रारम्भ करके शरीर पर फैल गया हो जैसे वृक्कज, दूसरा वह जो पैरों से शुरू होकर पूरे शरीर पर फैल गया हो जैसा हृद्रोगों के परिणाम स्वरूप होता है; तीसरा वह जो उदर से प्रारम्भ करके पूरे शरीर पर फैला हो जैसा कि यकृत विकारों में या क्षयज जलोदर में मिलता है। इन सभी अवस्थाओं में कुछ उपचार सामान्य हैं और कुछ विशिष्ट। सर्वांग शोफ की

अवस्था में दो ही पथ्य सर्वोत्तम माने जाते हैं गर्म करके ठण्डा किया दूध या मांस रस। केवल दूध के आहार पर वृक्कज रोगी को रखकर दुग्ध बटी ( शोफाधिकार ) का सेवन कराना विशेषतः वृक्कज सर्वांग शोफ में और खास करके बालकों में उत्तम लाभप्रद सिद्ध होता है। मात्रा ६० मि० ग्रा० दिन में तीन या चार बार दूध के साथ दे। भोजन में दूध पर ही बालक को रखना चाहिये। दूसरा योग पुनर्नवाष्टक कषाय उत्तम पड़ता है। दुग्धबटी के प्रयोग काल में 'इस क्वाथ' का अनुपान ओषधि को अधिक कार्यकर बना देता है। जैसा ऊपर से बतलाया जा चुका है कि वृक्कज विकारों में शोफ के साथ-साथ रक्ताल्पता भी पाई जाती है ऐसी स्थिति में पुनर्नवा मण्डूर का सेवन १२५ मि० ग्रा० तक दिन में चार बार, केवल मधु से या पुनर्नवास्वरस और मधु से लाभप्रद सिद्ध होता है। आरोग्यवर्धिनी की १ गोली का प्रयोग रात में सोते वक्त दूध के साथ करना भी उत्तम रहता है। यह योग हृद्य, कर्षक और मृदु रेचक भी पड़ता है।

गोमूत्र का उपयोग बालकों के यकृत एवं वृक्क विकार में एक सिद्ध औषध के रूप में प्रचलित है। इसका सेवन तीव्र या जीर्ण मूत्र विषमयता ( Acute or Chronic ureamia ) में भी लाभप्रद होता है। गोमूत्र क्षारीय गुण का होता है और अम्लरक्तता को भी कम करता है, साथ ही मूत्रल होने से बन्द हुए मूत्र को पुनः चालू करता है। इसका स्वतन्त्र प्रयोग या हरीतकी या त्रिफला के कषाय के साथ मिलाकर भी यथावश्यक मात्रा में करना चाहिये। क्षारीय योगों में श्वेत पर्पटी १ ग्राम से २ ग्राम और यवक्षार ½ ग्रा० से १ ग्रा० तक पानी में घोलकर दिन में दो-तीन बार पिलाया जा सकता है।

पुनर्नवाष्टक कषाय—पुनर्नवा मूल, नीम की छाल, पटोलपत्र, सोठ, कुटकी, गिलोय, देवदारु, हरड़। समभाग में लेकर बनाया कषाय। इस योग में निम्नलिखित ओषधियों का योग कर दिया जाय तो वृक्कज शोफ में अधिक लाभ होता है। यथा—पुनर्नवा पंचदश कषाय–पुनर्नवा, वरुण, शिग्रु, गोक्षुर, श्वेतचंदन, केना, गुडूची, नागर मोथा, दार्वी, नीम की छाल, कुकरौंधा, हरीतकी, पटोलपत्र, मंजिष्ठा और अमल्ताश की गुद्दी।

## मूत्राश्मरी
## ( Urinary Calculus )

मूत्र के ठोस संघटकों का कुछ भाग तलछट के रूप में बैठकर वृक्क में या उसकी श्रोणि या वस्ति ( मूत्राशय—Bladder ) में कंकड़ बनते हैं उससे पथरी या अश्मरी बनते हैं।

अश्मरियाँ कई प्रकार की हो सकती हैं—जैसे, पथरियाँ सेन्द्रिय एवं निरीन्द्रिय दोनों प्रकार के द्रव्यों से बनती हैं। अधिकतर मेहीय और तिग्मीय के मिश्रण से ( Urates and oxalates ) से बनती हैं। कई बार भास्वीय ( Phosphates ) की बनती हैं। विशुद्ध मिहिक अम्ल ( Uric acid ) या विषाणी ( Cystin ) की बनी पथरियाँ बहुत कम मिलती हैं। पथरियों के बनने में मूत्र की रुकावट का पाया जाना प्रधान हेतु है। बालकों में मूत्र मार्ग के बहुत से ऐसे दोष होते हैं जिनमें मूत्र की रुकावट पायी जाती है। जिन बच्चों को एक आसन पर पीठ के बल अधिक दिनों तक लेटे रहना पड़ता है जैसे पृष्ठवंश के क्षय की चिकित्सा में, उनमें भी पथरियों के बनने की संभावना रहती है। मूत्र संस्थान का उपसर्ग सब प्रकार की अश्मरियों की उत्पत्ति का एक प्रधान कारण माना गया है, और विषाणी ( Cystin ) की अश्मरी तथा उपसर्ग के बिना उत्पन्न हो ही नहीं सकती, ऐसा कुछ लोगों का कहना है। बाल्यावस्था में और लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में मूत्र की अश्मरी बहुत मिलती है।

**लक्षण**—मन्दज्वर, मूत्र त्याग में पीड़ा, मूत्र का गन्दला या मवाद मिला हुआ होना, तीव्र वृक्कशूल ( जिसमें पीड़ा का आरम्भ उदर में होकर उसका संवहन नीचे की ओर कमर और जंघे तक होता है, साथ ही वमन तथा बेचैनी होती है ) मूत्र में रक्त का आना और बार-बार मूत्र त्याग की इच्छा, प्रभृति लक्षण होते हैं। उपद्रव रूप में जल-वृक्क ( Hydronephrosis ) या पूय-वृक्क ( Pyonephrosis ) इस रोग में हो सकता है।

**निदान**—लक्षणों के ऊपर ध्यान देते हुए रोग का निदान संभव रहता है। निदान को पक्का करने के लिए क्ष-किरण, मूत्रान्तः दर्शक यन्त्र ( Cystoscope ) तथा मूत्र मार्ग चित्रण ( Pyleography Intra Venous ) से सहायक ली जा सकती है। मूत्र-परीक्षा से मूत्र में रक्त, फास्फेट आदि की उपस्थिति भी रोग विनिश्चय में सहायक होती है।

**चिकित्सा**--

शल्य तंत्रीय ( Surgical )—मूत्राशय का भेदन करके पथरी का निकालना उत्तम उपाय है। औषध के रूप में निम्नलिखिस औषधियों का सेवन कराकर देखना चाहिये। १–गोक्षुर ( गोखरू के बीज ) का चूर्ण २ ग्राम की मात्रा में दिन में दो बार भेंड़ या बकरी के दूध से। २–श्वेतपर्पटी १ ग्रा० एवं यवक्षार ½ ग्राम में घोल दिन में दो बार देना। 'हिमालयन' ड्रग कम्पनी का 'सीस्टोन' ( Cystone ) गोलियों का सेवन भी लाभप्रद रहता है। 'बरुणाद्यलौह' ६० मि० ग्रा० की मात्रा में दिन में दो बार देना भी लाभप्रद है। त्रिविक्रम रस ६०-१२५ मि० ग्राम की मात्रा में अतसी के काढ़े से या कुलथी के यूष के अनुपान से देना चाहिये। सुधार न प्रतीत हो, तो शल्यकर्मीय चिकित्सा करनी चाहिये।

## वृक्क तान्त्वीभवन
## ( Renal Fibrosis )

**हेतु**—बाल्यावस्था में बहुत ही कम पाया जाने वाला यह रोग है। बहुत बार जीर्ण वृक्कशोथ के अन्त में क्वचित् तीव्र-वृक्कशोथ के परिणामस्वरूप होता है। अधिकतर मूत्रवह स्रोत के जीर्ण संक्रमणों के परिणामस्वरूप यह रोग होता है। कई बार गर्भावस्था में ही वृक्क में तान्त्वीभाव होकर यह रोग होता है। वृक्क की सहज पुटीयरोग ( Cystic Diseases ) भी वृक्क में सूत्रों की उत्पत्ति कर सकती है।

**लक्षण**—रोग का दौरा छिपे तौर से होता है। प्रारम्भ में शय्यामूत्र, शिरःशूल, वमन, विकास का रुकना तथा अन्य वातिक लक्षण पैदा हो सकते

हैं। रोग में मूत्र की मात्रा अधिक हो जाती है, बालक बार-बार मूत्र त्याग ( बहुमूत्रता ) करता है, फलतः प्यास भी बहुत बढ़ जाती है। प्रतिदिन निकलने वाले मूत्र की कुल मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व कम ( १००५ ) हो जाता है, उसका रंग फीका पड़ ( Pale ) जाता है। शुक्लि कम निकलती है या बिल्कुल ही नहीं। निर्मोक ( Granular or Hyaline Casts ) आमतौर से मिलते हैं।

वृक्क की क्रिया की परीक्षा से निम्नलिखित फल मिलते हैं - मिह की गाढ़ता ( Urea Concentration ) गिर जाती है अर्थात् वह लगभग १ या १.५ प्रतिशत हो जाता है जहाँ प्राकृत २ से ४ प्रतिशत तक रहता है। मिह के निकलने की मात्रा भी गिर जाती ( Urea Clearance test ) है, अर्थात् वह १० प्रतिशत तक हो जाती है जहाँ वह स्वाभाविक स्थिति में ८० प्रतिशत रहती है। रक्तगत मिह की मात्रा बढ़कर २०० से ४०० मि० ग्रा० प्रति १०० मि० लि० तक पहुँच जाती है। रक्तगत चूने की मात्रा कम हो जाती है, परन्तु 'फास्फोरस' की मात्रा बढ़ जाती है।

हृदय तथा रक्तवह संस्थान अधिकतर प्राकृतिक रहता है, कई बार यह भी इस रोग में प्रभावित हो जाता है—जिससे रक्त दाब ( Blood pressure ) बढ़ जाता है, फुफ्फुस धमनी द्वार पर होने वाले शब्द, महाधमनी द्वार पर होने वाले शब्द की अपेक्षा ऊँचा मिलता है—यों तो दोनों ही ( Pulmonary & Aortic Sounds ) शब्द ऊँचे पाये जाते हैं। वाम निलय की दीवालें मोटी पड़ जाती हैं ( Hypertrophy )।

बालक के शरीर की त्वचा रूक्ष और सूखी हुई मिलती है उसका चेहरा मोम जैसे रंग का हो जाता है, अंग की वृद्धि का विकास रुक जाता है—वह नाटे कद का और कमजोर दिखलाई पड़ता है। शरीर भार भी कम हो जाता है। अस्थि ( लम्बी हड्डियों ) और बड़ी संधियों का स्वरूप भी बिगड़ जाता है जिसका वर्णन पहले वृक्कज फक्क रोग के नाम से ( Rennal Rickets ) फक्क रोग के वर्णन में किया जा चुका है। इस रोग में सबसे बड़ा उपद्रव जीर्ण मूत्र विषमयता ( Chronic ureamia ) होता है

जिसमें क्रमशः बढ़ता हुआ शिरःशूल वमन, दृष्टि का विकार, साँस में बदबू तथा हल्के कम्प ( Tremors ) होने लगते हैं। आक्षेप कभी भी पैदा हो सकते हैं और कई बार तीव्र विषमयता पैदा होकर बालक की मृत्यु हो जाती है।

विकृत शरीर—दोनों वृक्क काफी संकुचित हो जाते हैं। जन्म से ही बहुतों में वृक्क का विकास ही न हुआ रहता है, दूसरों में तन्तुओं का निर्माण बहुत ( Fibrotic Changes ) अधिक होता है जिससे मूत्र स्रोत में रुकावट होकर जलवृक्क ( Hydronephrosis ) या पूय वृक्क ( Pyonephrosis ) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। वृक्क के ऊपर सम्पुट ( capsule ) चिपकी पाई जाती है।

**रोग क्रम और साध्यासाध्यता**—वृक्क की तन्तुमयता नामक इस रोग से पीड़ित बालक प्रायः अल्पायु होता है। अधिकतर जवानी तक नहीं पहुँचते और बीस वर्ष की आयु के पूर्व ही मर जाते हैं। मृत्यु का कारण तीव्र मूत्र विषमयता होती है। कई बार श्वसनी फुफ्फुस शोथ या परिहृदयावरण शोथ ( Pericarditis ) या मस्तिष्कगत रक्तस्राव प्रभृति उपद्रवों से भी मृत्यु हो सकती है।

**चिकित्सा—**

असन्तोषजनक है। रोग को पूर्णतया अच्छा किया जा सके ऐसी औषध ज्ञात नहीं है। सामान्य उपचारों के ऊपर अर्थात् जल, मिश्री का शर्बत, ग्लुकोज, क्षारीय मिश्रणों पर आश्रित रहना पड़ता है। फक्क के उपद्रव स्वरूप रोग के होने पर फक्क की भी चिकित्सा करनी चाहिए।

**आयुर्वेदीय**—चिकित्सा अपवृक्कता या वृक्कज शोफ में प्रतिपादित योगों से करनी चाहिये।

## तीव्र गोणिकावृक्क शोथ
## ( Acute Pyelonephritis )

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस रोग में वृक्क के श्रोणि ( Pelvis ) में शोथ होता है। बाल्यावस्था में जन्म के कुछ दिन बाद से लेकर पहले की

आयु में अधिकता से पाया जाता है। बाद की उमर में बहुत कम मिलता है। अधिकतर बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में होता है।

**लक्षण**—रोग का आक्रमण भयानक होता है। बालक का तापक्रम १०३° तक पहुँच जाता है, वमन होने लगता है जो प्रायः पूरे रोगकाल तक चलता रहता है। कई बालकों में रोग का आरम्भ सिहरन के साथ ज्वर (जाड़ा लगना और बुखार) के साथ होता है। ऐसी दशा में मूत्र की परीक्षा पूय के लिए शीघ्र करा लेनी चाहिये। पेट की शिकायत जैसे विबंध या पतले दस्त का होना रोग के शुरू होने के एक दो दिन पहले से ही पाया जाता है। जैसे-जैसे रोग बढ़ता है शरीर का तापक्रम (ज्वर) भी बढ़ता है ज्वर में प्रतिदिन तीन या चार अंश डिग्री का अन्तर पड़ जाता है। बालक को भोजन में अरुचि हो जाती है, वह दुर्बल और चिड़चिड़ा हो जाता है, उसके शरीर का भार कम हो जाता है। उसका चेहरा पीला पड़ जाता है, कई बार गर्दन की पेशियाँ कड़ी पड़ जाती है, कर्निंग का चिह्न उपस्थित हो जाता है जिससे क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। कभी तीव्र वृक्क शूल के समान पीड़ा असह्य हो जाती है। वह रोता, चिल्लाता और बेचैन हो जाता है। इस प्रकार शूल प्रायः जमे हुए पूय के थक्के के गवीनियों से निकलने (ureters) के कारण होता है। चिकित्सक को उसकी बैचैनी के कारण शारीरिक परीक्षा करने में कठिनाई होती है; फिर भी कटि प्रदेश (Renal Angle में) को छूने या दबाने से बालक पीड़ा का अनुभव करता है। यह स्थान स्पर्शनाक्षम (Tender) हो जाता है। नवजात शिशुओं में बेचैनी, वमन, अतिसार और अल्पमात्रा में पीड़ा के साथ मूत्रत्याग का होना पाया जाता है। बालक को ठंढ लगती है, उसका चेहरा भूरा और उतरा हुआ एवं ओठ सफेद हो जाते हैं। आक्षेपों का आना एक अनिष्ट सूचक लक्षण होता है। हृदयावसाद के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

मूत्र की परीक्षा द्वारा रोग के निदान को पक्का किया जा सकता है। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल हो जाती है, उसमें पूय (मवाद) पाया जाता है। अणु-

वीक्षण यन्त्र से पूय की परीक्षा करते हुए कई प्रकार के पूय कणों के गुच्छ पाये जाते हैं। पूय की उपस्थिति से मूत्र का रंग मटमैला ( आविल Turbid ) हो जाता है। रोग के प्रारम्भ में मूत्र में रक्त भी पाया जा सकता है। निर्मोक प्रायः नहीं मिलते हैं। मूत्र का सम्वर्द्धन ( Culture ) करने पर उसमें दो प्रकार के अणुजीव अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से देखे जा सकते हैं। जैसे स्थूलान्त्र दण्डाणु ( B. Coli ) और नानारूप दण्डाणु ( B, Proteus )

विकृत-शरीर—वृक्कश्रोणि में उपसर्ग निम्नलिखित मार्गों से पहुँच सकता है—१. रक्त-मार्ग से जीवाणुओं का पहुँचना, २. नीचे से ऊपर को गवीनी मार्ग ( Ureters ) से उपसर्ग का पहुँचना, ३. गवीनी से सम्बन्धित लसीका वाहिनियों के द्वारा उपसर्ग का पहुँचना, ४. स्थूलान्त्र से सम्बद्ध लसीका वाहिनियों के द्वारा उस स्थान तक जीवाणुओं का पहुँचना। इनमें प्रथम प्रधान अर्थात् आंत्र से दण्डाणुओं का रक्त-मार्ग से होते हुए वृक्कालिन्द तक पहुँचकर उस स्थान का शोथ पैदा करना सबसे अधिक पाया जाता है।

जब केवल श्रोणि ( Pelvis ) में अर्थात् गवीनी के ऊपर के चौड़े भाग में संक्रमण सीमित रहता है तो वृक्क के कार्य में उत्सर्जन ( Excretary function ) में कोई बाधा नहीं पड़ती है। इस विकार को गोणिका-शोथ ( Pyelitis ) कहते हैं। परन्तु केवल गोणिका का शोथ बहुत कम दिखलाई देता है। गोणिका के शोथ के साथ ही साथ वृक्क भी प्रभावित होता है और विकृति गोणिकावृक्क शोथ ( Pyelonephritis ) का रूप धारण कर लेती है।

इस रोग में प्रायः दोनों तरफ के वृक्कों में विकृति होती है; परन्तु एक की अपेक्षा दूसरे में कम। यह विकृति सीमित या फैली हुई ( Diffuse ) दोनों प्रकार की हो सकती है। विकृति के तीव्र या मन्द दो स्वरूप देखने को मिलते हैं, फलतः विकृत शरीर भी दो प्रकार का होता है।

तीव्र प्रकार में वृक्क आकार में बढ़ता है, उसके प्रान्तस्थ भाग में ( Cortex ) एक दो मि० मि० की मोटाई की अनेक विद्रधियाँ उत्पन्न

होती हैं। उसके अन्तस्थ भाग ( Medullary ) के भाग में पूय उत्पन्न होकर भर जाता है। यदि पूय का बनना अधिक हुआ तो अवस्था पूय वृक्क ( Pyonephrosis ) की हो जाती है।

अलिंद रक्तवर्ण का होकर विस्फारित ( Dilated ) हो जाता है उसकी श्लेष्मकला शोथ युक्त होकर, स्राव से लिप्त रहती है। उपश्लेष्मल कला की छोटी-छोटी शिरायें रक्त से भर जाती हैं। रोग के अधिक बढ़े होने पर श्लेष्मल कला का कुछ विनाश भी हो जाता है।

मन्द प्रकार में वृक्क स्वाभाविक परिमाण से कुछ बढ़ा हुआ संकुचित हो जाता है। उसके पृष्ठ पर जहाँ सम्पुट चिपका रहता है कुछ अवनत स्थान से दिखलाई पड़ते हैं। इन अवनत स्थानों में केशिकास्तवक ( Glomeruli ) और मूत्र नलिकाएँ कम होकर उसके स्थानपर अन्तराल ऊतक ( Interstitial tissues) बढ़ता है, रक्त वाहिनियाँ स्थूल हो जाती हैं। शोथ में वृक्क की रचना स्वाभाविक रहती है। श्रोणि की दीवाल मोटी और रक्ताधिक्य युक्त होती है और अवकाश अंशतः या पूर्णतः शोथ से उत्पन्न स्राव से भरा मिलता है। जीर्ण रोग में आगे चल कर तन्तूकर्ष ( Fibrosis ) के कारण वृक्क सिकुड़ कर छोटा हो जाता है। उसके ऊपर का भाग कणदार ( Granular ) हो जाता है। इस प्रकार वृक्क को गोणिकावृक्क-शोथ जन्य संकुचित वृक्क ( Pyelo-nephrtic contracted kidney ) कहते हैं।

वृक्कश्रोणि शोथ में रक्तगत श्वेतकाणुओं की संख्या बढ़ी मिलती है। उसमें बह्वाकारी कण ( Polymorphs ) अधिक पाये जाते हैं।

**साध्यासाध्यता**—यह रोग घातक नहीं है। इसके लिए उत्तम ओषधियाँ प्राप्त हों एवं यदि तुरन्त चिकित्सा की जाय तो पाँच से दस दिनों में रोग ठीक हो जाता है और पूय वृक्क प्रभृति उपद्रव भी नहीं होते।

**चिकित्सा—**

रोगी को बिस्तर पर आराम से रखे। सर्दी से बचाने के लिए गरम कपड़े पहनाये जाँय। वस्ति ( Enema ) या सौम्य विरेचन से कोष्ठ शुद्धि की

जाय। जब तक ज्वर रहे बालक को द्रव आहार पर रखा जाय। इसके लिये पानी, मिश्री का शर्बत, ग्लूकोज का शर्बत, नारियल का जल, मट्ठा, छाछ, सायट्रेट, दूध या जौ का यूष ( बार्ली वाटर ) आदि प्रचुर मात्रा में दिया जाय ताकि मूत्रस्राव बढ़े। फलों के रस, सूखे मेवे, दूध, मांस और अंडे का हलुवा भी दिया जा सकता है। मूत्र को क्षारीय बनाने के लिए क्षारीय मिश्रणों को देना चाहिये।

शुल्व वर्ग की ओषधियों का सेवन करना उत्तम रहता है।

मनुष्यों के सेवन के लिए गोलियाँ बनी-बनाई आती हैं। अवस्था के अनुसार इनकी मात्रा भिन्न भिन्न हो जाती है। बालकों में सेवन कराने के लिए शर्बत के रूप में भी आ रहा है, इसका प्रयोग मात्रा के अनुसार करने से लाभ होता है और बालकों के पिलाने में भी सुविधा होती है। शुल्व वर्ग की औषधियों के सेवन-काल में जल का अधिक मात्रा में लेना आवश्यक रहता है, साथ ही मूत्र की क्षारीय प्रतिक्रिया को बढ़ाने के लिए प्रतिदिन कुल तीस ग्रेन तक 'सोडा बाईकार्ब' दिया जा सकता है। यदि शुल्व के प्रयोग से लाभ न दिखलाई पड़े तो अन्य प्रतिजीवी योगों ( Antibiotic ) की सहायता लेना अपेक्षित रहता है।

## परिवृक्क शोथ
## ( Perinephric Abscess )

किसी भी आयु में वृक्क के समीपवर्ती धातुओं का शोथ या पाक उत्पन्न हो सकता है। इसमें उपसर्ग पैदा करने वाला अणु जीव पूयजनक ( Staphylococcus Aureus ) संक्रमण पैदा करने में कारणभूत होता है। सम्पुट काफी मोटी होकर आस-पास के धातु के साथ संसक्त हो जाती है। वृक्क प्रभावित नहीं होता, मूत्र भी स्वाभाविक रहता है।

**लक्षण**—ऊँचे ज्वर और जाड़े के साथ कई बार रोग का आक्रमण अचानक होता है, परन्तु आमतौर से रोग का आरम्भ धीरे-धीरे कमर में दर्द से होता है। पीड़ा निरन्तर बनी रहती है और उसका संवहन जघन की ओर

होता है। इस अवधि में आंत्रिक ज्वर के समान कमजोरी, ज्वर, पेट में बेचैनी, पीड़ा, अफारा, कड़ापन इत्यादि लक्षण होते हैं। एक या दो सप्ताह के बाद जब रोग फोड़ा या विद्रधि का रूप धारण करता है, तो लक्षण तीव्र स्वरूप के मिलने लगते हैं। कटि का भाग कुछ कड़ा पड़ जाता है। बालक उस पैर को सिकोड़ लेता है, ताकि दर्द कम हो। कमर उस ओर को झुक जाती है। जिससे बालक लँगड़ा कर चलने लगता है। ज्वर अधिक ( तीन या चार अंश ऊँचा ) हो जाता है। अन्त में विद्रधि या फोड़ा पूर्णतया बन जाता है जो बाहर उभरा हुआ कटि-प्रदेश में दिखलाई पड़ता है। उभार के ऊपर का चर्म लाल और शोथयुक्त हो जाता है। रक्त की परीक्षा कराने से श्वेत कणों की संख्या बहुत बढ़ी हुई मिलती है। जब तक फोड़े का पूरा चिह्न नहीं उपस्थित हो जाता, चिकित्सक को कटि-संधि का क्षय ( T. B. of Hip ) या पृष्ठ वंश का क्षय ( T B. of Spine ) के साथ निदान करने में भ्रम हो जाता है।

यदि विद्रधि बन गई और पूय का संचय हो गया हो तो शल्यकर्म से उसका निर्हरण करना चाहिए। प्रारम्भ में विद्रधि के शमन के लिए पेनिसिलिन का व्यवहार करना चाहिए।

**आयुर्वेदोपचार**--ऊपर वर्णित दोनों रोगों वृक्कगोणिका शोथ तथा परिवृक्क विद्रधि में अन्तर्विद्रधि के समान चिकित्सा करनी चाहिये। विद्रधि को बैठाने के लिए सहिजन की छाल का बनाया हुआ क्वाथ मधु के साथ मिलाकर देने से उत्तम लाभ होता है। त्रिफला कषाय और गोमूत्र का मिश्रण भी पिलाने से लाभ करता है। कषायों में वरुणादि गण की ओषधियों का काढ़ा ऊषकादि प्रतीवाप के साथ सेवन कराने से उपकार होता है। विद्रधि से मुक्त होने के बाद गुग्गुल, शिलाजीत और लौह के योगों को ( जैसे चन्द्रप्रभावटी ) कुछ दिनों तक चलाते रहना चाहिये। यह सामान्यतया वृक्क रोगों में लाभप्रद रहता है। इसके अतिरिक्त गोक्षुरादि गुग्गुलु भी वृक्क-रोगों में उत्तम कार्यकर होता है। इन दोनों औषधों का मूत्र गत 'एल्ब्युमिनुरिया' में प्रयोग

उत्तम रहता है। जब तक मूत्र से एल्ब्युमिन लुप्त न हो जाय, सेवन कराते रहना चाहिये। दशांगलेप—इस लेप को पानी से पीसकर गुनगुना करके कटि में शोथयुक्त स्थान पर चढ़ाना भी उत्तम रहता है।

## वृक्क-क्षय
## ( Urinary Tuberculosis )

मूत्र-मार्ग का क्षय जवानों की अपेक्षा बालकों में कम पाया जाता है। बालकों में रोग होने पर आमतौर से दोनों वृक्क प्रभावित होते हैं। वृक्क के बाह्य भाग में या एकाध पिरामिड ( Pyramid ) में क्षय की गाँठ उत्पन्न होती है और यह धीरे-धीरे बढ़ती है। इसमें किलाटी भाव ( Caseation ) शुरू हो जाता है। इसकी वृद्धि चारों ओर होती है, किन्तु सम्पुट ( Capsule ) के बाहर नहीं होती, श्रोणि की ओर प्रसार होकर क्षयज गोणिका वृक्क-शोथ ( T. B. Pyelonephritis ) पैदा होता है। पश्चात् धातुओं के नाश से उसमें पूय बनती है और मूत्र से भी वह पूय निकलने लगती है और रोग पूयवृक्क ( Pyonephrosis ) का रूप ले लेता है।

उपसर्ग का प्रसार हुआ और आगे बढ़ा तो गवीनी ( Ureters ) प्रभावित होते हैं। वे मोटे पड़ जाते हैं और मूत्र की रुकावट पैदा होती है। आगे की ओर प्रसार होने से वस्तिशोथ ( Cystitis ) उत्पन्न होता है।

वृक्क-क्षय के पैदा होने के पूर्व शरीर के किसी अन्य भाग में कोई न कोई क्षय का केन्द्र पाया जाता है, जिसके परिणाम में वृक्क-क्षय पैदा होता है।

**लक्षण**—रोग का आक्रमण धीरे-धीरे स्वास्थ्य का गिरना, मन्द ज्वर, बारम्बार मूत्र का आना इत्यादि लक्षणों से होता है। कुछ ही दिनों में मूत्र से रक्त भी आने लगता है। कई बार वृक्कशूल जैसे शूल का होना भी पाया जाता है। एक या दोनों ओर कटि-देश पर दबाने से बालक को पीड़ा होती है। आगे चलकर बल-क्षय, भार-क्षय, स्वेद की अधिकता प्रभृति लक्षण भी उत्पन्न होने लगते हैं। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल रहती है, उसमें पूय

और रक्त की उपस्थिति मिल सकती है। मूत्र जीवाणु हीन ( Sterile ) पाया जाता है।

चिकित्सा--यदि उपसर्ग का प्रसार वृक्क तक सीमित हो तो उस वृक्क और गवीनी को शस्त्रकर्म के द्वारा पृथक् करना चाहिये। पश्चात् लम्बी अवधि तक पूर्ण विश्राम, ताजा वायु, सूर्य प्रकाश, भोजन में चूने की पर्याप्त मात्रा ( High Calcium Diet ) तथा जीवतिक्ति 'डी' देना चाहिये। 'स्ट्रेप्टोमायसिन' के सूचीवेध का भी प्रयोग करना चाहिये। अन्य भी क्षयनाशक उपचारों का करना लाभप्रद होता है। क्षय रोग में वर्णित सम्पूर्ण उपचारों का प्रयोग करना चाहिये।

---

# परिशिष्ट

## (क) धात्री एवं स्तन्य का विचार

आयुर्वेद के ग्रन्थों में कौमार भृत्य ( Paediatrics ) से सम्बन्धित कई विशिष्ट प्रकरण पाये जाते हैं, जिनका नामोल्लेख हो चुका है। उन्हीं विषयों का कुछ विस्तार के साथ प्रसंग परिशिष्ट भाग में दिया जा रहा है।

**धात्री**—दूध पिलाने वाली धाय। माता का दूध शिशु के लिये सर्वोत्तम पोषण होता है; परन्तु माता मृत हो या रोगी हो या दूध माता का कम हो या श्रीमन्त घर की हो जिसके लिये दूध पिलाना सम्भव न हो तो शिशु को दूध पिलाने के लिये किसी धात्री की व्यवस्था करनी पड़ती है।

**धात्री के गुण-दोष**--धात्री के चयन के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा ही विशद् वर्णन प्राप्त होता है। धात्री को निम्नलिखित शुभ गुणों से युक्त होना आवश्यक होता है। शिशु के समान वर्ण ( रंग या जाति ) का होना, विनीत, अलोलुप, नीरोग, युवती और अव्यंगा ( बिना किसी प्रकार के लक्षण या झाईं के ) होना चाहिये। उसमें दुर्व्यसन न रहे, अविरूप हो अर्थात् उसका रूप सौम्य हो विकराल न हो, अनिन्दनीय, समान देश की हो, अक्षुद्रा ( नीच काम न करनेवाली ) कुलीन और वत्सला ( सन्तान वाली या वात्सल्य प्रेम से युक्त ) होनी चाहिये। साथ ही पुत्रवती हो, उनके बच्चे जीवित हों, प्रचुर मात्रा में दूध देने वाली, अप्रमत्त ( पागल या गल्ती या भूल करने वाली न हो ), आलस्य और अतिनिद्रा से रहित, शीघ्रता से जागने वाली, अच्छे चरित्र की, शिशु की सेवा में कुशल और तत्पर रहने वाली, सफाई पसन्द, स्तन और स्तन्य दोनों के शुभ गुणों से युक्त होवे। संक्षेप में श्यामा ( सर्वांग सुन्दरी या उष्ण काल में शीतल अथवा शीत काल में उष्ण स्पर्श जिसका हो ) इन गुणों से युक्त स्त्री को शिशु-पोषण के लिये धाय के रूप में ग्रहण करना चाहिये।

इसके विपरीत निम्नलिखित दोषों से युक्त स्त्री को धाय के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए—शोक या चिन्ता से व्याकुल, भूख से पीड़ित, श्रान्त (थकी हुई), सदा रोगी रहने वाली, गर्भिणी, ज्वर से पीड़ित, पथ्य न सेवन करनेवाली, अजीर्ण में भोजन करने वाली, बहुत लम्बी या बहुत छोटी, अति स्थूल या अति कृश, छोटा काम करने वाली, दुःखी और चंचलता प्रभृति दुर्गुणों से युक्त स्त्री। ऐसी धात्री के दूध के पीने से बालक रोगी हो जाता है।

**स्तन सम्पत्**—माता या धात्री जो बालक को दूध पिला रही हो, उसके स्तन न अधिक लम्बे हों और न अधिक छोटे, न अधिक ऊँचे हों न अधिक मोटे और न अधिक पतले हों तथा चूचुक सम्यक् हों, जिससे बालक सुखपूर्वक दूध भी पी सके। साथ ही स्तन को पिलाने के पूर्व और बच्चे के पीने के अनन्तर गर्म जल से स्तन को धो लेना चाहिये। पिलाने के पूर्व थोड़ा दूध निकाल कर पश्चात् स्तन-पान करना चाहिये। अन्यथा करने से कई दोष बालकों में आते हैं। उदाहरणार्थ अत्यन्त मोटे या ऊपर को उठे स्तन को पीने से बालक ऊर्ध्वाक्ष ( आँखें निकली हुई ) या कराल रोग से युक्त हो जाता है। अति लम्बस्तनी उच्छ्‌वासवरोध ( नाक और मुख को आच्छादित करके ) से बालक की मृत्यु का कारण बनती है। अतः अति पीन स्तनी, ऊर्ध्वस्तनी और लम्बस्तनी ये तीनों प्रकार की स्त्रियाँ सदोष मानी जाती हैं।

इसी प्रकार पिलाने के पूर्व थोड़ा दूध निकाल कर पिलाने से अर्थात् अति स्तन्य पूर्ण दूध के पीने से कास ( खाँसी ), साँस का फूलना, ज्वर, वमन प्रभृति विकार बालकों में हो सकते हैं। इसी प्रकार स्वेद और मल के दोष से बिना धोये स्तन का पिलाना भी बालक में विकार पैदा करता है, अतः पिलाने के बाद स्तन को गर्म जल से धोना चाहिये; वैसा ही दुग्ध के पिलाने के पूर्व भी माता या धात्री को करने की आदत बनानी चाहिये।

**स्तन्य-नाश के हेतु**—माता में दूध का नहीं मिलना निम्नलिखित कारणों से हो सकता है—क्रोध, शोक, सन्तान में वात्सल्य भाव का अभाव रुक्ष भोजन, पोषक और पौष्टिक आहार का अभाव, काम वासना की अधिकता, उपवास, परिश्रम की अधिकता, भय तथा गर्भ की पुनः धारणा।

**स्तन्य जनन के उपाय**—( १ ) मन को प्रसन्न करना। क्रोध, भय, शोक, अधिक परिश्रम से धात्री को बचाना। ( २ ) आहारों में लवण द्रव, ( दूध, एवं मूँग की दाल ) अम्ल और मधुर भूयिष्ट पदार्थों का सेवन। सीधु को छोड़कर सभी प्रकार के मद्य। गाम्य, आनूप, तथा औदक ( जल के फल ) मूल धान्य, अन्न, शाक ( सरसों को छोड़कर ) तथा मांसों का सेवन। जैसे कमल की जड़, सिंघाड़ा, विदारी कन्द, नाड़ी शाक, शतावरी, कद्दू, लहसुन, पलाण्डु, काल शाक, जौ, गेहूँ, साठी का चावल, शालि, मधुयष्टी, पिण्याक, गुड़, मिश्री, सूअर, भैंसा और मछली आदि के मांस-रस का सेवन।

३. क्षीर प्रवर्त्तक औषधियाँ—जैसे—उशीर, शालि, षष्टिक, इक्षु, इक्षु बालिका, दर्भ, कुश, कास, गुन्द्रा और शर इनकी जड़ों का क्वाथ बनाकर सेवन करना। पंचक्षीरी वृक्षों का कषाय या खिरनी का कषाय भी दुग्ध को बढ़ाता है।

४. क्षीर बढ़ाने वाली औषधियाँ—काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, मांसपर्णी, मेदा, महामेदा, गिलोय, काकड़ासींगी, वंशलोचन, पद्मक, प्रपौण्डरीक, ऋद्धि, वृद्धि, मुनक्का, जीवन्ती तथा मुलेठी।

**माता में दूध बढ़ाने के उपाय**—( १ ) दूध के साथ भूमि कुष्माण्ड की जड़ को पीसकर मिश्री मिलाकर पिलाना ( २ ) शतावरी को दूध के साथ पीसकर पिलाना। ( ३ ) पिप्पली को ( दो या तीन ) दूध में पीसकर कुछ गर्म करके पिलाना ( ४ ) बन कपास और ईख के मूल को कांजी में पीसकर पिलाना ( ५ ) विदारी कन्द के चूर्ण को सुरा के साथ पिलाना ( ६ ) सफेद और स्याह जीरा, हल्दी और दारु हल्दी, काला नमक और सोंचल नमक के चूर्ण को कांजी के साथ पिलाना। ( ७ ) भारंगी, देवदारु, मीठी बच, पाठा और अतीस को समान मात्रा में लेकर दो ग्राम की मात्रा में दूध के साथ प्रातः-सायं दिन में दो बार लेने से धात्री का दूध बढ़ता है।

**शुद्ध स्तन्य ( दूध ) की परीक्षा तथा लक्षण**--धात्री का दूध शुद्ध है, इस बात की जानकारी हासिल करने के लिए उसकी परीक्षा जल में छोड़कर करनी चाहिये। जो दूध देखने में निर्मल, शंख के समान साफ पतला और

गुण में शीतल हो अर्थात वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में प्राकृतिक हो तथा जल में छोड़ने से एकीभाव ( एक समान ) हो जावे उसमें कोई फेन या तन्तु न दिखलाई पड़े, अथवा जो जल में न तैरे और न नीचे बैठ जावे, बल्कि अपनी प्रकृति के अनुसार जल में मिल जावे, ऐसा दूध शुद्ध है। यही पुष्टिप्रद, आरोग्यकर और शिशु की वृद्धि करने वाला होता है। इससे धात्री और शिशु दोनों ही स्वस्थ्य रहते हैं :—

अव्याहतवलांगायुररोगो वर्धते सुखम्
शिशुधात्र्योरनापत्तिः शुद्ध क्षीरस्य लक्षणम्। सु.
यत्क्षीरमुदके क्षिप्तमेकी भवति पाण्डुरम्
मधुरञ्चाविवर्णञ्च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत्। च.

**मातृ स्तन्य के अभाव में दूध**—यदि किसी कारणवश माता या धात्री का क्षीर उपलब्ध न हो सके तो उसके स्थान पर बकरी या गाय का दूध देना चाहिये। इन दूधों को उबालकर बराबर खौलाया हुआ पानी मिलाकर हल्का करके देना चाहिये दूधों में एक मात्र माता का दूध ही होता है जो कच्चा ही लाभप्रद होता है।

स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यंवा तद्गुणं पिवेत्।

**धात्री क्षीर के दोष**—माता के दूध में आठ प्रकार के दोष आ सकते हैं—विवर्णत्व, विगंधत्व, विरसता, पिच्छिलता, फेन संघात, रुक्षता, गुरुता तथा अतिस्निग्धता।

**क्षीर दोष के हेतु**—धात्री के आहार-विहार सम्बन्धी व्यतिक्रमों में क्षीर की दुष्टि होती है। उदाहरणार्थ—अजीर्ण, असात्म्य भोजन, विषम या विरुद्ध भोजन, अध्यशन, लवण-अम्ल, कटु क्षार आदि का अधिक सेवन घृत पक्व, दूध पक्व, अतिरुक्ष या गुरु तथा अभिष्यंदी भोजन, ग्राम्य अनूप और जल के जीवों के गरिष्ठ मांसों का सेवन, अति मात्रा में मद्य का सेवन, ज्वर, प्राप्त वेगों का धारण, अप्राप्त वेगों का उदीरण, खाकर दिन में सोना, परिश्रम न करना, चोट, मनः सन्ताप, शोक, क्रोध, चिन्ता, भय और

अनिद्रा प्रभृति कारणों से माता के स्तन्य या दूध में दोष आ जाते हैं। इस दूध के सेवन करने से स्तनपायी शिशु रोगी हो जाता है। अतएव शिशु-चिकित्सा में मातृस्तन्य का ही शोधन करना चिकित्सक का लक्ष्य होना चाहिये।

**दोषों की दृष्टि से स्तन्य की दुष्टि का विचार**--ऊपर आठ प्रकार से स्तन्य दोषों का उल्लेख हो चुका है। उनकी उत्पत्ति में निश्चित वात, पित्त और कफ दोषों की ही विषमयता भाग लेती है। फलतः निम्नलिखित प्रकार के लक्षण स्तन्य दुष्टि में दोषों के अनुसार मिलते हैं :—

**वातिक स्तन्य दुष्टि**—दूध में विरसता, रुक्षता और फेन की अधिकता पाई जाती है। इसका वर्ण श्याम या लाल रंग का हो जाता है, स्वाद में कषाय हो जाता है, लघु और अतृप्तकर होता है। इसके पीने से बालक दिन प्रतिदिन कृश होता जाता है। उसका मल विबंधयुक्त गाँठदार हो जाता है। मूत्र में भी रुकावट होती है। बालक में शिरो-रोग या पीनस हो जाता है। बालक का स्वर दुर्बल हो जाता है। बल एवं भार क्रमशः घटता जाता है।

**पैत्तिक स्तन्य दुष्टि**– इसमें दूध विवर्ण एवं दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। स्वाद में तिक्त, अम्ल या कटु हो जाता है। दूध का रंग किंचित् नीला, पीला या काला पड़ जाता है। सेवन करने वाले शिशु को पतले दस्त आते हैं। तृषा अधिक हो जाती है, उसका शरीर गर्म रहता है। वह प्रसन्न नहीं रहता, उसे पाण्डु या कामला रोग हो जाता है।

**श्लैष्मिक स्तन्य दुष्टि**--दूध अति स्निग्ध, पिच्छिल एवं भारी हो जाता है। वर्ण में अत्यधिक श्वेत और स्वाद में अतिशय मधुर हो जाता है। अनुरस में लवण होता है। इसमें घृत, तेल, वसा, मज्जा की सी गन्ध आती है। दुग्ध को जल में डालने से नीचे बैठ जाता है।

इस दूध के सेवन करनेवाले बालक को वमन होता है, वह कुन्थन करता है। मुख से लालास्राव होता है। उसके स्रोत से श्लेष्मा ( कफ से भरे ) रहते हैं। उसे निद्रा अधिक आती है। सुस्ती और थकावट-सी बनी रहती है। उसे बार-बार खाँसी, साँस तमक आदि बीमारियाँ होती रहती हैं।

जब दूध अधिक पिच्छिल हो जाता है तो उसके पान से बालक में लार अधिक निकलती है, मुख और आँख के ऊपर सूजन और शरीर में जड़ता आ जाती है। अधिक भारी दूध होने पर शिशु में हृद्रोग भी हो जाता है। और भी कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

संक्षेप के कहने का तात्पर्य यह है कि जिस दोष से स्तन्य की दुष्टि होगी उसी दोष के अनुकारी विकार भी स्तन पीने वाले बालक में हो जायँगे :— "क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे सम्भवन्ति तदात्मकः।"

**स्तन्य दोषों का उपचार**—दूध में विकार पैदा करने वाले दोषों का सम्यक् ज्ञान करके तदनुरूप वमन, विरेचन, आस्थापन और अनुवासन प्रभृति कर्मों के द्वारा धात्री का शोधन करना चाहिये। अर्थात् कफज दुष्टि हुई तो वमन कराके, पैत्तिक दोष हुआ विरेचन कराके और वायु के कारण स्तन्य दोष पैदा हुआ हो तो स्थापन एवं अनुवासन वस्तियों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

इन कार्यों में वमन के लिए वच, प्रियंगु, मधुयष्टि, मदनफल और सर्षप को पीसकर कल्क ( चटनी ) जैसा बना ले। इस कल्क को नीम की पत्ती और परवल की पत्ती के बने काढ़े में छोड़कर सेंधानमक मिलाकर धात्री को पिला दे। वमन और दूध का शोधन हो जायगा।

**विरेचन के लिये**—निशोथ और हरें का चूर्ण ६ ग्राम की मात्रा में लेकर त्रिफला क्वाथ के साथ पिला दे या केवल हरीतकी ( हरें ) के चूर्ण को ६ ग्राम की मात्रा में मधु या गोमूत्र के साथ दें।

**आस्थापन**—गर्म गुनगुने जल में साबुन घोल कर एनीमा देकर कोष्ठ की सफाई करनी चाहिए।

**पथ्य**—चावल, षष्टिक ( साठी ), सावाँ, ककुनी, कोदो, वेणुयव, यव, अदरक, परवल, वंश वेत्र एवं कलाय के शाक, मूँग, मसूर या कुल्थी की दाल, बैंगन, आमलकी, सोंठ, सैंधव, घी, गाय का दूध, हिरण और खरगोश का मांसरस प्रभृति हल्के भोजन का सेवन करना चाहिये। भारी आहार, मांस और दिन का सोना बन्द करा देना चाहिए।

**स्तन्य ( दूध ) संशोधक अन्य औषधियाँ**—त्रिफला, त्रिकुट, पाठा, मधुयष्टि, वच, कोल, जामुन, देवदारु और सरसों का मधु के साथ सेवन—मात्रा ३ ग्रा० ।

२—सोंठ, पाठा, देवदारु, मूर्वा, नागरमोथा, इन्द्र जौ, सारिवा, नीम की छाल, कुटकी, चिरायता, त्रिफला, बच, गुडूची, मुलैठी, दाक्षा और दशमूल की औषधियों के काढ़े का सेवन। इन औषधियों का पृथक्-पृथक् या सबको समभाग में लेकर २५ ग्राम द्रव्य को ४०० ग्राम जल में खौलाकर, जब १०० ग्राम शेष जल रह जावे, तो छानकर ठण्डा होने पर मधु मिलाकर माता को पिलाना चाहिये।

३—सुश्रुत में पठित वचादि ( मीठीवच, नागरमोथा, अतीस, हरड़, देवदारु, और नागकेसर ), हरिद्रादि ( हल्दी, दारुहल्दी, कलशी, इन्द्रजौ और मुलैठी ) पाठादि और मुस्तादि गण की औषधियाँ भी स्तन्य शोधक होती हैं। माता को पिलाने से उसके दूध का दोष दूर होता है।

४—गुडूची और सप्तपर्ण का कषाय माता को पिलाने उसका दूध बच्चे के लिये हितकर हो जाता है।

५—चिरायते का काढ़ा पिलाना भी उत्तम है।

## (ख) अप्रगल्भ शिशु की व्यवस्था
## ( Premature Infant )

**अप्रगल्भ शिशु**—शिशुओं में जिनका जन्म ७ मास के पूर्व हुआ है, उनका जीवित रहना कठिन होता है और प्रायः मर जाते हैं, परन्तु ७ मास के पश्चात् अगर जन्म हुआ है तो उनकी बढ़िया सुश्रूषा की व्यवस्था होने से जीवन की आशा रहती है। आठवें और नवम मास के मध्य में जन्म हो तो उनका बहुत कुछ विकास हो गया रहता है और उनका भविष्य और अधिक अच्छा रहता है। दूसरी तरफ पूर्ण काल में प्रसव होने पर भी कुछ बच्चे इतने दुर्बल और क्षीणकाय होते हैं कि उनकी हिफाजत भी अप्रगल्भ शिशु जैसी ही करने की आवश्यकता रहती है। इन शिशुओं की सुश्रूषा की व्यवस्था बड़ी ही कठिन रहती है, यही कारण है कि देश में सहस्रों शिशु

जन्म के पश्चात् एक मास के अन्दर ही काल के ग्रास हो जाते हैं। सारांश यह है कि गर्भ की अवधि और प्रसव-काल का उतना महत्व नहीं दिया जा सकता जितना कि शिशु के जन्म कालीन भार और उसके विकास के ऊपर। अगर शिशु का भार जन्म के समय ५½ पौण्ड हो तो वह अपूर्व अप्रगल्भ शिशु ही है। उसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण व्यवस्था अप्रगल्भ शिशु के समान ही करनी चाहिये चाहे वह पूर्ण प्रसव ही क्यों न हो।

**कारण**—अपूर्ण शिशु के जन्म का कारण अभी तक अज्ञात ही है। फिर भी कुछ के हेतु बतलाये जाते हैं—१. युग्म ( जुड़वा ) गर्भाधान। २. सहज फिरंग। ३. पारिवारिक रहन-सहन और पोषणों के अभाव में माता का कमजोर होना। ४. गर्भकालीन विषमयता ( Toxaemia )। ५. माता का हृद्रोग, किसी संक्रामक रोग या सीस विषमयता ( Lead Poisoning ) से युक्त होना। ६. अवैध गर्भाधान।

**शुभाशुभ**—अपूर्ण शिशु में उनकी आयु, भार और विकास के ऊपर शुभाशुभ आधृत रहता है; फिर भी आयु ( Age ) का सर्वाधिक महत्व है। अर्थात् पूर्ण काल के समीप का उत्पन्न हुआ शिशु लम्बाई में छोटा होने पर भी उस शिशु की अपेक्षा जो समय से बहुत पहले पैदा हुआ और अधिक लम्बा हो; श्रेष्ठ है। उसके जीने की आशा भी अधिक रहती है। यह भी देखा गया है कि पुरुष सन्तानें अधिक मरती हैं।

अप्रगल्भ शिशुओं में प्रसवकालीन अभिघातों में उनके मस्तिष्क और सुषुम्ना के अभिघातों से उसके भीतर की रक्त वाहिनियों के अधिक भंगुर होने की वजह से अन्तस्थ रक्तस्राव होकर मृत्यु होने की सम्भावना अधिक रहती है। इन शिशुओं का स्वास्थ्य दुर्बल होता है जिससे इनमें उपसर्ग की सम्भावना भी अधिक रहती है। गर्भावस्था में शिशु का यकृत बहुत धीरे-धीरे लौह का संचय करता है और यही संचय उस दूध पर पलने वाली आयु में लौह तत्त्व की पूर्ति करता रहता है। अपूर्ण प्रसव के शिशुओं में इस लौह-संचय की कमी पड़ जाती है जिससे ये शिशु पाण्डु रोग से ग्रसित होकर अकाल में ही काल कवलित हो जाते हैं।

अगर शिशु का तापक्रम स्थायी ( Constant ) रहे, पर्याप्त मात्रा में दूध पीने की शक्ति हो, श्यावता ( Cyanosis ) न हो, माता में गर्भकालीन विषमयता रही हो, भार अल्प न हो और यांत्रिक साधनों ( Instrumentation ) से उसका जन्म न हुआ हो, तो ठीक देख भाल और पालन-पोषण की व्यवस्था करने से शिशु की जीवन रक्षा एवं स्वास्थ्य के सुधार की सम्भावना रहती है।

**स्वरूप**—पूर्ण शिशु से अपूर्ण शिशु कई बातों में भिन्न स्वरूप के होते हैं। इनकी त्वचा के नीचे चरबी का प्रायः अभाव रहता है। त्वचा जो अपेक्षाकृत अधिक लाल होती है उसपर झुरियाँ पड़ी रहती है, बाद में कामला सदृश पीलापन अधिक व्यक्त हो जाता है। नखों का विकास पूर्णतया नहीं हुआ रहता जिससे वे पूरे पोरवे तक नहीं पहुँच पाते। वे बच्चे न चिल्लाकर रो ही सकते हैं और न गहरी साँस ही ले सकते हैं। दुर्वलता की वजह से उथली साँस लेते हैं जिससे फुफ्फुस का पूर्णतया विस्तार नहीं हो पाता। इनमें हाथ-पैरों का चलाना भी कम मिलता है, दूध के पीने या स्तन के चूसने की शक्ति भी कमजोर होती है, शिशु सुस्त और अचंचल पाया जाता है और दिन भर सोया ही रहता है। उसकी साँस बीच-बीच में रुक जाती है, श्यावता के दौरे जैसे आते रहते हैं। शरीर की त्वचा के नीचे मेद के अभाव में उष्णता का बहुत नाश होता है जिससे इन शिशुओं का तापक्रम प्राकृत से नीचे रहता है।

**सुश्रूषा की व्यवस्था**—उष्णता का संरक्षण-अप्रगल्भ शिशुओं में मस्तिष्कगत उष्णता नियामक केन्द्र का पूर्ण विकास नहीं हुआ रहता है अतएव इनके तापक्रम के चढ़ाव उतार बहुत देखने को मिलते हैं। तापक्रम ६७° से १०७° तक विविध हो सकता है। अतः प्रति चार घण्टे पर इनकी गुदा का तापक्रम नियमित रूप से लेते रहना चाहिये, क्योंकि यदि अतिताप हो जाय तो उसमें जलनाश का भय रहता है, और प्रकृत से बहुत नीचे तापक्रम चला जाय तब भी प्राण का भय रहता है। अस्तु शिशु के लिये उचित मात्रा में ताप, आद्र॑ता, वायु-प्रवाह तथा पर्याप्त प्राणवायु ($O_2$)

की व्यवस्था होनी चाहिये। एतदर्थ शीतताप—नियन्त्रित ( Air Conditioned ) कमरे का प्रबंध करना चाहिये। तीसरा उपाय कमरे में अंगीठी जलाकर कमरे का तापक्रम ७०° फा० का रखना है। जन्म के पश्चात् प्रारम्भ से ही शिशु की त्वचा को तापक्रम के बर्दाश्त करने का अभ्यास करना चाहिये।

अपूर्ण शिशुओं में वस्त्र का भी बड़ा महत्व है। जिस स्थान पर ताप और आर्द्रता का नियंत्रण उपर्युक्त विधियों से संभव रहता है। शिशु के आवरण का कोई प्रश्न नहीं उठता है, परन्तु जहाँ पर यह संभव नहीं है, वस्त्र परम आवश्यक हो जाता है। शिशु का पहनावा हल्का और ढीला रखना चाहिये, शरीर और शाखाओं को ढीली रूई से ढँक कर रखना चाहिये। ऊनी निमस्तीन ( Wollen jacket ) जिसको आसानी से निकाला और पहनाया जा सके पहना देना चाहिये। पैरों और सिर के ऊपर फलालैन के कपड़े का आच्छादन बनाना चाहिये। शिशु को अधिक हिलाना-डुलाना नहीं चाहिये फिर भी बीच-बीच में उसका आसन बदलते रहना चाहिए। शिशु की शीत से रक्षा के लिए प्रतिदिन स्नान नहीं करना चाहिये। बल्कि इसकी जगह पर गर्म किये हुए तेल की मालिश पूरे शरीर ( Warm oliveoil ) पर करानी चाहिए। जब तक उसका भार २·६०६ कि० ग्रा० न पहुँच जाये जल से स्नान कराना बन्द ही रखना चाहिए।

इस शिशुओं में ताप-नियन्त्रण के लिए अवटुका सत्व ( Thyroideum Siccum ) ( $\frac{१}{२०}$ ग्रेन प्रतिपौण्ड शरीर भार के हिसाब से ) का उपयोग भी उत्तम पाया जाता है।

**पोषण** (Feeding)-अपूर्व शिशु अगर १$\frac{३}{४}$ कि०ग्रा० तक भार में हो, तो वह स्तन पान करने में समर्थ रहता है। उसको स्तन पर लगाना चाहिए। दो-तीन दिनों जब तक माता का दूध नहीं उतरता है, उसको किसी धाय या दूसरी माता का दूध चूसने के लिए देना चाहिये। न मिले तो दूध का मिश्रण-१ भाग दूध और तीन भाग कथित जल को मिलाकर देना चाहिये। मधु

एवं खौलाकर ठंडा किये जल का शर्बत भी रूई के फाये से चूसने के लिए देना चाहिए।

अल्प भार वाले शिशुओं में जिनमें चूसने की शक्ति नहीं है उन्हें 'बेल्कराय फीडर' ( Belcroy feeder ) नमक बोतल से दे जिसके एक ओर चूषणी और दूसरी ओर रबर का वल्व लगा रहता है। बल्व को दबाने पर दुग्ध पर दबाव पड़ता है और दूध सरलता से शिशु द्वारा चूसा जाता है। यह सम्भव न हो तो चम्मच से या रुई के पिचु से या ड्रापर से दूध को जीभ के पीछे वाले भाग पर टपकाकर चुसाया जा सकता है। अगर बालक बहुत दुर्बल हो और इन उपायों से भी उसका पोषण सम्भव न हो तो उसके अन्न प्रणाल ( Oesophagus ) से रबर का 'कैथेटर' डालकर दूध आमाशय तक पहुँचाया जा सकता है। इस क्रिया को कुछ ही दिनों तक करना चाहिये, पुनः जब उसे स्वयं चूसने की सामर्थ्य आ जाये तो बन्द कर देना चाहिये।

अल्प भार वाले शिशुओं का पोषण प्रति दो घण्टे पर दिन में एवं प्रति तीन घण्टे पर रात्रि में या केवल प्रति तीन घण्टे पर रात या दिन में ( चौबीस घण्टे में ८ बार ) देना चाहिए। दूध की कुल मात्रा निम्नलिखित तालिका के अनुसार रखनी चाहिये—

प्रथम दो दिनों तक लवण जल, दूसरी स्त्री का दूध या दूध का मिश्रण चूसने को दे।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| तृतीय या चतुर्थ दिन से | १ औंस | प्रति पाउण्ड | शरीर-भार के ऊपर | प्रतिदिन। |
| सातवें दिन से | २ औंस | ,, | ,, | ,, |
| दसवें दिन से | २½ औंस | ,, | ,, | ,, |
| चौदहवें दिन से | ३ औंस | ,, | ,, | ,, |
| चौदहवें दिन के पश्चात् | ३–½ औंस | ,, | ,, | ,, |

अध्यशन ( Over feeding ) का ध्यान रखना चाहिये। वमन, अतिसार प्रभृति अजीर्ण के लक्षण हों तो दूध की मात्रा बढ़ानी नहीं चाहिये। बच्चे का भार प्रतिदिन लेना चाहिये ताकि उसके पोषण में आवश्यक परिवर्तन किये जा सके। इन शिशुओं को स्त्री क्षीर के अतिरिक्त कोई भी मूल्यवान पोषण नहीं

है। अगर माता का दूध प्राप्य न हो तो किसी अन्य स्त्री ( धाय ) का दूध देना चाहिए। अगर यह सर्वथा अप्राप्य हो और माता के स्तन का पोषण अपर्याप्त हो तो उसकी पूर्ति के लिए गाय या बकरी का दूध पानी मिलाकर हल्का करके अथवा गाय के दूध के बने किसी योग का प्रयोग करावे। इसके लिए अम्लीकृत दूध ( Lactic acid milk ) या 'पेप्टोनायज्ड' दूध या शुष्कीकृत क्षीर ( Dried milk 'Frailac ) पर रखे। इन दूधों में प्रोटीन और फैट की मात्रा अल्प होती है। जब बालक का भार २·६०६ कि० ग्रा० का हो जाय तो उसे दूसरे प्रकार के ( Nestal's or Ideal Brand ) डिब्बों के दूधों पर भी रखा जा सकता है।

जैसा बतलाया जा चुका है कि शिशुओं में रक्ताल्पता या फक्क (Rickets) रोगों के होने की सम्भावना बहुत रहती है। अस्तु, रक्ताल्पता को रोकने के लिए एक मास के पश्चात् से उसे लौह के योग ( आयरन ) अमोनियम साइट्रेट १ ग्रेन की मात्रा में प्रतिदिन पोषण के साथ मिलाकर देना चाहिये। फक्क रोग से बचाने के लिये 'रेडियो स्टाल' या 'एडेक्सोलिन' या 'आस्टेलिन' ५ बूँद की मात्रा में दिन में दो बार देना चाहिये। जीवतिक्ति 'सी' की पूर्ति के लिए फल का रस या 'विटामिन सी' की गोली २५ मि० ग्राम प्रतिदिन दे सकते हैं।

दूसरा प्रश्न इन शिशुओं की उपसर्ग से रक्षा का भी होता है। औपसर्गिक रोग से उपसृष्ट व्यक्तियों को इनके सम्पर्क में नहीं आने देना चाहिये। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन शिशुओं का उपवेशन ( बैठाना ), चलाना, बुलाना और पढ़ाना भी विलम्ब से ही प्रारम्भ करना चाहिए। शीघ्रता करने से हानि की आशंका रहती है।

## (ग) बालग्रह का विचार

बालकों में कई प्रकार के रोग या लक्षण समुदाय प्रकट होकर उनकी दशा को सांघातिक बना देते हैं। बोलने और दवादारू के सेवन करने में असमर्थ बालक व्याकुल हो जाता है। चिकित्सा का आधिभौतिक ( Materialistic )

उपचार भी प्रायः असफल ही पाया जाता है। बालक कुछ ही समय में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता है। बालक के माता-पिता तथा चिकित्सक की बुद्धि एवं युक्ति भी अकिंचित्कर होती है, वह किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है। असफलताओं के कारण वह हताश हो जाते हैं। इनमें न ठीक निदान ही हो पाता है और न समुचित चिकित्सा की व्यवस्था ही। छोटे रोगी का सहयोग ( Co-operation ) भी चिकित्सक के लिए दुर्लभ होता है, फलतः चिकित्सा में असफलता ही अधिक मिलती है सफलता कम।

इन रोगों में आयुर्वेद अपनी विशिष्ट चिकित्सा-पद्धति से आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक (Materialistic & Metaphysical) उपायों से बालक रोगी के रोग के निवारण के लिए बहुत प्रकार का प्रयत्न करता है। रोग के निदान में भी वह विशिष्ट प्रकार का ही रुख अख्तियार करता है। इन अवस्थाओं में रोग की संज्ञा न देकर वह ग्रह या बालग्रह की संज्ञा देता है। उपचार में यहाँ पर युक्ति को विशेषता न देते हुए वह परम्परा को विशिष्टता देता है। इसके लिए ग्रह-बाधा प्रकरण नामक विशेष अध्याय का वर्णन करता है, जिसका सम्बन्ध उसके सामान्य सात अंगों से (शल्य, शालाक्य, काय, कौमार-भृत्य, रसायन, वाजीकरण और अगद ) से न करके विशिष्ट अंग-भूत विद्या से जोड़ता है। फलतः बालग्रह की चिकित्सा कुछ दूसरे प्रकार की हो जाती है—जो आयुर्वेद का वैशिष्ट्य है। यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप में इन ग्रहों के लक्षण और उपचारों का एक-एक करके व्यावहारिक वर्णन किया जा रहा है। ग्रह रोग कई स्वरूप के होते हैं। इनसे अत्यन्त तीव्र लक्षण ( Acute ) और कई बार जीर्ण स्वरूप ( Sub-acute ) के लक्षण भी पैदा होते हैं, परन्तु घातक प्रायः सभी होते हैं।

## ग्रहोपसृष्ट बालक के सामान्य लक्षण

बालक में ज्वर हो जाता है। वह बेचैन रहता है, हमेशा रोता रहता है, जँभाई बार-बार आती है, बार-बार चौंकता और चिल्लाता रहता है, आँखों और भ्रू को नचाता है। उसका चेहरा अत्यन्त दीन दिखलाई पड़ता

है, मुख से फेन आता है, ऊर्ध्व दृष्टि ( ऊपर को स्थिर नेत्रों से ) देखता है, दाँतों को कटकटाता है, नींद नहीं आती और जागता रहता है। बीच-बीच में रोता-कूँथता, भयभीत ( रोना, चौंकना ) और उद्विग्न हो जाता है। माता का दूध पीना छोड़ देता है ( जो बालकों में बड़ा ही हानिप्रद लक्षण होता है ) उसका स्वर बदल जाता है, चेष्टायें विकृत हो जाती हैं। दाँत एवं नखों से अपने शरीर को या धात्री के शरीर को काटता या कुरेंदता है। बार-बार वमन करता है, अंगों पर कुछ सूजन आ जाती है। आमयुक्त पतले दस्त होते हैं, उसकी संज्ञा नष्ट हो जाती है, अंग दुर्बल हो जाते हैं और शरीर से मांस, रक्त, मछली, खटमल या छछुन्दर जैसी गन्ध आती है। इन लक्षणों के आधार पर बालग्रह से जुष्ट बालक का निदान करना संभव रहता है।

**बाल-ग्रहों की संख्या**—आयुर्वेद के कई ग्रन्थकारों ने ( सुश्रुत एवं अष्टांग हृदय उत्तर तंत्रों में ) कई वर्गों में इन लक्षण समुदायों का विभाजन तथा विभिन्न ग्रहों के अनुसार लक्षण और चिकित्सा का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ आचार्य सुश्रुत ने ग्रहों की कुल संख्या नौ बतलाई है, जो आकाशीय ग्रहों की संख्या के साथ साम्य भी रखता है। आचार्य वाग्भट ने कुल संख्या १२ की बतलाई है और उसका वर्णन भी किया है। रावण नामक आचार्य ने बालकों का वर्णन पूतना शब्द से किया है और इनके अनुसार कुल संख्या सोलह की हो जाती है। यहाँ पर आचार्य वाग्भट के अनुसार बारह ग्रहों का नामोल्लेख किया जा रहा है।

अपने पुत्र कार्त्तिकेय की रक्षा के लिए शूलपाणि भगवान् शंकर ने ग्रहों की उत्पत्ति की है। ये बारह प्रकार के होते हैं जिनमें ५ पुरुष एवं सात स्त्री-लिंगी है—१. स्कंद; २. विशाख, ३. मेष, ४. श्वग्रह और ५. प्रपितृ संज्ञक पाँच पुरुष लिंगी और ६. शकुनि, ७. पूतना, ८. शीत पूतना, ९. दृष्टि पूतना, १०. मुख मण्डलिका, ११. रेवती, १२ शुष्क रेवती ये सात स्त्री-लिंगी होते हैं।

**रोगोत्पत्ति में ग्रहों की कारणता**—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि आप्त या शास्त्र बचनों के अनुसार अर्थात् जो शास्त्रों में लिखा है उसको देखकर

तदनुरूप रोगोत्पत्ति में इन ग्रहों की कारणता, लक्षण और चिकित्सा का उल्लेख किया जाता है।

माता या धात्री के अपथ्य या उपचारों से जैसे मांस सुरादिक का सेवन, मूत्र-पुरीषादि की सफाई न करना, मंगल कर्म का अभाव तथा अपवित्रता से ग्रह कुपित हो जाते हैं तथा अपनी पूजा कराने के निमित्त या हिंसा के लिए शिशु के ऊपर आक्रमण करते हैं। इस प्रकार हिंसा-कांक्षा या अर्चनाकांक्षा इन दो कारणों से ही बालक को ग्रह कष्ट देते हैं।

"हिंसारत्यर्चनाकांक्षा ग्रह ग्रहण कारणम्" (सु०)

**सामान्य उपचार**—सामान्यतया सभी ग्रहों में उपचार करते हुए निम्न-लिखित कर्मों की आवश्यकता पड़ती है।

१. **परिषेक**—वातशामक वृक्षों के पत्रों के क्वाथ से अभिषेक करना (Sponging)।

२. **अभ्यङ्ग**—वातघ्न ओषधियों से सिद्ध तैल के द्वारा मालिश करना। जैसे महाबला तैल।

३. **घृत प्रयोग**—रोगानुसार औषध सिद्ध घृतों का सेवन कराना। जैसे अष्ट मंगल घृत (भै० र० बालरोग)।

४. **क्षीर प्रयोग**—औषधि से पकाए दूध का पिलाना। जैसे—विडंग क्षीर।

५. **धूपन**—सर्प की केंचुल, कई प्रकार के पुरीष, चर्म-केश, घृत आदि को कमरे में जलाकर उसका धूँआ देना। इसके लिए माहेश्वर धूप या अष्टांग धूप सामान्यतया उत्तम रहता है।

**माहेश्वर धूप**—हिंगुल, देवदारु, घृत, गन्धतृण, शिवजी पर चढ़े हुए माला का फूल, कुटकी सरसों, नीम के पत्ते, मोर की पाँख, साँप की केचुल, बिल्ली की विष्ठा, गाय के सींग के छिल्के, मैनफल, छोटी और बड़ी कंटकारी, वच, कपास के बीज, धान या जौ की भूसी, बकरी की मींगी, शृंगाल की लेंड़ी, हाथी का दाँत इन सबको सम परिमाण में लेकर, ओखली में कूट कर

वकरी के मूत्र में भावित करके रख दे। थोड़ा-थोड़ा निकाल यथावश्यक कमरे में जलाकर धूपन करे। इस धूप के देने के पूर्व देवता का स्मरण करके पुनः जलाने का विधान है।

६. प्रदेह ( उबटन ) - सर्वगन्ध द्रव्यों को पीसकर शरीर पर लेप करना जैसे एलादिगण की औषधियों का।

७. ओषधि धारण—गुडूची, दर्वा, इन्द्रायण मूल, निम्ब, पुत्र जीव, शारिवा और गुञ्जा, पीली सरसों, फिटकिरी प्रभृति ओषधियों की धारणा। इनमें से किसी एक या दो औषधि को पोटली में बाँध कर बालक के गले से लटका देना चाहिये।

८. बलि-निर्हरण—बहिर्वलि के लिए रंगीन वस्त्र, भक्ष्य द्रव्य, नैवेद्य देवता के नाम से निकाल कर बालक को स्पर्श कराकर बाहर किसी चौराहे पर रख देना चाहिये।

जैसे कोरे मिट्टी के बर्त्तन में उड़द, गुड़, तिल, दही और द्रव्य ( पैसा ) आदि रखकर बालक को छुआ कर कहीं बाहर चौराहे पर या किसी बड़े वट वृक्ष के नीचे रख देना।

९. रक्षामन्त्र—बालक की रक्षा के लिये देवानुष्ठान, स्वस्त्ययन तथा पूजन आदि कराना चाहिये।

१०. स्नान—धात्री और बालक का विशेष विधियों से स्नान कराना।

यह उपचारों का एक सामान्य स्वरूप है। ग्रहों की विशेषता के अनुसार शास्त्रोक्त विधियों में विविधता पाई जाती है। प्रत्येक ग्रहोपसर्ग में पृथक्-पृथक् उपचार द्रव्य वर्णित हैं।

## (घ) कुछ विशिष्ट बालरोगों का विचार

दन्तोद्भेद—दन्तोद्भेद काल में शिशुओं में बहुत तरह के रोग हो जाते हैं वास्तव में दन्तोद्भेद ( दाँतों का निकलना ) एक प्राकृतिक क्रिया है। यह कोई रोग या विकार नहीं है। फिर भी इस काल में कई प्रकार के रोग क्षोभ के कारण पैदा हो जाते हैं जैसे ज्वर, शिरःशूल, तृष्णा, भ्रम, अभिष्यंद,

पोथकी, वमन, खाँसी, साँस, अतिसार और विसर्प आदि जिनकी चिकित्सा करना भी आवश्यक हो जाता है। इसलिए कहा गया है दन्तोद्भेद सर्वरोगों का कारण है। अथवा बिल्लियों के पीठ के टूटते वक्त, मयूरों की कलंगी निकलते समय तथा बालकों के दाँतों के निकलते समय कोई भी ऐसा रोग नहीं है जो न सतावे। कन्याओं की अपेक्षा बालकों में कष्ट अधिक होता है।

पृष्ठभंगे विडालानां वर्हिणां च शिखोद्गमे।
दन्तोद्भेदे च वालानां नहिकिंचिन्न दूयते। (अ० हृदय)

**चिकित्सा—**

लाक्षणिक की जाती है जिसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। दन्तोद्भेद-गदान्तक रस कुमार कल्याण, मुग्धरस तथा बाल चतुर्भद्र में से किसी एक का उपयोग करना चाहिए। नागरमोथा, अतीस, काकड़ासींगी और छोटी पीपल। सबको सम भाग में लेकर महीन चूर्ण करके रख ले, ½ से १ ग्राम की मात्रा में घिस कर मधु से चटाना लाभप्रद रहता है।

**क्षीरालसक**—त्रिदोषों को कुपित करने वाले आहारादिक के सेवन करने से तीनों दोष एक ही साथ माता के वक्ष में पहुँचकर क्षीरवह स्रोतों के द्वारा दूध को सकीर्ण लक्षणों से युक्त कर देते हैं। इस दूध को अज्ञानवश माता शिशु को पिलाती है तो उसके पीने से जल के समान फटा हुआ आमयुक्त, दुर्गन्धित, फेनिल और अनेक रंगों वाला अतिसार होने लगता है। उसका मूत्र पीत, श्वेत और घना हो जाता है। उसकी तृष्णा, ज्वर छर्दि, डकार, अरुचि, भ्रम, जृम्भा, अन्त्रकूजन, नाक, आँख और मुख का पकना दृष्टि का उपप्लव, स्वरावसाद प्रभृति उपद्रव प्रगट हो जाते हैं। इस रोग को क्षीरालसक कहते हैं। यह बालकों में अत्यन्त दारुण स्वरूप की व्याधि है। अंगरेजी में इसको ( Infantile dirrhoea or summer dirrhoea ) कहते हैं।

**चिकित्सा—**

धात्री या बालक को वमन कराना चाहिये। तत्पश्चात् मुस्ता, अतिविषा अर्जुन, पाठा तथा कटुका के क्वाथ को पिलाना चाहिये।

स्तन्यदोष हरण या स्तन्त्य संशोधन के लिये माता को अमृता, तिक्तक सारिवा, शुण्ठी आदि को इन्द्रयव के साथ देना चाहिये। वचादि गण, निशादि गण, तिक्तादि द्रव्यों का प्रयोग भी करना चाहिये।

## पारिगर्भिक रोग

"गर्भिणी माता का दूध पीने से प्रायः बालकों में अग्निमांद्य, वमन, तन्द्रा, कार्श्य ( दुबला होना ), अरुचि, भ्रम ( चक्कर आना ) प्रभृति लक्षण होने लगते हैं। बालक का उदर ( पेट ) बहुत बड़ा हो जाता है। इस रोग को पारिगर्भिक कहते हैं। इसी रोग का दूसरा पर्याय परिभव भी है।"

वास्तव में जब माता गर्भिणी हो जाती है तो उसमें दूध की मात्रा कम हो जाती है। उस दूध से बालक की तृप्ति नहीं हो पाती है। फलतः वह लोलुप होकर सहसा अधिक मात्रा में अन्न और श्वेतसारीय पदार्थ ( Starchy Substances ) खाने लगता है, जिससे आंत्र की वृद्धि और विकास अधिक होने लगता है और बालक का पेट बड़ा हो जाता है। यह कोई विकार न होकर एक प्रकार की प्राकृतिक क्रिया ही है।

**चिकित्सा—**

किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती है। कुछ अग्नि को दीप्त करनेवाले योगों को देना चाहिये। भोजन में अन्न और लवण की मात्रा कम करके दूध का और फल का सेवन अधिक कराना चाहिये।

## महापद्म रोग

यह एक प्रकार का शिशुकालीन विसर्प है--( Erysepalas Neonatorum )। इसका उद्भव वस्तिशीर्ष से होता है। यह एक त्रिदोषज और सांघातिक अर्थात् प्राणनाशक व्याधि है। इसमें लाले कमल के रंग के चकत्ते निकलते हैं। जो फैलते हुए हृदय और शंख प्रदेश तक और वहाँ से गुदा तक हो जाते हैं।

**चिकित्सा—**

विसर्पवत् करनी चाहिये। शिरीष का प्रयोग बड़ा उत्तम पाया गया है। इसकी पत्ती का लेप और छाल के काढ़े से स्नान और काढ़े का अन्तःप्रयोग भी लाभप्रद होता है। शिरीष, बीज, निर्गुण्डी और तिल तैल का पाक करके उसका अभ्यङ्ग भी लाभप्रद है।

## अहिपूतन या गुदकुट्टक

शिशु के मल-मूत्रत्याग के अनन्तर गुदा की पूर्णतः शुद्धि न की जाय ( धोकर न सुखा लिया जाय ) अथवा दुष्ट स्तन्य का पान शिशु करता रहे तो गुद के समीपवर्तीत क्षेत्र में रक्तदोष कुपित होकर कण्डु पैदा करते हैं। खुजली से वहाँ पर स्फोट निकलते हैं जिनसे स्राव भी होता है। वे सभी स्फोट मिलकर एक ताम्रवर्ण के घोर व्रण का रूप धारण कर लेते हैं जिसे अहिपूतन कहते हैं। इसी रोग के कई अन्य नाम भी हैं। जैसे मातृका दोष, अनामिक, प्रष्ठारु तथा गुदकन्द। अंग्रेजी में इस व्याधि को ( Napkin rashes ) कहते हैं जिसका उल्लेख त्वचा के रोग में पूर्व हो चुका है।

**चिकित्सा—**

धात्री के क्षीर का संशोधन करना। इसके लिए पित्त-श्लेष्मा नाशक औषधियों का प्रयोग जैसे पटोल, त्रिफला तथा रसाञ्जन से सिद्ध घृत का सेवन कराना उत्तम है।

**स्थानिक उपचार**—१. पित्तज व्रण के समान उपचार करे। जोंक लगाकर, त्रिफला, कोल और खदिर काढ़ा बनाकर गुदा स्थान को धोना। २. कासीस, गोरोचन, तुत्थ, हरताल, रसाञ्जन, मनः शिला, बेर की छाल, सेंधा नमक का चूर्ण बनाकर उसका अवचूर्णन ( Dusting ) या किसी अम्ल द्रव्य में पीसकर लेप करना। ३. मुलैठी. शंख भस्म, अंजन और सेवार का अवचूर्णन करे।

## कुकूणक

माता के दूध के दोष से शिशुओं में होनेवाला यह नेत्र के वर्त्म ( Lid ) का रोग है। कई बार दन्तोद्भेद के कारण भी होता है। शिशु के नेत्रों में

खुजली होती है और उनसे स्राव होता है। वह अपनी आँखों को बन्द करके ललाट, अक्षिकूट और नाक को मुख नीचा करके बिस्तर या तकिये पर रगड़ता रहता है। नेत्र की पलकों को नहीं खोल पाता और न सूर्य की प्रभा या प्रकाश को ही देख सकता है, अर्थात् उसमें प्रकाश-संत्रास ( Photophobia ) पाया जाता है।

वास्तव में यह शिशुओं में पाया जानेवाला पोथकी रोग ( Trachoma of the lids ) का ही वर्णन है।

**चिकित्सा—**

वमन और विरेचन से धात्री-क्षीर का संशोधन करे। एरण्ड, शिग्रु, वरुण और त्रिफला, रोहिष पत्र के कषाय से आँखों में परिसेचन ( प्रक्षालन ) करे। गर्म जल में नमक या टंकण छोड़ कर रुई भिगोकर उसके जल को निचोड़ कर सेंक करना चाहिये। गुडूची और कूठ के काढ़े का आश्योतन ( Drops ) हितकर है। मुलेठी, लोध, वायविडंग, मनः शिला रसौंतलाक्षा चन्दन, गेरू के चूर्णों का नेत्रों में घिसकर अंजन करे।

## कर्ण-स्राव

शिशुओं के कान में मवाद का निकलना प्रायः मिलता है। अच्छा भी जल्दी नहीं होता, वर्षों तक चलता रहता है।

**चिकित्सा—**

जलकुम्भी का रस २५० ग्रा० और सरसों का तेल ६२ ग्राम लेकर आग पर पकावें, जब रस जल जाय केवल तेल मात्र ही शेष रहे तो उतार ले। इस तैल का कान में प्रयोग करने से कर्ण-स्राव ठीक होता है। शम्बूक तैल का भी प्रयोग उत्तम रहता है।

## ( ङ ) बाल्यावस्था के संस्कारों का विचार

गर्भधारण से लेकर मरण-पर्यन्त सोलह संस्कारों का विधान सनातन शास्त्रों में पाया जाता है। इन संस्कारों का अनुष्ठान प्रत्येक मानव का परम कर्त्तव्य समझा जाता है। मानव भी यथासम्भव, यथाशक्य इनके अनुसार च

है। सोलह संस्कारों के नाम इस प्रकार हैं :—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमान्तोन्नयन, ४, जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्न प्राशन, ७. चूड़ाकर्म ८. कर्णवेध, ६. उपनयन, १०. वेदारम्भ, ११. समावर्त्तन, १२. विवाह, १३. गार्हस्थ्य, १४. वानप्रस्थ, १५. संन्यास, १६. अन्त्येष्टि।

संस्कारों का सम्बन्ध न केवल धर्मशास्त्र से अपितु आयुर्वेद के साथ भी है। आयुर्वेद का सम्बन्ध शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के साथ है, संस्कारों का भी सम्बन्ध समनस्क शरीर से ही होता है। संस्कारों का विषय दोषों को निकाल कर नये गुणों की स्थापना कर नया रूप देना है। आयुर्वेद का भी लक्ष्य यही है। संस्कारों का प्रयोजन पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति) होती है। उसी प्रकार आयुर्वेद का भी यही प्रयोजन है। बल्कि यह कहा जाय कि आयुर्वेद सबके मूल में है। "शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्" "धर्मार्थकाम मोक्षाणाम् आरोग्य मूलमुत्तमम्" क्योंकि आयुर्वेद मानव शरीर का चिन्तन करने वाला शास्त्र है, जिसके अभाव में 'तदभावे हि भावानां सर्वाभावाः शरीरिणाम्।'

फलतः आयुर्वेद तथा संस्कार इन दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रायः सभी संस्कारों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक वर्णन प्रस्तुत किया मिलता है। कौमारभृत्य नामक अंग में बहुत से संस्कारों का प्रसंग आता है। इसका कारण यह है कि गर्भ से लेकर उपनयन पर्यन्त आधे से अधिक संस्कारों की क्रिया तो प्रायः बाल्यावस्था में ही समाप्त हो जाती है। इनमें गर्भाधान से लेकर जात कर्म पर्यन्त संस्कारों का वर्णन प्रसूति तंत्र की पुस्तकों में प्राप्त होता है, शेष संस्कारों में पाँच या छः का उल्लेख करना कौमारभृत्य का विषय है। इनमें से भी कुछ प्रधान संस्कारों के विषय में ही संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है। प्राचीन कौमारभृत्व नामक अंग का यह भी विचार्य विषय है।

**नामकरण**—सन्तान के जन्म के दसवें दिन के बाद पिता को नामकरण करना चाहिये। उस दिन पुत्रवती स्त्री शरीर पर सफेद सरसों का उबटन लगाकर सर्व गन्ध द्रव्यों से स्नान करे। हल्का, न फटा हुआ वस्त्र पहने।

इच्छानुकूल पवित्र एवं सुन्दर आभूषणों को धारण करे। मंगल द्रव्यों का स्पर्श करे। पूजनीय वस्तुओं की पूजा करे। शिखाधारी, श्वेत वस्त्रधारी और सम्पूर्ण अंग वाले ब्राह्मणों का पूजन करके बच्चे को भी स्वच्छ, न फटे हुए वस्त्र से ढँक कर उसके सिर को पूर्व या उत्तर दिशा में रखकर देवता को समक्ष रखकर "बच्चा ब्राह्मणों को नमस्कार करता है" ऐसा कहे। बालक के पिता को फिर नाम रखना चाहिये।

नामकरण में बालक का दो प्रकार का नाम रखना चाहिये। एक तो जन्मकालीन नक्षत्र के नाम से और दूसरा अभिप्रायिक या पुकार[illegible] नक्षत्र वाला नाम नक्षत्र के देवता के विचार से रखे और आभि[illegible]यिक या पुकारने वाले नाम में कई प्रकार की विशेषताओं का ध्यान रखे—१. नाम दो या चार अक्षरों का हो। २. कुल में वृद्ध तीन पूर्वजों के नाम से साम्य रखता हुआ हो। ३ नाम में घोषवत् ( घ, झ, द, ध, म ) अन्त्यस्थवत् ( य, र, ल ) तथा उष्मान्त ( श, ष, स, ह ) अक्षर आवें ऐसा नाम रखे जैसे 'चरक'।

निष्क्रमण संस्कार—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, बालक को घर से बाहर निकलने का संस्कार। इस संस्कार के कई आवान्तर भेद हो जाते हैं जिनका उल्लेख वैद्यक ग्रन्थों में पाया जाता है। जैसे क – कुमारागार (बच्चे का घर), ख—वस्त्र, ग—क्रीडनक ( खिलौने ) चित्र-विचित्र बजनेवाले, देखने में सुन्दर, हल्के, आकुंठित ( नोकदार नहीं ) मुख में आने वाले, सौम्य ( डरावने नहीं ) होने चाहिये। ४. बालक की रक्षा-इसके निमित्त मणियों का धारण ( अकीक, मूंगा, नीलम और हीरा प्रभृति ) कराना। जीवित गेंडा, मृग, गाय और बैल इन पशुओं के दाहिने सींग के अग्र भाग को काट कर जरा सा लेकर बालक के गले में बाँधकर लटका देना। इसके अतिरिक्त जीवक ऋषभक आदि ओषधियों का धारण या अथर्ववेद के मन्त्रों से रक्षा करने की व्यवस्था करनी चाहिये। घ. शिशु का पालन—शिशु को डराना अच्छा नहीं है। किसी कारण से रोते हुए या खाना न खाते हुए बच्चे को डराने के लिए राक्षस, भूत, प्रेत-पिशाच और पूतना आदि के नाम से भयभीत नहीं करना चाहिये। इस तरह से पालन[illegible] करने से बच्चे का बल, वर्ण, शरीर और आयु की वृद्धि होती है। बालक

इस प्रकार कपड़ा पहनावे कि उसके शरीर को कोई कष्ट न होवे। उसको झटके से उठाना, झिड़कना या सहसा प्रतिबोधन करना भी त्याग दे, क्योंकि उससे बालक त्रस्त हो जाता है। इसी प्रकार बालक की आँधी, धूप, लू, बिजली की चमक आदि से रक्षा करे। उसे पेड़ के नीचे या लता प्रतान में न सुलावे। अकेले घर में न छोड़े। नीचे गिरना, निम्न स्थान, ग्रहण की छाया और ग्रह बाधाओं से बचाने का प्रयत्न करना चाहिये। अपवित्र, विषम स्थान पर या धूलि एवं धुँवादार गन्दी जगहों पर बच्चे को न रखे, तूफान और वर्षा से भी बचा लें।

वेंद का [illegible]

( [illegible] (ङ) उपवेशन—शिशु के बैठाने के सम्बन्ध में काश्यप संहिता में निम्नलिखित प्रकार का वर्णन पाया जाता है। छठें मास में शुभमुहूर्त में ( अष्टाङ्ग संग्रह के अनुसार पाँचवें मास में ) स्वस्तिवाचन कराके गृह के मध्य में, कुमारागार में या किसी अन्य पवित्र स्थान में गोबर से चार हाथ लीप कर एक गोलाकार या चौकोर वेदी बना ले। फिर कुमार को स्नान कराके बिना फटे, सुन्दर वस्त्र पहना कर पूर्व की ओर मुँह करके मुहुर्त्त भर बैठावे। तदनन्तर आस्तरण युक्त भूमि पर बालक को तकियों का सहारा देकर प्रतिदिन एक बार बैठावे। फिर क्रमशः बैठने का समय बढ़ाते हुए उसको इस क्रिया का अभ्यास करावे।

**अन्नप्राशन**—दाँतों के निकलने के समय बच्चे का अन्नप्राशन संस्कार ( अन्न का चटाना ) करना चाहिये। इसके लिए एक सामान्य आयु छठवें, मास की बतलायी गई है।

छठवें मास में बच्चे को हितकर और पचने में हल्का अन्न दे। इसके लिए चावल का नरम भात, घी-दही, चीनी और मधु उत्तम पड़ता है। यदि जौ, गेहूँ उस देश में सात्म्य हो तो उसके आटे का प्रयोग भी भोजन के रूप में, घी और नमक या मक्खन के साथ चटाने के लिए किया जा सकता है।

के इस प्रकार के स्निग्ध और लवण भोजनों के चटाने से बालक पुष्ट होता है और लगा उसकी आयु बढ़ती है।

**चूणाकर्म संस्कार**—यह संस्कार तीसरे साल में किया जाता है। इसमें बच्चे के बाल जो गर्भावस्था के होते हैं, वे उतार दिये जाते हैं। इन बालों का तीन साल तक रखना अच्छा है। बालक की सिर की अस्थियों की रक्षा होती रहती है, क्योंकि १—अस्थियों की सन्धियाँ साधारणतः तीन साल के पहले दृढ़ नहीं हुई रहती हैं।

२—अस्थियों के जुड़ने से बने पूर्व रन्ध्र और पश्चिम रन्ध्र ( Fontanelles ) भरे नहीं होते हैं। इन बालों से उनकी रक्षा होती रहती है।

३—अस्थियाँ मृदु होती है उस्तरे के रगड़ को बर्दाश्त करने के योग्य नहीं रहती। साथ ही गर्भावस्था के बाल होते हैं जो प्रायः मलिन और जटायुक्त हो जाते हैं अस्तु इनका निकलना भी आवश्यक होता है। एतदर्थ इस आयु में चूड़ाकर्म का विधान पाया जाता है।

**कर्णवेध संस्कार**—रक्षा और आभूषण पहनाने के लिए बालक के कानों को बेधना चाहिये। यह कार्य छठें या सातवें महीने में प्रशस्त तिथि, मूहुर्त्त, दिन आदि का विचार करते हुए, स्वस्तिवाचन कराके बच्चे को धात्रीं की गोद में बैठाकर खिलौने में बच्चे का मन लगाकर कान को किसी देव स्थान में छेदे। छिद्र में जहाँ पर सूर्य की किरणें आर-पार होती दिखलाई पड़े, दाहिने हाथ में सूई लेकर पतला कान हो तो पतली सूई से मोटा कान हो तो मोटी सूई से वेधन करें। पुरुष सन्तानों के सर्वप्रथम दाहिने कान को और बालिकाओं के बायें कान को प्रथम छेदे, पश्चात् दूसरे कान को। फिर रूई की बत्ती कान में डाल दें।

कर्णवेध संस्कार से बालकों में ग्रहों की बाधा नहीं होती है साथ ही श्लीपद प्रभृति रोगों से भविष्य में रक्षा होती है।

॥ इति ॥

सर्वप्रथम प्रामाणिक पुस्तक। सुवृहत् चार खण्डों में एलोपैथी का सारा विज्ञान पढ़िये। मू० १८·००

५—सचित्र नेत्र रोग विज्ञान ( एलोपैथिक )—प्रथम नेत्र-रचना, उसकी कार्यक्षमता आदि विषयों पर सुन्दर विवेचन किया गया है, जैसे निकट-दृष्टि ज्ञान, दूर-दृष्टि-ज्ञान आदि। साथ ही साथ नेत्र-सम्बन्धी सभी रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा एलोपैथिक ढंग से दी गई है। १३० चित्रों के साथ। उत्तर प्रदेश सरकार से पुरस्कृत। मू० ६·०० मात्र

६—माडर्न ट्रीटमेण्ट दो भाग मू० ३०·०० मात्र।

७—स्त्रियों के रोग तथा उनकी आधुनिक चिकित्सा—
मू० २२·०० मात्र।

८—वृद्धों के रोग तथा वृद्धावस्था का प्रतिकार—
मू० १२·०० मात्र।

९—एलोपैथिक सफल औषधियाँ—इस पुस्तक में सल्फाग्रुप की सभी औषधियाँ ( सीबाजाल, एम० पी० ६९३, सल्फाट्रायड आदि ), कालाजार-नाशक, मलेरिया-नाशक, कुष्ठ-नाशक, कृमि-नाशक आदि औषधियों का प्रयोग तथा पी० ए० एस०, वेसीट्रैसिन, आयलोटायसिन और अब तक की निकली हुई जीवाणुरोधक औषधियों का वृहद् वर्णन सरल ढंग से दिया गया है। मू० ४·५० मात्र।

१०—मल, मूत्र, रक्तादि परीक्षा ( एलोपैथिक )—मल, मूत्र, रक्त आदि की परीक्षा का आज के इस वैज्ञानिक युग में महत्व बढ़ गया है। इसमें न केवल मल, मूत्र, रक्त आदि की परीक्षाओं की विधि सरल ढंग से दी गई है। मू० ३·५० मात्र।

११—धात्री विज्ञान— मू० ३·५० मात्र।

१२—एलोपैथिक पेटेन्ट मेडिसिन्स—ले०—डा० अ० ना० पाण्डेय— मू० १०·०० मात्र।

१३—एलोपैथिक पेटेन्ट चिकित्सा—ले०—डा० अ० ना० पाण्डेय—
मू० ४'५० मात्र ।

१४—ज्वर चिकित्सा—ले०—डा० अ० ना० पाण्डेय—
मू० ३'०० मात्र ।

१५—मार्डर्न एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका—ले० डा० रामनारायण सक्सेना—
मू० ११'०० मात्र ।

१६—अभिनव शवच्छेद-विज्ञान—प्रोफेसर श्री हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ द्वारा लिखित—दो भाग
मू० २२'०० मात्र ।

१७—सरल दन्त-विज्ञान—
मू० ३'५० मात्र ।

१८—सर्जरी ( सामान्य शल्य चिकित्सा ) मू० १४'०० मात्र ।

१६—बाल रोग चिकित्सा—
मू० ८'०० मात्र ।

२०—एलोपैथिक पाकेट गाइड—
मू० ६'०० मात्र ।

२१—मार्डन डायग्नोसिस—ले० डा० नौटियाल
मू० १७'०० मात्र ।

२२—मार्डर्न सिलेक्टेड मेडिसिन— मू० ६'०० मात्र ।

२३—ब्लड-प्रेशर—ले० डा० नौटियाल मू० ३'०० मात्र ।

२४—स्टेथोस्कोप परीक्षा—ले० डा० केशवानन्द नौटियाल ए० एम० एस० ( काशी हिन्दू विश्वविद्यालय )

स्टेथोस्कोप क्या है ? इससे क्या सुना जाता है ? डाक्टर लोग उसका अर्थ कैसे समझते हैं ? हृदय एवं फुफ्फुस के रोगों में तथा उसके अतिरिक्त कब और कहाँ इसका उपयोग होता है ? हृदय एवं फुफ्फुस के अलग-अलग रोगों में क्या-क्या सुनाई देता है ? आदि सभी प्रश्नों का इस एक ही पुस्तक में उत्तर देखें। जहाँ तक सम्भव है सभी ध्वनियों और रोगों को चित्रों द्वारा समझाया गया है। पुस्तक सरल भाषा में लिखी गयी है।
मू० ३'०० मात्र ।

मेडिकल सर्टिफिकेट—( हि० अ० ) मू० १.५० मात्र।

लेबुल बुक— मू० १.५० मात्र।

चर्म रोग चिकित्सा—मू० ३.५० मात्र। विटामिन्स–मू० ३.०० मात्र। सल्फोनामायड और एण्टी-बायोटिक्स—मू० २.५०। मासिक विकार—मू० १.२५। जननेन्द्रिय रोग चिकित्सा—मू० २.७५। नासा, गला एवं कर्ण रोगचिकित्सा—मू० ६.०० मात्र। संकट-कालीन प्राथमिक चिकित्सा— मू० ६.०० मात्र।

होमियोपैथिक पुस्तकें—

१—होमियोपैथिक मेटेरिया मेडिका रेपर्टरी सहित—मूल लेखक–डाक्टर विलियम बोरिक·कैलिफोर्नियाँ के यशस्वी डाक्टर विलियम बोरिक की होमियोपैथिक मेटेरिया मेडिका जगत प्रसिद्ध चिकित्सा-ग्रन्थ है जो लगभग एक शताब्दी से दुनियाँ भर में प्रचलित एवं समादृत है। मेडिकल पुस्तक भवन का इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर अत्यन्त सावधानी पूर्वक अविकल रूप में छापा गया है और इसे पाठकों का व्यापक समर्थन प्राप्त है। इसमें होमियोपैथिक चिकित्सा संबंधी सभी समस्याओं का सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया गया है।

रिपर्टरी सहित मूल्य २०.०० मात्र।

केवल रिपर्टरी १० ०० मात्र।

२—फेरिंगटन कम्परेटिव मेटेरिया मेडिका— मू० १० मात्र।

लेखक—डा० सुरेश प्रसाद शर्मा

३—होमियो पारिवारिक चिकित्सा— मू० २०.०० मात्र।

४—होमियो मेटेरिया मेडिका— मू० ६.०० मात्र।

५—होमियो गृह-चिकित्सा— मू० ४.०० मात्र।

६—होमियो बाल चिकित्सा— मू० ५.५० मात्र।

७—होमियो पशु चिकित्सा—
मू० २·७५ मात्र।

८—होमियो शिशु चिकित्सा—
मू० १·०० मात्र।

९—पुरानी बीमारियाँ—
मू० ५·५० मात्र।

१०-होमियो भेषज सम्बन्ध-तत्व एवं क्रिया स्थितिकाल—
मू० ३·५० मात्र।

११-होमियोपैथिक औषधतत्व के मुख्य निर्देशक लक्षरण

ले०—डा० ई० बी० नेश एम० डी०—होमियोपैथिक-चिकित्सा-क्षेत्र में डा० नैश का नाम विशेष प्रशंसा पा चुका है।

विख्यात लेखक ने प्रत्येक रोग के लिए एक-एक विशेष प्रकृतिगत औषध निर्दिष्ट कर दी है। इससे प्रत्येक चिकित्सक को परीक्षा के लिए अनेक औषधें देने की आवश्यकता नहीं होगी। मू० ८·०० मात्र।

१२ रोगी की सेवा और पथ्य-मू० ४·५० केवल। १३-बायोकेमिक चिकित्सा—मू० ६·०० मात्र। १४—आर्गेनन—मू० ६·५० मात्र। १५ स्त्री-रोग चिकित्सा ( सचित्र )-मू० ७·०० केवल। १६-भेषज-सार—मू० ३·०० केवल। १७—होमियो इन्जेक्शन चिकित्सा—मू० ३·०० मात्र।

१८—भारतीय औषधावली तथा होमियो पेटेन्ट मेडिसिन्स—मू० ३·०० केवल। १९—होमियो पाकेट गाइड—मू० १·५०। २०—बायोकेमिक पाकेट गाइड—मू० १·५० मात्र।

२१—बायोकेमिक रेपर्टरी—मू० ५·००। २२—नैश रीजनल लीडर्स—मू० २·७५।

२३—होमियो टायफायड चिकित्सा—मू० १·००। २४—होमियो न्यूमोनिया चिकित्सा - मू० १·०० २५—होमियो थायसिस चिकित्सा—मू० १·००। २६—थर्मामीटर—मू० ·४०। २७-एनीमा

और कैथेटर—मू० '६०। २८—रोग लक्षण संग्रह—मू० '४०। २६—बायोकेमिक रहस्य —मू० ३'००। ३०—तुलनात्मक होमियो औषधचुनाव--मू० १'५०। ३१--एलेन्स की नोट्स--मू० ६'५०। ३२--जार फोर्टी इयर्स प्रैक्टिस मू० ८'००। २६—सफल होमियो प्रिसक्रिप्शन—मू० १ ००।

आयुर्वेदिक पुस्तकें--

१—आयुर्वेद विज्ञान--मू० ४'०० मात्र।

२—नाड़ी रहस्य--मू० १'०० मात्र।

ग्राम सिरीज प्रकाशन--

१---नीम चिकित्सा विधान—मू० १'०० मात्र। २--तुलसी चिकित्सा विधान-मू० '५० मात्र। ३-आयुर्वेदिक घरेलू चिकित्सा-मू० २'५० मात्र। ४--बबूल चिकित्सा विधान--मू० '५० मात्र। ५--मधु चिकित्सा विधान--मू० '७५ मात्र। ६--कब्ज या कोष्ठ-बद्धता-मू० १'०० मात्र। ७- सुलभ देहाती नुक्से -मू० १'५० मात्र। ८---प्लीहा रोग चिकित्सा--मू० '६५ मात्र। ६--वृक्ष विज्ञान चिकित्सा--मू० ३'०० मात्र। १०--मवेशियों की घरेलू चिकित्सा -मू० २'०० मात्र। ११--जन-स्वास्थ्य विज्ञान--मू० ४'०० मात्र। १२-जल-चिकित्सा विधान--मू० ३'००। १३—जल चिकित्सा--मू० '७५ पैसे मात्र।

मिलनेका पता—
गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )